

४२८९२

२२०
१४२

सत्यमेव जयते

३
/ हो
ने-
त-
न-
र

973
३

13

बाजसनेयोपनिषत् ।

2/20
25 (51)

परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीशङ्करभगवत्कृत

भाष्यसहिता

COMPILED

श्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवतानन्द-

ज्ञानकृतभाष्यटीका

विभूषिता ।

द्वितीय संस्करण ।

COMPILED

CHECKED 1973

Initial

22/2/73

कलिकातानगरे

श्रीशुतबाबुभुवनचन्द्र वसाक द्वारा प्रकाशिता

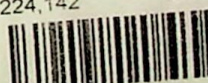
संवादज्ञानरत्नाकररत्ने

तद्वारैव मुद्रिता ।

इ.स. १८८७।सन १२१४ साल ।

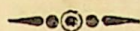
[निमतलाघाट इष्टीट ट संस्थक भवन ।]

224,142



1. 1888. 1889. 1890. 1891. 1892. 1893. 1894. 1895. 1896. 1897. 1898. 1899. 1900. 1901. 1902. 1903. 1904. 1905. 1906. 1907. 1908. 1909. 1910. 1911. 1912. 1913. 1914. 1915. 1916. 1917. 1918. 1919. 1920. 1921. 1922. 1923. 1924. 1925. 1926. 1927. 1928. 1929. 1930. 1931. 1932. 1933. 1934. 1935. 1936. 1937. 1938. 1939. 1940. 1941. 1942. 1943. 1944. 1945. 1946. 1947. 1948. 1949. 1950. 1951. 1952. 1953. 1954. 1955. 1956. 1957. 1958. 1959. 1960. 1961. 1962. 1963. 1964. 1965. 1966. 1967. 1968. 1969. 1970. 1971. 1972. 1973. 1974. 1975. 1976. 1977. 1978. 1979. 1980. 1981. 1982. 1983. 1984. 1985. 1986. 1987. 1988. 1989. 1990. 1991. 1992. 1993. 1994. 1995. 1996. 1997. 1998. 1999. 2000. 2001. 2002. 2003. 2004. 2005. 2006. 2007. 2008. 2009. 2010. 2011. 2012. 2013. 2014. 2015. 2016. 2017. 2018. 2019. 2020. 2021. 2022. 2023. 2024. 2025. 2026. 2027. 2028. 2029. 2030. 2031. 2032. 2033. 2034. 2035. 2036. 2037. 2038. 2039. 2040. 2041. 2042. 2043. 2044. 2045. 2046. 2047. 2048. 2049. 2050. 2051. 2052. 2053. 2054. 2055. 2056. 2057. 2058. 2059. 2060. 2061. 2062. 2063. 2064. 2065. 2066. 2067. 2068. 2069. 2070. 2071. 2072. 2073. 2074. 2075. 2076. 2077. 2078. 2079. 2080. 2081. 2082. 2083. 2084. 2085. 2086. 2087. 2088. 2089. 2090. 2091. 2092. 2093. 2094. 2095. 2096. 2097. 2098. 2099. 2100. 2101. 2102. 2103. 2104. 2105. 2106. 2107. 2108. 2109. 2110. 2111. 2112. 2113. 2114. 2115. 2116. 2117. 2118. 2119. 2120. 2121. 2122. 2123. 2124. 2125. 2126. 2127. 2128. 2129. 2130. 2131. 2132. 2133. 2134. 2135. 2136. 2137. 2138. 2139. 2140. 2141. 2142. 2143. 2144. 2145. 2146. 2147. 2148. 2149. 2150. 2151. 2152. 2153. 2154. 2155. 2156. 2157. 2158. 2159. 2160. 2161. 2162. 2163. 2164. 2165. 2166. 2167. 2168. 2169. 2170. 2171. 2172. 2173. 2174. 2175. 2176. 2177. 2178. 2179. 2180. 2181. 2182. 2183. 2184. 2185. 2186. 2187. 2188. 2189. 2190. 2191. 2192. 2193. 2194. 2195. 2196. 2197. 2198. 2199. 2200. 2201. 2202. 2203. 2204. 2205. 2206. 2207. 2208. 2209. 2210. 2211. 2212. 2213. 2214. 2215. 2216. 2217. 2218. 2219. 2220. 2221. 2222. 2223. 2224. 2225. 2226. 2227. 2228. 2229. 2230. 2231. 2232. 2233. 2234. 2235. 2236. 2237. 2238. 2239. 2240. 2241. 2242. 2243. 2244. 2245. 2246. 2247. 2248. 2249. 2250. 2251. 2252. 2253. 2254. 2255. 2256. 2257. 2258. 2259. 2260. 2261. 2262. 2263. 2264. 2265. 2266. 2267. 2268. 2269. 2270. 2271. 2272. 2273. 2274. 2275. 2276. 2277. 2278. 2279. 2280. 2281. 2282. 2283. 2284. 2285. 2286. 2287. 2288. 2289. 2290. 2291. 2292. 2293. 2294. 2295. 2296. 2297. 2298. 2299. 2300. 2301. 2302. 2303. 2304. 2305. 2306. 2307. 2308. 2309. 2310. 2311. 2312. 2313. 2314. 2315. 2316. 2317. 2318. 2319. 2320. 2321. 2322. 2323. 2324. 2325. 2326. 2327. 2328. 2329. 2330. 2331. 2332. 2333. 2334. 2335. 2336. 2337. 2338. 2339. 2340. 2341. 2342. 2343. 2344. 2345. 2346. 2347. 2348. 2349. 2350. 2351. 2352. 2353. 2354. 2355. 2356. 2357. 2358. 2359. 2360. 2361. 2362. 2363. 2364. 2365. 2366. 2367. 2368. 2369. 2370. 2371. 2372. 2373. 2374. 2375. 2376. 2377. 2378. 2379. 2380. 2381. 2382. 2383. 2384. 2385. 2386. 2387. 2388. 2389. 2390. 2391. 2392. 2393. 2394. 2395. 2396. 2397. 2398. 2399. 2400. 2401. 2402. 2403. 2404. 2405. 2406. 2407. 2408. 2409. 2410. 2411. 2412. 2413. 2414. 2415. 2416. 2417. 2418. 2419. 2420. 2421. 2422. 2423. 2424. 2425. 2426. 2427. 2428. 2429. 2430. 2431. 2432. 2433. 2434. 2435. 2436. 2437. 2438. 2439. 2440. 2441. 2442. 2443. 2444. 2445. 2446. 2447. 2448. 2449. 2450. 2451. 2452. 2453. 2454. 2455. 2456. 2457. 2458. 2459. 2460. 2461. 2462. 2463. 2464. 2465. 2466. 2467. 2468. 2469. 2470. 2471. 2472. 2473. 2474. 2475. 2476. 2477. 2478. 2479. 2480. 2481. 2482. 2483. 2484. 2485. 2486. 2487. 2488. 2489. 2490. 2491. 2492. 2493. 2494. 2495. 2496. 2497. 2498. 2499. 2500. 2501. 2502. 2503. 2504. 2505. 2506. 2507. 2508. 2509. 2510. 2511. 2512. 2513. 2514. 2515. 2516. 2517. 2518. 2519. 2520. 2521. 2522. 2523. 2524. 2525. 2526. 2527. 2528. 2529. 2530. 2531. 2532. 2533. 2534. 2535. 2536. 2537. 2538. 2539. 2540. 2541. 2542. 2543. 2544. 2545. 2546. 2547. 2548. 2549. 2550. 2551. 2552. 2553. 2554. 2555. 2556. 2557. 2558. 2559. 2560. 2561. 2562. 2563. 2564. 2565. 2566. 2567. 2568. 2569.

ॐ परमात्मने नमः ।



वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यम् ।

ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तोषा-
कर्मशेषस्यात्मनो याथाप्रकाशकत्वात् । यथात्म-
नात्मनः शुद्धत्वापापविद्वत्त्वैकत्ववित्यत्र शरीरत्वसर्वगत-
त्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्यत इति युक्त एवैषां

वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यटीका ।

येनात्मना परेणेशा व्याप्तं विश्वमशेषतः । सोऽहं देहद्वयोः साक्षी
र्जतो देहतद्गुणैः ॥ १ ॥

ईशावास्यमित्यादिमन्त्रान् व्याचिच्छासुभंगवान् भाष्यकारस्तेषां
शेषत्वशङ्कां तावत् व्युदस्यति । तथा हि कर्मजडाः केचन मन्यन्ते
वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मशेषा मन्त्रत्वाविशेषादिष्वे त्वादिमन्त्र-
॥ अतः पृथक्प्रयोजनाद्यभावादव्याख्येया इति तान् प्रत्याह
ईशावास्यमित्यादय इति ॥ कर्मस्वविनियुक्ता इति । इषे त्वेति
शाखां क्लिन्तीत्यादिवत् विनियोजकप्रमाणादर्शनात्मकरणान्तरत्वा-
त्यर्थः । अतएव विनियोगाभावेऽपि बहिर्देवसदनं दटामीत्यस्य
हंलंबनप्रकाशनसामर्थ्यात् बहिर्लंबने यथा विनियोगस्तथा
कर्मशेषात्प्रकाशनसामर्थ्येन कर्मशेषां विनियोग इत्यपि
शङ्कनीयमित्याह । तेषामिति ॥ शुद्धादिविशेषणत्वात्मनः कर्मशेषत्वे
माणाभावात् याथात्म्यं न केवलं कर्मानुपयोगि किन्तु कर्मणा
रुध्यत इत्याह । याथात्म्यञ्चेति ॥ शुद्धोऽहं स्वभावतो न तु केनापि
सुना विद्धः सत्त्वैकः शरीर आकाशोपम इति जानन् कटाचेणापि

ईश

१

कर्मस्वविनियोगः । न चैवं लक्षणमात्मनो याथात्म्यमु-
त्पाद्यं विकार्यमायं संकार्यं वा कर्तृ भोक्तृ वा येन कर्म-
शेषता स्यात् । सर्वासां मुपनिषदां मात्मयाथात्म्यनिरूपणे-
नैवोपपत्तयात् । गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्
तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वापविद्ध-
त्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धकर्मणि विहितानि । य-
हि कर्मफलेनार्थो दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादि-
ना च द्विजातिरहं न काणकुण्ठत्वाद्यनधिकारधर्मवानि-

कर्म वीक्षते । किन्तु पातप्रतीपात्तरेष्येतादृशी निरूपणद्वयं कर्म-
प्रवृत्तिमित्यर्थः । किञ्च यः कर्मशेषः स उत्पाद्यो दृष्टो यथा पुरोडा-
शादिः । विकार्यः सोमादिः । आद्यो मन्त्रादिः संकार्यो
व्रीह्यादिस्ततश्चुलाघातादिरूपत्वं व्यापकं व्यावर्त्तमानमात्मयाथा-
त्म्यस्य कर्मशेषत्वमपि व्यावर्त्तयति । तथात्मयाथात्म्यं कर्तृ
भोक्तृ च न भवति । येन ममेदं समोहितसाधनं ततो मया कर्त्त-
व्यमित्यहङ्कारान्वयपुरःसरः कर्त्ताऽन्वयः स्यादित्याह । न चैवमिति ।
ननु उपनिषदि जपोपयोगित्वादित्यस्य च प्रमाणस्यादर्शनाच्च निरूप्य-
मेव । एतादृशमात्मयाथात्म्यं तत्ताह । सर्वासांमिति । यत्पर-
शब्दः स शब्दार्थ इति भीमांसाप्रसिद्धेः सर्वासांमुपनिषदाञ्चैकात्म्ये
तात्पर्यदर्शनाच्च जपोपयोगित्यमुपनिषदां शक्यं वक्तुम् । तथा हि
देशावाप्तमित्युपक्रमस्य स पर्यागाच्छुक्रमित्युपसंहारादमेजदेकं तद-
न्तरस्य सर्वस्येत्यस्यासदर्शनाच्चैतद्देवा आप्रवक्षित्यपूर्वतासङ्कीर्त्त-
नात्की मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति फलवत्त्वासङ्कीर्त्तना-
त्कुर्वन्नेवेहेति जिजोविषोर्भेददर्शनः कर्मकरणानुवादे ऽस्त्वर्थी
नाम त इति निन्दयैक्यात्म्यदर्शनस्य स्तुतत्वात्तस्यैव जपो मातरिवा दधा-
तीत्यभिधायिन्याद्यास्यास्तावदुपनिषदैकात्म्यतात्पर्यं दृश्यते । एवमन्या-
सान्मुपनिषदां मुपक्रमोपसंहारैककस्यास्यास पूर्वताफलवत्त्वार्थवादयु-
क्तप्रपञ्चानां षट् तात्पर्यलिङ्गानि विकल्पेन समुच्चयेन बाह्याभिज्ञत्वा-
लोके दर्शितानीति नेह प्रतन्यन्ते किञ्च प्रत्ययसंवादोऽपि न बलकारणम् ।

त्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कस्मिंस्त्विति हि अधिकारविदो
वदन्ति । तस्मादेते मन्वा आत्मनो याथात्मप्रकाशने-
नात्मविषयं स्वाभाविककस्मिंस्त्वित्त्वं निवर्तयेत्तः शोक-
मोहादिसंसारकस्मिंस्त्वित्त्वसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञान-
मुत्पादयन्तीति । एकमुक्ताभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्वान्
सङ्ग्रेपतो व्याख्यासामः ॥

प्रसिद्धे विद्यते चोपनिषदर्थे गीतादिसंवादस्तस्मादुपनिषत्प्रत्यक्षसम्बन्धे ना-
वगमैकात्म्यं न प्रमाणान्तरानुपलब्धविरोधेनोपलब्धनीयम् ॥
यथे, ऐशानवगम्यमानमपि रूपं चक्षुषा गम्यमानं नापह्नुवते तथै-
कात्म्यमनापह्नुवाहमित्याह । गीतानामिति । समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यतीत्यादि-
गीता । एक एव हि भूतात्मा सर्वभूते व्यवस्थितः । एकधा ब्रह्मधा चैव
इत्येते जलचन्द्रवदित्यादिमोक्षशास्त्राणाञ्चैकात्म्यपरत्वादित्यर्थः ॥ तद्वै-
ताद्वगमात्मतत्त्वं तर्हि निरधिकारित्वात्कस्मिंस्काण्डभुच्छिद्योतेत्यपि नाश-
ङ्कनीयमित्याह । तस्मादिति ॥ औपनिषदात्मयाथात्म्यं च तीव्रक्रोधा-
क्रान्तस्त्रान्तं प्रत्येव श्यनादिविधिप्रामाण्यम् । तथा मिथ्यादर्शनं प्रत्येव
कस्मिंस्विधिप्रामाण्यमित्यर्थः ॥ अथ जैमिनिप्रभृतीनां सत्त्वतिमाह ।
यो होत्यादिना । अर्थित्वादियुक्तस्य कस्मिंस्त्वधिकारः पष्ठे प्रणिष्ठा-
पितः । अर्थित्वादि च मिथ्याज्ञाननिदानम् । न हि नभोवन्निष्क्रि-
यस्य स्वत एव दुःखारसगणः परमानन्दस्वभावस्य सुखं मे स्यादुःखं
मे माभूदित्यर्थित्वम् । शरीरेन्द्रियसमर्थोऽहमित्यभिमानितं मिथ्याज्ञानं
विना न सम्भवतीत्यर्थः ॥ यस्मादात्मयाथात्म्यप्रकाशका मन्वा म कस्मिंस्त्वैव
भूतान च भानान्तरविबुद्धास्तस्मात्प्रयोजनादिमत्त्वमपि तेषां सिद्धमि-
त्याह । तस्मादेत इति ॥

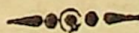


कर्म्मस्वविनियोगः । न चैवं क्षत्रणमात्मनो याथात्म्यमु-
त्पाद्यं विकार्यमायं संकार्यं वा कर्तुं भोक्तृवा येन कर्म्म-
शेषता स्यात् । सर्वासां उपनिषदां मात्मयाथात्म्यनिरूपणे-
नैवोपक्षयात् । गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्
तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वापविड-
त्वादि चोपादाय लोकशुद्धिसिद्धिर्कर्मणि विहितानि । य-
हि कर्म्मफलेनार्थो दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादि-
ना च द्विजातिरहं न काणकुण्डत्वाद्यनधिकारधर्मावानि-

कर्म्म वीक्षते । किन्तुपातप्रतीपास्तरेष्वेतादृशी निरूपणद्वेय कर्म्म-
प्रवृत्तिमित्यर्थः । किञ्च यः कर्म्मशेषः स उत्पादो दृष्टो यथा पुरोडा-
शादिः । विकार्यः सोमादिः । व्याधो मन्त्रादिः संकार्यो
व्रीह्यादिस्तण्डुलाघातादिरूपत्वं व्यापकं व्यावर्त्तमानमात्मयाथा-
त्म्यस्य कर्म्मशेषत्वमपि व्यावर्त्तयति । तथात्मयाथात्म्यं कर्तुं
भोक्तृ च न भवति । येन ममेदं समोहितभाधनं ततो मया कर्त्त-
व्यमित्यहङ्कारान्वयपुरःसरः कर्त्तव्यत्वयः स्यादित्याह । न चैवमिति ।
ननु उपनिषदि जपोपयोगित्वादित्यस्य च प्रमाणस्यादर्शनाच्च निरूप्य-
मेव । एतादृशमात्मयाथात्म्यं तवाह । सर्वासांमिति । यत्पर-
शब्दः स शब्दार्थ इति मीमांसाप्रसिद्धेः सर्वासां उपनिषदां चैकात्म्ये-
तात्पर्यदर्शनाच्च जपोपयोगित्युपनिषदां शक्यं वक्तुम् । तथा हि
देशावाप्त्यमित्युपक्रम्य स पर्यगाच्छ्रुमिषुपसंहारादमेजदेकं तद-
नरस्य सर्वं स्येत्यस्यासदर्शनाच्चैतद्देवा अप्रवृत्तित्वपूर्वतासङ्कीर्त्त-
नात्की मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति फलवत्त्वासङ्कीर्त्तना-
त्कुर्वन्नेवेहेति जिजोविषोर्भेददर्शिनः कर्म्मकरणानुवादे तात्पर्यं
नाम त इति निन्दयैक्यात्प्रदर्शनस्य स्तुतत्वात्तस्यैवोपातरिवा दधा-
तोत्वभिधायिन्याद्यास्यास्तावदुपनिषदैकात्म्यतात्पर्यं दृश्यते । एवमन्या-
खान्युपनिषदां उपक्रमोपसंहारैककृष्याभ्यास पूर्वताफलवत्त्वार्थवादयु-
क्तप्रपादनानि षट् तात्पर्यलिङ्गानि विकल्पेन समुच्चयेन वाक्याभिज्ञत्वा-
लोके दर्शितानीति नेह प्रतन्यन्ते किञ्च प्रत्ययसंवादोऽपि न ब्रह्मकारणम् ।

त्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्म्मस्त्विति हि अधिकारविदो
वदन्ति । तस्मादेते मन्वा आत्मनो याथात्मप्रकाशने-
नात्मविषयं स्वाभाविककर्म्मविज्ञानं निवर्त्तयेत्तः शोक-
मोहादिसंसारकर्म्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञान-
मुत्पादयन्तीति । एकमुक्ताभिधेयसखन्धप्रयोजनान्मन्वान्
सङ्चेपतो व्याख्यासामः ॥

प्रासङ्गे विद्यते चोपनिषदर्थे गीतादिसंवादस्तस्मादुपनिषत्पदसमन्वये ना-
वगम्यमानमैकात्म्यं न प्रमाणान्तरानुपलब्धविरोधेनोपलब्धनीयम् ॥
यथेन्द्रियान्तरेणानवगम्यमानमपि रूपं चक्षुषा गम्यमानं नापह्नुवते तथै-
कात्म्यमपि नापह्नवाहंमित्याह । गीतानामिति । समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यतीत्यादि-
गीता । एक एव हि भूतात्मा सर्वभूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव
दृश्यते जलचन्द्रवदित्यादिमोक्षशास्त्राणाञ्चैकात्म्यपरत्वादित्यर्थः ॥ तद्दे-
तादृशमात्मत्वं तर्हि निरधिकारित्वात्कर्म्मकाण्डमुच्छिद्येतेत्यपि नाश-
ङ्कनीयमित्याह । तस्मादिति ॥ औपनिषदात्मयाथात्म्यं च तीव्रक्रोधा-
क्रान्तस्त्रान्तं प्रत्येव श्यनादिविधिप्रामाण्यम् । तथा मिथ्यादर्शनं प्रत्येव
कर्म्मविधिप्रामाण्यमित्यर्थः ॥ अत्र जैमिनिप्रभृतीनां सत्प्रतिभाह ।
यो होत्यादिना । अर्थित्वादियुक्तस्य कर्म्मण्यधिकारः पठे प्रतिष्ठा-
पितः । अर्थित्वादि च मिथ्याज्ञाननिदानम् । न हि नभोवन्निष्क-
यस्य स्वत एव दुःखासंसर्गिणः परमानन्दस्वभावस्य सुखं मे स्यादुःखं
मे माभूदित्यर्थित्वम् । शरीरेन्द्रियसमर्थोऽहमित्यभिमानितं मिथ्याज्ञानं
विना न सम्भवतीत्यर्थः ॥ यस्मादात्मयाथात्म्यप्रकाशका मन्वा स कर्म्मण्येव
भूता न च भानान्तरविरुद्धास्तस्मात्प्रयोजनादिमत्त्वमपि तेषां सिद्धमि-
त्याह । तस्मादेत इति ॥



ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

ईशा । इष्टे इतौट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः पर-
मात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमिष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन् ।
तेन स्वेनात्मनेशावास्यमाच्छादनीयम् । किम् । इदं सर्वं
यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगतां पृथिव्यां जगत् । सर्वं स्वेनात्म-
नाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थस्य रूपेणादृतमिदं सर्व-
ञ्चराचरमाच्छादनीयं परमात्मना । यथा चन्द्रनागव्यादे-
रुवकादिसम्बन्धजलोदादिजं दीप्तिं तत्स्वरूपनिघडने-
नाच्छाद्यते स्वेन परमार्थिकेन गन्धेन तद्वदेव हि स्वात्मन्य-
ध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जलद्वैतरूपं
पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव रामरूपक-

व्याख्येयत्वमुक्ता प्रतिपदं व्याचष्टे । ईशेति ॥ इश ऐश्वर्ये मतिः ॥
इस्य धातोः किपि लुप्ते कदन्तरूपमीट् तस्य तृतीयैकवचनमोशेति । निरुध्य
ननु कर्त्तरि किब्विधानात्परमेश्वरस्य चाक्रियत्वात्कथं किबन्तशब्दवा- यत्पर
च्यतेति तत्राह । ईशतेति । सायोपाधीशनकर्तृत्वसम्भावाच्छब्दवाच्यतात्मे
न विरुध्यते निरुपाधिकस्य च लक्ष्यत्वं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ईशित्वेति हि
तव्यभावेन तर्हि भेदः प्राप्त इत्याशङ्क्याह । सर्वजन्तूनामिति ॥ यथा तद-
दर्शादिषु प्रतिविम्बानामात्मा विम्बभूतो देवदत्त ईशिता भवति तथा ईशित-
कल्पभेदेनेति श्रुतीशतव्यभावसम्बन्धवान्न वास्तवभेदानुमानं सम्भवतीत्यर्थः । ईशना-
इस याच्छादने । अस्य रूपं वास्यन्त्वत ईश्वरात्मकमेव सर्वं भ्रान्त्या सूक्ष्मं
यदनीश्वररूपेण गृहीतं तत्सर्वमीश्वर एवात्मैवेति ज्ञानेनाच्छादनीयं
कर्त्तात्मक ईश्वरोऽस्तीति ज्ञातव्याप्रेषतत्त्वोपदेशच्छान्दोग्ये तत्त्वमसीति-
वदित्यर्थः । ब्रह्मैव सर्वमात्मैव इत्युपाशाविशेषतः । हेयोपादेय-
भावोऽयं न सत्त्वप्रवदीयते । ॥ उक्तञ्च । न बभूवोऽस्ति न मीचोऽस्ति

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्वनम् ॥१॥

स्मात्स्थं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।
एवमोश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्तयसन्नप्राप्त एवा-
धिकारो न कर्मसु तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो
मृतः पुत्रो मृत्यो वा आत्मसम्बन्धितयाऽभावादात्मानं
पालयत्यतस्तप्रागेनेत्ययमेवार्थः । भुञ्जीथाः पालयेथाः ।
एवं त्यक्तैप्रणस्त्वं मा गृधः गृधिमाकाङ्क्षां माकर्षीर्धन-
विषयाम् । कस्य स्वित्कस्य चित्परस्त्वं धनं स्वस्य वा धनं
माकाङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निषेधः । अथवा मागृधः
कस्मात् । कस्य स्विद्वनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्वनमस्ति

न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः । नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वर
इति ॥ २ ॥ यस्यैषदेशिकज्ञ नमात्रेणान्तर्दृष्टिर्न निराक्रियते तस्य
विचारादिप्रयत्नेन तत्त्वप्रकाशे सत्यन्तर्दृष्टिस्तस्मादित्यत इत्यभिप्रेत्य
दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्भवादाद्रोभावादित्या-
जातं यद्गौर्ध्वप्रमौपाधिकं मिथ्या तद्यथा तत्स्वरूपनिर्घर्षणाभिव्यक्तेन
स्वाभाविकेन गन्धेनाच्छाद्यते तद्वद्विचारादेः स्वरूपसद्भावनिष्ठ्याव-
ल्लेखीयकत्वं सम्भवतीत्याह । तद्वदेव हीति ॥ स्वभावोऽनादिरविद्या
तत्कार्यं स्वाभाविकमित्यादिवाधत्वे योग्यत्वप्रदर्शनार्थविशेषणम् । एवं
विचारादिप्रयत्नवतोऽन्तर्दृष्टिरित्यसम्भावनामुक्त्वा युक्त्यभिज्ञस्य सर्व-
विद्वहं चेश्वर एवेति भावनायामधिकृतस्य युक्तिकुशलस्य च विचारे-
ऽधिकृतस्य सर्वकर्मसन्नप्राप्त एवाधिकार इह मन्त्रे विवक्षितस्तेन त्यक्ते-
नेत्यत्र त्यागपरामर्शणात् त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पद-
मित्यन्वत्वाभ्युक्तत्वात्पुत्राद्येषणायाश्चित्तविशेषहेतुत्वेन प्रसिद्धत्वाच्चेत्य-
भिप्रेत्याह । एवमोश्वरात्मेति ॥ चिकीर्षितं सन्नप्राप्तं सौति । तेन त्यक्ते-
नेति ॥ त्यागेनात्मा रक्षितः स्यान्नष्टक्रियात्मस्वरूपावस्थानानुबलत्वा-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः

यद्गृध्येत । आत्मैव सर्वमित्येव श्रवणभावनया सर्वं त्यक्तमत
आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां
गृहिं माकार्षीरित्यर्थः ॥ १ ॥

एवमात्मविदः पुत्राश्च प्रणांतयसन्नप्राप्तेनात्म ज्ञाननिष्ठ-
तयात्मा रक्षितस्य इत्येष वेदार्थः । अथेतरस्यानात्मज्ञत-
यात्मग्रहणाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः । कुर्वन्नेव इह
निर्वर्त्तयन्नेव कर्माणिग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज्जी-
वितुमिच्छेच्छतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्भि-
पुरुषस्य परमायुश्चितम् । यथा प्राप्तानुवादेन यज्जिजी-
विषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते ।

त्यागस्येत्यर्थः । सन्नप्राप्तिनः शरीरसन्धारणोपयुक्तकौपीनाच्छादन-
भिक्षाशनादिव्यतिरिक्तेऽपि कथञ्चिद्द्रव्यपरिग्रहे रागसेत्माप्रसन्नविरोधे
यत्नः कर्त्तव्यः ॥ तस्य प्रधानविरोधित्वादित्यमिष्टेनियमविधिमाह ।
एवं त्यक्तैषण इति ॥ स्तिदिति निपातस्य सामान्यार्थत्वेऽपि कस्य स्ति-
दिति चिन्तनार्थत्वमन्यत्रप्रसिद्धं तदिह न गृह्यते इत्यनर्थमित्युक्तम् ।
व्यवहारदृष्ट्यात्मनैवेदं सर्वं शेषभूतं जडस्य चित्परतन्त्रत्वादतः प्राप्ते-
विषये नाकाङ्क्षा कर्त्तव्या ॥ १ ॥

परमार्थस्वात्मैव सर्वमित्याकाङ्क्षाविषय एव नास्तीत्यर्थः । आद्य-
मन्त्रस्य पूर्वार्द्धेन तत्त्वोपदेशः कृतस्तृतीयपादेनापरिपक्वज्ञानस्य सन्नप्रा-
सविधिरुक्तसुतर्थापादेन सन्नप्राप्तिनो नियमविधिरुक्त इति प्रतिपदं
व्याख्याय सङ्केपार्थमनुवदत्युत्तरस्य सर्वस्वाभिधित्वया । एवमात्मविद-
इत्यादिना । पूर्वमन्त्रेण ज्ञानं विहितं यस्य तस्यैवोत्तरमन्त्रेण कर्मा-
विहितं ततः समुच्चयानुष्ठाने तात्पर्यं मन्त्रद्वयस्यैकत्येकदेशो शङ्कासुझाव-
यति । कथं पुनरिति ॥ सङ्गमच्युज्ज्ञानकर्त्तव्योरेकाधिकारे विरुद्धत्वात्

एवमेव प्रकारे त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभि-
माननि इत एवस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुं तो
वर्त्तमानात् प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन
प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्माणा न लिप्यस्य स
इत्यर्थः । अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि
कुर्वन्नेव जिजीविषेत् । कथं पुनरिदमवगम्यते । पूर्वेषां
मन्त्रेण सप्तम्यासञ्ज्ञाननिष्ठतोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य
कर्म निष्ठतेत्युच्यते । ज्ञानकर्माणोर्विरोधं पर्वतवदकर्मप्र-
ययोक्तं न स्मरसि किम् । इहाप्युक्तं यो हि जिजी-
विषेत् स कर्म कुर्वन् । ईशावास्तुमिदं सर्वं
तेन त्यक्तेन मुञ्चोया मागृधः कस्य सिद्धनमिति ।
न जीविते मरणे वा गृधं कुर्वीताऽरण्यामिया-

ऋतुगमनविदग्निधर्मवदस्येव तत्तापि क्रमेणैककृतं कल्पमिति चेन्न ।
विपिष्टरूपभेदाद्विन्नाधिकारत्वात् । यच्चोक्तम् । ज्ञानकर्माणोर्विहितत्वे
शुद्धिसाध्याद्विरोधोऽसिद्ध इति तदसत् । ऋतुगमनविदग्निधर्मयो-
रप्यविरोधप्रसङ्गात् । तदुभयं नैकस्य विहितमिति चेत्तुल्यमेतत्प्रतिषेधा-
न्तत्वं न समुच्चय इति चेदहापि न कर्माणा न प्रजया नानुध्यायेद्ब्रह्म-
च्छब्दानित्यादिप्रतिषेधस्तुल्यः केवलकर्मविषयो निषेध इति न च वाच्यं
केवलपदव्यवच्छेदाभावात् समुच्चयविधेरव्याप्यनिश्चितत्वान्तस्त्वान्न समु-
च्चये तात्पर्यं मन्त्रइत्यस्येत्याह । ज्ञानकर्माणोर्विरोधमिति । कर्तृत्वा-
द्याध्यासाश्रयं कर्म शुद्धत्वादपष्टद्यत इति सम्बन्धग्रन्थे यथोक्तं सहान-
वस्थानलक्षणं विरोधं किं न स्मरसि येनैकधिकारत्वं तयोः कल्पयस्यो-
त्यर्थः ॥ मन्त्रलिङ्गादपि तयोर्भिन्नाधिकारत्वं प्रतीयत इत्याह । इहा-
प्युक्तमिति ॥ जिजीविषो रागिणः कर्मविहितं सर्वं मीश्वर एवेति
ज्ञानवतस्त्यागो विहितः । किञ्च धनसम्पन्नस्यैव कर्मण्यधिकारः । प्रथम-

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते
नरे ॥ २ ॥

दिति च । तनो न पुनरेवादिति सन्नप्रासशासात् ।
उभयोः फलभेदश्च वक्ष्यति । इमौ द्वावेव पय्यानावनु-
सिष्क्रान्तरौ भवतः क्रियापयश्चैवं पुरस्तात्सन्नप्रासश्च ।
तयोः सन्नप्रास एवातिरेच्यति । न्यासएवात्यरेचर्यादिति
तैत्तिरीयके । द्वाविमावथ पय्यानी यत्र वेदाः प्रति-
ष्ठिता । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च विभावित
इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण
भगवता । विभागज्ञानयोर्दर्शयिष्यामः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थाधिकारिणश्च धनाकाङ्क्षनिषेधेन कर्माधिकारनिषेधः प्रतीयत
इत्यर्थः । जिजीविषा हि कर्माधिकारिण एव न ज्ञानाधिकारिण
इत्यत्र प्रमाणमाह । न जीवित इति ॥ अरण्यं स्त्रीजनासङ्गीर्ण-
माश्रममियाद्वच्छेदिति वेदशास्त्रनिश्चितस्ततोऽरण्यवासोपलक्षित-
त्यन्नप्रासविधानादित्यर्थः । इत्तश्च नैकफलकामस्य ज्ञानकर्मणोर-
धिकारः प्रतिपत्तव्य इत्याह । उभयोरिति ॥ को मोहः कः शोक
एकत्वमनुपश्यत इति स निदानार्थप्रज्ञायं ज्ञानफलं वक्ष्यति । संसार-
मण्डलान्तरगतमेव देशान्तरप्राप्तप्रापन्नं हिरण्यगर्भपदप्राप्तप्रादिल-
क्षणं कर्मफलं वक्ष्यति । अग्रे नय सुपथेत्यन्तेनेत्यर्थः ॥ नारायणोपनि-
षद्वाक्यमपि भिक्षाधिकारलेखेति प्रमाणयति । इमौ द्वावेवेति ॥ पुर-
स्तात्सृष्टिकालेऽनुसिष्क्रान्तरौ भूतसृष्टिमनुप्रवृत्तौ भिक्षाधिकारत्वात्
द्वौ । तयोः सन्नप्रास एवातिरिक्तः श्रेष्ठो भवति परमपुरुषार्थाव्यव-
धानादित्यर्थः ॥ व्यासवाक्यमपि संवादकमाह । द्वाविभाविति ॥ २ ॥

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

अवेदानीमविद्वान्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते । असूर्याः
परमात्मभावद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषां च स्वभूता
असूर्याः । नामशब्दोऽनर्थको निपातः । ते लोकाः कर्मफ-
लानि लोच्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि । अन्धे-
नादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान्
स्यावरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वैवं देहमभिगच्छन्ति तथा कर्म
यथा श्रुतम् । ये के चात्महनः । आत्माणं घ्नन्तीति आत्म-
हनः । के ते । येऽविद्वांसः । कथं ते आत्मानं नित्यं
हिंसन्ति । अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् ।
विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदना-
दित्तत्त्वं तद् तस्यैव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अवि-
द्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण
संसरन्ति ते ॥ ३ ॥

आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुं प्रथममविद्वान्निन्दा क्रियते इत्याह ।
अथेति ॥ ते लोका इति तच्छब्दो यच्छब्दार्थः । यथाश्रुतमिति येन
येन यादृशं प्रतिसिद्धं विहितं वा देवताविज्ञानमनुष्ठितं सत्तदनुकूपा-
मेव योनिमाप्नोतीत्यर्थः ॥ आत्महन्तृत्वस्योदरभेदिनि प्रसिद्धे कथम-
विद्वांस आत्महन इत्याह । कथं ते इति ॥ उदरभेदिनोऽध्यात्माधि-
कारे प्रसङ्गभावादशुद्धत्वाध्यासेन तिरस्कार एवात्महन्तृत्वमित्याह ।
अविद्यादोषेणेति ॥ यथा कस्यचिच्छुद्धस्य मिथ्याभिशापो शस्त्रवध
उच्यते तद्वदात्मनि पापित्वादध्यासोऽपि हिंसैवेत्यर्थः ॥ अजरामर-
त्वादित्तत्त्वं तद् तस्यैव तिरोभूतमिति संवेदनमभिधानञ्च यत्कार्यं तदपि हस्तस्यैव न
दृश्यत इति हननमुपचर्येत इत्याह । विद्यमानस्येति ॥ अस्यात्मघा-

अनेजदेकमनसो जवीयो नैनहेवा आप्रवन्

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः सरन्ति यद्विपर्ययेण विद्वांसो मुच्यन्ते ते नात्महनः । तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते । अनेजत् न एजत् । एजृ कम्पने । कम्पनं चलनं स्थिरत्वप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदा एकरूपमित्यर्थः । तच्चैकं सर्वभूतेषु मनसः सङ्कल्पादिलक्षणात् जवीयो जववत्तरम् । कथं विरुद्धमुच्यते । ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च । नैष दोषः । निरुपाधुपाधिमत्त्वोपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन रूपेणोच्यते अनेजदेकमिति । मनसोऽन्तःकरणस्य सङ्कल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनादिह देहस्यस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरस्थसङ्कल्पनं क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनो जविष्ठं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्याभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह । नैनहेवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि एतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाप्नुवन् न प्राप्तवन्तः । तेभ्यो मनो जवीयो मनोव्यापारव्य-

तस्य प्रायश्चित्तविधानादर्शनात्संस्करणमेव फलमित्याह । ते न हीति ॥ ३ ॥

उत्तरमन्त्रमवतारवति । यस्यात्मन इत्यादि ॥ अविक्रियमेवञ्चेदात्मतत्त्वं कथं केचन स्वर्गागमिनः केचन नरकागमिन इति सांसारिकव्यवस्था स्यात् मनो उपाधिविषयेत्यभिप्रेत्याह । मनस इत्यादिना ॥ उपाधेरनुवर्तमानात् विक्रियादिव्यवहाराश्रयत्वमिति शेषः । नतु मनसो देहालःस्थत्वादहिमं मनायोग्यात्कथं वेगवत्त्वमित्याशङ्क्याह । देहस्थस्येति ॥ जवीयत्वादद्यादिवत्तर्हि चक्षुरादियाह्यत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्याह । नैनहेवा इति ॥ चक्षुरादिप्रवृत्ते मनोव्यापारपक्षं क-

पूर्वमर्षत् । तद्वावतोऽन्यान्त्येति तिष्ठत्तस्मि-
न्नप्रो मातरिष्वा दधाति ॥ ४ ॥

वहितत्वात् । आभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयी-
भवति । यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत् पूर्वमेव गतम् ।
व्योमवद्व्यापिवात् । सर्व्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्व्वसंसार-
धर्म्मवर्जितं स्वेन निरूपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सद्-
पादिज्ञताः सव्याः संसारविक्रिया अनुभवतीवाऽविवेकिनां
मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येत-
दाह । तद्वावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यान्मनोवागिन्द्रियप्रभृ-
तोनात्मविलक्षणान् अत्येति अतीत्य गच्छतीव । इवार्थं
स्वयमेव दर्शयति । तिष्ठदिति । स्वयमविक्रियमेव सदि-
त्यर्थः । तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिष्वा
मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति वायुः सर्व्वप्राणभृत्
क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नो-
तानि प्रोतानि च यत्स तत्संज्ञकं सर्व्वस्य जगतो विधार-
यित स मातरिष्वा । अपः कर्म्माणि प्राणिनां चेष्टलक्ष-
णाणि । अग्नादित्यादीनां ज्वलनवहनप्रकाशाभिवर्ष-

त्वान्तदविषयत्वे चक्षुरादिविषयत्वमप्यात्मनो न सम्भवतीत्यर्थः । मनसो
वा कथं न विषय आत्मेत्यत आह । यस्मादिति ॥ यथा मनःस्य परि-
भाणं मनसो न विषय इत्यन्ताव्यवधानान्तथात्माप्यन्ताव्यवधानान्मनसो
न विषयस्तद्व्यापकत्वाच्चेत्यर्थः । उक्त्वात्मसाङ्गवचनयोगोपपत्तिमाह ॥
तस्मिन्नात्मतत्त्वे सतीति ॥ अतानि कर्म्माणि सोमाज्जपयःप्रभृतिभि-
रङ्गिः सम्पाद्यन् इति सम्बन्धात्तात्पर्यकोऽप्यशब्दः कर्म्मणस्तु प्राणि-
चेष्टायाश्चावनिमित्तत्वप्रसिद्धेः । कारणवाचकः शब्दः कार्योपचक्ष-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

णादिलक्षणानि दधाति विभजतीत्यर्थः । धारयतीति वा ।
भीषास्माद्वातः एवते इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वा हि कार्य-
कारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्यदभूते
सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमपि अर्थं
पुनराह । तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतमेजति चलति तदेव च
नैजति स्वतो नैव चलति अचलमेव सञ्चलतीवेत्यर्थः ।
किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूर इव ।
तद्वदन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरे-
ऽन्तिके च । तदन्तरेऽभ्यन्तरे सर्वस्य । आत्मा सर्वान्तर-
इति = तेः । अस्य सर्वत्र जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य
तदु सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापित्वादाकाशवन्निरतिशय-
रूपत्वादतः प्रज्ञानघन एवेति शासनान्निरन्तरम् ॥ ५ ॥

यस्य परिव्राड्समुच्चः सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि
स्यावरान्ता न्यात्मन्येवानुपपद्यति आत्मव्यतिरिक्तानि न
पश्यतीत्यर्थः । सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषामपि

याया प्रयुक्त इत्यर्थः । ईश्वरस्यापि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्तग्रन्थधा-
नुपपत्त्याधिष्ठाता परमेश्वरः सम्भाव्यत इत्युक्तमिदानीं मातरिच्य-
हणमुपलक्षणार्थमाटाय तात्पर्यमाह । सर्वा हीति ॥ ४ ॥

जामिता आत्मस्य व्यापित्वादाह्यतोऽस्ति निरतिशयरूपत्वादन-
न्वेदस्ति तर्हि निरन्तरमेकरसं न स्यान्मानाभावादित्याशङ्क्याह । प्रज्ञा-
नघन एवेति ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

स ईभूतेषु चात्मानं ततो न विजगृह्यते ॥ ६ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथास्य कार्यकारणसङ्घात-
स्यात्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेताः केवलो निर्गुणोऽने-
नैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्यावरन्तानामहमेवात्मैति
सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्तनुपश्यति स ततस्त-
स्यादेव दर्शनान्तं विजगृह्यते जुगृह्यतां घृणां न करोति ।
प्राप्तस्यानुवादोऽयम् । सर्वाहि 'घृणात्मनोऽन्यदृष्टं' पश्यतो
भवत्यात्मा मेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानि-
मित्तमस्तीति प्राहमेव । ततो न विजगृह्यत इति ॥ ६ ॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह । यस्मिन् सर्वाणि
भूतानि । यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि
सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनात् आत्मैवाभूदात्मैव संरुतः
परमार्थवस्तु विजानतस्तत्र तस्मिन् काले तत्र चात्मानि वा
कः शोकः को मोहः । शोकश्च मोहश्च कामबीजमज्ञा-
नतो भवति । न चात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः को
मोहः कः शोक इति । शोकमोहयोरविद्याकार्ययोर-
रा-

उक्तात्मज्ञानस्य फलं विधिविधेयातीतजीवनमुक्तस्वरूपेणावस्थान-
मन्याह । यस्त्विति । इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह । यस्मिन्निति ॥
निरतिशयानन्दः स्वत एव दुःखास्पृष्टमात्मानमजानतो भवति हा-
स्यतोऽहं न मे पुत्रोऽस्ति न चेतमिति । ततः पुत्रादीन् कामयते तदर्थं
देवताराधनादि चिकीर्षति तवात्मैकत्वं पश्यतस्ततोऽन्यव्यतिरेकाभ्यां

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्ताविरं शुद्धमपाप-
विद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

क्षेपेणासम्भवप्रदर्शनात् । सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमे-
वोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥ ७ ॥

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेणेत्याह्वयं
मन्त्रः । सपर्यगात् आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद्ग-
तवान् आकाशवद्व्यापीत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मादीप्ति-
मानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः ।
अव्रणमव्रणम् । अस्ताविरं स्तावा शिरा यस्मिन् विद्यन्ते
इत्यस्ताविरम् । स्ताविरमव्रणमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रति-
षेधः । शुद्धं निर्मलम् । अपापविद्धं धर्माधर्मादिषापव-
र्जितमिति । शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वे परिणो-
यानि । स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीति पुंलिङ्गत्वे-
न पसंहारात् । कविः कान्तदर्शी सर्ववृक् । नान्यतो
ऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस ईशिता सर्वज्ञ ईश्वर
इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः ।
स्वयम्भूः स्वयं भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि
भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः । स नित्यमुक्त
ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वादयातथाभावो याथातथ्यं

शोकादेरविद्याकार्यत्वानधारणान्मूलाविद्यानिवृत्तैव शोकादेरात्यन्ति-
कनिवृत्तिविद्याफलत्वेन विवक्षिता ॥ लयमात्रस्य सुषुप्तेऽपि भावादित्याह । शोकश्च मोहश्चेत्यादिना ॥ योऽयमिति । सुप्रचरणे धातुः ।
स्तावयन्ति शरीरमिति स्तावा शिरा ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो

यथाभूतकर्म्मफलसाधनतोऽर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधा-
द्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः । शाश्वतीभ्यो
नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥८॥

अत्रादेन मन्त्रेण सर्वेष्वपरापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता
प्रथमवेदार्थः । ईशावास्यमिदं सर्वं मागृधः कस्यस्विद्वन-
मित्यज्ञानां जिजोविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे कुर्वन्नेवेह-
कर्म्माणि जिजोविषेदिति कर्म्मानिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः ।
अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्द्विद्वारण्यके-
र्षिप्रदर्शितः । सोऽकामयत जाया मे स्यादित्यादिना ।
अज्ञस्य कामिनः कर्म्माणीति मन एवास्यात्मा वाग्जाये-
त्यादिवचनात् । अज्ञत्वं कामित्वं च निश्चितमवगम्यते ।
तथाच तत्फलं सप्तान्नसर्गास्तोषात्मभावेनात्मस्वरूपाव-
स्थानं जायाद्युपगताय सन्नप्राप्तेन चात्मविदां कर्म्मानिष्ठा-
प्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता । किं प्रजया करि-

प्रकरणविभागं निदर्शयिषुष्टं तन्मनुवर्दति । अत्राद्येनेति । यदुक्तं
भास्करेण सर्वाण्युपनिषदेकब्रह्मविद्याप्रकरणं ततः प्रकरणभेदकरण-
मनुचितम् । तदसत् । प्राणाद्युपासनविधानस्याप्युपनिषु दर्शनात् ।
न च तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमिति वाच्यम् । पृथक्फलश्रवणात् । खेनापि
व्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चयविधानस्य प्रकरणभेदेनैवेष्टत्वाद्व्याकृता-
व्याकृतोपासनस्य प्रकारान्तरत्वान्तस्माद्यथा कर्म्मकाण्डेऽग्निहोत्रादि-
प्रकरणं भिन्नमेवेत्यते भिन्नाधिकारत्वान्तत्तत्कर्म्माणस्तथोपपित्सपि
भिन्नाधिकारकर्म्माविरोधाद्विरुद्धविद्याप्रकरणभेदो न विरुद्धते ॥
मन्त्रार्थं ब्राह्मणसम्पत्तिं दर्शयितुमुपक्रमते । अनयोश्चेत्यादिना ॥ तत्र
वा कथमज्ञत्वमवगम्यत इत्याशङ्क्याह । मन एवेति । जाया मे स्यादथ

भूयद्भव ते तमो य उ विद्याया ०७ रताः ॥ ६ ॥

ध्यामो येषां नोऽयमात्माय लोक इत्यादिना । ये तु ज्ञान-
निष्ठाः सन्न्यासिनस्तथोऽसूय्या नाम तं इत्यादिनाऽविद्वन्नि-
न्दाद्वारेणात्मनोऽयायातव्यं स पर्यगादित्येतदेतैर्मन्त्रैरुप-
दिष्टम् । ते ह्याताधिकृतान् कामिन इति । तथाच श्वेता-
श्वतराणां मन्त्रोर्मनिषदि अत्याश्रयः परमं पवित्रं
प्रोवाच सत्यव्रतिसङ्गजुष्टमित्यादि विभज्योक्तम् । ये तु-
कर्मानिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तस्य इदमुच्यते ।
अन्वं तम इत्यादि । कथं पुनरेवमवगम्यते नतु सर्व-
ेषामित्युच्यते । ऽक्रामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन ।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को-
मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । यदात्मैकत्वविज्ञानं
तत्र केनचित्कर्माणां ज्ञानान्तरेण वा वाच्यमूढः समुच्चि-
चीप्रति । इह ग्रथ्ये तु समुच्चिचीप्रयाऽविद्वदादिनिन्दा

प्रजायेयाद्यवित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति काजयमानस्य वाह्यो-
जायादिर्यदा न सम्पद्यते तदाध्यात्म जायादिसम्पत्तिं दर्शयति ।
मन इत्यादिना । एतच्चाश्रयलिङ्गं मनश्चादिष्वात्मत्वाद्यभिमानस्याज्ञान-
कर्मत्वात् ॥ यथा वा वाह्यकाधमन्यलाभे सुक्ता मनोविजृम्भव-
कामिनीमुपभुञ्जानोऽक्षः प्रसिद्धस्तददयसपीत्यर्थः । तेषाञ्च कर्माणां
फलं संसाराग्निदेवेत्यपि दर्शितमित्याह । तथा चेति ॥ एकं साधारण-
मन्नं यदिदमद्यते हे देवानां हतप्रभृते दर्शयौर्णमासौ वा तीर्थस्य
भोगसाधनानि मनोवाक्प्राणलक्षणानि पञ्चधमेकं पय इति सप्ताक्ष-
सर्गो दर्शितः । श्रुत्या यत्प्रपञ्चानि मेधया तपसा जनयतीत्यादिना ।
अतैकैको यजमान एवं विहितप्रपिद्विज्ञानकर्मानुष्ठानात्मकस्य
वैराग्यस्य साक्षात्प्राप्त्याऽभ्यासं जनकत्वात्पितेच्यते । कष्टे च ते तु तस्य

क्रियते । तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः
शास्त्रतो वा तदिहोच्यते । तद्वैवं वित्तं देवतादिज्ञानं
कर्म्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । विद्यया
देवलोक इति पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानकर्म्मणो-
रिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैवैकैकस्य
पृथक्फलश्रवणात् । विद्यया तदारोहन्ति । विद्यया
देवलोकः । न तत्र दक्षिणां यान्ति । कर्म्मणा पितृलोक
इति । न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्त्तव्यतामिच्छत ।
अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के । येऽविद्यां
विद्याया अन्याऽविद्या तां कर्न्त्यर्थः । कर्म्मणो विद्या-

पितरहं ममेदमित्यात्मलाभ्यासेन मनआदिष्वितरेषु च सम्बन्धाध्यासे-
नावस्थानं संसारः प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ एवं मन्त्रप्रदर्शितं निष्ठाद्वये
ब्राह्मणसम्पत्तिं दर्शयित्वा प्रकरणविभागं दर्शयति । ये तु ज्ञाननिष्ठा
इत्यादिना ॥ अत्रात्रमिभ्य इति उत्तमात्रमिभ्य इत्यर्थः । साध्यसाधन-
भेदोपमर्हेन यदात्मैकत्वविज्ञानं यस्मिन् सर्वाणि भूतान्या वैवाभूदित्य-
वधारणेनोक्तं पूर्वाद्धेनोत्तराद्धेन च संसारनिवृत्तिफलकमुक्तं तत्र केन-
चित्मूढः समुच्चिचीषति । अन्धन्तम इत्यादौ तु समुच्चिचीषया विद्वदा-
दिनिन्दा दृश्यते । ततः किमिल्यत आह । तत्र च यस्येति ॥ कस्य तर्हि
ज्ञानस्य कर्म्मसमुच्चयः सम्भवतीत्यत आह । तद्वैवं वित्तमिति ॥ तच्चोक्तं
भास्करेण । ईशावास्यमिति मन्त्रे ब्रह्मविद्यायाः प्रकान्तत्वात्तस्या एव
समुच्चिचीषया निन्द्रोच्यते इति । तदसत् । न हि प्रकृतमित्येतावता
सम्बध्यते किन्तु सम्बन्धयोग्यम् । शुद्धब्रह्मात्मैकत्वविद्यायास्त्वध्यासो-
पमर्हं कत्वान्नास्ति कर्म्मसम्बन्धयोग्यता । किञ्च यस्मिन्निष्पन्नोऽपि फलस्य
व्यवधानं सम्भाव्यते तस्यैव सहकारिसमुच्चय इत्येते । दर्शनादेरिवेहै-
कत्वमनुपश्यतः को मोहः कः शोक इत्येकत्वदर्शनसमकालं मोहादिनि-
वृत्तिभिधानाच्च कालान्तरीयफलम् । ततो न सहकारिसमुच्चिचीषा ।
किञ्चास्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणा विविदिषन्ति यत्नेनेत्यादि तृतीया-
ध्याया यज्ञादेरियमाणवेदनकरणत्वेन सम्बन्धः प्रतीयते । तत्कथं दुर्ब-

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदेवाहुर्विद्यया इति
शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

विरोधित्वात् । तामविद्यामग्निहोतादिलक्षणामेव केवला-
सुपासते तत्पराः सान्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः । ततस्तस्मा-
दन्यात्मकात्मकात्तमसो भूय इव वज्रतरमेव तमः प्रविशन्ति ।
कर्म हित्वा ये उ विद्यायामेव देवताज्ञाने रताः । तत्ता-
वान्तरफलभेदविद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह । अन्यया
फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितया जाकृतैव
स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति ।
अन्यदाहुर्विद्यया कर्मणा क्रियत इति । तथोक्तं कर्मणा
पितृलोको विद्यया देवलोक इति । एवं शुश्रुमः श्रुतवन्तो

शेन प्रकरणेन सहकारिसम्बन्धः कल्प्यते । प्रधानस्य च विद्यायाः
सहकारिसम्बन्धविधित्वया निन्देत्यप्युक्तम् । अत एवाग्नीश्वनाद्यानपे-
क्षितसूत्रविरोधश्च समसमुच्चयश्च परेणापि नेष्यते । विरोधेन च परि-
जह्ये तस्मात्कर्मविरुद्धदेवताज्ञानस्यैव समुच्चयो विधीयते ॥ ननु देवता-
ज्ञानस्य कर्म फलातिरिक्तफलाभावात्समुच्चयो न सम्भवतीत्यत आह ।
विद्ययेति ॥ ननु ममुच्चीचिषया निन्दति किमिति व्याख्यायते अध्ययनवि-
धेर्मात्रादवर्ण्यार्थवसानानुपपत्तेर्देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वात्प्राप्ता
र्थाव निन्दा किं नेष्यते तत्राह । तयोर्ज्ञानकर्मणोरिति । फलशब्दो
मोक्षे लुप्तो मोक्षमनिच्छतामपि समोहिते फलव्यवहारदर्शनान्ततो यो-
देवलोकादिमुपादित्यते तस्य तदपि फलं भवत्येवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

वित्तन्वा माया परमेश्वरस्योपाधिः । मायान्त प्रकृतिं विद्या-
न्मायिनन्त महेश्वरमित्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धात्मासम्प्रतिशब्देनोच्यते न
वद्ध्य । तस्य निर्विकारस्य साक्षात्प्रकृतितन्त्रत्वानुपपत्तेः । मास्तराभि-
सूतस्तु परियामवादस्तत्त्वानुलोके निरस्त एवास्माभिः सांसारिकडः

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्देदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततोभूय इव ते तमो यच्च सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्-
कर्म च ज्ञानञ्च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयसागमः
पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥ १० ॥

यत एवं विद्याञ्चाविद्याञ्च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः ।
यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेदस्येदं समु-
च्चयकारिण एकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते ।
अविद्यया कर्माणाऽग्निहोतादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म
ज्ञानञ्च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देव-
ताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्व्यमृत-
मुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥ ११ ॥

अधुना व्याहृताव्याहृतोपासनयोः समुच्चिचीपया
प्रत्येकं निन्दोच्यते । अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं
सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्यान्या
असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमव्याहृताख्यं तामसम्भूतिमव्या-
हृताख्यं प्रकृति कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्श-
नात्मिकामुपासते ये ते तदनु रूपमेवान्धतमोऽदर्शनात्मकं

स्वानुभवाभावे च सुषुप्तिवत्प्रकृतिवत्तदस्य पुरुषेणार्थमानताद्वयप-
द्यते । फलञ्च कर्मोपासन इव प्रकृत्युपासनेऽपि परमेश्वर एव दास्यति ।
ततो जडत्वात्प्रकृतेः फलदत्वानुपपत्तेरुपासत्वाऽनुपपत्तिरित्यपि
ब्रूचोद्यमेव ॥ १० । ११ । १२ ॥

अन्यदेवाङ्गः सम्भवादन्यदादुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं स ह ।

प्रविशन्ति । ततस्तस्मादपि भूयो बल्लतरं तमः प्रविशन्ति
ये सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेद-
माह । अन्यदेव पृथगेवाहुः फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्य-
ब्रह्मोपासनादणिमादैश्वर्यलक्षणमाख्यातवन्त इत्यर्थः ।
तथा चान्यदादुरसम्भवादसम्भूतेरव्याकृतादव्याकृतोपास-
नाद्यदुक्तमन्वन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौरा-
णिकैरुच्यते इति एवं शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे
व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्युपासनयोर्युक्त एकपुत्र-
प्रार्थत्वाच्चेत्याह । सम्भूतिं च विनाशञ्च । यस्तद्वेदोभयं
सविनाशो धर्म्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्म्माणां भेदेनोच्यते ।
विनाश इति तेन तदुपासनेनाऽनैश्वर्यमधर्म्माकामादिदोष-
जातञ्च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः

विस्तरेणोक्तमर्थज्ञानं सङ्क्षिप्तोपसंहरति । मानुषदेववित्त-
साध्यमित्यादिना । शरीरपाटवं गोभूहिरण्यादिसाधनसम्पत्तौ च
मानुषं वित्तम् । देवं वित्तम् । देवताज्ञानमुत्तरपन्थस्य सम्बन्धा-
भिधित्वयार्थम् । विशेषमनुवदति । तत्र निषेकादीति । तदुक्त-
मिति प्रत्युक्तमन्वेष ॥ विद्याच्चेत्याह कान्तत्वं फलमित्युक्तमस्माभिरिति
योजना । व्याहृत्यवयव इति तस्य भूरिति शिरो भुव इति बाह्वु स्वरिति
प्रतिष्ठे पादावित्यर्थः । मन्वान्पदशो व्याख्याय सङ्क्षेपतो विचारमार-
भते । अविद्याया मृत्युं बोलोत्यादिता ॥ अमृतत्वमेत्यमृतत्वञ्च मुख्यमेव
कस्मान्न मृत्युते इति सम्बन्धः । शास्त्रीययोजनान् कस्मान्न योर्विरोधा-

46242 वाचस्पत्येयोपनिषत् ।

229 220
2 (5), 18/182

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥
हिरण्यमयेन प्राप्तेन सत्यस्यापिहितं सुखम् ।

फलम् । तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्यासम्भूत्या अव्याजतोपास-
नया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते । सम्भूतिश्च विनाश-
श्चेत्यत्राण्यलोपेन विनिर्द्देशो द्रष्टव्यः । प्रकृतिलयफलं
मृत्युनुरोधात् । मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं
प्रकृतिलयान्तम् । एतावती संसारगतिः । अतः परं पृथ्वी-
क्तमालैवाऽभूद्विज्ञानत इति सर्वत्रात्मभाव एव सर्वेषां स-
म्भूतासंज्ञाननिष्ठाफलं एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो
वेदार्थो तत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य
विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्म-
णमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं दृढद्वार-
ण्यकं तत्र निषेधादिभ्रमशान्तं कर्म्म कुर्वन् जिजीविषेत्
यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया । तदुक्तं विद्याञ्चावि-
द्याञ्च यस्तद्वैरोभयं सह ॥ १४ ॥

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुत इत्युक्तं तत्र
केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते । तद्यत्तत्सत्यमसौ स
आदित्य य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यन्नाय दक्षिणेक्षन्
विरोधो शास्त्रोपावेय आह्वौ न तर्कमावेयेति परेणोक्तम् ॥ सिद्धान्ती
शास्त्रसिद्ध एव विरोध इत्याह । दूरमेव इति । विप्लवी नानागतौ
विद्याद्विद्यो दूरं विपरीतेऽतिशयेन विरुद्धे इत्यर्थः । सहसम्भवानुप-
पत्तेरिति कानुपपत्तिः । काठके विरोधश्रवणात् । तद्वत्तद्विद्यार्थविद्या-
योर्विरोधोऽस्ति हेत्वविरोधश्रवणादविरोधो भविष्यतीति न वाच्यं
विरोधाविरोधयोः सिद्धत्वेन विकल्पसम्भवाद्दितानुदितहोतयोर्हि
सुखमन्वत्त्वाद्युक्तो विकल्प इत्युक्तं तद्विरोध एवास्ति सञ्चयविधिव-

तत्त्वमूषन् पाटुणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्

पुरुष एतदुभय सत्यं ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्म्मज्ञश्च यः
सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते
हिरण्मयेन पात्रेण । हिरण्मयं ज्योतिर्मायमित्यतः ।
तेन पात्रेणैवापिधावभूतेन सत्यस्यादित्यभरण्डलस्यस्य ब्रह्म-
णोऽपिहितं छादितं सुखं द्वारं तत्त्वं हे पूषन् अपाटुणु
सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मा यस्य मम
सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मत्त्वं अथवा यथाभूतस्य धर्मास्या-
नुष्ठाने दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥ १५ ॥

हे पूषन् जगतः पूषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति
गच्छतीत्येकर्षिः । हे एकर्षे । तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः ।
हे यम । तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां स्वीकरणात्सूर्य ।
हे सूर्य । प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः । हे प्राजापत्यः ।
व्यूह विगमय रश्मीन् स्थान् । समूह एकीकृत्य उपसंहर ते
तेजस्तापकं ज्योतिः । यत्ते तव रूपं कल्याणतममत्यन्तशो-
भनं तत्ते तवात्मनः प्रसादात्प्रस्थासि । किञ्चाहं न तु त्वां

नादिति चेन्न । मुख्यब्रह्मविद्याविद्यायोः शुक्तिविद्याविद्यायोरिव सह-
सम्भवानुपपत्तेः समुच्चयविधिरसिद्धः । सिद्धे समुच्चयविधौ तद्वत्ताद-
विरोधसिद्धिरविरोधावगमाच्च समुच्चयसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः ।
सहसम्भवानुपपत्तावपि क्रमेणैकस्त्रयविद्याविद्ये स्यातामिति चेत्
यदि पूर्वमाविद्या पश्चात्तु विद्येति क्रमस्तर्हीत्यत एव यदि पश्चात्तर्ह्य-
सम्भव इत्याह । न विद्योत्पत्ताविति ॥ पूर्वसिद्धाया अविद्यायाः
प्रध्वस्तत्वादप्यस्याश्रोतृत्वात् कारणासम्भवान्नाभावेन भ्रमसंशयाग्रह-
णानामपि विदुषोऽनुपपत्तिरित्यर्थः । विद्योत्पत्तौ साधुद्विद्या काम-

समूह । तेजो यत्ते रूपङ्गल्याणतमन्तत्ते
पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं
स्मर ॥ १७ ॥

अथवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवपुरुषः
पुरुषाकारत्वात् पूर्णम् । अनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्त
मिति पुरुषः पुरिश्यनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि
॥१६॥

अवेदानो मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरि-
च्छेदं हित्वा विदेवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूता-
त्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः । लिङ्गञ्चेदं ज्ञानकर्म्म-
संस्कृतम् उत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम् । मार्गयाचनसामर्थ्यादथेदं
शरीरमग्नौ कृतं भस्मान्तं भूयात् ॥ ओमिति यथोपा-
सनं ओं प्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्नप्राण्यं ब्रह्म भेदेनो-
च्यते । हे क्रतो सङ्गल्यात्मक स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य
कालोऽयं प्रत्यपस्थितोऽनः स्मर एतावन्तं कालं भावितं
कृतमथ स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म्म तच्च स्मर
क्रतो स्मर । कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ १७ ॥

कर्म्म तु भविष्यति विदुषोऽपि व्याख्यानभिचाटनादिदर्शनादित्या
शङ्कग्राह । अविद्यासम्भवादिति । चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानं हि कर्म्म-
ज्ञानेन सह तव समुच्चिचीषितं ब्रह्मा नैकत्वं साक्षादनुभवतो न चोदना
सम्भवति कामाभावात्कामिनो हि सर्वाश्चोदनाः । अकामतः क्रियाः

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते । हे अग्ने नय गमय
सुपथा शोभनेन मार्गेण । सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्ग-
निवृत्तार्थम् । निर्व्विणोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्ष-
णेनातो याचे त्वां पुनः पुन मनागमनवर्जितेन शोभनेन
पथानय । राये धनाय कर्म्म फलाभोगायेत्यर्थः । अस्मान्य-
योक्तृधर्म्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि
कर्म्मणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन् किञ्च वयोधि
वियोजय विनाशय अस्मादस्मात्तो जुह्वराणं कुटिलं वचना-
त्मकमेतः पापम् । ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम
इत्यभिप्रायः । किन्तु वयमिदानीं ते न शुक्लं परिचर्या
कर्त्तुं भूयिष्ठां बद्धतराम् । ते तुभ्यं नमस्कर्त्तुं नमस्कार-
वचनं विधेन तव नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः । अविद्यया
मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा
सम्भूत्याऽमृतमश्नुते । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृत
मश्नुत इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्व्वन्ति अतस्तान्निर्द्धार-
णार्थं सङ्क्षेपतो विचारणां करिष्यामः । तत्र तावत् किं
निमित्तः संशय इत्युच्यते । विद्याशब्देन सुखा परमात्म-
विद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वञ्च । ननु क्वायाः परमात्म-

काश्चिद्दृश्यन्ते न हि कस्यचित् । यद्यपि कुरुते नन्तस्तत्त्वामस्य
चेष्टितमिति स्मरणात् । विद्वच्छरीरस्थितिरविद्यालेशाभ्याम् । कर्म्म-
शेषनिमित्तं तु विदुषो भिचाटनादि न स्मरन्ति तन्माभावात्किन्त्व-
द्यावत्प्राणशरीरं योगभाषितवर्त्माभावं तत्र विद्या खगतमन्यते

वयुनानि विहान् । युयोधस्यज्जदुराणमेनो

विद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः : सत्यम् ।
 विरोधोऽस्य नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाण-
 कत्वात् । यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपासनञ्च शास्त्रप्रमाणकं
 तथा तद्विरोधास्तद्विरोधावपि । यथा च न हिंसात्सर्वा-
 भूतानि हति शास्त्रवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे-
 ऽपि हिंसा स्यादिति एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात् ।
 विद्याकर्मणोश्च समुच्चये न दूरमेते विपरीते विपची
 अविद्या या च विद्येति श्रुतेः । विद्याश्चाविद्याश्चेति
 वचनादविरोध इति चेन्न । हेतुस्वरूपफलविरोधात् ।
 विद्याविद्याविरोधाविरोधयोर्विकल्पासम्भवादविरोध एवेति
 चेन्न । सहसम्भवानुपपत्तेः । क्रमेण स्यातां विद्याविद्ये
 इति चेन्न । विद्योत्पत्तौ तदाश्रयेऽविद्योपपत्तेः । न
 ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये
 तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया
 उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा । यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
 आत्मैवाऽभूद्विजानतस्तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमद्य
 पश्यत इति शोकमोहादप्रसम्भवश्रुतेः । अविद्यासम्भवान्त-
 दुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम । अमृतरश्रुत
 इत्यार्षेयिकममृतं विद्याशब्देन परमात्मविद्याशब्दो

ब्रह्माध्यासोपादानाविद्याया असम्भवाच्चैव किञ्चित्करोमीति प्रत्यवा-
 ज्ञेति भावः । यदुक्तममृतशब्देन मुख्यमेवान्ततत्वं किं न मृच्छते ।
 विद्याशब्देन च परमात्मविद्येति तत्प्राह । अमृतमिति । पुण्याध्यास-

भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्सम्पूर्णा ॥

हिरण्यमयेत्यादिना द्वारमार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्मा-
दप्राप्ताऽस्माभिर्याख्यातएव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥ १८ ॥
इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्रा-
जकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहिते-
पनिषद्भाष्य सम्पूर्णम् ॥ श्रीं तत्सत् ॥

पहणे हिरण्ययादिमन्त्रेण द्वारमार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्य न प्राप्ता
उत्क्रामन्त्यत्र ब्रह्मा समश्नुते इत्यादिश्रुतेः । ततो मुख्यार्थवाधाद्गौणार्थ-
पहणं युक्तमित्यर्थः । यस्मादर्थान्तरं न सङ्गच्छते तस्मादित्युपसंहारः ॥
। १९ । १४ । १५ । १६ ॥ १७ । १८ ॥ ईशाप्रभृतिभाष्यस्य शाङ्करस्य
परात्मनः । अन्तोपकृतिसिद्ध्यर्थं प्रणीतं टिप्पणं स्फुटम् ॥ इति श्रीपर-
महंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवदानन्दचान-
कता वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यटीकासमाप्ता ॥ श्रीं तत्सत् ॥

तलवकारोपनिषत् ।

परमहंसपरिव्राजकार्यश्रीशङ्करभगवत्कृत

भाष्यसहिता

श्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवदानन्द-

ज्ञानकृतभाष्यटीका

विभूषिता ।

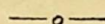
श्रीयुक्त नवचन्द्रशिरोमणिना परिशोधिता ।

श्रीभुवनचन्द्रवसाकेन प्रकाशिता

(८ नं० निमतलाघाट द्वीट्)



(द्वितीयसंस्क्रता)



कलिकातानगरे

१६ नं० नूतन पगयापटी

नारायणयन्त्रे

मुद्रिता ।



इंराजी १८८० सन १२८६ साल ।

ॐ तत्सत् ।

सामवेदीयतलवकारोपनिषद्भाष्यम् ।

श० । ओं परमात्मने नमः । केनेषितमित्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायस्यारम्भः । प्रागेतस्मात् कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि कर्माङ्गसामविषयाणि च । अनन्तरञ्च गायत्रिसामविषयदर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यं सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानञ्च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य सुसुक्ष्मोः सत्त्वशुद्धयर्थं भवति । सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य

ॐ परमात्मने नमः ॥ ॐ ॥

यच्छ्रोत्रादेरधिष्ठानचक्षुर्वागाद्यगोचरम् ।

स्वतोऽध्यक्षं परं ब्रह्म नित्यमुक्तं भवामि तत् ॥ १ ॥

आ० । केनेषितमित्यादिकां तलवकारशाखोपनिषदं व्याचिख्यासुर्भगवान् भाष्यकारोऽहंप्रत्ययगोचरस्यात्मनः संसारित्वादसंसारि-ब्रह्मभावस्योपनिषत्प्रतिपादयस्यासम्भवान्निर्विषयत्वादव्याख्येयत्वमित्याशङ्क्याहङ्कारसाक्षिणः संसारित्वग्राहकप्रमाणाविषयत्वादब्रह्मत्वप्रतिपादने विरोधासम्भवात् सविषयत्वादव्याख्येयत्वं प्रतिजानीते । केनेषितमित्याद्येति । कस्तर्हि नवमस्याध्यायस्याष्टाध्याय्या सह नियतपूर्वोत्तरभावानुपपत्तिलभ्यः सम्बन्ध इत्याशङ्क्य हेतु हेतुमद्भावलक्षणसम्बन्धं दर्शयितुं वृत्त-

केवलानि श्रौतानि स्मार्त्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रति-
पत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया
प्रवृत्त्या पश्चादिस्थावरान्ता अधोगतिः स्यात् । तथैतयोः
पथोर्न कतरे च न तानीमानि क्षुद्राण्यसक्तदावर्त्तानि
भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानमिति श्रुतेः ।
प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुरिति मन्त्रवर्णाद्विशुद्धसत्त्वस्य तु
निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसम्बन्धादिह
कृतात् पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्म-
विषया जिज्ञासा प्रवर्त्तते तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षण्या
श्रुत्या प्रदर्श्यते केनेषितमिताद्यया काठके चोक्तम् । पराञ्चि
खानि व्यवृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

मनुवदति । प्रागेतस्मादित्यादिना । कर्माङ्गसामपाञ्चभक्तिकं
सामभक्तिकञ्च तद्विषयाण्युपासनानि पृथिव्यादिदृष्ट्योक्तानि ।
प्राणदृष्ट्या गायत्रिसामोपासनञ्च । शिष्याचर्य्यसन्तानाविच्छेदो
वंशस्तदवसानेन ग्रन्थेन कार्यरूपमेव वस्तूक्तञ्चेत्तर्हि प्राणाद्युपा-
सनसहितस्य कर्मणः संसारफलत्वात् ब्रह्मज्ञानानुपयोगात्
कथं हेतुहेतुमद्भावः सम्बन्धो विधिक्षित इत्याशङ्क्य नित्यकर्मणां
तावज्ज्ञानोपयोगित्वं कथयति । सर्वमेतदिति । काव्यानां
प्रतिषिद्धानाञ्च फलं तद्दोषदर्शनेन वैराग्यार्थं कथयति । सका-
मस्य त्विति । एतयोः पथोर्ज्ञानकर्मणोर्मध्ये केनापि मार्गेण
येन प्रवृत्तास्ते प्रतिषिद्धानुष्ठायिन इत्यर्थः । जायस्व म्रियस्वेति
पुनःपुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः । तिस्रः प्रजाः स्वेदजाण्डजो-
द्भिज्जलक्षणाः । पितृयान-देवयान-लक्षणमार्गगमनद्वयमतीत्य
ऋष्टामिव गतिमीयुः प्राप्ता इत्यर्थः । एवं कर्मफलमुद्धा ततो

कश्चिद्द्वीरः प्रत्यगात्मनि मैत्रदाहृतचक्षुरमृतमिच्छन्नित्यादि
परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्रह्मणो निर्वेदमापन्नानास्थ-
कृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमित्यादि । आथर्वणे च । एवं हि विरक्तस्य
प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मनुं विज्ञातुञ्च सामर्थ्यमुप-
पद्यते नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात् संसार-
बीजमज्ञानं कामकर्म्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते । तत्र
को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति मन्त्रवर्णात् ।
वरति शोकमात्मवित् भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चिदन्ते सर्व-

विरक्तस्य विशुद्धसत्त्वस्य ब्रह्मज्ञानेऽधिकार इति दर्शयन् हेतु-
हेतुमद्भावमाह । विशुद्धसत्त्वस्य त्विति । साध्यसाधनसम्बन्धा-
द्विरक्तस्येति सम्बन्धः । तत्र निमित्तस्यादृष्टस्यानियतत्वमाह ।
इह कृतादिति । कर्मफलाद्विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासा भवतीत्यत्र
संवादमाह । काठके चेति । आहृतचक्षुरिति साध्यसाधनभा-
वादुपरतकरणग्रामश्चक्षुर्ग्रहणस्थोपलक्षणार्थत्वात् । अन्यव्यति-
रेकसिद्धत्वञ्चाह । एवं हीति । नान्यथेत्यविरक्तस्य बहिर्विषया-
क्षिप्तचेतस आत्मजिज्ञासैवानुपपन्ना कथञ्चिज्जातापि न फलाव-
साना स्यात् शूद्रयागादिवदित्यर्थः । यद्यप्येवमुपनिषदः कर्म-
काण्डसम्बन्धोऽस्ति तथाप्युपनिषज्जन्यज्ञानस्य निष्प्रयोजनत्वा-
ज्जोपनिषदो व्याख्यारम्भः सम्भवतीत्याशङ्क्याह । एतस्माच्चेति ।
समुच्चयवादिनोऽभिप्रायं शङ्कते । कर्मसहितादपीति । एका-
ध्ययनविधिपरिगृहीतत्वात् कर्मज्ञानकाण्डयोरिकं फलं वाच्यं
ततः कर्मसमुच्चिताज्ज्ञानात् सनिदानसंसारनिवृत्तिलक्षणं फलं
सिद्धतीति न कर्मसु विरक्तस्योपनिषदारम्भ इत्यर्थः । अध्ययन-

संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावह
इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत् सिध्यतीति
चेन्न । वाजसनेयके तस्रान्यकारणत्ववचनाज्जाया मे स्रादिति
प्रस्तुत्य पुत्रेणायं लोको युज्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा
पितृलोको विद्यया देवलोक इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य
कारणत्वमुक्तम् । वाजसनेयके तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने
हेतुरुक्तः । किं प्रजया करिष्यामी येषां नोऽयमात्मा नायं
लोक इति तत्रायं हेत्वर्थः । प्रज्ञाकर्म तत्संयुक्तविद्याभि-
र्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तये कारणैः
किं करिष्यामी न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्य-
मिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽमयो न
वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् नित्यश्च लोक इष्टः । स च

विधिपरिग्रहमात्रेण कर्मकाण्डस्य न मोक्षफलत्वं शक्यं फला-
न्तरावगमविरोधादित्याह । वाजसनेयक इति । किञ्च यदि
श्रुतेः कर्मसमुच्चिताज्ज्ञानं विधित्सितं स्यात्तदा पारिव्राज्यं
नोपदिश्येत् । श्रुत्या हेत्वभिधानेन ततो न समुच्चयः श्रुत्यर्थ
इत्याह । तत्रैव चेति । प्रज्ञाशब्दस्योपलक्षणार्थत्वमादाय
हेत्वर्थमाह । तत्रायमिति । किं करिष्यामी न किमप्यात्मका-
त्वादेवेति शेषः । तत्फलं भुक्त्वा क्रमेण मोक्षसम्भवात् किमिति
प्रजादिष्वनादर इत्याशङ्क्याह । न चेति । इष्टोऽप्ययमात्मलोकः
कर्मणा विना न लभ्यते फलत्वान्मोक्षस्यान्यथास्वभावमुक्तत्वे
बन्धमोक्षावस्थयोरविशेषापातादित्याशङ्क्याह । स चेति । कर्म-
मोक्षे कार्यस्योत्पाद्यादेरसम्भवात् सम्यग्ज्ञानादविद्यानिवृत्त्या

नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यस्तस्मात्
प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वेषणासन्न्यास एव कर्तव्य
इति । कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य ।
न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्व-
भेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते ।
वस्तुप्राधान्ये सत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य । तस्माद्
दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया
ब्रह्मजिज्ञासेयं केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते । शिष्याचार्य-
प्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनन्तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात् सुखप्रति-
पत्तिकारणं भवति । केवलतर्कागम्यत्वञ्च दर्शितं भवति । नैषा
तर्केण मतिरापनीयेति । श्रुतेश्च आचार्यवान् पुरुषो वेद
आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति । तद्विद्धि
प्रणिपातेनेत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाश्च । कश्चिदगुरं ब्रह्मनिष्ठं
विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं
शिवमचलमिच्छन् पप्रच्छेति कल्पते । केनेषितमित्यादि ।

फलप्रसिद्धरूपपत्तेर्न कर्मकार्यो मोक्ष इत्यर्थः । ब्रह्मज्ञानस्या-
भावावसानासिद्धये परोक्षनिश्चयपूर्वकः सन्न्यासः कर्तव्यः । सिद्धि-
चानुभावावसाने ब्रह्मात्मज्ञाने स्वभावाप्राप्तः सन्न्यास इति
द्रष्टव्यः । इतश्च न कर्म ब्रह्मात्मतानिश्चयसमुच्चयः । शास्त्रार्थ
इत्याह । कर्म सहभावित्वेति ॥ ननु कर्मवद्ब्रह्मज्ञानस्य विधि-
तोऽनुष्ठेयत्वाद्विधेश्च विनियोज्यादिभेदापेक्षितत्वात् कथं सर्व-
भेददर्शनं प्रत्यस्तमुच्यते ॥ ब्रह्मज्ञाने सतीत्याशङ्गाह । वस्तु-
प्राधान्ये सतीति ॥ विधिजन्यं प्रयत्नं भाव्यो हि विधिविषय
उच्यते ज्ञानं न तथेति तद्विधेरसिद्धिरित्यर्थः । यस्मात् प्रत्यगा-

ओं केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः

केनेषितमिति । केन कर्त्रा ईषितमिष्टमभिप्रेतं सन्मनः पतति स्वविषयं प्रतिगच्छति इति सम्बध्यते । ईषेराभीक्ष्णार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासम्भवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते । ईषितमितीट्प्रयोगस्तु छान्दसस्तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थप्रेषितमितेयतत् । तत्र प्रेषितमितेयवोक्ते प्रेषयित्प्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात् । केन प्रेषयित्प्रेषणेण । कीदृशं वा प्रेषणमिति । ईषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्त्तते । कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमितार्थविशेषनिर्द्धारणाद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात् केनेषितमितेयतावतैव सिद्धत्वात् प्रेषितमिति न वक्तव्यम् । अपि च शब्दाधिकादर्थ्याधिक्यं युक्तमितीच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमितार्थ-

त्मनो ब्रह्मतानिश्चयस्य परोक्षस्यापरोक्षस्य वा कर्मणा समुच्चयो न प्रामाणिकस्तस्मादित्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ प्रश्नप्रतिवचनरूपेण प्रतिपादनस्य तात्पर्यमाह । शिष्याचार्य्येति ॥ आपनीया प्रापणीया हन्तव्या वा न भवतीत्यर्थः । साधिष्ठं शोभनतमं फलं प्रापयतीत्यर्थः ॥ ईष आभीक्ष्णं गतो वेति धात्वन्तरसम्भवे कथमिच्छार्थस्यैव व्याख्यानमित्याशङ्क्याह । ईषेरिति ॥ आभीक्ष्णं पौनःपुन्यं तद्विषयताया गतिविषयताया वा मनसोऽनभिप्रेतत्वान्मनःप्रवर्त्तकविशेषस्यैव बुभुक्षितत्वादित्यर्थः इट्प्रयोगे सति गुणेन भवितव्यम् ॥ तदा एषितव्यमिति स्यात्तदभावाच्छान्दसत्वाभिधानं न तु धातोरनिट्त्वादनुबन्धस्य विकल्पविधानादन्नेषितमन्विष्टं वेति वैक-

सामवेदीयतलवकारोपनिषत् ।
 पुष्पप्रः प्रेति युक्तः । केनेषितं वाच्यमिमां वेदन्ति यशुः शोभनं ३ उदेवा युक्तं
 विशेषोऽवगन्तुं युक्तः । न प्रश्नसामर्थ्याद्देहादिसङ्घातादनि-
 त्यात् कर्मकार्याद्विरक्तोऽतोऽन्यत् कृतस्त्वं नित्यं वसु बुभुक्ष-
 मानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते । इतरथेच्छावाक्कर्म-
 भिर्देहादिसङ्घातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थकः
 स्यात् । एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थेन प्रदर्शित एव न संशय-
 वतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते । किं
 यथा प्रसिद्धमेव कार्यकारणसङ्घातस्य प्रेषयितृत्वं किं वा
 सङ्घातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छासाधनेनैव मन आदिप्रेष-
 यितृत्वमित्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति । प्रेषितं
 मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते । न तु स्वतन्त्रं मनः स्ववि-
 षये स्वयं पततीति प्रसिद्धम् । तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इतु-
 च्यते । यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये स्यात्तर्हि
 सर्वस्रानिष्टचिन्तनं न स्यादनर्थं च जानन् सङ्कल्पयति ।
 अतुग्रदुःखे च कार्ये वाच्यमाणमपि प्रवर्तत एव मन-
 स्तस्मादुक्त एव केनेषितमित्यादिप्रश्नः । केन प्राणो युक्तो
 नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति प्रतस्थे
 इति प्राणविशेषणं स्यात्तत् पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रियवृत्तीनाम् ।

ल्पिकप्रयोगादर्शनादिति ईषितमितिपदद्वयस्यार्थवत्त्वमाह ।
 तत्र प्रेषितमित्यादिना ॥ इच्छासाधनेति ॥ प्रपतनमन्तरेण
 सन्निधिमात्रेणेति व्याख्यातं नेदं व्याख्यानमपि शोभते । अप-
 र्यायशब्दभेदस्यार्थभेदव्यभिचारादित्याह । अपि चेति ॥ त्वदु-
 क्तोऽयमर्थविशेषो न घटते सङ्घातस्यैवेच्छादिभिः प्रवर्तकसिद्धेः
 प्रश्नानुपपत्तिप्रसङ्गादित्याह । न प्रश्नेति ॥ मनसः स्वातन्त्र्यात्

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो यद्वाचो ह वाचं स

केनेषितां वाचमिमां शब्दलक्षणं वदन्ति लौकिकाः । तथा चक्षुः श्रोत्रञ्च स्वे स्वे विषये क उ देवो दशोतनवान् युनक्ति युङ्क्ते प्रेरयति ॥ १ ॥

एवं पृष्ठवते योग्यायाह गुरुः शृणु त्वं यत्पृच्छसि । मन आदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति । श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दस्य श्रवणं प्रतिकरणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियं तस्य श्रोत्रं स यस्त्वया पृष्ठश्चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति । असावेवं विशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्यं न त्वेतदनुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति । नैष दोषः । तस्यान्यथाविशेषानवगमात् । यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ता वगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्तदिदमनुरूपं प्रतिवचनं स्यात् । न त्विह

स्वव्यतिरिक्तप्रवर्तकसम्भावनाभावात् प्रश्नो न घटत इत्याक्षिप्य समाधत्ते । ननु स्वतन्त्रमित्यादिना ॥ अत्युग्रदुःखे चेति ॥ १ ॥

अव्यतनीनदुःखे द्यूतादिकार्ये प्रतिवचनस्य प्रश्नानुरूपत्वमाशङ्क्य समाधत्ते । असावेवंविशिष्ट इत्यादिना ॥ श्रोत्रादयः स्वविलक्षणशेषाः संहतत्वाद्गृहादिवदित्यनुमानेन श्रोत्रादिशेषीतावदवगम्यते सोऽपि संहतः स्यात् तर्हि गृहादिवदचेतनः स्यात् । ततस्तस्याप्यन्यः शेषी कल्पस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गपरिहारायासंहतश्चेतनो गम्यते । अतः सर्वसाक्षिण

प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिग-
म्यते । श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणालोचनस-
ङ्ख्याध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते । अस्ति हि
श्रोत्रादिभिरसंहतो यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापो गृहा-
दिवदिति संहतानां परार्थत्वादवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता ।
तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिकम् ।
पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः । न ह्यत्र श्रोत्रस्य
श्रोत्रान्तरेणार्थः । यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण । नैष दोषो-
ऽयमत्र पदार्थः । श्रोत्रं तावत् स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् ।
तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि
नित्ये संहते सर्वान्तरे सति भवति नासतीत्यतः श्रोत्रस्य
श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते । तथा च श्रुत्यन्तराख्यात्मनैवायं ज्योति-
षस्ते तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति । येन सूर्यस्तपति तेज-
सेष्व इत्यादीनि । यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारतेत्यादिगीतासु ।
काठके च । नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामिति । श्रोत्रा-
द्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धं तदिह निवर्त्यते ।
अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजर-

लक्षयितुं युक्तमेव प्रतिवचनमित्यर्थः । फलावसानं फलनि-
ष्पत्तिलिङ्गम् । यस्मिन्नवगत्या हि करणस्य व्यापारो लिङ्गत्वे

ममृतमभयमजं ओत्तादेरपि ओत्रादितत्सामर्थ्यमिति प्रतिवच-
नम् । शब्दार्थश्चोपपद्यते एव । तथा मनसोऽन्तःकरणस्य
मनो न ह्यन्तःकरणमन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्ववि-
प्रयसङ्ख्याध्यवसायादिसमर्थं स्यात् । तस्मान्नमनसोऽपि मन
इति । इह बुद्धि मनसो एकीकृत्य निर्देशो मनस इति
यद्वाचो ह वाचं यच्छब्दो यस्मादर्थे ओत्रादिभिः सर्वैः सम्ब-
ध्यते । यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम् । यस्मान्नमनसो मन इत्येवं
वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते ।
प्राणस्य प्राण इति दर्शनाद्वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन
प्राणस्य प्राणमिति । कस्माद्वितीयैव न क्रियते । न ।
बह्वनामनुरोधस्य युक्तत्वाद्वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स
उ प्राणस्य प्राण इति । शब्दद्वयानुरोधेनैवं हि बह्वनामनु-
रोधो युक्तः कृतः स्यात्पृष्टञ्च वस्तु प्रथमयैव निर्देशं युक्तम् ।
स यस्तया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यावृत्तिविशेषस्य प्राणस्त्वत्-
कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम् । न ह्यात्मनानधिष्ठि-

नित्यावगत्यव्यञ्जकत्वाद्वा फलावसानलिङ्गव्यापारस्तेन तच्छ्रेणी
लक्ष्यत इत्यर्थः । प्रतिवचनस्य सङ्क्षेपतत्तात्पर्यमाह । ओत्ता-
द्यैव सर्वस्येति । यस्मादस्ति श्रोत्रस्य श्रोत्रं तस्माच्छ्रोत्रादा-
वात्मबुद्धिः सन्त्यक्तव्येति शेषः । प्राणचेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विका
चेतनप्रवृत्तित्वाद्द्रव्यादिप्रवृत्तिवदित्यभिप्रेत्याह । न ह्यात्मना-
धिष्ठितस्येति । ज्ञात्वेतिपदाध्याहारे कारणमाह । प्रष्टुः पृष्ट-
स्येति । सामर्थ्यादिति । ओत्ताद्यात्मभावत्यागमन्तरेणामृतत्वा-
सम्भवाज्ज्ञानबलाच्छ्रोत्राद्यात्मभावं त्यक्त्वाऽमृता भवन्तीति

तस्य प्राणमुपपद्यते । को ह्येवान्यात्कः प्राणात् यदेष
आकाश आनन्दो न स्यात् । ऊर्ध्वं प्राणमुन्नमयत्यपानं प्रत्य-
गस्तीत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि च वक्ष्यते येन प्राणः प्रणी-
यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्मीति । ओत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राण-
प्राणस्य न तु युक्तं ग्रहणम् । सत्यमेवं प्राणग्रहणेनैव तु
• घ्राणस्य ग्रहणे कृते एव मन्यते श्रुतिः । सर्वस्यैव कारणकला-
पस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः ।
तथा चक्षुषश्चक्षूरूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं
तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव अतश्चक्षुषश्चक्षुः प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य
ज्ञातुमिष्टत्वाच्छ्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वेत्यध्याह्नियते ।
अमृता भवन्तीति फलश्रुतेष्व । ज्ञानाद्वाऽमृतत्वं प्रार्थते ।
ज्ञात्वाऽतिमुच्यत इति सामर्थ्यात् । ओत्रादिकरणकलाप-
मुक्तित्वात् ओत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा तदुपाधिः संस्तदात्मना
जायते म्रियते संसरति च । अतः ओत्रादेः ओत्रादिलक्षणं
ब्रह्मात्मेति विदित्वाऽतिमुच्य ओत्राद्यात्मभावं परित्यज्य ये
ओत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति ते धीरा धीमन्तः । न हि
विशिष्टधीमत्वमन्तरेण ओत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम् ।
प्रेत्य व्यावृत्यास्माहोकात् पुत्रमित्तकुलबन्धुषु ममाहं भाव-

सम्बन्धः । एतत् स्फुटयति । ओत्रादौ हीत्यादिना । मृत्वेति
विदेहमुक्तिर्विवक्षिता प्रारब्धभोगक्षये शरीरान्तरोत्पादे कार-
णाभावादवश्यम्भाविनी विदुषोऽविदुषश्च मुक्तिरित्यर्थः । सर्वा-
द्याध्यासाधिष्ठानरज्जुवच्छ्रोत्राद्यध्यासाधिष्ठानचैतन्यं ओत्रस्य
ओत्रमित्यादिना लक्षितं तर्हि रज्जुवदधिष्ठानत्वाद्विषयत्व-

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो
मनो न विज्ञो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-

संव्यवहारलक्षणात् त्यक्तसर्वेषणा भूत्वेत्यर्थः । अमृता अम-
रणधर्माणो भवन्ति । न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागे-
नैकेनामृतत्वमानशुः पराञ्चि खानि व्यटणत् । आहतचक्षुर-
मृतत्वमिच्छन् । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते । अत्र ब्रह्म समश्नुते
इत्यादिश्रुतिभ्यः । अथवातिमुचेत्यनेनैषणात्यागस्य सिद्ध-
त्वादस्मात्त्रोक्तात् प्रेत्यास्माच्छरीरात् प्रेत्य मृत्वेत्यर्थः ॥ २ ॥

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्रादग्रात्मभूतं ब्रह्म अतो न तत्र
तस्मिन् ब्रह्मणि चक्षुर्गच्छति । स्वात्मनि गमनासम्भवात् ।
तथा न वाग्गच्छति । वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभि-
धेयं प्रकाशयति यदा तदाभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीतुप्रचते ।
तस्य च शब्दस्य तन्निवर्त्तकस्य च कारणस्यात्मा ब्रह्मा-
ऽतो न वाग्गच्छति । यथाग्निर्दाहकः प्रकाशश्चापि सन्
न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति च तद्वन्नो मनो मनश्चान्यस्य

प्रसङ्ग इति शङ्कां निवर्त्तयति । यस्माच्छ्रोत्रादेरपीत्यादिना ।
अध्यस्तस्य ह्यधिष्ठानमेव स्वरूपमाद्यन्तमध्येषु तदव्यभिचारात्
स्वरूपविषयता च न पदार्थधर्मस्ततोऽप्रयोजकोऽयं हेतु-
रित्यर्थः ॥ २ ॥

अविषयत्वात्तर्हि शास्त्राचार्योपदेश्यत्वमपि न स्यादित्या-
शङ्का नास्त्येव वास्तवमित्याह । इन्द्रियमनोभ्यां हीति ।
ब्राह्मणोऽयमित्यादि जातितः । कृष्णोऽयमित्यादि गुणतः ।

दन्यदेव तद्विदितादयो अविदितादधि । इति
शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

सङ्कल्पयित्वा अध्यवसायित्वा च सन्नात्मानं सङ्कल्पयत्वध्यवस्यति
च । तस्यापि ब्रह्मात्मेतीन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं
तदगोचरत्वान्न विद्वस्तदुब्रह्मेदृशमित्यतो न विजानीमो यथा
येन प्रकारेणैतदुब्रह्मानुशिष्यादुपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः ।
यद्वि करणगोचरन्तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रिया-
विशेषणैः । न तज्जात्यादिविशेषणवदुब्रह्म । तस्मादु विषमं
शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति । उपदेशे तदर्थाग्रहणे च
यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति न विनेत्यादि । अत्यन्तमेवो-
पदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्तं तदपवादोऽयमुच्यते । सत्यमेवं
प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः । आगमेन
तु शक्यत एव प्रत्याययितुम् । तदुपदेशार्थमागममाह ।
अन्यदेव तद्विदितादयो अविदितादधीति । अन्यदेव पृथगेव
तद्यत् प्रकृतं ओत्तादीनां ओत्तादीत्युक्तमविषयञ्च तेषां तदु-
विदितादन्यदेव हि विदितं नाम यदु विदि क्रिययाऽतिशये-

पाचकोऽयमित्यादि क्रियातः । राजपुरुष इत्यादि सम्बन्धविशे-
षणत उपदिश्यते । ब्रह्म तु न जात्यादिमत् केवलो निर्गुण-
श्चेत्यादिश्रुतेः । अन्तेनागमस्य भेदेन प्रतिपन्नत्वात् तद्व्या-
चार्यस्याप्यविद्यालेशोच्छेददृष्ट्या व्यवहारिक उपदेश उपपद्यते ।
आगमतस्तस्यैवात्मा ब्रह्मरूपेण लक्षयितुं योग्यतातिशयत्वा-
दित्यभिप्रेत्याह । अत्यन्तमेवेति । वाक्यस्य पदार्थान् व्याख्याय
तात्पर्यं दर्शयितुमुपक्रमते । यद्विदितं तदल्पमित्यादिना ।

नामं तद् विदि क्रियाकर्म्मभूतं क्वचित् किञ्चित् कस्यचिद्
 विदितं स्यादिति तस्मादिति सर्वमेव व्याकृतं तद्विदितमेव
 तत्तस्मादन्यदित्यर्थः । अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्तं आह ।
 अथोऽप्यविदितादविदत-विपरीतादव्याकृतादविद्यालक्षणाद-
 व्याकृतबीजादधीत्युपपत्त्यर्थं लक्षणया अन्यदित्यर्थः । यद्वि
 यस्मादध्युपरि भवति तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धं यद्विदितं
 तदल्पमत्यन्तदुःखात्मकञ्चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यदु-
 ब्रह्मेत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात् । तथाऽविदितादधीत्युक्ते-
 ऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् । कार्यार्थं हि कारणमन्य-
 दन्ये नोपादीयतेऽतश्च न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपा-
 देयं न भवतीत्येव विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेय-
 प्रतिषेधेन स्वात्मनोऽन्यत्वाद् ब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य
 निर्वर्त्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिता-
 भ्यामन्यत्वं वस्तुनः सम्भवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः ।
 अयमात्मा ब्रह्म य आत्माऽपहतपाप्मा । यत् साक्षादपरोक्षाद्
 ब्रह्म । य आत्मा सर्वान्तर इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेत्येवं सर्वा-

यद्वेदितुरन्यद् विदितमविदितञ्चेति द्वयोर्गतिः । ततो विदित-
 त्वाद्विदितत्वनिषेधेन वेदितुः स्वरूपं ब्रह्मेत्यत्र तात्पर्यमागम-
 स्येत्याह । न ह्यन्यस्येति । उक्तवाक्यार्थे लौकिकतार्किक-
 मीमांसकप्रतिपत्तिविरोधमाशङ्क्य परिहरति । विदितादन्यत्व-
 प्रपञ्चनाय । अन्यदेव तद्विदितादित्यादिना । अष्टसु स्थाने-
 ष्विति । अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शितस्तथा । जिह्वा-
 मूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु चेति एतेष्वकाशप्रदेशे-
 ष्वश्रितमित्यनेनाकाशोपादानत्वं सूचितम् । आग्नेयमित्यग्नि-

त्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपाद-
कस्य वाक्यस्याचार्य्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह । इति
शुशुमेत्यादि । ब्रह्म चैतन्यमाचार्य्योपदेशपरम्परयैवाधि-
गन्तव्यं न तर्कतः ॥ प्रवचनमेधा बहुश्रुततया यज्ञादिभ्य-
श्चेत्येवं शुशुमः श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषामाचार्य्याणां वचनम् ।
ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तद्ब्रह्म व्याचक्षिरे व्याख्यातवन्तो
विस्पष्टं कथितवन्तस्तेषामित्यर्थः । अन्यदेव तद्विदितादथो
अविदितादधीत्यनेन वाक्येनात्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतु-
राशङ्का जाता तत् कथमात्मा ब्रह्म । आत्मा हि नामाधि-
क्षतः कर्मण्युपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनु-
ष्ठाय ब्रह्मादिदेवान् स्वर्गं वा प्राप्नुमिच्छति तत्तस्मादन्यत् ।
उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रश्च प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न
त्वात्मा । लोकप्रत्ययविरोधात् । यथाऽन्ये तार्किका ईश्व-
रादन्य आत्मा इत्याचक्षते तथा कर्मणोऽमुं यजामुं यजि-
त्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं
तद्ब्रह्म भवेत् । ततोऽन्य उपासक इति तामेतामाशङ्कां

देवताकमित्यर्थः । न केवलं करणं वागुच्यते वर्णाश्चोच्यन्त
इत्याह । वर्णाश्चेति । तदुक्तं यावतो यादृशा ये च यदर्थ-
प्रतिपादका वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तदर्थवबोधका इति ।
गौरिति पदं गकारौकारविसर्जनीया एवं क्रमविशेषावच्छिन्ना
इति मीमांसकाद्यनुसारेणोक्तं स्फोटवादिनोऽनुसारेणाह । तद-
भिव्यञ्ज इति । स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः पदादिवुद्धि-
प्रमाणक एकरूपाया बुद्धेरनेकवर्णावलम्बनत्वासम्भवादिति
भावः । उक्ते वाक्यार्थे श्रुतिसम्प्रतिमाह । अकार इति ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

शिष्यलिङ्गेनोपलक्षितं तद्वाक्याद्वा मैवं शङ्किष्ठाः । यच्चैतन्म-
मात्रसत्ताकं वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु
विषक्तमज्ञेयं वर्णानामभिव्यञ्जकं करणं वर्णाश्चार्थसङ्केतपरि-
च्छिन्ना एतावन्त एव क्रमप्रयुक्ता इत्येवं तदभिव्यञ्जः शब्दः
पदं वागित्युच्यते । अकारो वै सर्वा वाक् सैषाऽस्य स्पर्शा-
ऽन्तस्थोऽभिर्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवतीति श्रुतेः ।
मितममितं स्वरः ॥ ३ ॥

सत्यानृते एव विकारो यस्यास्तया वाचा पदत्वेन परि-
च्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्युदितमप्रकाशितमनत्युक्तं येन
ब्रह्मणा विवर्तितेऽर्थे सकरणे वागभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा
प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतत् । यद्वाचो ह वागित्युक्तं वदन्

अकारप्रधानोऽकारोपलक्षिता स्फोटोऽस्या चिच्छक्तिः सर्वा
वाक् सैषा स्पर्शोऽभिर्यज्यमाना कादयो मावसानाः
स्पर्शाः । यरलवा अन्तस्थाः । शषसहाः उष्माणः तैः क्रमविशे-
षावच्छिन्नव्यज्यमाना नानारूपा विवर्तन्ते । मितं ऋगादि ।
यादावसाननियताक्षरत्वात् । अमितं यजुरादि । अनियता-
क्षरपादावसानत्वात् । स्वरः साम । गीतिप्राधान्यात् । सत्यं
यथा दृष्टार्थवचनम् । अमृतं तद्विपरीतम् । करणं वागिन्द्रियम् ।
गुण उपसर्जनं यस्याः सा करणगुणवती पुरुषेषु चेतनेषु या वाक्-
शक्तिः सा घोषेषु वर्णेषु प्रतिष्ठिता तद्व्यञ्ज्यत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेवेत्येवकारस्य कृत्यमाह । यैर्वागाद्युपाधिभिरिति ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

वाक् यो वाचमन्तरो यमयतीत्यादि च वाजसनेयके । या
वाक् पुरुषेषु प्रतिष्ठिता कञ्चित् तां वेद ब्राह्मण इति प्रश्न-
मुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तं सा वाग्यया स्वप्ने भाष्यत इति ।
सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक्चैतन्यज्योतिःस्वरूपा । न हि
वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यत इति श्रुतेः । तदेवात्मस्वरूपं ब्रह्म
निरतिशयं भूमाख्यं ब्रह्मत्वाद् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वं
येर्वागाद्युपादिभिः । वाचो ह वाक्चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं
मनसो मनः कर्त्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता
विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्येवमादयः संव्यवहारा संव्यवहार्यं
निर्विशेषे परे सौम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते तान् व्युदस्यात्मानमेव
निर्विशेषं ब्रह्म विद्मीत्येवशब्दार्थः । नेदं ब्रह्म यदिदमित्यु-
पाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वराद्युपासते ध्यायन्ति । तदेव ब्रह्म
त्वं विद्मीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्मेत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते ।
नियमार्थमन्यद् ब्रह्मबुद्धिपरिसङ्ग्रानार्थं वा ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते । मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेक-
त्वेन गृह्यते । मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकारणसाधारणम् ।
सर्वविषयव्यापकत्वात् । कामः संकल्पो विचिकित्सा अज्ञा

नियमार्थमिति पक्षे अनात्मन्यपि ब्रह्मबुद्धौ प्राप्तायामात्मैव
ब्रह्मेति बुद्धिं नियन्तुमित्यर्थः । अन्यस्मिन्नुपास्ये या ब्रह्मबुद्धि-
स्तन्निवृत्त्यर्थं वायुनरब्रह्मत्वमुच्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
 यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥
 यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

धृतिरधृतिर्ज्ञीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एवेति श्रुतेः । कामा-
 दिवृत्तिमन्मनस्तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं
 न मनुते न सङ्कल्पयति नातिनिश्चिनोति । मनसोऽव-
 भासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वा-
 त्मनि न वर्त्ततेऽन्तःकरणम् । अन्तस्त्वेन हि चैतन्यज्योतिषा-
 ऽवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यं तेन सहत्तिकं मनो
 ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः ।
 तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक् चेतयितारं ब्रह्म विद्धि ।
 नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥ यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरो-
 त्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन येन चक्षूंषि अन्तःकरणवृत्तिभेद-
 मिन्द्राश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति लोकश्चैतन्यात्मज्योतिषा विषयी-
 करोति व्याप्नोति । [यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठिते-

सर्वं स्पष्टमिति न व्याख्यातम् ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

यदि मन्यसे सुवेदेति दम्भमेवापि नूनं त्वं

नाकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन विषयीकरोति लोको येन
 श्रीचमिदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव
 पूर्ववत् । यत्प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तराव-
 स्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्नप्राणिति गन्धर्वन्न
 विषयीकरोति येन चैतन्यात्मज्योतिषावभासत्वेन स्वविषयं
 प्रति प्राणः प्रणीयते । तदेवेत्यादि सर्वं समानम् । ५ । ६ ।
 ७ । ८ ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः
 शिष्योऽहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहमिति मा गृह्णीयादित्या-
 शयादाहाचार्यः । शिष्यबुद्धिविचालनार्थं यदीत्याह । नन्वि-
 ष्टैव सुवेदाहमिति निश्चिता प्रतिपत्तिः । सत्यमिष्टा निश्चिता
 प्रतिपत्तिर्न हि सुवेदाहमिति । यद्धि वेद्यं वस्तु विषयि
 भवति तत् सुष्ठु वेदितुं शक्यं दाह्यमिव दग्धुमग्नेर्दग्धुर्न
 त्वग्नेः स्वरूपमेव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति
 सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं
 प्रत्यप्रतिवचनीकृत्या श्रीचस्य श्रीचमित्याद्यया । यद्वाचान-
 भ्युदितमिति विशेषतोऽवधारितम् । ब्रह्मवित् सम्प्रदाय-

वेदितुः स्वरूपत्वे ब्रह्मणो माभूद्विषयत्वम् । स्वरूपत्वे
 मानाभावात् । अतिरिक्तस्य विषयत्वे किमनुपपन्नमित्याश-
 ङ्गाह । सर्वस्य हीति । यदिशब्दप्रयोगे किं करणमित्यत
 आह । कदाचिदिति । अक्षिणि शरीरस्य प्रतिच्छाया दृश्यत
 इति प्रसिद्धवदुपदेशाच्छरीरमात्मेति प्रतिपन्नः । छायाव्यभि-

वेत्य ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वयं नु

निश्चयश्चोक्तोऽन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युपन्यमुप-
संहरिष्यति चाविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति ।
तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिन्निराकर्तुम् । न हि
वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्योऽग्निरिव दग्धुरिव दग्धुमग्नेः ।
न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत् स्याद्ब्रह्म
नान्यदतोऽस्ति विज्ञातित्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते । तस्मात्
सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव । तस्माद्युक्तमेवाहा-
चार्यो यदीद्यादि । यदि कदाचिन्न्यसे सुवेदेति सुष्ठु
वेदाहं ब्रह्मेति । कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः
समेधाः कश्चित् प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदी-
त्यादि । दृष्टञ्च य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्य-
सुरराड्विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विप-

चारित्वं बुद्धेत्यर्थः । सहादिति य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते
इत्येकवारमुक्तं य एष स्वप्ने महीयमानश्चरतीति द्वितीयेनोक्तं
तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रपन्न इति त्रिरुक्तमप्यात्मानमप्रति-
पद्यमानः । इन्द्रो ब्रह्मचर्येणाधर्मादिदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे
पर्याये य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् ससुखाय परं ज्योती-
रूपं सम्पद्येत्यत्र प्रथमपर्यायोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवानित्यर्थः ।
अर्भकाणि चेति अल्पानि न स्वतो रूपमस्ति ब्रह्मण इत्युक्तं
तदाक्षिपति । ननु येनैवेति । केन तर्हि विशेषेण ब्रह्मणो
निरूपणमित्याकाङ्क्षायां चैतन्यरूपेणेत्याह । चैतन्यमिति ।

भौमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ ८ ॥ १ ॥ नाहं

रीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः ॥ तथेन्द्रो देवराट् सकृद्वि-
स्तिरुक्तञ्चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्थ्याये
प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान् । लोकेऽपि एकस्माद्गुरोः
शृण्वतां कश्चिदयथावत् प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत् कश्चिद्विप-
रीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम् ।
अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे । तस्याद-
विदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विप्रतिपत्तित्वाद्यदि मन्यसे
इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाचार्यस्य दहरमल्पमेवापि
नूनं त्वं वेत्य जानीषे ब्रह्मणो रूपं किमनेकानि ब्रह्मणो
रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च येनाह दहरमेवेत्यादि । वादम् ।
अनेकानि हि नामरूपोपाधिक्षतानि ब्रह्मणो रूपाणि न
स्वतः । स्वतस्तु अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्य-
मगन्धवश्च यत् । यदि शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रति-

भूतानां समस्तानां वा देहाकारपरिणतानां चैतन्यं धर्मो न
भवतीति वहिरनुपलम्भात् तद्वर्म्भत्वे रूपादिवत् साधकत्वाभाव-
प्रसङ्गाच्च । तथा श्रोत्रादीनामपि भौतिकत्वाविशेषाच्चैतन्यधर्मो
न भवतीति पारिशेष्यात् स्वतन्त्रचैतन्यं ब्रह्मणो रूपम् । तत्र
श्रुतिसम्प्रतिमाह । तथाचोक्तमिति । सत्यमेव चैतन्यं पार-
मार्थिकं ब्रह्मरूपं श्रुतितात्पर्यगम्यं तथापि यदुक्तं ब्रह्मणो
रूपं कथं नास्तीति तदुपाधिद्वारेणैव ब्रह्मणः शब्देन निरूपणं
निर्देशनं न स्वत इत्यभिप्रेत्यान्तःकरणाद्यभिव्यक्तिमुपलभ्य हि
यदुपाध्यभिव्यक्तिनिमित्तं चैतन्यं तद् ब्रह्मेति निर्दिश्यत

मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च । यो नस्त-

सिध्यन्ते - ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूप-
मिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषणेन निरूपणं तदेव तस्य रूपं
स्यादत उच्यते । चैतन्यं पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां
विपरिणतानां वा धर्मी न भवति । तथा श्रीचादीनामन्तः-
करणस्य च धर्मी न भवतीति ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्म
रूप्यते चैतन्येन । तथाचोक्तं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । विज्ञान-
घन एव । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति च ब्रह्मणो रूपं
निर्दिष्टं श्रुतिषु सत्यमेव तथापि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियो-
पाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते तदनुकारित्वाद्दे-
हादिबृद्धिसङ्कोचच्छेदादिषु नाशेषु च न स्वतः । स्वत-
स्त्वविज्ञातं जानतां विज्ञातमविजानतामिति स्थितं भवि-
ष्यति । यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण सम्बन्धः । न
केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमत्यं
वेत्य यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु
वेत्य त्वं तदपि नूनं दहरमेव वेत्य इति मन्येऽहम् । यद-
ध्यात्मं तदपि चोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते ।

इत्यर्थः । ननूपाधिरुपहितसम्बन्धो भवति चैतन्यस्य त्वसङ्गस्य
कथं देहादिरूपाधिरित्याशङ्क्याह । तदनुकारित्यादिना । यथा
जले कम्पमाने सविता कम्पत इव भिद्यमाने भिद्यत इवेति
मिथ्या त्वधर्मभागित्वात् सवितुर्जलमुपाधिरित्युच्यते न तु सम्ब-
न्धाद् दूरस्थयोः संयोगाद्ययोगात् तद्देहादेर्वृद्धिसङ्कोचच्छेदा-
दिषु दाहादिषु नाशेषु चैतन्यस्य मिथ्यादेहधर्मभागित्वाद्देहादे-

वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ १० ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं
नित्यं ब्रह्म न तत् सुवेद्यमित्यभिप्रायः । यत एवमथ नु
तस्मान् मन्येऽद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म ।
एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्त उपविष्टः सन् यथोक्तमाचार्य-
णागममर्थतो विचार्य तर्कतश्च निर्द्धार्य स्वानुभवं कृत्वाऽऽ-
चार्यसकाशमुपगम्योवाच । मन्येऽहमयेदानीं विदितं
ब्रह्मेति । कथमिति । शृणु । नाहं मन्ये सु वेदेति नैवाहं
मन्ये सु वेदेति ज्ञानविषयं ब्रह्मेति । नैव तर्हि विदितं त्वया
ब्रह्मेत्युक्त आह । नो न वेदेति वेद च । वेद चेति च
शब्दान्न वेद त्वम् । ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सु वेदेति
नो न वेदेति वेद चेति । यदि न मन्यसे सु वेदेति कथं
मन्यसे वेद चेति । अथ मन्यसे वेदैवेति कथं न मन्यसे
सुवेदेति । एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सु
विज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा । न च
ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम् ।

रूपाधित्वमभिधीयत इत्यर्थः । ननु न स्वतश्चैतन्यतया निरूप्यते
ब्रह्म कथं तर्हि तदनुभव इत्याशङ्क्याह । स्वतस्त्विति । अवि-
षयतयैव विषयानुपरक्त चित्स्फुरणं ब्रह्मानुभव इत्यर्थः । तर्कत-
श्चेति वेद्यत्वे घटादिवदनात्मत्वादिप्रसङ्गादित्यादितर्कत आ-
त्मनो वेद्यं ब्रह्म न भवत्येवेति निर्द्धार्याज्ञानसंशयाद्यभावेन

अभिज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

११ ॥ ३ ॥

संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ । एवमाचार्येण विचार्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल । अन्यदेव तदु-
विदितादयो अविदितादधीत्याचार्योक्तागमसम्प्रदायबलादुप-
पत्त्यनुभवबलाच्च जगर्जं च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शय-
न्नात्मनः । कथमित्युच्यते । यो यः कश्चिन्नोऽस्माकं स ब्रह्म-
चारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद स तद्ब्रह्म वेद ।
किं पुनस्तद्वचनमित्यत आह नो न वेदेति वेद चेति ।
यदेवान्यदेव तद्विदितादयो अविदितादधीत्युक्तं वस्तु तदेव
अनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न
वेदेति वेद चेत्यवोचदाचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धिग्रहण-
व्यपोहार्यञ्च । तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति यो नस्तद्वेदेति
॥ ८ ॥ १ ॥ १० ॥ २ ॥

शिष्याचार्यसंवादात् प्रतिनिवर्त्य स्वेन रूपेण श्रुतिः
समस्तसंवादनित्युक्तमर्थमेव बोधयति यस्यामतमित्यादिना ।
यस्य ब्रह्मविदोऽमतमविज्ञातं ब्रह्मेति मतमभिप्रायः निश्चय-
स्तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः । यस्य पुनर्मतं ज्ञातं

स्वानुभवं कृत्वेत्यर्थः । आचार्यवचनादन्यदेव वचनं शिष्य उवा-
चेति नाशङ्कनीयमित्याह । यदेवान्यदेवेति । तथा चेत्या-
चार्यबुद्धिसंवादे सत्यर्थान्तरानभिधाने सतीत्यर्थः । अथवा
हेत्वर्थ इति लोके श्रुत्यादितत्त्वं विजानतां यतोऽध्यस्तरूप्याद्य-
विज्ञातं भवति । अजानतामेव तु अध्यस्तविज्ञानं भवतीति

प्रतिबोधविदितं मतममृततत्त्वं हि विन्दते ।

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्याया विन्दतेऽमृतम् ॥

१२ ॥ ४ ॥

विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयो न वेदैव स न ब्रह्म विजानाति सः । विद्वद्विदुषोर्यथोक्तौ पक्षावधारयत्यविज्ञातममतमविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतद्विज्ञातं विदितं ब्रह्मा विजानतामसम्यग्दर्शिनामिन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मदर्शिनामित्यर्थः । न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम् । न हि तेषां विज्ञातमस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति । अतीन्द्रियमनोबुद्ध्यापाधिष्वात्मदर्शिनान्तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात् । बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद्विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्यग्दर्शनपूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते विज्ञातमविजानतामिति । अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धेऽविज्ञातमित्यादिः ॥११॥३॥

अविज्ञातं विजानतामित्यवष्टतम् । यदि ब्रह्मात्यन्तमेवाविज्ञातं लौकिकानां ब्रह्मविदाञ्चाविशेषः प्राप्तः । अविज्ञातं विजानतामिति च परस्परविरुद्धम् । कथन्तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह । प्रतिबोधविदितं बोधं

प्रसिद्धम् । तथा ब्रह्मणि ज्ञेयत्वस्याध्यस्तत्वादेव तत्त्वविदो न ज्ञातं ब्रह्म पश्यन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥ १ ॥ १० ॥ २ ॥ ११ ॥ ३ ॥

ज्ञातब्रह्मत्वादर्थने ब्रह्मास्मीति कथं व्यवहरतीति चेत् किमनयेष्टकावाहकानां रत्नपेटकचर्चितया ज्ञातस्य व्यवहाराङ्गत्वं वदतोऽपि वस्तुप्रकाशस्य व्यवहाराङ्गत्वस्येष्टत्वाद्वास्तव-

बोधं प्रति विदितम् । बोधशब्देन बोद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते ।
 सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्
 प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव
 प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते नान्यद्वारान्तरात्मनो विज्ञाना-
 यातः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा तन्मतं तदा
 तत् सम्यग्दर्शनमित्यर्थः । सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापाय-
 वर्जितदृक् स्वरूपतानित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्वि-
 शेषतैकत्वञ्च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्तत्क्षणभेदाभावाद् व्योम्न इव
 घटगिरिगुहादिषु । विदिताविदिताभ्यामन्यद् ब्रह्मेत्यागम-
 वाक्यार्थः । एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति । दृष्टेर्द्रष्टा
 श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञातेति हि श्रुत्यन्तरम् ।
 यदा पुनर्बोधक्रियाकर्त्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्त्तारं
 विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति

ज्ञाततानपेक्षकत्वादिति व्युत्पादनाय चोद्यमुद्भावयति । अवि-
 ज्ञातमित्यादिना । नीलपीताद्याकाराणां जडानां यच्चैतन्म-
 व्याप्तत्वेनाजडवदवभासस्तं साक्षिणमुपलक्ष्य सोऽहमात्मा
 ब्रह्मेति महावाक्यादविषयतयैव यो वेत्ति स ब्रह्मविदुच्यते ।
 तेन नाविशेषप्रसङ्गादि चोद्यावव्याश इत्याह । प्रतिबोधवि-
 दितमिति । प्रत्येकविशिष्टतयानुगतरूपेणेत्यर्थः । येन चित्-
 स्वरूपेणाहमत्र साक्षी तस्य सर्वत्राविशेषान्नैकस्मिन्नेव देहेऽहं
 साक्षी भेदोत्पत्त्यादीनां साध्यगतत्वेन साक्षिण एकत्वनित्यत्वा-
 दिकमपि सिध्यतीत्याह । सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चेति । विदितत्वा-
 ईर्वादित्वयोः साध्यगतत्वेन तदन्यत्वमप्यस्मिन् पक्षे सम्भवती-

व्याख्यायते । यथा यो वृक्षशाखाञ्चालयति स वायुरिति तद्वत् । तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यं न बोधस्वरूप एव । बोधस्तु जायते विनश्यति च । यदा बोधो जायते तदा बोधक्रियया सह विशेषः । यदा बोधो नश्यति तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः । तत्रैव सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते । यदपि काणादानात्मात्मनः संयोगजो बोध आत्मनि सम-
यैति । अत आत्मनि बोद्धृत्वं न तु विक्रियात्मक आत्मा । द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी । अस्मिन् पक्षे-
ऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति ज्ञानमानन्दं प्रज्ञानं ब्रह्मेत्याद्याः
श्रुतयो बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशा-
भावान्नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरप-
रिहार्या स्यात् संसर्गधर्मित्वञ्चात्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं

त्याह । विदिताविदिताभ्यामन्यदिति । एकदेशिव्याख्यान-
मुक्त्वाय दूषयति । यदा पुनरित्यादिना । अग्निसंयोगाद्घट-
लौहित्यवद्भनः संयोगादसमवायिकारणादात्मन्यचेतने चैतन्य-
मुपपद्यत इत्येतन्न केवलं श्रुतिविरुद्धमसम्भावितत्वञ्चेत्याह ।
आत्मनो निरवयवत्वेनेति । प्रदेशवता प्रदेशवतो लोके संयोगो
दृष्टः । आत्मनो निष्प्रदेशत्वान्मनसा संयोगो न भवतीत्युक्तं
तदयुक्तम् । युगपत् सर्वभूतसंयोगित्वं सर्वगतत्वमात्मनस्ततो
मनसः संयोगोऽपीति चेत्तत्राह । नित्येति । ग्रहणकालादन्य-
काल एव स्मृतीनां क्रमेणैवोत्पत्तिरिति नियमो वैशेषिकस्य
नोत्पद्यते ग्रहणकालेऽपि स्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गाच्च संस्कारवदात्म-

कल्पितं स्यात् । असङ्गो न हि सज्जते । सत्तं सर्वभृदिति
श्रुतिस्मृती द्वे । न्यायश्च । गुणवद्गुणवता संसृज्यते नातुल्य-
जातीयम् । अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केन-
चिदपि अतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतन्न्यायविरुद्धं भवेत् ।
तस्मान्नित्यालुप्तज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मैत्ययमर्थः । सर्व-
बोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति नान्यथा । तस्मात् प्रतिबोध-
विदितं मतमिति यथा व्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः । यत् पुनः
स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वक्ष्यते तत्र
भवति सोपाधिकत्वमात्मनो बुद्ध्यापाधिस्वरूपत्वेन भेदं परि-
कल्प्यात्मानं वेत्तीति संव्यवहारः । आत्मनैवात्मानं पश्यति
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्त्य त्वं पुरुषोत्तमेति न तु निरुपाधिक-
स्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता वा सम्भवति । संवेदनस्वरूपत्वात्

मनःसंयोगस्याविशेषादित्यर्थः । सर्वगतत्वञ्च सर्वाव्यवधान-
मात्रं न तु संयोगित्वं कल्पनीयमित्याह । संसर्गधर्मित्वञ्चेति ।
न्यायविरुद्धमित्युक्तं तत् स्फुटयति । न्यायश्चेति । एकदेशि-
व्याख्यानान्तरमनूय दूषयति । यत् पुरित्यादिना । यद् वेद्यं
तद् वेदितुर्वेदनाच्च भिन्नं यथा घटादीति व्याप्तिविरोधात् स्व-
संवेद्यत्वं वास्तवं नोपपद्यते ततो बुद्ध्यादावात्मभावमारोप्यात्मना
तस्य वेद्यत्वं वाच्यमिति निरुपाधिकस्वरूपस्थितिर्न स्यादि-
त्याह । तत्र भवति सोपाधिकत्वमिति । काणादस्य स्वसंवेद्य-
त्वानङ्गीकारबलात् परवेद्यत्वं प्रसज्जत इत्यपि न वाच्यमित्याह ।
संवेदनस्वरूपत्वादिति । बौद्धेन स्वसंवेद्यसंविज्ञानमिष्टं तव
किं स्यादित्यत आह । बौद्धपक्ष इति । प्रत्यक्षस्य वर्तमाना-

संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति । यथा प्रकाश्यप्रकाशान्तरूपेक्षाया न सम्भवस्तद्वत् । बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायान्तु चक्षु-
भङ्गुरत्वं निरात्मकत्वञ्च विज्ञानस्य स्यात् । न हि विज्ञातुर्वि-
ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । नित्यं विभुं सर्वगतं
स एवैष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभय इत्याद्याः
श्रुतयो बाध्येरन् । यत् पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो
बोधः प्रतिबोधो यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पयन्ति सकृद्विज्ञानं
प्रतिबोध इत्यपरे । निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृदाऽसकृदा
प्रतिबोध एव हि सः । अमृतत्वममरणभावं स्वात्मन्यव-
स्थानं मोक्षं हि यस्माद्विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात्
प्रतिबोधविदितात्मकात्तस्मात् प्रतिबोधविदितमेव मतमित्य-
भिप्रायः । बोधस्य हि प्रत्यगात्मा आत्मविषयं मतममृतत्वे

भासकत्वात् क्षणान्तरविशिष्टे स्वात्मनि क्षणान्तरविशिष्टं
तदेव विज्ञानं ब्रह्माभिव्यक्तस्य न सम्भवति अतः स्वात्मनि स्वय-
मेव विज्ञानं प्रत्यक्षं चेद्वर्तमानक्षणमात्रं सत्त्वं स्यात् । स्वसंवेद्य-
त्वेन साक्षिणोऽनङ्गीकारान्निरात्मत्वञ्च स्यादेव तच्छ्रुतिविरुद्धोक्त-
रित्यर्थः । प्रतिबोधवाक्यस्यार्थान्तरं शङ्कते । यत् पुनरिति ।
ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयतो यावच्चेतो व्यावृत्तिस्तावत् सम्प्रज्ञात-
समाधिर्निवृत्तिचेतो व्यापारे यः परमानन्दसाक्षात्कारः सौषुप्ता-
नन्दसाक्षात्कारवत् सोऽसम्प्रज्ञातसमाधिप्रतिबोध उच्यते । तदुक्तं
वार्त्तिककृता । अपरायत्तबोधो हि निदिध्यासनमुच्यत इति ।
अथवा क्रियाब्रह्मात्मत्वानुभवे सति प्रमादत्वानुपपत्तौ पुन-
र्ज्ञानासम्भवात् सद्यो मुक्तिकारणं सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध उच्यते

हेतुः । न ह्यात्मनोऽनात्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव ।
 एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्ययाऽनात्मप्रतिपत्तिः कथं पुन-
 र्यथोक्तयाऽऽत्मविद्ययाऽमृतत्वं विन्दत इत्यत आह । आत्मना
 स्वेन स्वरूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यं धनसहाय-
 मन्तौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम-
 नित्यवसुक्षतत्वात् । आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते
 नान्येनेत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं
 मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम् । यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्य-
 मात्मनैव विन्दतेऽतो विद्ययाऽऽत्मविषयया विन्दतेऽमृतं नाय-

सकृत् प्रवृत्त्या मृदु नातिक्रियाकारकरूपमृदुज्ञानमागमज्ञानसा-
 झल्यं नास्त्यतोऽनयोरिति पक्षद्वयेऽप्युचिमाह । निर्निमित्त
 इति । अयमाशयस्तावदविद्यानिवर्तकस्याङ्गुलकस्य बोधस्य
 निर्निमित्तत्वं सम्भवति कार्यस्य सनिमित्तव्याप्तेः । सौषुप्त-
 स्यापि न निर्निमित्तत्वमविद्यायाः पूर्वपूर्वनिरोधावस्थासंस्का-
 रोद्भूततादृशवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्य तत्र सुखसाक्षात्कारोपगमा-
 दत एव वृत्तिविशिष्टस्य विनाशे स्मरणमुपपद्यते । अत्रापि
 तद्व्यावृत्तिसंस्कारप्रचयान्निवृत्तेऽपि चित्ते ब्रह्माभिव्यक्तं स्यादिति
 चेन्न । तथा सत्यप्रमात्वेन विनष्टपुत्रापरोक्षादावविद्यानिवृत्तिर्न
 स्याच्छब्दज्ञानसम्भवात् प्रमात्वे परतन्त्रत्वप्रसङ्गः शब्दमूल-
 त्वात् प्रमात्वेन निर्निमित्ततेति प्रवृत्तकर्म्मफलप्रतिबन्धाद् वर्त-
 मानप्रमादत्वाभासानिवृत्तेरसक्तबोधोऽपि पक्षद्वयेऽपि नादरः
 सर्वथापि परमात्मा प्रतिबोध एव बोधं प्रति बोधं प्रति साक्षि-
 तया भातीति ॥ लक्ष्यपदार्थविवेचनपूर्वकं महावाक्योक्तं पर-
 मात्मास्मीति ज्ञानमेव सम्यग्ज्ञानं यस्मात्तत एवामृतत्वं लभत

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीत्

220
285

मात्मा बलहीनेन लभ्य इत्यायर्वण्ये । अतः समर्थो हेतुः
अमृतत्वं विन्दत इति ॥ १२ ॥ ४ ॥

कष्टा खलु सुरनरतिथ्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु
प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसम्प्राप्तिरज्ञानादत इ-
हैव चेन्मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यद्यवेदीदात्मानं यथोक्त-
लक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेणच तदास्ति सत्यं
मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता
वा सत्यं विद्यते न चेदवेदीदिति । न चेदिह जीवश्चोदधि-
कृतोऽवेदीन्न विदितवान् तदा महती दीर्घाऽनन्ता विनष्टि-
र्विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगति-

इत्याह । अमृतत्वमिति ॥ उक्तमर्थं सङ्ग्रह्याह । बोधस्य हीति ॥
बुद्धिपरिणामस्य सर्वस्य भासकं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्मा न
भवति किन्तु ब्रह्माण्डादहिःस्थितस्तत्प्राप्तिश्च मोक्ष इत्याश-
ङ्गाह । न हीति ॥ अनात्मप्राप्तिकर्मफलवदनित्यत्वेनामृतत्व-
प्रसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः । यदुक्तं दोषपरिहाराय औपाधिकभेदेन
भिन्नत्वं ब्रह्मणः स्वतः स्वात्मत्वमेवेति मन्यसे तत्राह । आत्मत्वा-
दिति ॥ ब्रह्मण आत्मत्वादेवात्मनोऽमृतत्वं स्वभावसिद्धं तर्हि
विद्याया अनर्थक्यं प्राप्तमित्याशङ्गाह । एवं मर्त्यत्वमिति ।
अविद्यया देहाद्यात्मत्वप्रतिपत्तिरिति यत्तदात्मनो मर्त्यत्वं तन्नि-
वृत्तिर्विद्याफलमित्यर्थः ॥ १२ ॥ ४ ॥

वीर्यं विद्याकृतमुक्तम् । मुक्तत्वे दाढ्यं तच्च स्वाभाविकमेव
मुक्तत्वं वास्तवं सर्वशरीराद्यसंसर्गित्वान्नभोवन्निरवयवत्वादेव ।
ततश्च नित्यमुक्त एवाहमित्यवष्टम्भो विद्याकृतं बलमित्यर्थः ॥

महती विनष्टिः । भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माह्लोकादमृता भवन्ति ॥ १३ ॥ ५ ॥

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो

स्तस्मादेव गुणदोषौ विजानन्तो ब्रह्मणो भूतेषु भूतेषु सर्व-
भूतेषु स्थावरेषु चरेषु चैकमात्मतत्त्वं विचिन्त्य विज्ञाय
साक्षात्कृत्य धीरा धीमन्तः प्रेत्य व्यावर्त्य ममाहं भाव-
लक्षणादविद्यारूपादस्माह्लोकादुपरम्य सर्वात्मैकत्वभावमद्वै-
तमापन्नाः सन्तोऽमृता भवन्तीत्यर्थः । स यो ह वै तत्परमं
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुतेः ॥ १३ ॥ ५ ॥ इति द्वितीयः
खण्डः ॥ २ ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्येऽविज्ञातं विजानतां विज्ञात-
मविजानतामित्यादिश्रवणाद्यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैर्यत्रास्ति
तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासदृष्टम् । तथेदं
ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो माभूदिति

उत्तरवाक्यस्यापेक्षितमर्थमाह । कष्टा खलिति ॥ लौकिकमपि
सत्यं चिरं जीवनधनवत्त्वं सद्भावः साधुभावः ख्यातिः । एत-
दपि सर्वं ब्रह्मविदो भवन्तीति स्तुत्यर्थमुच्यते परमार्थतो ब्रह्म-
रूपस्थितिस्तु फलमवश्यम्भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ ५ ॥ द्वितीयः
खण्डः समाप्तः ॥ २ ॥

उत्तरग्रन्थस्य प्रतीकमादाय तात्पर्यमाह । ब्रह्मेत्यादिना ॥
अभिप्रेतं तात्पर्यमाह । वक्ष्यमाणेति ॥ उत्तमाधिकारिगो-

विजये देवा अमहीयन्त त हेक्षन्तास्माकमेवायं
विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १४ ॥ १ ॥

तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते । तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण
प्रशास्तृ देवानामपि परो देव ईश्वराणामपीश्वरो दुर्विज्ञेयो
देवानां जयहेतुरसुराणां पराजयहेतुस्तत्कथनास्तीत्येतस्या-
र्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते । अथवा
ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये । कथं ब्रह्मविज्ञानादग्न्यादयो देवानां
श्रेष्ठत्वं जग्मुस्ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति । अथवा दुर्वि-
ज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत् प्रदर्श्यते । येनाग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि
क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति
वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिप्ररं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण
प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्यैतद्दर्शनार्थं वाऽऽख्या-
यिका । यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति । ब्रह्म
यथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽथ विजिग्ये जयं लब्ध-
वद्देवानामसुराणाञ्च संग्रामेऽसुरान् जित्वा जगदरातीनीश्वर-
सेतुभेतृन् देवेभ्यो जयं तत् फलञ्च प्रायच्छत् जगतः सीम्ने ।
तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्न्यादयो महीयन्तो
महिमानं प्राप्नुवन्तस्तदात्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य
सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेर्जगतः
स्थितिं चिकिर्षोरयं जयो महिमा चेत्यजानन्तस्ते देवा

परमविषयं ब्रह्मात्मताज्ञानं पूर्वोक्तमुत्तरतु मन्दाधिकारि-
गोचरं सगुणब्रह्मोपासनं वक्ष्यते तत्परं वक्ष्यमाणं सर्ववाक्यजात-

तद्देवाणां विजज्ञौ तेभ्यो हि प्रादुर्बभूव तन्न
व्यजानन्त किमिदं यच्चमिति ॥ १५ ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि

ऐक्षन्त ईक्षितवन्तोऽग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नालक्षितोऽस्माक-
मेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमाऽग्निवायिन्द्रत्वादिलक्षणे
जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत
इत्येवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तद्वकिलेषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ
विज्ञातवत् ब्रह्म । सर्वेक्षित हि तत्सर्वभूतकरणप्रयोक्तृत्वाद्
देवानाञ्च मिथ्याज्ञानमुपलभ्यमेवासुरवन्मिथ्याभिमानात् परा-
भवेयुरिति तदनुकम्पया देवान् मिथ्याभिमानापनोदनेनानु-
ष्टल्लीयामिति तेभ्यो देवेभ्यो ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव स्वयोग-
माहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवाना-
मिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव । तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानन्त
नैव विज्ञातवन्तो देवाः । किमिदं पूज्यं महद्भूतमिति ॥
१४ ॥ १५ ॥ २ ।

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तुद्विजिज्ञासवोऽग्नि-
मग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पमब्रुवन्नुक्तवन्तो हे जातवेद

स्पष्टविधिदर्शनादतोऽत्रैव तात्पर्यमर्थान्तरतात्पर्यप्रदर्शनन्तु स-
म्भावनामात्रेणेति द्रष्टव्यम् । ईश्वरस्य सेतवो मर्यादा वर्या-
श्चमादिधर्मास्तद्देवान् जगतः सीम्ने स्थेयाय सत्त्वरजस्तमसां
त्रयाणां गुणानां योगो युक्तिर्घटनमाया तन्माहात्म्येनेत्यर्थः ॥
१४ ॥ १ ॥ १५ ॥ २ ॥

तृतीयखण्डभाष्यं स्पष्टमतो न विवृतमिति ॥

किमेतद्यच्चमिति तथेति ॥ १६ ॥ ३ ॥ तदभ्यद्र-
वक्षमभ्यवदत् कोऽसीति अग्निर्वाऽहमस्मीत्य-
ब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ १७ ॥ ४ ॥
तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं
यदिदं पृथिव्यामिति ॥ १८ ॥ ५ ॥ तस्मै तृष्णां
निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न
शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं
विज्ञातुं यदेतद्यच्चमिति ॥ १९ ॥ ६ ॥

एतदस्मद्गोचरस्थं यच्चं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्य त्वं
नस्तेजस्वी किमेतद्यच्चमिति । तथास्त्विति । तद्यक्षमभ्य-
द्रवत् तदतिगतवानग्निः । तच्च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्
समीपेऽप्रगल्भत्वात् तूष्णींभूतं तद्यक्षमभ्यद्रवदग्निं प्रत्य-
भाषत कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निरब्रवीदग्निर्वै
अग्निनामाहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च । नामद्वयेन प्रसिद्ध-
तयात्मानं श्लाघयन्निति । एवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत् तस्मि-
न्नेवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यमिति ।
सोऽब्रवीदिदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्याम् । यदिदं स्थाव-
रादिपृथिव्यामिति । पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थं यतोऽन्तरिक्ष-
स्थमपि दह्यत एवाग्निना । तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म
तृष्णं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवद्ब्रह्मैतत् तृष्णमात्रं ममा-
ग्रतो दह न चेदस्य दग्धुं समर्थो मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं
सर्वत्रेत्युक्तः तत् तृष्णमुपप्रेयाय तृष्णसमीपं गत्वा सर्वजवेन

अथ वायुमब्रुवन् वायवे तद्विजानीहि किमे-
तद्यच्चमिति तथेति ॥ २० ॥ ७ ॥ तदभद्रवत्तम-
भ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मात-
रिष्वा वा अहमस्मीति ॥ २१ ॥ ८ ॥ तस्मिंस्तूयि
किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथि-
व्यामिति ॥ २२ ॥ ९ ॥ तस्मै तृणं निदधावेत-

सर्वोत्साहकृतेन गत्वा न शशाक नाशकदग्धुं स जातवेदा-
स्तृणं दग्धुमशक्तो ब्रीडितो हतप्रतिज्ञस्तत एव यच्चादेव
तूष्णीं देवान् प्रतिनिवृत्ते निवृत्तः प्रतिगतवान् नैतद्यच्च-
मशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतो यदेतद्यच्चमिति ॥ १६ ॥
॥ ३ ॥ १७ ॥ ४ ॥ १८ ॥ ५ ॥ १९ ॥ ६ ॥

अथ वायुमित्यथानन्तरं वायुमब्रुवन् हे वायो एतद्
विजानीहि इत्यादि समानार्थं पूर्वेण । वानाद् गमनाद् गन्ध-
नाद् वायुः । मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिष्वा । इदं
सर्वमप्याददीयं गृह्णीयाम् । यदिदं पृथिव्यामित्यादि समान-
मेव । अथेन्द्रमित्यथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि इत्यादि-
पूर्ववदिन्द्रः परमेश्वरो मघवान् बलवत्त्वात्तथेति तदभ्यद्रव-
त्तस्मादिन्द्रादात्मसमीपगतात्तद्ब्रह्म तिरोदधि तिरोभूतमिन्द्र-
त्वाभिमानोऽतितरां निराकर्त्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि
नादाद्ब्रह्मेन्द्राय तद्यच्चं यस्मिन्नाकाशे आकाशप्रदेशे आत्मानं
दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले यस्मि-
न्नाकाशे आसीत् स इन्द्रस्तस्मिन्नेवाकाशे तस्थौ । किं

दादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाका-
दातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं
यदेतद्यक्षमिति ॥ २३ ॥ १० ॥ अथेन्द्रमब्रुवन्मघ-
वन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तद-
भ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ २४ ॥ ११ ॥ स तस्मिन्नेवा-
काशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैम-
वतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ २५ ॥ १२ ॥

तृतीयः खण्डः समाप्तः ॥ ३ ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वाहतद्विजये महीय

तद्यक्षमिति ध्यायन्न निववृतेऽग्न्यादिवत्तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं
बुद्ध्या विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा । स इन्द्र-
स्तामुमां बहुशोभमानां सर्वेषां हि शोभमानानां शोभन-
तमां विद्यां तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नमभवति ।
हैमवतीं हैमकृताभरणवतीमिव बहुशोभमानामित्यर्थः ।
अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेन
ईश्वरेण सा वर्त्तत इति ज्ञातुं समर्था इति कृत्वा तामुप-
जगाम इन्द्रस्तां ह उमां किलोवाच पप्रच्छ ब्रूहि किमेत-
द्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥ २० ॥ ७ ॥ २१ ॥ ८ ॥ २२ ॥
९ ॥ २३ ॥ १० ॥ २४ ॥ ११ ॥ २५ ॥ १२ ॥ इति तृतीय-
खण्डभाष्यम् ॥ ३ ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मण ईश्वरस्यैव विजये

ध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २६ ॥

१ ॥ तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्
देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्टं पस्प-
र्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २७ ॥

२ ॥ तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान्
स ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदा-
ञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २८ ॥ ३ ॥

ईश्वरेणैव जिता असुरा यूयं तत्र निमित्तमात्रं तस्यैव
विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुय । एतदिति क्रिया-
विशेषणार्थम् । मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमेव महिमेति ।
ततस्तस्मादुमावाक्याद् एव विदाञ्चकार ब्रह्मेतीन्द्रोऽवधार-
णात्ततो हैवेति न स्वातन्त्र्येण । यस्मादग्निर्वायुर्इन्द्रा एते
देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना समीपमुपगतास्तस्मादैश्वर्य-
गुणैरतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैरन्यान् देवानतितरा-
मतिशयेन शेरते इवैते देवाः । इवशब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो
वा । यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते हि देवा यस्मादेतद्ब्रह्म नेदिष्ट-
मन्तिकं समीपं प्रियतमं पस्पर्शुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः
संवादादिप्रकारैस्ते हि यस्माच्च हेतोरेनद्ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः
प्रधानाः सन्त इत्येतद्विदाञ्चकार विदाञ्चक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति ।
यस्मादग्निर्वायू अपीन्द्रवाक्यादेव विदाञ्चक्रुस्त इन्द्रेण युमा-
वाक्यात् प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेत्यतस्तस्माद् इन्द्रोऽतितरामतिशयेन

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा इतीति
न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥ २८ ॥ ४ ॥

शेत इवान्यान् देवान् स ह्येनन्न दिष्टं पश्यं यस्मात् स
ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥ २६ ॥ १ ॥
२७ ॥ २ ॥ २८ ॥ ३ ॥

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशो निरूप-
मस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते ।
किन्तु यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद्विद्योतनं कृत-
वदित्येतदनुपपन्नमिति । विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते ।
आ इत्युपमार्थः । विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः । यथा सकृ-
द्विद्युतमिति श्रुत्यन्तरे च दर्शनाद्विद्युदिव हि सकृदात्मानं
दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्मदेवेभ्योऽथवा विद्युतस्तेज इत्याध्या-
हार्यं व्यद्युतद्विद्योतितवत् आ इव विद्युतस्तेजः सकृद्विद्यो-
तितवदित्यभिप्रायः । इति शब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थ इत्य-
यमादेश इति । इतिशब्दः समुच्चयार्थः । अयञ्चापरस्तस्या-

विद्युतः सकाशाद्विद्योतनं कृतवदित्यनुपपन्नं ब्रह्मणः स्वयं
ज्योतिष्वात् पराधीनप्रकाशानुपपत्तेर्विद्युत्सम्बन्धि द्योतनं कृत-
वदित्यनुपपन्नमन्याश्रयस्य विद्योतनस्यान्यकर्तृत्वानुपपत्तेरतो
तथा श्रुतासम्भवादन्वन्न तात्पर्यं वक्तव्यमित्यर्थः प्रतिनिर्देशार्थ
इति परामर्शार्थः । चक्षुषो निमेषणं द्रुतं भवतीति प्रसिद्धं
तदुब्रह्मणि क्षिप्रकारित्वं सूच्यादौ प्रतिबन्धाभावेनोपासना-

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैत-
दुपस्मरत्यभीक्षां सङ्कल्पः ॥ ३० ॥ ५ ॥ तद्व तद्-
वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं

देशः । कोऽसौ न्यमीमिषत् । यथा चक्षुर्न्यमीमिषन्निमेषं
कृतवत् स्वार्थे णिच् । उपमार्थे एवकारः । चक्षुषो विषयं
प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः । इत्यधिदैवतं देवता-
विषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ॥ २८ ॥ ४ ॥

अथानन्तरमध्यात्मं प्रत्यगात्मविषयमादेश उच्यते । तदे-
तद् गच्छतीव च मन एतद्ब्रह्म ढीकत इव विषयीकरोतीव
यथाऽनेन मनसा एतद्ब्रह्मोपस्मरति समीपतः स्मरति
साधकोऽभीक्षां भृशं सङ्कल्प्य मनसो ब्रह्मविषयो मन उपा-
धिकत्वाच्च मनसः सङ्कल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्म-
विषयीक्रियमाण इव वातः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशो
विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतं प्रकाशनधर्म्मि अध्यात्मञ्च
मनःप्रत्ययसमकालाभिव्यक्तधर्म्मीत्येष आदेशः । एवमादि-

भावेन च द्रुतकारित्वं धर्म्मः अधिदैवतं यद्देयं ब्रह्मरूपं तद्यथा
विद्युतः प्रकाशो युगपद्विश्वव्यापकस्तथा निरतिशयज्योतीरूपं
द्रुतं सकलसृष्ट्यादिकारि परमैश्वर्यसम्पन्नमित्युपमानोपदेशे-
नोक्तम् ॥ २६ ॥ १ ॥ २७ ॥ २ ॥ २८ ॥ ३ ॥ २९ ॥ ४ ॥

अधुना प्रत्यगात्मतया ब्रह्मणो यथाभिव्यक्तिः स्यात्तथोप-
दिश्यत इत्याह । अथानन्तरमिति । एतत्प्रकृतज्योतीरूपं ब्रह्म

वेदाऽभि हैमं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति

॥ ३१ ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मी

श्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोप-
देशः । न हि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकुलयितुं
शक्यम् । किञ्च तद्ब्रह्म ह किल तदनं नाम तस्य वनं
तदनं तस्य प्रणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वादननीयं सम्भज-
नीयमतस्तदनं नाम प्रख्यातं ब्रह्म तदनमिति यतस्तस्मा-
त्तदनमित्यनेनैव गुणाभिधानेनोपासितव्यं चिन्तनीयमित्य-
नेन नाम्नोपासकस्य फलमाह । स यः कश्चिदेतद्यथोक्तं
ब्रह्मैवं यथोक्तगुणं वेदोपास्ते ह एवमुपासकं सर्वाणि भूता-
न्यभिसंवाञ्छन्ति ह प्रार्थयतः एव यथा ब्रह्म एवमनुशिष्टः
शिष्य आचार्यमुवाच ॥ ३० ॥ ५ ॥ ३१ ॥ ६ ॥

उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन् ब्रूहीत्येवमुक्तवति

प्रति मदीयं मनो गच्छदत्तं इति चिन्तयेदित्युपदेशः । स
आध्यात्मिकोऽभीक्ष्णं पौनःपुन्येन मम मनसः सङ्कल्पो ब्रह्म-
विषय एवेति ध्यायतः प्रत्यग्भूतब्रह्माभिव्यक्तिः स्यादित्याह ।
मन उपाधिकत्वाद्धीति । उक्तमर्थं सङ्क्षिप्याह । विद्युन्निरे-
षणवदिति । सगुणब्रह्मोपासननेश्वर्यफलकमुक्तम् । तत्र विरक्त
उत्तमाधिकारी परमरहस्यं पृच्छतीत्याह । एवमनुशिष्ट इति
॥ ३० ॥ ५ ॥ ३१ ॥ ६ ॥

वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ३२ ॥ ७ ॥ तस्यै
तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि

शिष्ये आह आचार्यः । उक्ताभिहिता ते तवोपनिषत् ।
का पुनः सेत्याह । ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयत्तां पर-
मात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य वाव एव ते उपनिषदमब्रूमे-
त्युक्तमेव परमात्मविद्यामुपनिषदमब्रूमेत्यव धारयत्युत्तरार्थम् ।
परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवत उपनिषदं मे ब्रूहीतीच्छतः
शिष्यस्य कोऽभिप्रायः । यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृत-
स्ततः पिटृपेषणवत् पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यादसावशेषो-
क्तोपनिषत्सात्ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारी न युक्तः प्रेत्या-
स्मात्तोकादसृता भवन्तीति । तस्मादुक्तोपनिषच्छेषविषयो-
ऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एवानवशेषितत्वात् । कस्तर्ह्यभिप्रायः
प्रष्टुरित्युच्यते । किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारि-
साधनान्तरापेक्षा । अथ निरपेक्षैव सापेक्षितविषयामुप-
निषदं ब्रूहि । अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः

परमरहस्यं श्रोतमित्यादिनोक्तमेवोत्तरार्थमित्युत्तरग्रन्थेन
विद्या-प्राप्त्युपाय-विधानार्थमुक्ता-विद्यानिरपेक्ष-वेत्यवधारयति ।
अवधारणार्थं प्रतिवचनस्य चोद्यमुखेन स्फुटयति । परमात्म-
विषयमित्यादिना । किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतयान्यदपेक्ष्यते ।
शेषशब्देन फलोपकार्यङ्गं विवक्षितम् । सहकारिशब्देनानुपस-
र्जनमपि समुच्चयार्थं विवक्षितम् । एवं वेदवेदाङ्गैः शिष्याभिप्राय-

सत्यमायतनमम् ॥ ३३ ॥ ८ ॥ यो वा एतामेवं

परमस्तीत्येवमभिप्रायः । एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचन-
मुक्ता त उपनिषदिति । ननु नावधारणमिदं यतौऽन्यदु-
वक्तव्यमित्याह । तस्यै तपोदम इत्यादि सत्यं वक्तव्यमुच्यते
आचार्येण न तूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरा-
भिप्रायेण वा । किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदै-
स्तदङ्गैश्च सह पाठेन समीकरणात् तपःप्रभृतीनाम् । न
हि वेदानां शिक्षादङ्गानाञ्च साक्षाद् ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्-
सहकारिसाधनं वा सहपठितानामपि यथायोग्यं विभज्य
विनियोगः स्यादिति चेद्यथा सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां
यथा दैवतं विभागस्तथा तपो दमः कर्म सत्यादिनां ब्रह्म-
विद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वेति कल्प्यते । वेदानां
तदङ्गानाञ्चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं
विभागो युज्यते । अयं सम्बन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत् ।
नायुक्तेः । न ह्ययं विभागो घटनां प्राप्नुवति । न हि सर्व-
क्रियाकारकफलभेदबुद्धिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषा-
पेक्षा सहकारिसाधनसम्बन्धो वा युज्यते । सर्वविषयव्या-
वृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च

सुपवर्ण्यं समाधानमाह । एतदुपपन्नमिति । विद्याङ्गत्वहीनैरिति-
पाठात्तपःप्रभृतीनां विद्याङ्गत्वं नास्तीत्युक्तम् । तत्र योग्यतावशेन
शेषशेषीभावः सहपाठस्त्वकिञ्चित्कर इति शङ्कते । सहपठिता-
नामपीति । अग्निरिदं हविरनुषत अवीवृधतमहो ज्यायो-

वेदापहृत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गं लोके ज्येये

निःश्रेयसस्य मोक्षमिच्छन् सदा कर्म त्यजेदेव समाधानं
 त्यजतैव हि तज्ज्ञेयन्त्यक्तुः प्रत्येक् परं पदम् । तस्मात्
 कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते ।
 ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति ।
 तस्मादवधारणार्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते । एतावत्ये-
 वेयमुपनिषदुक्तान्यनिरपेक्षामृतत्वाय । यामिमां ब्राह्मी-
 मुपनिषदं तवाग्रे ब्रूमेति तस्यैतस्या उक्ताया उपनिषदः
 प्राप्स्युपायभूतानि तप आदीनि । तपः कार्येन्द्रियमनसां
 समाधानम् । दम उपशमः । कर्माग्निहोत्रादि । एतैर्हि
 संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा । अद्य-
 मृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च
 यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम् । तस्मादिह वाऽतीतेषु वा बहुषु
 जन्मान्तरेषु तप आदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथा-
 श्रुतम् । यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते
 कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इति मन्त्रवर्णात् ।
 ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मण इति स्मृतेः । इति

ऽकृतः । अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम् । अवीवृधेतां महो
 ज्यायोऽक्रातामित्यादिनैव सूक्तवाक्येन सर्वत्यागसमाप्तौ देवता
 तु मन्त्रेण क्रियते । तत्र यद्यप्यस्मिन् सूक्तवाक्ये वह्न्यो देवताः
 पठ्यन्ते तथापि यस्मिन् त्यागी या देवता हुता तस्या एव
 विसर्जने योग्यतावशादस्य सूक्तवाक्यस्य यथा विनियोगस्तथा

प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ३४ ॥ ६ ॥ इति

शब्द उपलक्षणप्रदर्शनार्थः । इत्येवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्ते-
रूपकारकममानित्वमदभित्वमित्याद्युपदर्शितं भवति । प्र-
तिष्ठा पादौ पादाविवास्यास्तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्म-
विद्या प्रवर्त्तते । पदभ्यामिव पुरुषो वेदाश्चत्वारः सर्वाणि
चाङ्गानि शिक्षादीनि षट्कर्म्मज्ञानप्रकाशकत्वाद् वेदानां तद्र-
क्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम् । अथवा प्रतिष्ठाशब्दस्य
पादरूपकल्पनार्थत्वाद्देदास्त्वितराणि सर्वाङ्गानि शिर आदी-
न्यस्मिन् पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्ये-
तव्यम् । अङ्गिनि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतान्येव भवन्ति ।
तदायतनत्वादङ्गानाम् । सत्यमायतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत्
तदायतनं सत्यमिति । अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनः-
कायानान्तेषु ह्याश्रयति विद्या । ये अमायाविनः साधवो
नासुरप्रकृतिषु मायाविषु । न येषु जिह्वमनृतं न माया

तपःप्रभृतीनानि विद्याशेषत्वेन विनियोगो भविष्यतीत्यर्थः ।
भवेत् सूक्तवाकस्य विनियोगो योग्यतासम्भवात् । न कर्म्मणां
विद्याविरुद्धत्वेन योग्यताऽयोग्यत्वादित्याह । नायुक्तेरिति ।
विद्याया विषयपर्यालोचनया फलपर्यालोचनया च नास्ति
तत्त्वतः सम्बन्धयोग्यता प्रत्युत कर्म्मणामनुपयोगात् कर्म्मणां
त्याग एव मुमुक्षूणां कर्त्तव्य इत्याह । सर्वविषयेति । सर्वेभ्य
उत्पाद्यादिभ्यः कर्म्मगोचरेभ्यो व्यावृत्तो यः प्रत्यगात्मा स एष
ब्रह्मरूपेण विद्यायाः व्यावर्त्तको विषयस्तन्निष्ठत्वाद्विद्यायास्तत्-

चतुर्थः खण्डः समाप्तः ॥ ४ ॥ इति सामवेदीय-
तलवकारोपनिषत् समाप्ता ॥ श्रीं तत्सत् ॥

चेति श्रुतेः । तस्मात् सत्यमायतनमिति कल्प्यते । तप
आदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं
साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम् । अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया
धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यत इति स्मृतेः ।
यो वै एतां ब्रह्मविद्यां केनेषितमित्यादिना यथोक्तमेवं महा-
भागं ब्रह्म ह देवेभ्य इत्यादि सुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेदासृत-
त्वं हि विन्दत इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयते ।
अपहृत्य पाप्मानमविद्याकामकर्म्मलक्षणं संसारबीजं विधूया-
नन्तेऽपर्यन्ते स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतदनन्ते इति
विशिषणान्न त्रिपिष्टपेऽनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्यादित्यत
आह । ज्यैः इति । ज्ये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि

फलस्य च कर्मवैलक्षण्यादित्यर्थः । तच्छब्दापेक्षितं यच्छब्दं
पूरयति । यामिमांमिति । प्राप्तां सगुणविषयां निर्गुणब्रह्मात्म-
विषयाञ्चेत्यर्थः । पादरूपकल्पनेति प्रसिद्धपादसामान्यस्य
कल्पितत्वादितरैरप्यङ्गैः । कल्पनारूपैर्भवितव्यमित्यर्थः । तस्यै
तपो दमः कर्मेत्येतिशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात् सत्यमपि
संग्रहीतव्यं कथं पृथगुच्यत इत्याशङ्क्याह । तप आदिष्वेवेति ।
सगुणविद्यायाः क्रममुक्त्यर्थत्वात् क्रमेण प्राप्यं यत् कैवल्यं
निर्गुणविद्याफलं तत्पूर्वोक्तमिहोपसंक्रियते इत्याह । यो वै
एतामित्यादिना । योऽसौ सर्वेश्वरो विष्णुः सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।

मुख्य एव प्रतीतः । न पुनः संसारमापद्यत इत्यभिप्रायः ॥

३२ ॥ ७ ॥ ३३ ॥ ८ ॥ ३४ ॥ ९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजका-
चार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ तलवकारोपनिषत्पद-
भार्थं समाप्तम् ॥

शुद्धी बोधाख्युधिः साक्षात् सोऽहं नित्यात्मकः प्रभुः ॥ ३२ ॥ ७ ॥

३३ ॥ ८ ॥ ३४ ॥ ९ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपाद-
शिष्यश्रीमदानन्दज्ञानकृतायां श्रीमच्छाङ्करतलव-
कारोपनिषद्भाष्यटिप्पणं सम्पूर्णम् ॥

—*—

प्रकाशक—श्रीभुवनचन्द्र वसाक

८ नं० निमतलाघाट ड्रीट् ।

प्रिण्टर—श्रीरामनारायण पाल

१६ नं० नूतन पगेयापटी, नारायणयन्त्र ।



ॐ तत्सत् ।

यजुर्वेदीयकठोपनिषद्भाष्यम् ।

ओं परमात्मने नमः । ओं नमो भगवते वैवस्वताय सत्यवे ब्रह्मा-
विद्याचार्याय नचिकेतसे च । अथ काठोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थ-
प्रबोधनार्थमल्यग्र्या वृत्तिरारभ्यते । सदेर्धतोर्विशरणगत्य-
वसादनार्थस्योपनिषद्वर्षस्य क्षिप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति ।
उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया
विद्योच्यते । केनपुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इति ।
उच्यते । ये सुसुक्ष्मो दृष्टानुश्राविकविषयविवक्षाः सन्त उप-
निषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्नि-
ष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य
विशरणाद्विनाशनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदि-
त्युच्यते । तथा च वक्ष्यति । निचाय्य तं सत्यसुखात्ममुच्यत इति
पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मसादने-

यजुर्वेदीयकठोपनिषद्भाष्यटीका । चत इति ॥

ओं । धर्माधर्माद्यसंस्पृष्टं कार्यकारणवर्जितं सुसुक्ष्मः
दिभिरविच्छिन्नं ब्रह्म यत्तन्माम्यहम् ॥१॥ च्छब्देन प्रसिद्धाव-

यः साक्षात्कृतपरमानन्दो यावदधिष्ठातृपन्नाः स्वर्गभोगादय-
मानो कर्तृब्रह्मात्मतानुभवबलतो भूतः

ॐ उगन् ह वै वाजयवसः सर्ववेदसन्ददौ ।

तत्त्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत् । तथा च वक्ष्यति । ब्रह्मं प्राप्नो विरजोऽभृद्विमृत्युरिति । लोकादिब्रह्मयज्ञोऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन श्रौयित्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्यायुपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त इत्यादि । ननु चोपनिषच्छब्देनाधेतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति । उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च । एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादर्धात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायाञ्च सम्भवात् । ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दोपपत्तेः । आयुर्वेदं घृतमित्यादिवत् । तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते । ग्रन्थे तु भाक्त्येवमुपनिषन्निर्वचनेनैवविशिष्टोऽधिकारी विद्याया उक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतं प्रयोजनज्ञास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा ! सम्भ-

वाव आचार्यो वरप्रदानेन परब्रह्मात्मैव्यविद्यामुपदिदेश ।

उपदिदेश ताभ्यां नमस्कुर्वन्नाचार्यभक्तेर्विद्याप्राप्तप्रज्ञत्वं

यो नमो भगवते वैवस्वतायेति॥ अथशब्दो मङ्गलार्थः॥

जानीते । काठकेति ननूपनिषदो वृत्तिर्नारद्व्या

प्रितचेतसामुपनिषच्छ्रवणात्पराङ्मुखत्वाद्विशि-

रूपत्वाद्दृष्टीस्य च सत्यस्य कर्मभ्य एव निवृ-

नप्रयोजनत्वाज्जीवस्य च संसारिब्र-

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र-आस ॥१॥

न्यथैव स्मृतप्रयोजनेनोक्तोऽतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्लभो भवन्तीत्यतस्ता यथा प्रतिभानं व्याचक्ष्महे । तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था ॥
उशन् कामयमानो ह वै इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ वाजमनं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स चैतस्मिन् क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलास बभूव ॥१॥

ह्यात्मतायाः प्रतिपादयितुमग्रक्यत्वेन निर्विषयत्वाच्चेत्याशङ्क्योपनिषच्छब्दनिर्व्वचनेन विद्याया विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वप्रदर्शनेन तज्जनकस्य ग्रन्थस्यापि विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वेन व्याख्येयत्वं दर्शयितुं प्रथममुपनिषच्छब्दस्वरूपसिद्धिं तावदाह । उपनिषदस्येति । ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दस्योपनिषदं भो ब्रूहीत्यादिप्रयोगदर्शनात् धात्वर्थमाह । उपनिषच्छब्देनेति ॥ कृतावयवशक्त्यैव प्रयोगसम्भवे समुदायशक्तिरूपदिषच्छब्दस्य न कल्पनीयेत्याह । केन पुनरिति ॥ षट् लृ विशरणगत्यवसादनेष्विति धातोर्विशरणमर्थमादय योगवृत्तिमाह । उच्यत इति ॥ विषयेषु क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनाद्विरक्ताः केचन सुमुच्यवः प्रसिद्धा न सर्वे भवादृशाः कामुका एवेति यच्छब्देन प्रसिद्धावद्योतकेन कथयति । आनुश्रविकाः शब्दप्रतिपन्नाः स्वर्गभोगादय

त०७ ह कुमार०७ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
अद्वाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

पीतोदका जग्धटणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजनन-
शक्तिं बालमेव अद्वाऽऽस्तिकी बुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ता आवि-
वेश प्रविष्टवती । कस्मिन् काल इत्याह । ऋत्विग्भ्यः सदस्ये
भ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणा-
र्यासु गोषु स आविष्टअद्वा नचिकेता अमन्यत ॥२॥

कथमित्युच्यते पीतोदका इत्यादिना । दक्षिणार्या गावो

उपसद्येत्याचर्योपदेशाल्लब्धा यावत्साक्षात्कारं शीलयन्तिसंसा-
र्यसंसार्यैक्यासम्भावनादि निरस्यन्तीत्यर्थः । गत्यपूर्वाक्तेति अग्नि-
विद्यायामप्यवसादनमादायोपनिषच्छब्दस्य वृत्तिमाह । लोका-
दीति । भूरादिलोकानामादिः प्रथमजो ब्रह्मणो जातो ब्रह्मजः
स एव जानातीति ज्ञः । ग्रथ्ये तु भाक्त्येत्युपचारेणोपनिषच्छब्द
प्रयोग इत्यर्थः । उपनिषच्छब्दनिर्वचनेन सिद्धमर्थमाह । एव-
मित्यादिना । आत्यन्तिकी निदाननिवृत्त्या निवृत्तिर्विवक्षिता ।
निदानज्ञानव्यतिरेकशास्त्रन्यायेभ्यः संसारस्यात्मैकत्वाविद्या ।
सा च न कर्माणां विनिवर्त्ततेऽतो विद्यायाः प्रयोजनेन साध्यसा-
साधनभावलक्षणः सखन्व इत्यर्थः । वंश कान्तावित्यस्य शत्रन्त
रूपमुशन्निति ॥ अवःकीर्त्तिः । सर्वमेधेन सर्वस्वदक्षिणेनेजे
यजनं कृतवानित्यर्थः । सदसि यज्ञसभायां येऽन्ये मिलिता
ब्राह्मणास्तैश्च ॥१॥२॥

अनन्दा नामते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मान्दास्यसीति ।

द्वितीयं तृतीयन्त ७ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

वज्रनामेभि प्रथमो बह्वनामेभि मध्यमः ।

कि ७ खिद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

विशेष्यन्ते । पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं
तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां
ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला
गाव इत्यर्थः । पीता एवम्भूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणावद्ध्या
ददत्प्रयच्छदनन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतत् । ये ते लो-
कास्तान् स यजमानो गच्छति ता ददत् ॥३॥

तदेदं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मयापुत्रेण
सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रत्वसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा
पितरमुपागम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्वि-
ग्विशेषाय दक्षिणार्थे मां दास्यसीति प्रयच्छसीति । एतदेव-
मुक्तेनापि पित्रोपेक्षमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां
दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः
सन् पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वां ददा-
मीति ॥४॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार । कथमित्यु-

पीतमुदकं प्रागेव नोत्तरकालं पानशक्तिरप्यसीत्यर्थः । यथा-
वसरं गुरोरिष्टं ज्ञात्वा श्वश्रूषणे नृत्तिर्मुखा । आज्ञावशेन

यजुर्वेदीयकठोपनिषत् ।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।

तस्येतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

च्यते । बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्या शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानाञ्च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे ददामीत्युक्तवान्पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन किं करिष्यति यत्कर्त्तव्यमद्य नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता । तथापि तत्पितुर्वचो मृषा माभूदित्येव मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥५॥

अनुपस्थाऽऽलोचय निभालयानुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्त्वतान् दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि । वर्त्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्त्तन्ते तांश्च प्रतिपश्चालोचय तथा । नच तेषु मृषा करणं वृत्तं वर्त्तमानं वास्ति । तद्विपरीतमसताञ्च वृत्तं मृषा करणम् । नच मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिव आ जायते

मध्यमा तदपरिपालनेनाधमा । मया दत्तेन यत्कर्त्तव्यमद्य यमस्य करिष्यति तत्किं कर्त्तव्यमासीन्नासीदेव विधानाभावात् । कथं तर्ह्युक्तवानित्यत आह । नूनमिति ॥३॥४॥५॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतान्ज्वाष्टापूर्त्ते पुत्रपशूँश्च
सर्वान् । एतद्वृद्धं पुरुषस्याल्पमेधसो यस्या
नम्रन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

आविर्भवति पुनरेवमनित्यजीवलोके किं मृष्टाकरणेन । पालया
त्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यम
भवनं गत्वा तिष्ठो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते । प्रोस्यागतं यम-
ममाया भार्या वा ऊर्चुर्वीधयन्तो वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्र-
विश्यत्यतिथिः सन् वाक्छणो गृहान् दहन्निव तस्य दाहं शम-
यन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति
सन्तोऽतिथयोऽतो हराहर हे वैवस्वतोदकं नचिकेतसे पाद्या-
र्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्ती । इष्टार्थप्रार्थनाऽऽशा । अनिर्ज्ञात-
प्राप्तप्रार्थं प्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे । सङ्गतं सत्संयो-
गजं फलम् । सूटतां च सूटता हि प्रिया वाक्त्तन्निमित्तञ्च ।
इष्टापूर्त्ते इष्टं यागजम् । पूर्त्तमारामादिक्रियाजं फलम् । पुत्र
पशूँश्च पुत्रांश्च पशूँश्च सर्वानेतत्सर्वं ययोक्तं वृद्धं आविर्जयति
विनाशयतीत्येतत् पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य । यस्यानम्रनभु-

श्रुत्यनुक्तपूर्वभाषादिकमपि कथायामपेक्षितं पूरयति । स
एवमुक्तः पितेति ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

प्रेतीभूतोऽभ्युपगतो नावलोकनीय इति मत्वोपेक्षां यथा न
करोति तथा प्रसादं कुर्वित्याह । किञ्च तत्प्रसूटमिति । औ

तिस्रो रात्रीर्यद्वात्सीर्गृहे मेऽनन्नं ब्रह्मन्-
तिथिर्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् दृणीष्व ॥६॥

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो
माभिमृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत्तु
याणां प्रथमं वरं दृणे ॥१०॥

आनो ब्राह्मणो गृहे वर्सति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वव-
स्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥८॥

एवमुक्तो मृत्युर्वाच नचिकेतसमुपगमप्रपूजापुरःसरम् ।
किन्तदित्याह । तिस्रो रात्रीर्यद्वात्सीरुषितवानसि गृहे
मे समानन्नं हे ब्रह्मन्तिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च
तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन् स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु ।
तस्माद्भवतोऽनश्नेन मद्गृहवासनिमित्तादोषात्प्राप्तपशमेन
यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं ममस्वस्ति स्यात्तथापि त्वदधिकस-
म्पसादनार्यमनश्नेनोपोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणी
स्वाभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व ॥६॥

अतो नचिकेतास्वाह । यद्विदित्सुर्वरान् शान्तसङ्कल्पः ॥
उपशान्तः सङ्कल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किन्तु करिष्यति
मम पुत्र इति स शान्तसङ्कल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा
स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति

हालकिरिति । तद्वितः स्वार्थे व्याख्यातोऽपत्यार्थे व्याख्येय-
इत्याह । द्यामुष्यायणो वेति । अमुष्य प्रख्यातस्यापत्यमामुष्यायणः ।

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिराकृणि
मत्प्रसृष्टः । सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्यस्त्वां
ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रसृक्तम् ॥११॥

स्वर्गे लोकेन भयं किञ्च नास्ति न तत्र त्वं न

हे मृत्यो किञ्च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिष्कृत्तं प्रेषितं सृष्टं प्रति
मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो समागत इत्येवं
प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । एतत्प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथम-
माद्यं वरं दृश्ये प्रार्थयेद्यम् ॥१०॥

यत्पितुः परितोषणं कृत्युक्त्वाच यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पू-
र्व्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव
पिता तथैव प्रतीतः प्रतीतवान्सन्धौद्दालकिः । उद्दालक एवौ-
द्दालकिः । अरुणस्यापत्यमारुणिर्द्वामुध्यायणो वा मत्प्रसृष्टो
मयाऽनुज्ञातः सन्नितरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता
सुप्तो वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्ट-
वान् स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रसृक्तं सन्तं नचिकेता उवाच ॥१॥

स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चिदपि नास्ति ! न च
तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्सतो जरया युक्त इह लोकवत्ततो
न विभेति कुतश्चित्तत्र किञ्चोभेऽश्नायापिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य

द्वयोः पित्र्योः पूर्व्वभाषादिना सखन्धो चासावामुध्यायणश्च
न नारज इत्यर्थः ॥८॥१०॥११॥

स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुः स्वर्गस्वरूपं तावदाह । स्वर्गे
लोक इति ॥१२॥ इयञ्च वक्ष्यमाणा मृत्योः प्रतिज्ञाऽवगन्तव्या । स

जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽश्नायापिपासे शोका-
तिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं
अद्धानाय मर्त्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वरेण वरेण ॥१३॥

प्र ते ब्रवीमि तद् मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः

शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानयेन दुःखेन वर्जितो
मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

एवं गुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स्वर्ग्यं
स त्वं मृत्योरध्येषि स्मरति जानातीत्यर्थः । हे मृत्यो यतस्त्वं
प्रब्रूहि कथय अद्धानाय अद्भावते मर्त्यं स्वर्ग्यार्धिने । येना-
ग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गलोको येषान्ते स्वर्गलोका यज-
माना अमृतत्वममरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतद्मृ-
तिविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वरेण ॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयं प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि । यत्त्वया प्रार्थितं तत्
उ मे मम वचो निबोध बध्यस्वैकाग्रमनाः सन् स्वर्ग्यं स्वर्गाय
हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन् विज्ञातवानहं
सनित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं
वचनम् । अधुनाऽग्निं स्तौति अनन्तलोकाग्निं स्वर्गलोकफल-
प्राप्तिसाधनमित्येतत् । अथो अपि प्रतिष्ठाभाष्यं जगतो विरा-

तेधाऽऽत्मानं व्याकुरुतेति श्रुतेरग्निवाय्वादित्यरूपेण समष्टिरूपो

प्रजानन् । अनन्तलोकाग्निमथोप्रतिष्ठां विद्धि त्वमे-
नन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

लोकादिमग्निन्तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा
यथा वा । स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमयास्य मृत्युः
पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि

इदं पेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं
गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥१४॥

इदं श्रुतेर्वचनं लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वा-
दग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचि-
केतसे । किञ्च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण । यावतीर्वा
सङ्ख्यया । यथा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानि-
त्यर्थः । स चापि नचिकेतास्तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमयास्य तन्मृत्युनोक्तं
यथा यत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः
सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणाऽन्यं वरं दित्सुः ॥१५॥

कथं तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्
प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्मा क्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह
प्रीतिनिमित्तम् । अयेदानीं ददामि भूयः प्रयच्छामि । तवैव
नचिकेतसो नाम्नाभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽय-
मग्निः । सङ्ख्यां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमांमनेकरूपां वि-

विराडेव व्यवस्थित इति ॥१२॥१३॥१४॥

तेन विराड्रूपेणाग्निर्जगतः प्रतिष्ठेत्युच्यते । सप्रपञ्चमग्नि-

भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्गान्धेमाम
नेकखपाङ्गुहाण ॥ १६ ॥

१ त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकत्तरति

चित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्गामा कुत्सितां गतिं कर्ष्य-
मयीं गृहाण । अन्यदपि कर्ष्यविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात् स्वी-
कुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

२ पुनरपि कर्ष्यस्तुतिमेवाह । त्रिणाचिकेतस्त्रिः कृत्वो नाचि-
तेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदनुष्ठानवान्
॥ त्रिभिर्मालपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं
प्राप्ताद्यनुशासनं यथावत् प्राप्येतत् । तद्वि प्रामाण्यकारणं
अत्यन्तरादवगम्यते । यथा मातृमानित्यादिवैदस्मृतिशिष्टैर्वा
म प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा तेभ्यो हि विष्णुद्विप्रत्यक्षात् त्रिकर्ष्यकदि-
वि ज्याध्ययनदानानां कर्त्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यु ॥ किञ्च
ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ
उ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ञानादि-
वि गुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चात्म-
सर्

व-
प्रा-
ज्ञानचयनप्रकरणाद्दृष्टव्यमिति श्रुतिरस्मान्बोधयतीत्याह । इदं
श्रुतेर्ब्रह्मचनमिति । विष्णुद्विरिति धर्माद्यवगतिः ॥ १५ ॥ १६ ॥

ते-
दृष्ट्वा चात्मभावेनेत्यर्थः । विंशत्यधिकानि सप्तशतानि दृष्ट-
कानां सङ्ख्या संवत्सरस्याहोरात्राणि च तावत्संख्यकान्येव

जन्ममृत्यु । ब्रह्मजज्ञन्देवमीडां विदित्वा निचा-
य्येमाँ७ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँ७
श्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोदय
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्योऽयमष्टणीया द्वितीयेन

भावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेति अतिशयनैति
वैराजं पदं ज्ञानकर्म्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति । प्रकरणञ्च त्रिणा-
चिकेतस्त्रयं यद्योक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद्विदित्वा
ऽवगम्य यच्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्व्वर्त्तयति
नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्म्माज्ञानरागद्वेषादिलक्ष-
णान्पुरतोऽग्रतः पूर्व्वमेव शरीरपातादित्यर्थः । प्रणोदयापहाय ।
शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतन्मोदते स्वर्गलोके वैराजे
विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥१८॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्ग्यसाधनो यमग्निं
वरमष्टणीयाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त
इत्युक्तोपसंहारः । किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो
जना इत्येतदेष वरो दत्तो मया चतुर्थः । तुष्टेन तृतीयं वरं

सङ्घासामान्यात्तैरिष्टकास्थानीयैश्चितोऽग्निरहमित्यात्मभावेन

वरेण । एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं
वरन्नचिकेतो वृणीष्व ॥१६॥

येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायम-

नचिकेतो वृणीष्व । तस्मिन् ह्यदत्ते ऋणवानहमित्यभि-
प्रायः ॥१६॥

एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रप्रेषार्थेन मन्त्रब्रह्मणेनावगन्तव्यं
यद्वरद्वयसूचितं वस्तु नात्मतत्त्वविषययाथात्मप्रविज्ञानम् । अतो
विधिप्रतिप्रेषार्थस्य विषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाधारोपल-
क्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरी-
तब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाधारोपणलक्षणशून्यमा-
त्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते ।
तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्तप्राप्त्युक्तार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्म-
ज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति । यतः पूर्वस्मात्कस्मि-
गोचरात्माध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्यात्मज्ञानेऽधिकारइति
तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते । नचिकेता उवाच
तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन् । येयं विचिकित्सा

ध्यात्वेति ॥१७॥१८॥१९॥

पितापुत्रस्तेहादिस्वर्गलोकावसानं यद्वरद्वयसूचितं संसार-
रूपं तदेव कर्मकाण्डप्रतिपाद्यमात्मन्यारोपितं तन्निवर्त्तकञ्चात्म-
ज्ञानमित्यधारोपापवादभावेन पूर्वोत्तरग्रन्थयोः सखन्धमाह ।
एतावद्वीति । प्रथमवल्लीसमाप्तिपर्यन्ताख्यायिकाया अवान्तरस-
खन्धमाह । तमेतमर्थमिति । देहव्यतिरिक्तास्त्वित्वे वादिवि-
प्रतिपत्तेः संशयश्चेत्तर्हि प्रत्यक्षादिना स्वस्यैव निर्णयज्ञानसम्भ-

स्तीतिचैक्रे । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष
वरस्तृतीयः ॥२०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेय-
मणुरेषधर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो दृणीष्व मा
मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यति-
रिक्तो देहान्तरसम्बन्धात्मा इत्येके नायमस्तीति चैके नायमेवं-
विधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्याकं न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन निर्ण-
यविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्येतद्विद्यां विजा-
नीयामहमनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया वराणामेष वरस्तृतीयोऽव-
शिष्टः ॥२०॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हे न वेत्येतत्प-
रीक्षार्थमाह देवैरप्यत्रैतस्मिन् वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं
पुरा पूर्वं न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः
सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसन्दिग्धफलं वरं नचिकेतो
दृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं माकार्षीरधमर्णमिवोत्त-
मर्णः । अतिसृज विमुञ्चैनं वरं मां प्रति ॥२१॥

वात्तनिर्णयस्य निष्प्रयोजनत्वाच्च न तदर्थः प्रश्नः कर्तव्य इत्या-
शङ्क्याह । अतश्चास्याकमिति । प्रत्यक्षेण स्थाणौ निर्णीते पुरुषो
न वेति सन्देहादर्शनाद्यतिरिक्तात्मास्तित्वे च देहदर्शनान्न प्रत्य-
क्षेण निर्णयः परलोकसम्बन्धात्मना च कस्यचिद्विज्ञस्याविनाभा-
वादर्शनान्नानुमानेनापि निर्णय इत्यर्थः ॥२०॥२१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो यन्न
सुविज्ञेयमात्य । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्ति-
हिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयञ्च
जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

एवमुक्तो नचिकेता आह देवैरत्रापि विचिकित्सितं किलेति ।
भवत एवमुपपद्यतं त्वञ्च मृत्यो यद्यस्यान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्य
कथयस्यतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद्वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्कु-
ल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्यमाणोऽप्ययं तु वरो निःश्रेय
प्रप्राप्तिहेतुरतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्येतस्य कश्चिदप्यनि-
यफलत्वादप्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥२२॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभवन्नुवाच मृत्युः । शतायुषः शतं
वर्षाण्यायूंषि येषां तान् शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । किञ्च गवा-
दिलक्षणां बहून् पशून् ॥ दस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यञ्च
हस्तिहिरण्यम् । अश्वान् च । किञ्च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्ण-
मायतनमाश्रयं मण्डलं साम्राज्यं राज्यं वृणीष्व । किञ्च सर्व-
मप्येतदनर्थकं स्वयञ्चेदल्पायुरित्यतश्चाह । स्वयञ्च जीव त्वं जीवं
धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि
जीवितुमित्यर्थः ॥२३॥

एकैकं पुत्रधनादीनां वरत्वेनोपन्यस्य समुच्चितमिदानीमुपन्य-
स्यति । किञ्च वित्तं प्रभूतमिति । अस्य भुवीति धातोर्लोप्सममध्य-

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिर-
जीविकाञ्च । महामूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामा-
जान्त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्च
ऋन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या

एतत्तुल्यमेतेन यद्योपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं-
तमपि वृणीष्व । किञ्च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीवि-
काञ्च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् । किं वज्रना महामूमौ
महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव । किञ्चान्यत्कामानां
दिव्यानां मनुष्याणाञ्चत्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं
करोमि सत्यसङ्कल्पो ह्यहं देव इतिभावः ॥२४॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान्
कामांश्चन्दतः प्रार्थयस्व । किञ्चेमा दिव्या अश्वरसो रमयन्ति
पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वत्तेन्त इति सरथाः । सतूर्याः
सवादित्तास्ताश्च नहि लम्बनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा
मनुष्यैर्मर्त्यै रक्षादादिप्रसादमन्तरेणाभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः
परिचारिणीभिः परिचारयस्वात्मानं पादप्रचालनादिशुश्रूषां
कारयात्मन इत्यर्थः । नचिकेतो मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रे-

मपुरुषैकवचनान्तस्य निपातः । एधीति ततो भवेति व्याख्या-
तम् ॥२२॥२३॥२४॥

नहीदृशा लक्ष्मीनीया मनुष्यैः ॥ आभिर्मर्त्यप्रज्ञाभिः
परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राचीः ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणाञ्ज-
रयन्ति तेजः । अपि सर्वज्जीवितमल्यमेव तवैव
वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तस-

त्यास्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राचीर्मेवं प्रष्टु-
मर्हसि ॥ २५ ॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाहृदवदक्षोभ्याह । श्वो
भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो सवनं
त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किञ्च मर्त्यस्य मनुष्य-
स्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्ति अपक्ष-
यन्ति अक्षरः प्रभृतयो भोगा अनर्थायैवैते । धर्मीवीर्यप्रज्ञाते-
जोयशः प्रभृतीनां क्षययितृत्वात् । याच्नापि दीर्घजीविकां त्वं
दित्ससि तत्रापि शृणु सर्व्वम् । यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्य-
मेव किमुताश्वादादिदीर्घजीविकाम् । अतस्तवैव तिष्ठतु वाव
रथादयस्तस्या तव नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

किञ्च न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके
वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः । यदि नामाश्वाकं वित्त-
तृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामहे इति । एतद्वित्तमद्राक्ष्य
दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वां जीवितमपि तथैव जीविष्यामो याव-
स्यास्ये पदे त्वमीशिष्यसि त्वमीशिष्यसे प्रभुः स्याः । कथं हि

द्राक्ष्य चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्त्यः क्वधःस्यः
प्रजानन् । अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घं
जीविते को रमेत ॥२८॥

मर्त्तयः स्वपाशमेत्याल्यधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव
यदात्मविज्ञानम् ॥२७॥

यतश्चाजीर्यतां वयोहानिमप्राप्तवताममर्त्यानां सकाशमुपे-
त्योपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नु-
पलभ्यमानः स्वयन्तु जीर्यन्त्यो जरामरणवान् क्वधःस्यः कुः
ष्टयिष्यधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्यः
सन् कथमेवं विवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं
वृणीते । क्व तदा स्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन् पक्षेऽक्षर-
योजना तेषु पुत्रादिष्वस्या आस्थितिस्तात्पर्येण वर्त्तनं यस्य
तदास्थस्ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापयिषुः
तदास्या भवेन कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थो स्यादित्यर्थः । सर्व-
ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्यान् पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलो-
भ्योऽहं किञ्चाप्सरःप्रमुखान् वर्णरतिप्रमोदान् अनवस्थितरूप-
तयाऽभिध्यायान् निरूपयन् यथा वदति दीर्घं जीविते को विवेकी
रमेत अतो ब्रह्माचारिणैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थि-
तम् ॥२८॥

यः

किञ्चोक्तृष्टपुरुषार्थलाभे सम्भवत्यधमं कामयमानो मूर्ख एवाहं

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये
महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो ना-
न्यन्तस्मान्नचिकेता दृणीते ॥२६॥

इति प्रथमा वल्ली ॥१॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषः ७

यस्मिन् प्रेते इदं विचिकित्सन् विचिकित्सन्ति अस्ति नास्ती-
त्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयो-
जननिमित्ते आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽ-
स्मभ्यं किं वज्रनायोऽयं प्रकृतात्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्वि-
वेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः । तस्माद्द्वारादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीय-
नित्यविषयं वरं नचिकेता न दृणीते मनासापीति श्रुतेर्वचन-
मिति ॥ २६ ॥

इति कठवल्लभां प्रथमवल्लीभाष्यम् ॥ १ ॥

स्थ। परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यताच्चावगम्याह । अन्यत्पृथगेव
यत्रियो निःश्रेयसं तथाऽन्यदुतैवापि च प्रेयः प्रियतरमपि ते
उपप्रेयः श्रेयसी उभे नानार्थभिन्नप्रयोजने सति पुरुषमधिकृतं वस्त्रा-
अमादिविशिष्टं सिनीतो वध्नीतस्ताभ्यां विद्याऽविद्याभ्यामात्मक-
र्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वैः पुरुषः । श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयाकृत-

स्थां ततोऽपि मम स एव वर इत्याह । यत इत्युक्त्या ताभित्या-
दिना ॥ इति प्रथमवल्लीभाष्यव्याख्या ॥ २६ ॥१॥

अभ्युदयनिश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याऽविद्या-दर्शनेन च

सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति ही-
यतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति

त्वार्थो पुरुषः प्रवर्त्तते । अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्त्तव्यतया
ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते । सर्व्वः पुरुषस्ते यद्ययैकैकपुरुषार्थसम्ब-
न्धिनी विद्याऽविद्यारूपत्वाद्विरुद्ध इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन
पुरुषेण सहावुष्ठातुमशक्यत्वात्तयोर्हित्वा विद्यारूपं प्रेयः श्रेय
एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्व्वतः साधु शोभनं शिवं भवति ।
यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते विद्युज्यते अर्थात्पुरुषार्थात्पारमा-
र्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात्प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो
वृणीते उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

यद्युभेऽपि कर्त्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते वाञ्छत्येन
लोक इत्युच्यते । सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धी-
नां दुर्विवेकरूपे सती व्याभिस्त्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषं आ दूतः
प्राप्तुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्बुसःपयस्तौ श्रेयःप्रेयः
पदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य सम्यङ्मनसाऽऽलोच्य गुरुलाघवं
विविनक्ति पृथक्करोति धीरः धीमान्विविच्य श्रेयो हि श्रेय एवा-
भिवृणीते श्रेयसोऽन्यर्हितत्वात् । कौऽसौ धीरो यस्तु मन्दोऽल्प-

केवलविद्यार्थितया शिष्यं प्रथमं स्तौतीत्याह । परीक्ष्येति ॥ श्रेयः
प्रेयसोरन्यतरपरित्यागेनैवान्यतरापादाने हेतुमाह । ते यद्य-

धीरः । श्रेयो ही धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो
मन्दो योगक्षमादृणीते ॥२॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्याय-
न्नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ॥ नैतां सृङ्गां वित्तमयीवाप्तो
यस्याश्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति

बुद्धिः स विवेकासामर्थ्यात् योगक्षमाद्योगक्षेमनिमित्ते शरीराद्यु-
पचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं दृणीते ॥२॥

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रिय-
रूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयन् तेषां
प्रनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीरतिस्त्र-
वान्परित्यक्तवानसि अहो बुद्धिमत्ता तवनैतामवाप्तवानसि
सृङ्गां सृतिं कुलितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्राप्ताम् ।
यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवो नैके मूढा मनुष्यास्तयोः
श्रेय आददानस्यासाधु भवति हीयतेऽर्थात् ॥ ३ ॥

य उ प्रेयो दृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतो दूरं दूरेण मह-
तान्तरेणैते विपरीतेऽन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वा-
त्तमःप्रकाशाविव । विषूचीविषूचौ नानागती भिन्नफले संसार-
मोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् । के ते इत्युच्यते । या चाविद्या प्रेयोविषया
विद्येति च श्रेयोविषया । अज्ञाताऽनिर्ज्ञाताऽवगन्ता पण्डितै-

पीति ॥ ते यद्यप्येकैकपुरुषसम्बन्धिनी तथापि विरुद्धे ॥१॥३॥

ज्ञाता । विद्याभीप्सनन्नचिकेत संमन्येन त्वाकासा
बहवो लोलुपन्तः ॥४॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयन्धीराः पण्डित-
स्मन्यमानाः । दन्द्रम्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धे-
नैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालम्प्रसाद्यन्तं वित्त-

स्तत्र विद्याभीक्ष्णिनं विद्यार्थिनचिकेतसं त्वामहं मन्ये । कस्मा-
द्यस्याद्वुद्धिप्रलोभिनः कामाऽश्वरः प्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां न
लोलुपन्तो न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभि-
वाञ्छासम्पादनेन । अतो विद्यार्थिनं श्रेयोजनं मन्य इत्यभि-
प्रायः ॥ ४ ॥

ये तु संसारमाजो जना अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत
इव तमसि वर्त्तमाना वेद्यमानाः पुत्रपश्वादिदृष्ट्यापाशशतैः
स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमा-
नास्तो दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलासनेकरूपां गतिं गच्छन्तो
जरामरणरोगादिदुःखैः पर्यन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकि-
भ्योऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवो
अवोधा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वदत एव मूढत्वात् ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति । सम्परेयत इति साम्परायः पर-
लोकसत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः स
च बालमविवेकिनं प्रति न भाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्ये-
तत्प्रसाद्यन्तं प्रसादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासत्तामन-

मोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

अवणायापि बद्धभिर्यो न लभ्यः शृग्वन्तोऽपि
बहवो यन्न विद्युः । आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य
लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

सुखा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं
सन्तमयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्वप्नपानादिविशिष्टो
नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्ज-
नित्वा वशमधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम जन्ममरणादिलक्षण-
ः स्वप्नवन्वानुरुद्ध एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव
लोकः ॥ ६ ॥

यस्तु श्रेयोऽर्थो सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मा-
च्छ्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि येन लभ्य आत्मा बद्धभिरनेकैः
शृग्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विन्दन्त्यभाणि-
नोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किञ्चास्य वक्ताप्याश्चर्य्योऽद्भुत-
वदेवानेकेषु कश्चिदेव भवति । तथा श्रुत्वाप्यस्यात्मनः कुशलो
निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्मादाश्चर्य्यो ज्ञाता
कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेनाचार्य्येणानुशिष्टः
सन् ॥ ७ ॥

सम्यक्प्राक्काले देहपातादूर्ध्वमेव ईयते गमयत इति साम्प-
रायः ॥६॥ ७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो ब्रह्मधा
चिन्त्यमानः ॥ अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्
ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

कस्मान्न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेनेत्येत-
दुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्टु सम्यग्विज्ञेयो
विज्ञातुं शक्यो यस्याब्रह्मधा अस्ति नास्ति कर्त्ताऽकर्त्ता शुद्धोऽशुद्ध
इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय इत्यु-
च्यते । अनन्यप्रोक्तेऽनन्येमापृथग्दर्शिनाचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्म-
भूतेन प्रोक्ते उक्ते आत्मनि गतिरनेकधा अस्ति नास्तीत्यादिलक्षणा
चिन्ता गतिरस्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्य-
स्तमितत्वादात्मनः । अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि प्रोक्ते अत्र
गतिरन्यस्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा
निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिर्वात्र
नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वान्तद्विज्ञानफलस्य मो-
क्षस्य । अथवा प्रोचमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्ते आत्मन्य-
गतिः अनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया
ओतुस्तदनन्योऽहमित्याचार्यस्येत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आगमवता-
ऽऽचार्येणानन्यतया प्रोक्त इत्यर्थः । अणीयानगुप्रमाणादपि सम्प-
द्यते आत्मा । अतर्क्यमगुप्रमाणो न तर्क्यः । स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केव-
लेन तर्क्यमाणोऽगुपरिमाणे केनचित्स्थापिते आत्मनि ततोऽगु-
तरमन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽगुतममिति । न हि तर्कस्य निष्ठा
क्वचिद्विद्यते ॥ ८ ॥

अणुत्वं परीक्षत्वं मया जानतापि ब्रह्मायासं कर्त्तुं
कृतं त्वं दीयमानमपि तत्फलं न गृह्णाति मत्तोऽधिकप्रज्ञोऽ-

नैषा तर्केण सतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञा-
नाय प्रेष्ठ । यान्त्वमापः सत्यधृतिर्वनासि त्वाहङ्गो
भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ६ ॥

जानाम्यहं शेषधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते

अतोऽनन्यप्रोक्ते आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्मनि
मतिर्नैषा तर्केण खबुद्धयूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः ।
नापनेतव्या वा न हन्तव्या । तार्किको ह्यनागमज्ञः खबुद्धिपरि-
कल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति । अत एव च येयमागमप्रसूता
मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेनाचार्य्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञा-
नाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम । का पुनः सा तर्कागम्या मतिरि-
युच्यते । यां त्वं मतिं सद्वरप्रदानेन प्राप्तवानसि ॥ सत्याऽवितथ-
प्रया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्वतासीत्यनुकम्पयन्नाह
त्युर्नचिकेतसम् । वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये त्वाहङ्गुल्यो नोऽस्मभ्यं
भूयात् भवताङ्गवत्वस्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा । कीदृग्याहक् त्वं
हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ६ ॥

पुनरपि तुष्ट आह जानाम्यहं शेषधिर्निधिः कर्ष्यफल-
क्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इत्यसावनित्यमिति जानामि । न हि
यस्मादनित्यैरध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्मात्मम् । शेषधि-
र्यस्वनित्यः सुखात्मकः शेषधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते हि
यतस्तस्मान्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति ।
नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभू-

सीति संक्षोभात् स्तौतीत्याह । पुनरपि तुष्ट आहति ॥ यच्च
त्वया देहव्यतिरिक्त आत्मा पृष्ठस्तस्यैव परमार्थरूपज्ञानं

हि ध्रुवन्तत् । ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निर-
नित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

कामस्याग्निञ्जगतः प्रतिष्ठां कृतोरनन्तरमभयस्य
पारम् । स्तोममहदुक्कगायम्प्रतिष्ठान्दृष्ट्वा धृत्या धीरो
नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ॥ ११ ॥

तोऽग्निर्निर्वर्त्तित इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं
स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

त्वं तु कामस्याग्निं समाप्तिम् अत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः
जगत आध्यात्माधिभूताधिदेवादेः प्रतिष्ठामाप्त्रयं सर्वत्वात्कृतोः
फलं हैरण्यगर्भं पदम् आनन्त्यम् । अभयस्य च पारं परां
निष्ठाम् । स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसहितं
स्तोमञ्च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत् । उक्कगायं
विस्तीर्णां गतिम् । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मन उक्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या
धैर्येण धीरो नचिकेतो धीमान्स्नन्त्यस्त्राक्षीः परमेवाकाङ्क्षन्ति-
दृष्टवानसि सर्वमेतत्संसारभोगजातम् । अहो वतानुत्तमगुणो-
ऽसि यं तं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम् ॥ ११ ॥

सनिदानबन्धनिवर्त्तकं परमानन्दप्राप्तिसाधनं धर्म्यं च नातःपरं
अयःसाधनमस्तीति ॥ ८ ॥ ६ ॥

दृष्टस्य वस्तुनः प्रशंसया च प्रष्टारं प्रशंसन्ति । यं त्वं ज्ञातु-
मिच्छसीत्यादिना ॥ १० ॥ ११ ॥

तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गृहरेष्ठम्-
राणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो
हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रष्टुं धर्मम-

तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम् अतिसूक्ष्मत्वात् । गूढं
गहनम् । अनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमि-
त्येतत् । गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यत्वात् ।
गृहरेष्ठं विषममनेकानर्थसङ्कटे तिष्ठतीति गृहरेष्ठम् । यत एवं
गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्च अतो गृहरेष्ठः । अतो दुर्दर्शः । तं
पुराणम् पुरातनम् अध्यात्मयोगाधिगमेनविषयेभ्यः प्रतिसंहत्य
तेन आत्मानि समाधानमध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देव-
त्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोरभावाज्ज-
हाति ॥ १२ ॥

किञ्चेतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यसकाशा-
त्सम्यगात्मभावेन परिगृह्य उपादाय मर्त्यो मरणधर्म्मा धर्म्मा-
दनपेतं धर्म्मां प्रष्टुं प्रष्टुं पृथक्कृत्य शरीरादेः अणुं सूक्ष्मम्
एतमात्मानमाय प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हि हर्ष-
णीयमात्मानं लब्ध्वा तदेतदेवस्वधं ब्रह्मसद्भवानं नचिकेतसं त्वां

यदि देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः प्रथमं पृष्टस्य परमार्थस्वरूप-
ज्ञानमेव श्रेयःसाधनं तर्हि तदेव ब्रूहीत्याह । यद्यहं योग्य
इत्यादिना ॥ अत एव वरदानव्यतिरेकेण पूर्वोऽयं प्रश्न इति

गुमेतमाय । समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा
विष्टं सन्न नचिकेत सन्नन्ये ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि

प्रत्यपावृतद्वारं विष्टमभिसुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्य-
भिप्रायः ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा नचिकेताः पुनराह । यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि
भगवन्मां प्रत्यन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलान्तत्का-
रकेश्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथाऽन्यत्राधर्मान्तथाऽन्यत्रास्मात्
कृताकृतात् । कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र । किञ्चान्यत्र
भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च यत्तद्विष्यतश्च । तथा वर्तमाना-
त्कालतयेणयन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहार
गोचरातीतं पश्यसि जानासि तद्वद मद्यम् ॥ १४ ॥

इत्येवं पृष्टवते स्मृत्युक्त्वाच पुष्टं वस्तु विशेषणान्तरञ्चविवक्षन् ।
सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयमविभागेनामनन्ति तपांसि सर्वाणि च
यद्वदन्ति यत्प्राप्तप्रयत्नीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुल-
वासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्तप्रयत्नञ्चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातु-
मिच्छसि सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपतो ब्रवीमि ओं इत्येतत् तदेतत्पदं

नाशङ्कनीयं पूर्वेष्टस्यैव याथातथ्यप्रश्नः पृष्टस्य वस्तुनोविशेषणा-
न्तरं ज्ञानसाधनं वक्तुमित्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा इति वेदैकदेशा उपनिषदः । तेनोपनिषदो ज्ञान

च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति तत्ते
पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीभ्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

एतद्वेवाक्षरम्ब्रह्म एतदेवाक्षरम्परम् । एतद्वे-
वाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनम्परम् । एतदा-
लम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यद्बुभुक्षितञ्च वा । यदेतदोमित्यंशब्दवाच्यमंशब्दप्रती-
कञ्च ॥ १५ ॥

अत एतद्वेवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्वेवाक्षरञ्च परं तयोर्हि
प्रतीकमेतदक्षरमेतद्वेवाक्षरं ज्ञात्वोपास्यब्रह्मेति यो यदिच्छति
परमपरं वा तस्य तद्भवति । परञ्चेदातव्यमरपरञ्चेत्प्राप्त-
व्यम् ॥ १६ ॥

यत एवम् अत एवैतदालम्बनं ब्रह्मप्राप्तपालम्बनानां श्रेष्ठं
प्रशस्यतमम् । एतदालम्बनं परमपरञ्च । परापरब्रह्मविषय-
त्वात् । अत एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । परस्मिन्
ब्रह्मण्यपरस्मिञ्च ब्रह्मभूते ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

साधनत्वेन साक्षाद्विनियुक्तास्तपांसि तेषां कर्माणि शुद्धिद्वारे-
णावगतिसाधनानि ॥ मन्दाधिकारिणो विचारासमर्थस्य क्रमेणा-
वगतिसाधनं सङ्क्षिप्याह । सङ्ग्रहेणेति ॥ यस्य शब्दस्योच्चारणे
यत् स्फुरति तत्तस्य वाच्यं प्रसिद्धं समाहितचित्तस्योच्चारणे
रणे यद्विषयानुपरक्तं संवेदनं स्फुरति तदोच्चारणमवलम्ब्य
तद्वाच्यं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत्तत्राप्यसमर्थोऽंशब्द एव ब्रह्म-
दृष्टिं कुर्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न

अन्यत्र धर्मादित्यादिना षष्ठस्यात्मनोऽशेषविशेषरहितस्या-
लम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोद्धारो निर्दिष्टः । अपरस्य च ब्रह्मणो
मन्दमध्यमप्रतिपत्तुन् प्रति । अथेदानीं तस्योद्धारालम्बनस्यात्मनः
साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिष्येदसुच्यते । न जायते नोत्पद्यते
म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्यानेकविक्रिया-
स्वासाभाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषि-
द्धेते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति ।
विपश्चिन्नेधावी सर्वज्ञः । अपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात् । किञ्च
नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव । अस्माच्चात्मनो न बभूव
कश्चिदर्थान्तरभूतः । अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपचय-
विवर्जितः । यो ह्यशाश्वतः सोऽप्यपचीयते । अयन्तु शाश्व-
तोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारे-
णाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुस्मादिस्तद्विपरीतस्वात्मा
पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः । यत एवमतो न हन्यते न हिं-

साधनहीनायोपदेशोऽनर्थक इति मत्वोच्चावचमवगतिसा-
धनमुक्त्वा वक्तव्यस्वरूपं यत्पठं तदभिधानायोपक्रमत इत्याह ।
अन्यत्र धर्मादित्यादिनेति ॥ यद्यात्मनोऽन्यद्ब्रह्म स्यात्तत्र जन्मा-
दिप्राप्तप्रभावादप्राप्तनिषेधः स्यादतो जन्मादिप्रतिषेधेन ब्रह्मोप-
दिशन्नात्मत्वरूपमेवोपदिशतीति गम्यते । अरण्यनिमित्तास्तित्वा-

हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्नन्यते हन्तुं हतश्चेन्नन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्नि-
हितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः

स्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । ततस्थोऽप्याकाशवदेव
भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

एवम्भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रादृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते
चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि
चेन्नन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः
स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न
हन्यते आकाशवदेवाविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव
धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य श्रुतिप्रामाण्यान्नया-
याच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥ १९ ॥

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते अणोः सूक्ष्मादणीयान्
श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः

शङ्कात्मनो मरणाभावेऽस्तित्वविषयप्रश्लेषेतदेववचनं भवतीति
द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

यद्यविक्रिय एवात्मा तर्हि धर्माद्यधिकार्यभावात्तदसिद्धौ
संसारोपलम्भ एव न स्यादित्याशङ्क्याह । अनात्मज्ञविषय
एवेति ॥ यदज्ञानात्प्रवृत्तिः स्यात्तज्ज्ञानात्मा कुतो भवेदिति
न्यायाच्चात्मज्ञस्य धर्मादि नोपपद्यते अत आत्मज्ञः सदा सुक्त

प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।

पृथिव्यादेरणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येना-
त्मवत्सम्भवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्सम्पद्यते । तस्मादसा-
वेवात्मा अणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तुपाधिक-
त्वात् । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य
गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः । तमात्मानं
दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमृचक्रतुरकामोऽदृष्टवाह्यविषयोप-
रतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैवं तदा मनश्चादीनि करणानि धातवः
शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीति । एषां धातूनां प्रसादादात्मनो
महिमानं कर्म्मनिमित्तदृष्टिचयरहितं पश्यति वीतशोकः । धातु-
प्रसादान्महिमानमात्मनोऽयमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति ।
ततो विगतशोको भवति । अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः
प्राकृतैः पुरुषैः ॥ २० ॥

यस्मादासीनोऽवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति शयानो
याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदाऽमदः समदोऽमदश्च
एवेत्याह । न्यायाच्चेति ॥ तदुक्तम् । विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो
नास्ति कर्तृता । लोकवादं समाश्रित्य श्रीकृष्णजनको यथेति ॥
अकामत्वादिसाधनान्तरविधानार्थमुत्तरवाक्यमवतारयति । कथं
पुनरिति ॥ एकस्याणुत्वं च विरुद्धं कथमनूद्यत इत्याशङ्क्याणुत्वा-
द्यध्यासाधिष्ठानत्वादिव्यवहारो न तत्त्वत इत्यविरोधमाह । अणु-
महद्वेति ॥ १६ ॥ २० ॥

विरुद्धानेकधर्मेवत्त्वाद्दुर्विज्ञेयचेदात्मा कथं तर्हि पण्डित-
स्यापि सुज्ञेयः स्यादित्याशङ्क्याह । स्थितिगतीति ॥ विश्वरूपो

कस्तम्भदामदन्द्देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं

सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्म्श्वानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं
देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । अस्तुदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य
सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यादिविरुद्धानेकविधर्म्शोपाधिक-
त्वाद्विरुद्धधर्म्श्ववत्त्वाद्विश्वरूप इवचिन्तामणिवदवभासत इति दुर्वि-
ज्ञेयत्वं दर्शयति । कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति । करणाना-
मुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शया-
नस्य भवति । यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्व्वतो यातीव
यदा विशेषविज्ञानस्यः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनश्चादिग-
तिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्त्तते ॥ २१ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यभिदर्शयति । अशरीरं स्वेन
प्रणिर्यथा नानारूपोऽवभासते परं नानाविधोपाधिसन्निधानात्
न स्वतो नानारूपः । चिन्तामणौ वा यद्यच्चिन्तप्रते तत्तच्चिन्तोपा-
धिकमेवावभासत न तत्त्वतः । तथा स्थितिगतिनित्यादयो विरु-
द्धानेकधर्म्शा येषां तदुपाधिवशादात्मा विरुद्धधर्म्श्वानिवावभासत
इति योजना । इति तस्य सुविज्ञेयो भवति । उपाध्यविविक्त-
दर्शिनस्तु दुर्विज्ञेय एवेत्यर्थः ॥ स्वतो विरुद्धधर्म्श्वत्वं नास्तीत्येत-
देव श्रुतियोजनया दर्शयति । करणानामित्यादिना ॥ एकदेश-
विज्ञानस्येति ॥ मनुष्योऽहं नीलं पश्यामीत्यादिपरिच्छिन्नविज्ञान-
स्येत्यर्थः । न ब्रह्मना श्रुतेनेत्यात्मप्रतिपादकोपनिषद्विचारातिरिक्त-
शास्त्रश्रवणेन न लभ्य उपनिषद्विचारेणापि केवलेनेति सिद्धोप-
देशरहितेन न लभ्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

परमेश्वराचार्यानुग्रहेण तु लभ्यत इत्याह । यमेवेति ॥

विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वज्रना श्रु-

रूपेणाकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादि-
शरीरेष्वनवस्थेष्वनित्येष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृत-
मित्येतत् । महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह विभुं व्यापि-
नमात्मानम् । आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रशन्नार्थम् । आत्मशब्दः
प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति
धीरो धीमान् न शोचति । न ह्येवम्विधस्यात्मविदः शोको-
पपत्तिः ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह ।
नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया
ग्रन्थार्थधारणाशक्त्या न वज्रना श्रुतेन केवलेन । केन तर्हि
लभ्य इत्युच्यते । यमेव स्वमात्मानमेष साधकोऽष्टांगुते प्रार्थयते
तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत इत्येतन्निष्काम-
श्चात्मानमेव प्रार्थयते । आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः । कथं

आत्मानमेव साधकः श्रवणमननादिभिर्दृष्टुं सम्भजते श्रवणादि-
कालेऽपिसोऽहमित्युपायेनैवानुसन्धत्त इत्यर्थः ॥ तमेवेति
लक्षणया परमात्मानुग्रहेणैव वरित्राऽभेदानुसन्धानवता ययानु-
सन्धानमात्मतत्त्वानुसन्धानवता ययानुसन्धानमात्मतयैव पर-
मात्मा लभ्यो भवतीत्यर्थः । वैपरीत्येन वा योजना । आत्मा त्वेष
प्रकरणोपरमान्तर्यामिरूपेण वा व्यवस्थितोऽयमेव सुमुक्षां भजते

तेन । यमेवैष दृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा दृणुते
तनूँ स्वाम् ॥ २३ ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनम् । मृत्यु-

लभ्यत इत्युच्यते । तत्स्वात्मकामस्यैष आत्मा विदृणुते प्रकाशयति
पारमार्थिकीं स्वां तनूं स्वकीयं यायात्समित्यर्थः ॥ २३ ॥

किञ्चान्यत् । दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्मापक-
र्ष्यणो नाविरतोऽनुपरतः । नापीन्द्रियलौल्यादशान्त उपरतः ।
नाप्यसमाहितो नैकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः समाहितचित्तोऽपि-
सन् समाधानफलार्थित्वात् । नाप्यशान्तमानसो व्याष्टतचित्तो
वात्मानं प्राप्नुयात् । केन प्राप्नुयादित्युच्यते । प्रज्ञानेन ब्रह्म-
विज्ञानेन । एनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत
इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमान-
सश्चाचार्यवान् प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

यस्त्वेवम्भूतो यस्यात्मनो ब्रह्म च क्षत्रञ्च ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मवि-
धारकेऽपि सर्वप्राणभूते उभे ओदनम् अशनं भवतः स्याताम् ।
सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमेवौदनस्याशनत्वेऽप्यपर्याप्तं प्रा-

उपगच्छति । तेनैव परमेश्वरादुगृहीतेनाभेदानुसन्धानवता
लभ्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ २३ ॥

दुश्चरितं कायिकं पापम् । यस्त्वेवम्भूत उक्तसाधनसम्पन्नो
न भवति स कथं वेदेति सस्वन्धः । अशनत्वेऽप्यपर्याप्त इत्यन्तत्वेऽ-

यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

इति कठोपनिषदि द्वितीया वल्ली ॥ २ ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुह्याम्प्रविष्टौ परम

कृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्या इत्यमेवं यथोक्तसाध-
नवानिवत्यर्थः वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

इति द्वितीयवल्लीभाष्यम् ॥ २ ॥

ऋतम्विबन्तावित्यस्या वल्याः सम्बन्धो विद्याविद्ये नानावि-
रुद्धफल इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते । तन्निर्ण-
यार्था रथरूपककल्पना तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम् । एवञ्च
प्राप्तप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं रथरूपकद्वारा द्वावात्मनोऽवुपन्य-
स्येते । ऋतमिति । ऋतं सत्यमवश्यम्भावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ ।
एकस्मिन् कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथापि पाटसम्बन्धात्पि-
बन्तावित्युच्यते । छत्रिन्यायेन सुकृतस्य स्वयं कृतस्य कर्मणः
ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः । लोकेऽस्मिञ्चरीरे । गुहा गुहायां
बुद्धौ प्रविष्टौ । परमे वाच्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम् ।
पराद्वै परस्य च ब्रह्मणोऽर्द्धं स्थानं परार्द्धं हार्दाकाशं तस्मिन्
हि परंब्रह्मोपलक्ष्यते । तस्मिन् परमे परार्द्धे हार्दाकाशे प्रविष्टा-

प्यसमर्थः शाकस्थानीय इत्यर्थः ॥ यत्र स्वे महिम्नि स दिग्गो एवं च
हर्त्ता वर्त्तते तथाभूतं तं को वेदेति सम्बन्धः ॥ २५ ॥ प्रतिपत्ति-

इति द्वितीयवल्लीभाष्यटीका ४ ॥

रथरूपकल्पनेति प्रसिद्धरथोपमाह । यः सेरितुल्यादिना ॥

कर्त्ता जीवस्तावदेकचेतनः सिद्धो सम्भवति प्रभावातिशयात्तथापि

पराङ् । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो
ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरम्ब्रह्म यत्परम् । अभयं
तितीर्षताम्पारं नाचिकेतोऽशकेमहि ॥ २ ॥

विश्वार्थः । तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन
ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव वदन्ति ।
पञ्चाग्नयो गृहस्थाः । ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृतो नाचिके-
तोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

यः सेतुः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां
दुःखसन्तरणार्थत्वान्नाचिकेतं नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं
चेतुञ्च शकेमहि शक्नुवन्तः । किञ्च यच्चाभयं भयशून्यं संसारस्य
पारं तितीर्षतां तर्क्षुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयम-
क्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि परावरे ब्रह्मणी कस्मै-
ब्रह्मविदाश्रये वेदितव्य इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः
कृतः । ऋतम्पिब्रन्ताविति ॥ २ ॥

अवशे समानस्वभावे प्रथमप्रतीतिदर्शनाच्चेतनतया समानस्वभावः
परमात्मैव द्वितीयो प्रतीयते । तस्य चोपचारादृतपाटत्वमि-
त्यर्थः । वाह्यपुरुषाकाशसंस्थानं देहाश्रय आकाशप्रदेशः ।

~~प्रपञ्च~~ इति गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयः सभ्यावसथ्यौ-
उपगृह्णाति । गृध्रो येषां ते तथोक्ताः । द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयो-
लभ्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ तन्ते तेऽग्निहोत्राधिकारिणस्तौ वा पञ्चाग्नय-
दुश्चरितं कायिकं पापम् । य

न भवति स कथं वेदेति सन्वन्धः । चाग्निविदश्च साम्प्रतमनुपलम्भा-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाञ्जर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तृत्याज्जर्मनीपिणः ॥ ४ ॥

तत्र य उपाधिज्ञतः संसारी विद्याविद्ययोरधिज्ञतो मोक्षग-
मनाय संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः
कल्प्यत इत्याह । तत्रात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वा-
भिनं विद्धि विज्ञानीहि । शरीरं रथं एव तु रथवद्ब्रह्मस्थानी
यैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां
सारथिं विद्धि बुद्धिनेह प्रधानत्वाच्छरीरस्य । सारथिनेह प्रधान
इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण ।
मनःसङ्कल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहमेव च रश्नामेव विद्धि ।
मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रश्न-
येवाश्वाः ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाञ्जः रथकल्पनाकुशलाः शरी-
ररथाकर्षणसामान्यात् । तेष्वेवेन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु
गोचरान् मार्गान् रूपादीन् विषयान् विद्धि ॥ आत्मेन्द्रियमनो-
युक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारी-
त्याज्जर्मनीपिणो विवेकिनः । न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति
बुद्ध्याद्युपाधिज्ञतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवल-
स्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति । ध्यायतीव लेलायतीवेत्यादि ॥ एवञ्च
सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्ति-
रूपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

दित्याशङ्क्य पूर्वविद्वदनुभवविरोधमाह । यः सेरितुत्यादिना ॥
पूर्वेषां यद्यपि ब्रह्मवित्त्वादि सम्भवति प्रभावातिशयात्तथापि

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवान् निपुणोऽवि-
वेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति । यद्येतरो रथचर्यायामयुक्ते-
नाप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो
भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यवश्यानीयान्यवश्या-
न्यशक्यान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथे-
र्भवति ॥ ५ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतसारथिर्भवति विज्ञानवान् निपुणो
विवेकवान् । युक्तेन मनसा प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा
तस्यावश्यानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुं निवर्त्तयितुं वा शक्यानि
वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

नाधुनिकानामल्पप्रज्ञानां सम्भवतीत्याशङ्क्य चेतनत्वात् स्वाभाविकी
ज्ञातृत्वयोग्यतास्तीत्यभिप्रेत्य तात्पर्यमाह । परावर इति ॥ २ ॥ ३ ॥
तत्रेति तयोः प्रथमग्रन्थोक्तयोरात्मनोर्मध्ये आत्मा रथस्वामी ॥

यः कल्पितस्तस्य भोक्तृत्वञ्च न स्वाभाविकमित्याह । आत्म-
न्द्रियमनोयुक्तमिति ॥ उपाधिके भोक्तृत्वे अन्वयव्यतिरेकौ शास्त्रञ्च
प्रमाणमित्याह । न हि केवलस्येति ॥ वैष्णवपदप्राप्तिश्रुत्यनु-
पपत्त्यापि न स्वाभाविकं भोक्तृत्वं वाच्यमित्याह । एवञ्च सतीति

॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति स^७ सारञ्चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्तरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परम्यदम् ॥ ९ ॥

तत्र पूर्वाक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह । यस्तु विज्ञानवान् भवति । अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः सतत एवाशुचिः सदैव । न स रथी तत्पूर्वोक्तमचरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना । न केवलं तत् नाप्नोति संसारञ्च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् भवति विज्ञानवत्सारथ्युपपेतो रथिविद्वानित्येतद्युक्तमनाः समनस्कः सतत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति । यस्मादाप्तात्मदादप्रच्युतः सन् भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

किन्तत्पदमित्याह । विज्ञानसारथिर्यस्तुपोविवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान् प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सन् शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारम्यरसेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वैः संसारबन्धनैस्तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकटं पदं स्थानं तत्त्वमित्येतत्तत्पदमेवाप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

प्रत्यगात्मभूताच्चेति । अप्रत्यगनपायिस्वरूपभूता इत्यर्थः ॥

॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्म-
तारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमा-
रभ्यते । स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैः रयैरात्मप्रकाश-
नायारम्भानि तेषु इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा
महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च । तेभ्यो ह्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं
महत्प्रत्यगात्मभूतञ्च मनः । मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूत-
सूक्ष्मं सङ्कल्पविकल्पाद्वारम्भकत्वात् । मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा
महत्तरा प्रत्यगात्मभूता बुद्धिः । बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्वार-

नन्वर्थेभ्यो मनसं आरम्भकं भूतसूक्ष्मं परम् । तस्माद्बुद्ध्यार-
म्भकं भूतसूक्ष्मं परमिति न युक्तम् । कार्यापेक्षया ह्युपादान-
पचितावयवं व्यापकमनपायिस्वरूपञ्च प्रसिद्धम् । यथा घटा-
देष्टृदादिः । नचेह भूतसूक्ष्माणां परस्परकार्यकारणभावे मान-
मस्ति । सत्यं तथापि विषयेन्द्रियव्यवहारस्य मनोऽधीनतादर्श-
नान्मनस्तावद्व्यापकं कल्प्यते । तच्च परमार्थत एवात्मभूतमिति ।
केषाञ्चिन्मनस्तन्निरासायोक्तमनःशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्ममिति ।
अन्नमयं हि सोम्य मेन इत्यादिश्रुतेर्भौतिकत्वावगमादन्नभावा-
भावाभ्यामुपचयापचयदर्शनाद्भौतिकमेव तत् । तस्य च सङ्कल्पा-
दिलक्षणस्याध्यवसायनियमत्वाद्बुद्धिस्ततः परमिति ॥ बुद्धिश्चा-
त्मेति केषाञ्चिदभिमानस्तदपनयनार्थमाह । बुद्धिशब्दवाच्य-
मिति ॥ करणत्वादिन्द्रियबुद्धेर्भौतिकत्वं सिद्धम् । करणत्वं च
स्वबुद्ध्याहमुपलभ्य इत्यनुभवात्सिद्धम् । ततो भूतावयवसंस्थाने-
ष्वेवार्थादिषूत्तरोत्तरं परापरत्वं कल्प्यते परमपुरुषार्थदिदर्शि-

मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

क्षकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिवुद्धीनां प्रत्यगात्मभूत-
त्वादात्मा महान्सर्वसहत्वादव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भ-
तत्त्वं बोधा बोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥ १० ॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरञ्चाव्यक्तं
सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसत्तत्त्वं सर्वकार्यकारण
शक्तिसमाहाररूपमव्यक्तमव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्यो-

प्रया । न त्वयीदीनां परत्वं प्रतिपादयिषितम् । प्रयोजनाभा-
वाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्चेति । सुरवरतिर्यगादिवुद्धीनां विधारक-
त्वात्मातव्यगमनादात्मोच्यते । सूत्रसञ्ज्ञकं हैरण्यगर्भतत्त्वमि-
त्यर्थः । बोधाबोधात्मकमिति ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमित्यर्थः ।
अथवाऽधिकारिपुरुषाभिप्रायेण बोधात्मकत्वमव्यक्तस्याद्यः परि-
णाम उपाधिरपञ्चीकृतभूतात्मकस्तेन रूपेणाबोधात्मकत्वं हैरण्य-
गर्भस्येत्यर्थः ॥ १० ॥

प्रलये सर्वकार्यकारणशक्तोनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यं शब्दा-
र्थसर्वशक्तिलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वाहाय । तासां शक्तीनां समा-
हारो मायातत्त्वं भवति । ब्रह्मणोऽसङ्गत्वादिति शक्तिसमाहार-
रूपमव्यक्तमित्यर्थः । तद्भेदं तच्च व्याकृतमासीदेतस्मिन् खल्वचरे
गार्ग्याकाशश्चोतश्च प्रोतश्च । मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु
महेश्वरमित्यादिश्रुतिप्रसिद्धेऽव्यक्तस्य ॥ तस्य साङ्ख्याभिमतप्र-
धानाद्वैलक्षण्यमाह । परमात्मनीति ॥ शक्तित्वेनाद्वितीयत्वा-
विरोधित्वमाह । वटकणिकायामिवेति ॥ भाविवटवृक्षशक्तिम-

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।

तप्रोतभावेन समाश्रितम् । वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः ।
तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतमः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च
महांश्च अत एव पुरुषः सर्वपूरणान्ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं
निवारयन्नाह । पुरुषान्न परं किञ्चिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषा-
च्चिन्मात्रधनात्परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्य-
गात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् । अत्र हि इन्द्रियेभ्य
आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च गन्तृणां सर्वगति-
मतां संसारिणां सा परा प्रवृष्टा गतिः । यज्ञत्वा न निवर्त्तत
ति स्मृतेः ॥ ११ ॥

ननु गतिश्चेदगत्यापि च भवितव्यं कथं यस्माद्भूयो न जायत
इति । नैष दोषः । सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्यु-
पचर्यते । प्रत्यगात्मत्वञ्च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो

नान्मर-
केषादि-
अन्नम-
भावा-
दिलक्ष-
मेति-
मिति-
स्वबुद्ध्या-
प्रेवार्था-
द्वटवीजं स्वशक्त्या न सद्वितीयं कथ्यते तद्वद्ब्रह्मापि न माया-
शक्त्यसद्वितीयम् । सत्त्वादिरूपेण निरूप्यमाणे व्यक्तिरस्य नास्ती-
त्यव्यक्तम् । ततोऽव्यक्तशब्दादप्यद्वैताविरोधित्वं द्रष्टव्यम् । सर्वस्य
प्रपञ्चस्य कारणमव्यक्तम् । तस्य परमात्मपारतन्त्र्यात्परमात्मन
उपचारेण कारणत्वमुच्यते न त्वव्यक्तवद्विकारितयाऽनादित्वाद-
व्यक्तस्य पारतन्त्र्यं च पृथक्सत्त्वे प्रमाणाभावादात्मनत्तयैव
सत्तावत्त्वाच्चेत्यर्थः ॥ ११ ॥

पारयिष्णव इति संसारपारं गता इत्यर्थः ॥ न प्रकाशते
चेत्तर्हि नास्त्येवेति न वाच्यं लिङ्गदर्शनादित्याह । दर्शनश्रव-

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

हि गन्ता सोऽयमप्रत्यग्रूपं गच्छति अनात्मभूतं न विपर्ययेण ।
तथा च श्रुतिः । अध्वगा अध्वसु पारयिष्णव इत्याद्याः । तथा च
दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य । एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्ब-
पर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृत्तो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामाया-
च्छन्न आत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचिद्गोतिगम्भीरा
दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयम् । यदयं सर्वा जन्तुः परमा-
र्थतः परमार्थसतत्वोऽप्येवबोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णा-
त्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादि-
वदात्मत्वेनाहमसुष्य पुत्र इत्यनूच्यमानोऽपि गृह्णाति । नूनं पर-
स्यैव मायया मोमुक्ष्यमानः सर्वो लोकोऽयं बन्धमीति ॥ तथा
च स्मरति । नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत इत्यादिः ।
ननु विरुद्धमिदमित्युच्यते । मत्वा धीरो न शोचति न प्रकाशत
इति च । नैतदेवमसंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम् ।
दृश्यते तु संसृजतयाऽग्रयाग्रमिवाग्रया तथा एकाग्रतयोपेतये-
त्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया । कैः । सूक्ष्मदर्शिभिरि-
न्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन
परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषान्ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः
पण्डितैरिति ॥ १२ ॥

णादीति ॥ कर्माण्यस्येति तथोक्तेः । जीवस्य स्वप्रकाशत्वे ब्रह्मा-
त्मत्वे सत्यपि योऽयं ब्रह्मस्वरूपाऽनवभासः स केनापि प्रतिबन्धेन
कृत इति कल्प्यते ॥ तच्च प्रतिबन्धकं न वस्तुज्ञानान्मुक्तम् । श्रुते-
र्बाधप्रसङ्गात् । ततोऽविद्यैव प्रतिबन्धिकेत्याह । अविद्यामाया-

यच्छेदाङ्गुनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आ-
त्मनि ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य

एतत्प्रतिपल्लपायमाह । यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो
विवेकी । किम् । वाग्वाचम् । वागलोपलक्षणार्थं सर्वेन्द्रिया-
णाम् । क । मनसी मनसि । छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनो
यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्ध्यावात्मनि । बुद्धिर्हि मनश्चादिक-
रणान् प्राप्नोतीत्यात्मा तेषां प्रत्यग् ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति
प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावमात्मनो विज्ञानमा-
दादेदित्यर्थः । तच्च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषं
प्रत्यक्षमितरूपमविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्ये
आत्मनि ॥ १३ ॥

एवं पुरुषे आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकस्मैतयं यन्मि-
च्छन् इति ॥ निदिध्यासप्रचयेनैकाग्रमायत्तमन्तःकरणं यदा
सहकारि सम्पद्यते तदा तत्सहकृतान्महावाक्यादहं ब्रह्मा-
स्मीति या बुद्धिदृष्टिरुत्पद्यते तस्यामभिव्यक्तो ब्रह्मभाव इति
स्वतोऽपरोक्षतया व्यवहियत इति दृश्यत्वमुपचर्यते । यो हि
यत्प्रयुक्तव्यवहारः स तद्दृश्य इति प्रसिद्धम् । क्रमेणैवं विषय-
दोषदर्शनेनाभासेन च बाह्यकरणान्तःकरणव्यापारप्रविलापने
सति प्रविलापनकर्तुः कः पुरुषार्थः सिध्यतीत्याशङ्क्याह । पुरुष
इत्यादिना ॥ १२ ॥ १३ ॥

यावद्यावद्गुणपचयस्तावत्तावत्तारतस्येन सौख्यं दृष्टं दृष्टि-

धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्ययस्तत्कवयो वद-
न्ति ॥ १४ ॥

व्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफलक्षणं स्वात्मयायात्स्यज्ञा-
नेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूप-
दर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तः कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थ-
मनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तवः आत्मज्ञानाभिमुखा
भवत जाग्रत अज्ञाननिद्राया घोररूपायाः रुर्व्यानर्थबीजभू-
तायाः क्षयं कुरुत । कथम् । प्राप्य उपगम्य वरान् । प्रकृष्टाना-
चार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मनमहमस्मीति निबोधत
अवगच्छत । न ह्युपेक्षितव्यमिति अतिरनुकम्पयाऽऽह । माह-
वदतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाद्विज्ञेयस्य किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते
चुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया । दुःखेनात्ययो
यस्याः सा दुरत्यया यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया । तथा दुर्गं
दुःसम्पाद्यमित्येतत्प्रथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो
मेधाविनो वदन्ति ॥ १४ ॥

ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वान्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसम्पाद्यत्वं वद-
न्तीत्यभिप्रायस्तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते । स्थूला तावदियं
मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता ।
तथा शरीरं तत्तैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्ववि-
शुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमवादिषु यावदाकाशमिति । ते
गन्धादयः सर्वे एव स्थूलत्वादिकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति

व्यादिषु परमात्मनि तु गुणानुमत्यन्ताभावान्निरतिशयसौक्ष्म्यं

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसनित्यमगन्ध-
वच्च यत् । अनाद्यनन्तसहजः परन्ध्रुवं निचाय्य-
तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं ऋत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति-
श्रुतिः । अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसनित्यमगन्धवच्च यदे-
तद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययं यद्वि शब्दादिमत्तद्वेतीदन्वशब्दादिम-
त्त्वादेव्ययं न व्येति न क्षीयतेऽत एव च नित्यं यद्वि व्येतितदनित्य-
मिदन्तु न इतश्च नित्यमनाद्यविद्यमानमनादि कारणमस्य
तदिदमनादि । यच्चादिमत्तत्वार्यत्वादनित्यं कारणे प्रतीयते ।
यथा पृथिव्यादि । इदन्तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं
। तस्य कारणमस्ति यस्मिंस्तीयेत तथाऽऽनन्त्यमविद्यमानोऽन्तो
। तस्य तदनन्तं यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं
दृष्टम् । न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यं सहजो सह-
त्वात्तद्व्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि-
हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म । उक्तं ह्येष सर्वेषुभूतेष्वित्यादि ।
ध्रुवश्च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवहापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेव-
म्भूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं ऋत्युमुखान्मृत्युगो-
चरादविद्याकामकर्म्मलक्षणात्प्रमुच्यते वियुज्यते ॥ १५ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः । नाचिकेतं नाचिकेतसा
प्राप्तं नाचिकेतं ऋत्युना प्रोक्तं ऋत्युप्रोक्तमिदमाख्यानं वल्लीत्रय-
लक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वाद्ब्रह्मा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वा
सिध्यतीत्याह । स्थूला तावदित्यादिना ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं आवयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः
आङ्गकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय
कल्पत इति ॥ १७ ॥

इति प्रथमाध्याये तृतीया बल्ली ॥ ३ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

पराञ्चि खानि व्यटणत्स्वयञ्चूस्तस्मात्पराङ्प-

ऽऽचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन् ब्रह्मलोके
महीयते आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकष्टं गुह्यं गोप्यं आवयेद्ग्रन्थतोऽ-
र्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा आङ्गकाले
वा आवयेद्बुद्धानम् । तच्छ्राद्धमस्यान्त्यायानन्तफलाय कल्पते
समर्थते । द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्तार्थम् ॥ १७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादंशिष्यपरमहंसपरिव्राजका-
चार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

एष सर्व्वेषु भूतेषु गूढाऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया
बुद्ध्या इत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्रयाया बुद्धेर्येन तद्भावा-
दात्मा न दृश्यत इति तद्दर्शनकारणप्रदर्शनार्था बल्ली आरभते ।

अनादिरविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धद-
र्शनायोत्तरबल्लारम्भ इति सम्बन्धमाह । एष सर्व्वेष्वित्यादिना ॥
इन्द्रियाण्यन्तर्मुखाणि स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽऽमृतत्वमापुरत
इन्द्रियाणि वहिर्मुखाति स्मृष्टानीति यत्तेषां हननमेव कृतमि-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्ध-
वच्च यत् । अनाद्यनन्तमहृतः परन्ध्रुवं निचाय्य
तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं ऋत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

किमु तस्य सूक्ष्मादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति-
श्रुतिः । अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यदे-
तद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययं यद्वि शब्दादिमत्तद्वेतीदनवशब्दादिम-
त्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयतेऽत एव च नित्यं यद्वि व्येतितदनित्य-
त्वमिदन्तु न इतश्च नित्यमनाद्यविद्यमानमनादि कारणमस्य
तदिदमनादि । यच्चादिमत्तत्वार्यत्वादित्यं कारणे प्रलीयते ।
यथा पृथिव्यादि । इदन्तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं
न तस्य कारणमस्ति यस्मिंस्लीयेत तथाऽऽनन्त्यमविद्यमानोऽन्तो
यस्य तदनन्तं यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं
दृष्टम् । न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्माणोऽतोऽपि नित्यं महतो मह-
त्त्वान्तद्वद्ब्रह्माख्यात्परं विलक्षणं नित्यविघ्नमिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि-
हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म । उक्तं ह्येष सर्वेषुभूतेष्वित्यादि ।
ध्रुवश्च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेव-
म्भूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं ऋत्युमुखान्मृत्युगो-
चरादविद्याकामकर्म्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥ १५ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः । नाचिकेतं नाचिकेतसा
प्राप्तं नाचिकेतं ऋत्युना प्रोक्तं ऋत्युप्रोक्तमिदमाख्यानं वल्लीत्रय-
लक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्ता ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वा

सिद्धतीत्याह । स्थूला तावदित्यादिना ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं आवयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः
आङ्गकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय
कल्पत इति ॥ १७ ॥

इति प्रथमाध्याये तृतीया बल्ली ॥ ३ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

पराञ्चि खानि व्यहणत्स्वयञ्चूस्तस्मात्पराङ्म-

ऽऽचार्य्यभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन् ब्रह्मलोके
महीयते आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रहृष्टं गुह्यं गोप्यं आवयेद्ग्रन्थतोऽ-
र्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा आङ्गकाले
वा आवयेद्ब्रह्मज्ञानम् । तच्छ्राद्धमस्यान्यायानन्तफलाय कल्पते
समर्थते । द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादंशिष्यपरमहंसपरिव्राजका-
चार्य्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढाऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया
बुद्ध्या इत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्रया बुद्धेर्येन तद्भावा-
दात्मा न दृश्यत इति तद्दर्शनकारणप्रदर्शनार्था बल्ली आरभते ।

अनादिरविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धद-
र्शनायोत्तरबलपारम्भ इति सम्बन्धमाह । एष सर्वेष्वित्यादिना ॥
इन्द्रियाण्यन्तर्मुखानि स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽऽवृतत्वमापुरत
इन्द्रियाणि बहिर्मुखाति स्मृष्टानीति यत्तेषां हननमेव कृतमि-

श्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-

विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं
शक्यते नान्यथेति ॥ पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति स्वोपलब्धि-
तानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव
शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्यादेवं स्वाभाविकानि
तानि व्यवहृत्तिसितवान्हननं कृतवानित्यर्थः । कोऽसौ । स्वय-
म्भूर्यः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र
इति । तस्मात्पराङ् प्रत्यग्रूपाननात्मभूतान् शब्दादीन् पश्यत्युप-
लभते । उपलब्ध्वा नान्तरात्मन् नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवं
स्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिश्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो
धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक् चास्यावात्मा चेति प्रत्यगात्मा
प्रतीच्ये वात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् व्युत्पत्तिपक्षेऽपि
तत्रैवात्मशब्दो वर्तते । यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषया-
निह यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्त्यत इत्यात्मशब्द-
व्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वस्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यती-
त्यर्थः । छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते । आहृत-
चक्षुराहृतं व्याहृतं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य
मा स आहृतचक्षुः स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न
ति हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणञ्चैकस्य सम्भवतीति ।
त किमिच्छन् पुनरित्यं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं

त्यर्थः । आहृतं व्याप्ताविति धात्वर्थानुसारेण व्यापक आत्मश-
ब्दार्थः ॥ यद्यस्यादादत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति जगदु-
पादानं लभ्यते विषयानतीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या स्वचैतन्याभावे-

दादृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति

कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्युच्यते । अमृतत्वममरणधर्मेत्वं
नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रति-
बन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च परागेवाविद्योपप्रदर्शि-
तेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु दृष्ट्या तास्यामविद्यादृष्ट्याभ्यां प्रतिबद्धात्म-
दर्शनाः पराचो वह्निर्गतानेव कामान् काम्यान् विषयाननुयन्ति
अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्या-
कामकर्म्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो
व्याप्तस्य पाशं प्राप्यते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयो-
गवियोगलक्षणमनवरतं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं
प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमयं तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्य-
गात्मस्वरूपवस्थानलक्षणममृतत्वम् । देवादृष्टमृतत्वं ह्यध्रुवमि-
दन्तु प्रत्यगात्मस्वरूपवस्थानलक्षणं ध्रुवम् । न कर्म्मणा वर्द्धते
नो कनीयानिति श्रुतेः । तदेवम्भूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं
विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु ब्राह्मणा इह संसारेऽन-

नोपलब्धत्वमात्मशब्दार्थः । येन कारणेनास्यात्मानः सन्ततो
निरन्तरो भावः । कल्पितस्याधिष्ठानसत्त्वामन्तरेण सत्ताभावा-
द्यथा राज्ञ्वभध्यास्ते सर्पे रज्ज्वा सातत्यं तथा कल्पितं सर्वं येन
स्वस्वरूपवत् आत्मैत्यर्थः ॥ १ ॥

श्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-

विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं
शक्यते नान्यथेति ॥ पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति स्वोपलक्षि-
तानि श्रोतादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव
शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्यादेवं स्वाभाविकानि
तानि व्यदण्डिंसितवान्हननं कृतवानित्यर्थः । कोऽसौ । स्वय-
म्भूर्यः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र
इति । तस्मात्पराङ् प्रत्यग्रूपाननात्मभूतान् शब्दादीन् पश्यत्युप-
लभते । उपलब्ध्वा नान्तरात्मन् नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवं
स्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिश्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो
धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक् चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा
प्रतीच्ये वात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् व्युत्पत्तिपक्षेऽपि
तत्रैवात्मशब्दो वर्तते । यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषया-
निह यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्यादात्मेति कीर्त्तयत इत्यात्मशब्द-
व्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वस्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यती-
त्यर्थः । छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते । आहृत-
चक्षुराहृतं व्याहृतं चक्षुः श्रोतादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य
स आहृतचक्षुः स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न
हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणञ्चैकस्य सम्भवतीति ।
किमिच्छन् पुनरित्यं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं

त्यर्थः । आश्लु व्याप्ताविति धात्वर्थानुसारेण व्यापक आत्मश-
ब्दार्थः ॥ यद्यस्यादादत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति जगदु-
पादानं लभ्यते विषयानतीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या स्वचैतन्याभासे-

दादृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति वालास्ते मृत्योर्यन्ति

ज्ञत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्युच्यते । अमृतत्वममरणधर्मेत्वं
नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रति-
बन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च परागेवाविद्योपप्रदर्शि-
तेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु दृष्ट्या तास्यामविद्यादृष्ट्याभ्यां प्रतिबद्धात्म-
दर्शनाः पराचो वह्निर्गतानेव कामान् कामान् विषयाननुयन्ति
अनुगच्छन्ति वाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्या-
कामकर्म्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो
व्याप्तस्य पाशः प्राप्यते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयो-
गवियोगलक्षणमनवरतं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं
प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमयं तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्य-
गात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वम् । देवादृष्टतत्वं ह्यध्रुवमि-
दन्तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं ध्रुवम् । न कश्चिन्ना वर्द्धते
नो कनीयानिति श्रुतेः । तदेवम्भूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं
विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु ब्राह्मणा इह संसारेऽन-

नोपलब्धत्वमात्मशब्दार्थः । येन कारणेनास्यात्मानः सन्ततो
निरन्तरो भावः । कल्पितस्याधिष्ठानसत्त्वाभन्तरेण सत्ताभावा-
द्यथा राज्ज्वमध्यास्ते सर्पे रज्ज्वा सातत्यं तथा कल्पितं सर्वं येन
स्वस्वरूपवत् आत्मैत्यर्थः ॥ १ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानम्भूतमव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै
तत् ॥ ५ ॥

यः पूर्वन्तपसो जातमद्वयः पूर्वमजायत । गुहां
प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वैतत् ॥ ६ ॥

किञ्च यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिक-
लापस्य धारयितारमात्मानं अन्तिकादन्तिके समीपे ईशान-
मीशितारं वेद विजानाति भूतमव्यस्य कालव्यस्य ततस्तद्विज्ञा-
नादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोप्रायितुमिच्छति अभयप्राप्त-
त्वात् । यावद्वि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावज्जोपायि-
तुमिच्छत्यात्मानम् । यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति
स्तदा किं कः कुतो वा गोप्रायितुमिच्छेदेतद्वैतदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्म्येतद्दर्शयति ।
यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्ये-
तज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् । किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह । अद्भ्यः
पूर्वमप्यहितेभ्यः पञ्चभूरेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः ।
अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्व-
प्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं
भूतेभिर्भूतैः कार्यकारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत
यः पश्यतीत्यर्थः । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं
ब्रह्म ॥ ६ ॥

स्रीज्जातं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति तद्ब्रह्मणो जातो हिरण्य-
गर्भोऽपि ब्रह्मात्मक एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्त्यन्नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः

स मृत्युङ्गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

तथा न पश्येद्विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवा-
हमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसैवेदं ब्रह्मैक-
रसमाप्त्यव्यमात्मैव नान्यदस्तीत्याप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थाधिकाया
अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चन अणु-
मात्रमपि । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न सुञ्चति इह ब्रह्मणि
नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपय-
न्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह । अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरि-
माणम् । हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्तन्तः करणोपाधिरङ्गुष्ठ-
मात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवत्पर्व्वमध्यवर्त्तप्रखरवत्पुरुषः पूर्णमनेन सर्व्व-
मिति मध्ये आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमीशानं भूत-

स्वप्ने नानात्वाभावेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन यो
व्यवहरति तथा जागरितेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनि-
वेशेन यो व्यवहरति तस्य निन्दितत्वादेकरसं ब्रह्मैवास्मीति
प्रतिपत्तयमित्यर्थः ॥ १० ॥

एकरसश्चेद्ब्रह्म कथं ज्ञातुं ज्ञेयविभाग इत्याशङ्क्याहं प्रति
कल्पिभेदेनेत्याह । प्रागेकत्वविज्ञानादिति ॥ अङ्गुष्ठपरिमाणं

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै-
तत् ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवा धूमकः । ई-
शानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ अश्वः । एतद्वैतत्
॥ १३ ॥

यथोदकन्दुर्गे वृष्टस्पर्वतेषु विधावति एवं धर्म्मान्
पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

भवस्य विदित्वा न ततो विजुगुप्सते । एतद्वैतत्पूर्ववत् ॥ १२ ॥

किञ्चाङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमित्युक्तं ज्यो-
तिःपरत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूत-
भव्यस्य स एव नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्त्तमानः स उ
श्वोऽपि वर्त्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यच्च जनिष्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अनेन नायमस्तीति चैके इत्ययं पक्षो न्यायतः प्राप्तो ऽपि
स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च । पुनरपि भेद-
दर्शनाय वादं ब्रह्मण आह । यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देशे उच्छ्रिते
वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं
सद्विनश्यति एवं धर्म्मानात्मनो भिन्नान् पृथक् पश्यन् पृथगेव प्रति
शरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवार्त्तनोऽनुविधावति शरीरभेद-
मेव पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

जीवमनूद्य ब्रह्मभावविधानाद्विधीयमानविरोधादङ्गुष्ठमात्रस्या-
विवक्षितत्वाद्ब्रह्मपरमेव वाक्यमित्याह । पुनरपि तदेवेति
॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तन्तादृगेव भवति ।
एवमुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

इति चतुर्थी वल्ली समाप्ता ॥ ४ ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्यस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धवि-
ज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशील-
स्यात्मस्वरूपं कथं सम्भवतीत्युच्यते । यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं
प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माप्ये-
वमेवात्मा भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम ।
तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिञ्चोज्झित्वा मादृपित्सह-
स्त्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरा-
दरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति कठवल्लभां चतुर्थी वल्ली समाप्ता ॥ ४ ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्द्धारणार्थोऽप्ययमारम्भः ।
दुर्विज्ञेयत्वादब्रह्मणः पुरं पुरमिव पुरं द्वारं द्वारपालाधिष्ठाता-
द्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरश्च उपकरणं स्वा-
त्मना संहतं स्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम् । तथेदं पुरसामान्यादनेको-
पकरणसंहतं शरीरं स्वात्मना संहतराजस्यानीमस्वाम्यर्थं भवि-
तुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादशद्वारा-
ण्यस्य सप्तशीर्षणानि नाम्ना सहाब्जाञ्च त्रीणि शिरस्येकं

पौनरुक्त्यं परिहरन् सखन्वमाह । पुनरपीति ॥ भूयोऽपि
पथ्यं वक्तव्यमिति न्यायेनोपायान्तरेण ब्रह्म ज्ञायते ततोपाया
एव भिद्यन्ते । नोपेयस्य भेदोऽस्तीति पुरेणासंहतत्वं स्वामिनः

न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वैतत् ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्गोता वेदिषदति-

तैरेकादशद्वारं पुरम् । कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्या-
त्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्म्यविलक्षणस्यावक्रचेतसः । अवक्रम-
कुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यसेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानम-
स्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं
पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा ध्यानं हि तस्या-
नुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकं तं सर्वेषणाविनिर्मुक्तः सन् समं सर्व-
भूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावस-
राभावात् । कुत इहैवाविद्याजतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भ-
वति । किमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

स तु नैकशरीरपुरवर्त्तेऽत्रात्मा किन्तर्हि सर्वपुरवर्त्तो कथं
हंसः हन्ति गच्छतीति । शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीद-
तीति । वसुर्वासयति सर्वानिति । वाय्वात्मना अन्तरिक्षे
सीदतीत्यन्तरिक्षसत् । होता अग्निरग्निर्वै होतेति श्रुतेः ।
वेद्यां ऋषिभ्यो सीदतीति वेदिषत् । इयं वेदिः परोऽन्तः ऋषिभ्यो
इत्यादिमन्त्रवर्णात् । अतिथिः सोमः सन्द्रोणे कलशे सीदतीति

पुरोपचयापचयाध्यासुपचयापचयराहित्यं तत्त्वत्वाप्रतीतिमन्त-
रेण सत्ताप्रतीतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यम् ॥ १ ॥

या यज्ञे प्रसिद्धा वेदिः ऋषिभ्योः परोऽन्तः परस्वभाव इति
वेद्याः ऋषिबीजस्वभावत्वसङ्कीर्तनात्पृथिवी वेदिशब्दवाचा भव-
तीत्यर्थः । असौ वाऽऽदित्यो हंसः शुचिषदि ब्राह्मणे नादित्यो
मन्त्रार्थतया व्याख्यातः कथं तद्विरुद्धमिदं व्याख्यानमित्याश-

यिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसद्वतसद्योमसदजा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २ ॥

ऊर्ध्वम्प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये

दुरोणसत् । ब्रह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति ।
ऋषत् ऋषु मनुष्येषु सीदतीति ऋषत् । वरेषु देवेषु सीदतीति
वरसत् । ऋतसद्वतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन् सीदतीति । व्योम-
सत् व्योम्नः प्राकाशे सीदतीति व्योमसत् । अब्जा अप्सु, शुद्ध-
शुक्तिमकारादिरूपेण जायत इति । गोजाः गवि पृथिव्यां व्री-
हियवादिरूपेण जायत इति । ऋतजाः यज्ञाङ्गरूपेण जायत
इति । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति । सर्वा-
न्नापि सद्यतमवितथस्वभाव एव दृहन्महान् सर्वकारणत्वात् ।
यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यात्मस्वरूपवत्त्वमादित्यस्या-
ङ्गीकृतत्वादब्रह्मणो व्याख्यानेऽप्यविरोधः । सर्वयामेक एवात्मा
जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥ २ ॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते । ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं
प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयति ऊर्ध्वं गमयति । तथाऽपानं प्रत्यगधो-
ऽस्यति क्षिपति । य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरी-
काकाशे आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं सम्भजनीयं

इति । यदाप्यादित्य एवेति । सूर्य आत्मा जगतस्तस्य षष्ठेति
मन्त्रान्मण्डलोपलक्षितस्य चिदातोरिष्यत एव सर्वात्मत्वमि-
त्यर्थः ॥ २ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्य इति याऽपूर्वविचिकित्सा प्रश्न-
भतत्वेनोद्गाविता सापि निर्मूलेन्येतद्दर्शयितुं देहव्यतिरिक्ता-

वामनमासीनस्त्रिंशे देवा उपासते ॥ ३ ॥

अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्यस्य देहिनः । देहा-
द्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ॥४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

विंशे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाह-
रन्तो विश्व इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भ-
वन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

यदर्थं यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः
सिद्ध इति वाक्यार्थः । किञ्चास्य शरीरस्यस्यात्मनो विस्त्रंसमान-
स्यावस्त्रंसमानस्य अंशमानस्य देहिनो देहवतो विस्त्रंसन-
शब्दार्थमाह देहाद्विमुच्यमानस्येति । किमत्र परिशिष्यते
प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिनि
विद्रवण इव पुरवासिनं यस्यात्मनोऽपगमेक्षणमात्रात्कार्यकार-
णकलापं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति नष्टं भवति सोऽन्यः
सिद्धः । स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न
तु व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेवेह मर्त्तया जीवन्तीति ॥४॥

किञ्च न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्तयामनुष्यो
देहवान् कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति । न ह्येषां परार्थानां

त्मास्तित्वं साधयति । आत्मनः स्वरूपाधिगम इत्यादिना ॥ सर्वे-
प्राणकरव्यापाराश्चेतनार्थास्तत्प्रयुक्ता भवितुमर्हन्ति जडचेष्ट-
त्वाद्व्यचेष्टावदित्यर्थः । शरीरं चेतनशेषं तद्विगमे भोगानर्हत्वा-
द्राजपुरवदित्यर्थः । किञ्चास्येत्यन्यथासिद्धिं शङ्कते । स्यान्मत-
मिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

हन्त त इदम्प्रवक्ष्यामि गुह्यम्ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्याणु-

संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेन संहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टम् । यथा गृहादीनां लोके तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हत्यत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति । यस्मिन् संहननविलक्षणे आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ । यस्यासंहत-
स्वार्थे प्राणापानादिः सर्वव्यापारं कुर्वन् वर्त्तते संहतः सन् स ततो ऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुद्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि । यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथा चात्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥ ६ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते प्रविशन्ति शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं

ननु जीव प्राणधारण इति धातुस्मरणाच्छरीरस्य जीवनं नाम प्राणधारणं प्राणसंयोगश्च प्राणधारणं कुण्डे दधिधारणवन्मत्र च प्राणस्यैव हेतुत्वं संयोगाश्रयत्वात् कथमुच्यते । जीवन-हेतुत्वं प्राणादीनां न सम्भवतीति तत्राह । स्वार्थेनासंहतेनेति ॥ कदाचित्कस्य प्राणशरीरसंयोगस्य स्वभावतोऽनुपपत्तेः सङ्घातस्य

मन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम् ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मि-
माणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥
एतद्वैतत् ॥ ८ ॥

देहिनो देहवन्तः । स्थाणुं स्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं
प्राणानुसंयन्ति अनुगच्छन्ति यथा कर्म । यद्यस्य कर्म तद्यथा
कर्म यैर्यादृशं कर्मैह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा यथा-
श्रुतं यादृशञ्च विज्ञानमुपार्जितं तदनु रूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त
इत्यर्थः ॥ ७ ॥

यथा प्रज्ञं हि सम्भवा इति श्रूयन्तराद्यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं
ब्रह्म तत् प्रवक्ष्यामीति तदाह । य एष सुप्तेषु प्राणादिषु
जागर्ति न स्वपिति । कथम् । कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्वप्ना-
द्यर्धमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयन् जागर्ति पुरुषः ।
तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति । तदे-
वास्तमविनाशुच्यते सर्वशास्त्रेषु । किं च पृथिव्यादयो लोका-
च लोके परप्रयुक्तस्यैव दर्शनाद्भवितव्यमन्येन सङ्घातप्रयोजकेने-
त्यर्थः । येऽयं प्रेत इति प्रष्टुः परलोकास्तित्वेऽपि सन्देह आ-
सीत् । विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमुच्यत इत्याह । इदानीमिति ॥ ५ ॥
॥ ६ ॥ ७ ॥

जननमरणकरणानां प्रति नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषव-
ज्जत्वं सिद्धम् । त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति नानात्मानो व्यवस्थिता
इत्यनेकताकिंकवुद्विविरोधात् सर्वपुरवर्त्तेऽप्येक एवात्मैत्यत्र न चित्त-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो
बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्र-
तिरूपो वहिश्च ॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो
बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं
प्रतिरूपो वहिश्च ॥ १० ॥

स्वस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वान्नस्य । तदु-
नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

अनेकतार्किकबुद्धिचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमथा-
ल्लैकत्वविज्ञानमसकदुच्यमानमप्यवजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि
नाधीयत इति तत्प्रतिपादेन आदरवती श्रुतिः पुनः पुनराह ।
अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन् भुवनं भवन्यस्मिन् भूतानीति
भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः । रूपं रूपं प्रति दा-
र्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः । प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान् दा-
ह्यभेदेन बहुविधो बभूव एक एव । तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं
रूपं सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्मा अतिसूक्ष्मत्वाद्दार्वादिष्विव
सर्वदेहमिति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव वहिश्च स्वेनाविष्कृते
रूपेणाकाशवत् ॥ ९ ॥

तथाऽन्यो दृष्टान्तः । वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहे-
ष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति समानम् ॥ १० ॥

स्यैयं सम्भवतीत्याशङ्क्यापाधिकभेदसाधने सिद्धसाधनं स्वाभावि-
कभेदसाधने चानैकान्तिकत्वं दर्शयितुं प्रक्रमत इत्याह ।
अनेकतार्किकेत्यादिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

सूर्या यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै-
र्वाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लि-

एकस्य सर्वात्मकत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तम्
अत इदमुच्यते । सूर्या यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्
मूतपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न
लिप्यते चाक्षुषैरशुचादिदर्शननिमित्तैरध्यात्मिकैः पापदोषैर्वा-
ह्यैश्चाशुचादिसंसर्गदोषैः । एको वाह्यः । तथा सर्वभूतान्त-
रात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन । लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्यध्य-
स्या कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति न तु सा परमार्थतः स्वा-
त्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकोपरगगनेषु सर्परजतोदककमलानि
न रज्ज्वादीनां स्वतो रूपाणि । संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्या सनि-
मित्तत्वात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते । न तद्दोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्ध्या-
ध्यासवाह्या हि ते । तथात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं
विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्मजरा-
मरणादिदुःखमनुभवति नत्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन्विपरीता-

व प्रतिरूपोपाधिसादृश्यचतुष्कोणत्वादिधर्मके हि दारुणि
पो वङ्गिरपि लक्ष्यत इत्यर्थः । परमात्मा दुःखी स्याद्दुःखा-
च लो-
न नन्वात्मलोकवदित्याह । एकस्य सर्वात्मकत्वमिति ॥ अविद्यायाः
प्रतिविम्बतश्चिद्वातुरन्तो भवति । भ्रान्तश्च कामादिदो-
षप्रयुक्तः कर्म कुरुते तन्निमित्तं च दुःखं स्वात्मन्यध्यस्यति ।
परमात्मा तु निरविद्यत्वादुःखसाधनशून्यत्वान्न दुःखी ततो न
प्रयोजको हेतुरित्याह । लोको ह्यविद्ययेति ॥ स्वरूपेण स्व-
माविषयत्वं विपरीतबुद्ध्याध्यासवाह्यत्वं रज्ज्वादीनां तथा चैत-

प्यते लोकदुःखेन वाह्यः ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपम्वज्जधा
यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां
सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

धारोपनिमित्तैर्न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यो वह्निः कतो वाह्यो
रज्ज्वादिवदेव । विपरीतबुद्ध्यासवाह्यो हि सः ॥ ११ ॥

किञ्च स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्त्वमो-
ऽप्यधिको वाऽन्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः
सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञा-
नरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन वज्जधा वज्जप्रकारेण यः
करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वश-
रीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत् । न हि
शरीरस्याधारत्वमात्मनः । आकाशवदमूर्त्तत्वात् । आदर्शस्य सु-
खमिति यद्वत् । तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तवाह्यवृत्तयोऽनु-
पश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवे-
किनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं
भवति नेतरेषां वाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यन्ति
मनु
द्याव्यवधानात् ॥ १२ ॥

न्यस्योपाधिस्थरूपेणाध्यासाश्रयत्वेऽपि निरुपाधिकविश्वकल्पब्रह्म-
रूपेणाध्यासानाश्रयत्वात्तद्दुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

परोत्कर्षदर्शनं पारतन्त्र्यं च स्वस्य हीनत्वं दुःखकारणं
प्रसिद्धं तदभावान्न परमात्मा दुःखी ततस्तत्प्राप्तिः परः पुरु-
षार्थो भविष्यतीत्याह । किञ्च स हीत्यादिना ॥ १२ ॥

नित्योऽनित्यानाञ्चेतनानामेको ब्रह्मनां यो विद-
धाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

किञ्च नित्योऽविनाशी अनित्यानामविनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां
चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमन-
ग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् ।
किञ्च स सर्वेश्वरः सर्वज्ञः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं
कामान् कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान् य एको
ब्रह्मनामनेकेषामनायासेन विदधाति ददाति प्रयच्छतीत्येतत्त-
मात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या
स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥

इदानीं परमात्मन्युपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह । किञ्च नित्य इति ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमल्पयदित्यादिश्रुतेरज्ञतविप्रणा-
शप्रसङ्गपरिहाराच्च कल्पान्तरीयभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे
सजातीयरूपेणोत्पादः प्रतीयते स तदा स्याद्यदि विनाशिनां
भावानां शक्तिशेषो लयः स्यात् । प्रलये विनश्यत्सर्वं यत्र शक्ति-
पो विलीयते सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रा-
दीनां परमानन्दाभिसुखं हित्वा या वहिर्मुखा चेतनोपल-
भ्यते सापि नियन्तारं गमयतीत्याह । चेतनश्चेतनानामिति ॥
ब्रह्मादिशब्दवाच्यानां सङ्घातानां वा चेतयितृत्वं यच्चैतन्यनिमित्तं
सोऽस्ति पर आत्मेत्यर्थः । विमतं कर्मफलं तत्स्वरूपाद्यभिज्ञेन
दीयमानं व्यवहितफलत्वात् सेवाफलवदित्याह । किञ्च स इति
॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यम्परमं सुखम् । कथन्नु
तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकन्नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति स-

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं विर्हेष्टुमशक्यं परमं प्रकष्टं
प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सनिवृत्तैषणा ये ब्राह्म-
णास्ते तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते । कथन्नु केन प्रकारेण तत्सु-
खमहं विजानीयाम् । इदमित्यात्मबुद्धिविषयभाषादयेयम् ।
यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं
तद्यतोऽस्माद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति
॥ १४ ॥

तत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति । कथं नु तत्र
तस्मिन् स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वव्यापकस्योऽपि सूर्यो भाति तद्-
ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमस्माद्बुद्धिगोचरोऽग्निः । किं न इदमादि-
त्यादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं तन्मनुभा-
त्यनुदीप्यते । यथा ज्वलोत्सुकादहं दहन्तमनु-
दहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासतम् । काला-
भाति । यत एव तदेव ब्रह्म विद्युत्तस्यैव भासति । यथा
विविधेन भासा तस्य ब्रह्म तारं याम्ये पदे वर्त्त-
तानानिमित्तदोषैरलिप्त-

विद्वदनुभवोऽपि प तदात्मवि-
ज्ञानमिति ॥ तस्मादसम्भाविततया न अहोस्तत्त्वं परमा-

व

नित्योऽनित्यानाञ्चेतनानामेको बहूनां यो विद-
धाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

अ

मू

लि

है

रा

स्त

त्स

न

मि

ध्य

वि

म

स

प्रो

च

न

प्र

प्र

पर

प्रय

मा

किञ्च नित्योऽविनाशी अनित्यानामविनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां
चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमन-
ग्नीनासुदकादीनामात्मचेतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् ।
किञ्च स सर्वेश्वरः सर्वज्ञः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं
कामान् कर्ष्यफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान् य एको
बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति ददाति प्रयच्छतीत्येतत्त-
मात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या
स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥

इदानीं परमात्मन्युपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह । किञ्च नित्य इति॥

सूत्र्यं न्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमल्पयदित्यादिश्रुतेरकृतविप्रणा-
शप्र- रेहाराच्च कल्पान्तरीयभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे
स्वभणोत्पादः प्रतीयते स तदा स्याद्यदि विनाशिनां
यस्यै चणो लयः स्यात् । प्रलये विनश्यत्सर्वं यत्र शक्ति-
दर्शयति॥ अयुपगन्तव्य इत्यर्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रा-
चिकीर्षितं प्रति हिंत्वा या वहिर्मुखं चेतनोपल-
प्राणिनां कामकलुषयतीत्याह । चेतनश्चेतनानामिति ॥
एसाधिकारिणो दुर्नि- रानां वा चेतयितृत्वं यच्चैतन्यनिमित्तं
तेरुपनिषज्जन्यविद्याया तं कर्ष्यफलं तत्स्वरूपाद्यभिज्ञेन
फलवदित्याह । किञ्च स इति

॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यस्परमं सुखम् । कथन्नु
तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकनैमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति स-

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं विर्हेष्टुमशक्यं परमं प्रकष्टं
प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सनिवृत्तैषणा ये ब्राह्म-
णास्तु तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते । कथन्नु केन प्रकारेण तत्सु-
खमहं विजानीयाम् । इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयम् ।
यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं
तद्यतोऽस्माद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति
॥ १४ ॥

तत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति । कथं नु तत्र
तस्मिन् स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वव्यापकोऽपि सूर्यो भाति तद्-
ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमस्माद्दृष्टिगोचरोऽग्निः । किं वज्रना यदिदमादि-
त्यादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभा-
त्यनुदीप्यते । यथा ज्वलोत्सुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु
दहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्या सर्वमिदं सूर्यादि वि-
भाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यं गतेन
विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि

विद्वदनुभवोऽपि परमानन्दे प्रमाणमित्याह । यत्तदात्मवि-
ज्ञानमिति ॥ तस्मादसम्भाविततया न जिहासितव्यं परमा-

र्वन्तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

इति पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्यः सनातनः ॥

स्वतो विद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम् । घटादीनामन्याव-
ासकत्वाददर्शनाद्गारूपाणामादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥

इति कठवल्लीभाष्ये पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं
संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावधार-
विषया इयं षष्ठी वल्ली आरभ्यते । ऊर्ध्वमूलः ऊर्ध्वं मूलं यत्त-
द्विष्णोः परमम्पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष
ऊर्ध्वमूलः । वृक्षनाज्जन्ममरणजराशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रति-
क्षणमन्यथा स्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्व-
रूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारो नै-
कशतपापण्डबुद्धिविकल्पास्पदः तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदं-
तत्त्वो वेदान्तनिर्द्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्त-

तद्दर्शनं किन्तु अज्ञाधीनतया विचारयितव्यमेवेत्याह । कथं
निति ॥ १४ ॥ १५ ॥ इति पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥ ५ ॥

शास्त्राल्यादितूलदर्शनेनावृष्टमपि वृक्षमूलं यथाऽस्तीत्यवधार्यते
तद्वदवृष्टस्यापि ब्रह्मणोऽवधारणाय प्रक्रमत इत्याह । तूलाव-
धारणेनेति ॥ वृक्षशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमाह । वृक्षनादिति ॥
अथो वृक्षच्छेदने अस्य धातोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं वृक्षइति ॥

तदेव शुक्रन्तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिंल्लोकाः

बीजप्रभवः परब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः
सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धसृणाजलाशयसेकोद्भूतदर्पे बुद्धीन्द्रिया-
विषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशः यज्ञदान-
तपश्चाद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवन्दनानेकरसप्राण्युपजीव्या-
नन्तफलसन्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढवद्भूमूलः सत्यना-
मादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपञ्चिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतह-
र्षशोकजातवृत्त्यगीतवादितच्चेलितास्फोटितहसिताकष्टरुदित-
हाहासुच्चसुचेत्याद्यनेकशब्दकृततुमलीभूतमहारवो वेदान्तविषय-
हितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशास्त्रकृतोच्छेदः । एष संसारवृत्तौ ऽस्व-
त्योऽस्वत्यवत्कामकर्म्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः । स्वर्गनरक-
तिर्य्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः अवाच्यः शाखा यस्य
सः । सनातनोऽनादित्वाच्चिरप्रवृत्तः । यदस्य संसारवृत्तस्य
भूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं

वेद्यत्वे युक्तिमाह । जन्मजरेत्यादिना ॥ प्रसिद्धवृत्तसाम्याद्वा
वृत्तशब्दप्रयोग इत्यभिप्रेत्याह । अवसाने चेत्यादिना ॥ प्रसिद्धो
वृत्तः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विकल्पास्पदो दृष्टस्तथाऽयमपि सङ्गा-
तो वा परिणामो वाऽऽरब्धो वा सद्वाऽसद्देत्यादीनामनेकेषां शत-
सङ्ख्याकया खण्डबुद्धिविकल्पानां विषय इत्यर्थः । किं सञ्ज्ञको
ऽयं वृत्त इत्यनध्यवसायगोचरः कश्चिद्वृत्तौ दृष्टस्तथाऽयमपीति
साम्यान्तरमाह । तत्त्वविजिज्ञासुभिरिति ॥ परस्य ब्रह्मणो
विज्ञानक्रियाद्वयात्मको हिरण्यगर्भः प्रथमोऽवस्थाभेदोऽङ्कुरोऽ-
व्येति तथोक्तः । बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः शब्दादयः प्रवालाङ्कुराः

श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत् ॥ १ ॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवासृतमविनाशिस्वभावमुच्यते
कथ्यते । सत्यत्वात् । वाचारम्भणं विकारो नासधेयमनृतमन्य-
दतो मर्त्तयम् । तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगर-
मरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगम्यमानाः श्रिता
आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु तदु तद्ब्रह्म ना-
त्येति नातिवर्त्तते सदादिकमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि
विकारः । एतद्वैतद्विज्ञानादसृता भवन्तीत्युच्यते । जगतो
मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासदेवेदं निःसृतमिति ॥ १ ॥

तत्र यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन् ब्रह्मणि
सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन
चेष्टते । यदेव जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम् । महच्च
तत् भयञ्च विभेत्यस्मादिति महद्भयम् । वज्रमुद्यतमिव वज्रम् ।

किसलयान्यस्येति स तथोक्तः । श्रुत्यादीनि पलाशानि पलाश-
स्येति ॥ सुखदुःखे प्राणिवेदना एवानेको रसोऽस्येति फलदृष्टौ व
सलिलावसेकस्तेन प्ररूढानि कस्मैवासनादीनि सात्त्विकादिभावेन
मिश्रीकृतानि दृढबन्धनान्यवान्तरमूलान्यस्य वटवृक्षस्येव तथोक्तः
सत्यनामादिषु सप्तलोकेषु ब्रह्मादीनि भूतान्येव पक्षिणस्तैः कृतं
नीडं यस्मिन् प्राणिनां सुखदुःखाभ्यामुद्भूतौ हर्षशोकौ ताभ्यां
यथासङ्गेन जातानि वृक्षादीनि रुदितादिशब्दाश्च तैः कृतसु-
मुलीभूतो महारवो यस्मिन्निति विग्रहः ॥ १ ॥

कार्यस्य शून्यतापर्यन्तं नष्टस्यासत्त्वपूर्वकमेव जन्म ततो
नास्ति मूलमिति शङ्कते । यद्विना ज्ञानादिति ॥ तत्र शशवि-

महद्भयं वज्रोद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भया

दिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

इह चेदशकद्वोद्भूताक् शरीरस्य विस्वसः ।

यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिसुखीभूतं दृष्ट्वा मृत्या नियमेन ततश्चासने प्रवर्त्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत् सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्त्तत इत्युक्तं भवति । य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्त्तत इत्याह । भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव मृत्यानां नियन्ता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

तच्चेह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सन् जानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक् पूर्वं शरीरस्य विस्वसोऽवस्त्वं सनात् पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते । न चेदशकद्वोद्भूततोऽनवबोधात्सर्गेषु मृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय

पाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनात्सत्पूर्वकत्वप्रसिद्धेऽस्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वादित्यर्थः ॥ १ ॥ ३ ॥

सूर्यादीनां नियतप्रवृत्त्यनुपपत्त्या नियामकत्वेन सम्भावि

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

यथाऽऽदर्शं तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने यथा पितृ-
लोके । यथाऽपि परीव दृष्टे तथा गन्धर्वलोके
छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

कल्पते समया भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीरवि-
सनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आख्येयः यस्यादिहैवात्मनो दर्शन-
दर्शस्थस्येव सुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोका-
दन्यत । स च दुष्प्राप्यः ॥ ४ ॥

कथमित्युच्यते । यथाऽऽदर्शं प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लो-
कोऽत्यन्तविविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्ध्यावादर्शवन्निष्कलीभूतायां
विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः । यथा स्वप्ने विविक्तं जाग्र-
द्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तमेवात्मनो दर्शनं कस्मिं फलोप-
भोगासक्तत्वात् । यथा वाऽप्यस्वविविक्तावयवमात्मारूपं परीव
दृष्टे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोके ऽविविक्तमेव दर्शनमा-
त्मनः । एवञ्च लोकान्तरेष्विति शास्त्रप्रासाद्यादवगम्यते ।
छायातपयोरिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन् । स च
दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकस्मिन् ज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनाये-
हैव यत्नः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किंवा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते । इ-
न्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयप्रग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणस्यः

यत्पारमेश्वरं रूपं तदवगमायैवेह यत्नः कर्त्तव्य इत्याह । त-
च्चेति ॥ इहैव चैव चेदोद्भूतः शक्तः सन्निहैव चेज्जानाति तदा
मुच्यत एवेति सम्बन्धः ॥ ४ ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणामृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
 पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥
 इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
 सत्त्वाद्धि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चि-
 न्मात्मात्स्वरूपात् पृथग्भावं स्वभावविलक्षणालोकतां तथा तेषा-
 मेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ च यत्पृथगुत्पद्यमानानामुत्पत्तिप्र-
 लयौ च जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा
 विवेकतो धीरो धीमान् न शोचति । आत्मनो नित्यैकत्वस्वभाव-
 त्वादव्यभिचाराच्छ्लोकादिकारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्य-
 न्तरं तरति शोकमात्मविदिति ॥ ६ ॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नाऽसौ बहिर-
 धिगन्तव्यः । यस्मात्प्रत्यगात्मा सर्व्वस्य तत्कथमित्युच्यते । इन्द्रि-
 येभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वा-
 दिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणं पूर्व्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दादुद्भिरिहो-
 च्यते ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्व्वमुक्तम् । इह त्वर्थानामग्र-
 हणात्सर्व्वप्रत्यगात्मत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह । अर्थानामिहेति ॥
 बुद्धिमुखदुःखादिः साश्रयो गुणत्वाद्रूपवदिति वैशेषिकैरनुमीयते
 तदसत् । साश्रयत्वमात्रसाधने सिद्धसाधनत्वान्मतस एव कामा-
 दिगुणवत्त्वश्रवणादात्माश्रयत्वकल्पने च निर्गुणत्वशास्त्रविरुद्धत्वा-

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
 यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति ॥ ८ ॥
 न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति

सर्वस्य कारणत्वात् । अलिङ्गो लिङ्गते गम्यते येन तल्लिङ्गं बु-
 द्धादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव च । सर्वसंसार-
 धर्मेवर्जित इत्येतद्रूपं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते ज-
 न्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवनेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वञ्च
 गच्छति । सोऽलिङ्गः परो व्यक्तात्पुरुष इति पूर्वैण सम्बन्धः ॥ ८ ॥

कथं तर्हि तस्यालिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते । न सन्दृ-
 शे दर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो न
 चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण । चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात् । पश्यति
 नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम् । कथं तर्हि तत्प-
 श्येदित्युच्यते । हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः सङ्क-
 ल्पादिरूपस्थेष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीष्ट् तया मनीषाऽविकल्प-

दात्मना सह बुद्ध्यादेरविनाभावाग्रहणाच्च बुद्ध्यादि नात्तलिङ्ग-
 मित्याह । लिङ्गयते गम्यते येनेति ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

कथं दर्शनमुपपद्यत इति प्रष्टुः कोऽभिप्रायः विषयतया
 दर्शनं वक्तव्यम् उताविषयतयैव दर्शनोपायो वाच्यः ॥ प्रथमं प्र-
 त्याह । न सन्दृश इति ॥ रूपादिमत्तद्विशेषणञ्च दर्शनविषययो-
 ग्यं भवति तदभावादित्यर्थः ॥ द्वितीयं प्रत्याह । कथं तर्हि ॥
 वाह्यकरणग्रासोपरमेऽपि यदा मनो विषयान्सङ्कल्पते तदा
 मुमुक्षोर्बुद्धिस्तस्य नियन्त्रो भवति । हे मनः किमर्थं त्वं पिशा-
 चवत्प्रधावसि । न तावत्स्वप्रयोजनार्थम् ॥ तव जडत्वात्प्रयोजन-

कश्चनैनम् । हृदा मनीषामनसाभि कृप्तो य
एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ६ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

यित्रया । मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन । अभिकृप्तोऽभिस-
मर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वा-
क्यशेषः । तमात्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ६ ॥

कथं प्राप्यत इति यदर्थो योग उच्यते । यदा यस्मिन् काले
स्वविषयेभ्यो निवर्त्तितात्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानार्थत्वात् श्रोत्रादी-
सम्बन्धानुपपत्तेर्विषयाणां च क्षयिष्णुत्वादिदोषदुष्टानां सम्बन्धेन
प्रयोजनानुपपत्तेः । नापि चेतनार्थम् । तस्यासङ्गत्वात्परमान-
न्दस्वभावत्वाच्चेति नियन्तृत्वेन बुद्धिर्मनीडुच्यत इत्याह । मनस
इति ॥ अविकल्पयित्रेति ॥ विषयकल्पनाशून्यया ब्रह्मास्मी-
त्यविषयतयैव ब्रह्मीभावव्यञ्जिकया महावाक्योक्तया बुद्धिवृत्त्या
ज्ञातुं शक्यत इति सम्बन्धः ॥ कथम्भूत आत्मेत्यत आह । मन-
सेति ॥ यद्यन्मया दृश्यते वाच्यं घटादि तत्तदहं यथा न
भवामि तथाऽस्मिन्नपि सङ्घाते यद्यदृश्यते तदहं न भवामि किन्तु
योऽत्र ज्ञोऽशसोऽस्ति सर्वशरीरेष्वेकलक्षणलक्षितत्वादेक एवेति
विचारेण प्रथमं सम्भावित इत्यर्थः ॥ श्रुतवेदान्तानामपि के-
षाञ्चिद्ब्रह्मास्मीति बुद्धिस्थैर्य्यादर्शनादस्ति किञ्चित्प्रतिबन्धका-
न्तरं तदपनयायोपायोऽप्यन्यो वक्तव्य इत्यभिप्रेत्याह । सा हं-
दिति ॥ अवरणमननाभ्यां प्रमाप्रमेयासम्भावनानिरासेऽपि चित्त
स्थानेकाग्रतादोषः प्रतिबन्धकः सम्भवति तदपनयाय योगोऽनु-
ष्ठातव्य इत्युपदिश्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

यदनुगतानीति येन मनसाऽधिष्ठितानि तेन सहाऽवति-

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

नीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्तेऽवतिष्ठन्ते सह मनसा । यदनुगतानि तेन सङ्कल्पादि व्यावृत्तेनान्तःकरणेन बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टते स्वव्यापारेषु न चेष्टते न व्याप्नियते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥ १० ॥

तामीदृशीं तदवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याधारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां वाह्यान्तःकरणानां धारणामित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं प्रयत्नवांस्तदा तस्मिन् काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसम्भवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते ।

ठन्ते निवृत्तव्यापाराणि भवन्तीत्यर्थः ॥ वियोगमेव सन्तं योगमिति विरुद्धलक्षणया मन्यन्त इत्युक्तं तत्स्फुटयति सर्वानर्थेति ॥ ऊपसंहृतं मनो यदि सुषुप्तिं गच्छेत्तदा सानर्थबीजावस्था भवति । तद्व्यावृत्तये पूर्णं ब्रह्मास्मीत्यावृत्तौ योजयेदावृत्तौ नियुक्तं विषयेषु विचिन्तं चेत्स्यात्तद्दोषदर्शनेन ततो व्यावृत्तमपि तत्तत्सदृश्यं चेत्स्यात्सापि यावत्कषायावस्था ततो निरुद्धं मनो यदा न जागर्त्ति न स्वप्निति न चान्तरालावस्थं भवति पूर्णब्रह्मावभासकतयैव क्षीणं भवति तदा सर्वानर्थवियोगलक्षणा साऽवस्था भवतीत्यर्थः । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं

अप्रमत्तस्तदाभवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशम-
प्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः । योगो
हि यस्मात्प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मीका इत्यर्थोऽतोऽपायपरि-
हारायाप्रमादः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषता गृह्येत
बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म
यद्वि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके । विपरीतञ्चासदि-
त्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्ध्वं ब्रह्मे-
त्येवं प्राप्ते इदमुच्यते । सत्यं नैव वाचा मनसा न चक्षुषा ना-
न्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्य इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि
जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्तेष्वेव कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठ-
विधेयतया व्याख्यायानुवादपरतया व्याचष्टे । अथवेति ॥ वि-
धिपक्षे हेतुं शक्नोति । कुत इति ॥ १० ॥ ११ ॥

उत्तरमन्त्रमशतारयितुं शङ्कामुद्गावयति । बुद्ध्यादिचेष्टावि-
षयश्चेति ॥ घटोऽस्तीति प्रतिपन्नस्य घटस्य । मुद्गराभिघाताद्वि-
लायने घटाकार एव विलीयते । नास्तित्वांशस्तस्य कपाला-
दावप्यनुवृत्तिदर्शनात् । अतः कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वान्न
शून्यतापर्यवसायी लय इत्युक्तमेतत् स्फुटयति । तथाहीति ॥
स्थूलस्य कार्यस्य विलये सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते तस्यापि
विलये ततः सूक्ष्ममिति यावद्दर्शनव्याप्तिमुपलभ्य यत् न दृश्यते
नत्रापि मूर्त्तविलयस्यावश्यम्भावित्वान्न सन्मात्रमेवामूर्त्तमवति-
त इति कार्यमेव सौक्ष्म्यतारतम्यपारम्पर्येणानुश्रियमाणं
सद्बुद्धिनिष्ठां पुरुषस्य गमयतीत्यर्थः ॥ ननु यद्दृश्यं तदसत्
यथा स्वप्नदर्शनमिति व्याप्तिदर्शनादस्तित्वेन दृश्यस्यासत्त्वादुबु-

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

त्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं
सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदापि विषयप्रविलापनेन प्रवि-
लाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भेव विलीयते । बुद्धि-
र्हि नः प्रमाणं सदसतोऽर्थात्मप्रावगमे मूलं चेज्जगतो न
स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतदस्ति
सत्सदित्येव तु गृह्यते । यथा सदादिकार्यं घटादि सदन्वि-
तम् । तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यम् । तस्माद-
स्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः अदधानाद-
न्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं
कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि
कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

द्विरपि नास्त्येवेत्याशङ्क्याह । यदापीति ॥ सद्बुद्धिरपि ना-
स्तीत्येवम्भूतः प्रतीत्याऽवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा नि-
षेधव्यवहारायोगात् । अतोऽन्तता गत्वा सद्बुद्धिः स्वीकृता
स्यादित्यर्थः ॥ ततः किमित्यत आह । बुद्धिर्हीति ॥ व्यभिचा-
रिष्वपि विषयेषु सन्मात्रबुद्धेरव्यभिचारदर्शनाद्बुद्धेश्च स्वतः प्रा-
माण्यात्मन्मात्रं वस्तुभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः । इतश्च सदेव मूलं
जगतो वाच्यमित्याह । मूलञ्चेदिति ॥ नास्ति जगतो मूलं ब्रह्मे-
त्यवगमेऽपि प्रतियोगितया ब्रह्मज्ञानसम्भवत्वात् ॥ किमिति
मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानकामेनास्तीत्येवोपलब्धव्यमित्याह । कस्मा-
दिति ॥ प्रतियोगितया ज्ञानस्य निषेधत्वादात्मतया ज्ञानं न
स्यादतो ब्रह्मज्ञानकामेनास्ति जगन्मूलमित्यवगन्तव्यमेवेत्याह ।
अस्तीति ब्रुवत इत्यादिना ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धस्तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्ती-
त्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।

तस्मादप्रोक्ष्यासहादिपञ्चमासुरमस्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्का-
र्यबुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्द्रष्टितोऽविक्रिय आत्मा कार्यञ्च
कारणव्यतिरेकेण नास्ति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्ति-
केत्येव सत्यमिति श्रुतेः तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदस-
दादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनस्तत्त्वभावो भवति । तेन च
रूपेणात्मोपलब्धत इत्यनुवर्त्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपा-
धिकयोरस्तित्वतद्भावयोर्निर्द्धारणार्था षष्ठी । पूर्वमस्तीत्येवोपल-
ब्धस्यात्मनः सत्कार्योपाधिज्ञतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । प-
ञ्चात्मप्रत्यक्षमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताभ्याम-
न्योऽद्वयस्वभावो नेति ह्यस्यूलमनखहृस्वमदृश्येऽनात्म्येऽनित्य
इत्यादिश्रुतिनिर्द्दष्टः प्रसीदत्यभिसुखीभवति आत्मनः प्रका-
शनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

एवं परमार्थदर्शिनः यदा यस्मिन् काले सर्वे कामाः काम-
यितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक् प्रति-

सोपाधिकस्यात्मनो ज्ञानान्मुक्त्यसम्भवान्निरुपाधिकज्ञानायापि
प्रयतितव्यमित्याह । यदा त्विति ॥ सोपाधिके प्रथमं स्थिरी-
भूतस्य तद्द्वारेण लक्ष्यपदार्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थाव-
गतिः सम्भाव्यत इत्याह । तत्राप्युभयोरित्यादिना ॥ सदुपल-
ब्धमानकार्यमुपाधिर्यस्य कारणत्वस्य तत्कुतो योऽस्तित्वप्रत्ययः
कारणत्वादस्तिपर आत्मेति तेनोपलब्धस्येति योजना ॥ १३ ॥

सर्वे कामा इति । प्रवृत्तफलकर्मापस्थापिते शरीरस्थिति-
निमित्तान्नपानादौ प्रवृत्तिकरणेच्छाव्यतिरिक्ताः सर्वे कामाः

अथ मर्त्याऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ॥ अथ
मर्त्याऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥

बोधादिदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामाना-
माश्रयो नात्मा कामः सङ्कल्प इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अथ तदा
मर्त्यः प्राक् प्रबोधादासीत् स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्म-
लक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति गमनप्रयोजकस्य वा मृत्यो-
र्विनाशाद्गमनानुपपत्तेः । अत्रैव प्रदीपनिर्व्याणवत्सर्व्वबन्धनो-
पशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते । यदा सर्व्वे
प्रभिद्यन्ते भेदसुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत
एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अह-
मिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणा-
स्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्ब्रह्मैवाहमस्मात्प्रसंसारोति वि-
नष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ
मर्त्याऽमृतो भवत्येतानद्येतावदेवैतावन्मातं नाधिकमस्तीत्याशङ्का
कृतेत्या । अनुशासनमुशिष्टिरूपदेशः सर्व्ववेदान्तानामिति वा-
क्यशेषः ॥ १५ ॥

कास्येन ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गं प्रप्नुमि त्रैपुर्य्याराधनेन जनं
वशीकरिष्यामीत्येवमादयः स्वर्गादिदेहेष्वप्यहमेव तिष्ठामि
तद्भोगाश्च प्राप्ता एवाप्राप्तविषयश्च कामो व्यर्थो मिथ्या चासा-
विति विचारेण विशीर्य्यन्त इत्यर्थः । कामाश्रय आत्मेति वैशे-

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्ध्नि भिनिः-

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिविद्यत इत्युक्तम् । अत्र ब्रह्म समभूत इत्युक्तत्वान्न तस्य प्राणा अगुक्रामन्ति । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुत्यन्तराच्च । ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशालिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये तद्विपरीताः संसारभाजस्तोषामेष गतिविशेष उच्यते । प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविदो विद्याफलस्तुतये । किञ्चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च । तस्याच्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्वारम्भः । तत्र शतञ्च शतसङ्ख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्भिनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्ध्नि भित्वाऽभिनिःसृता निर्गता एका सुषुम्ना नाम तयाऽन्तर्काले हृदये आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् । तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन् गच्छन्नादित्यद्वारेणासृतत्वममरणधर्मेत्येवमापेक्षिकम् । आभूतसंश्रवं स्थानमसृतत्वं च भाष्यत इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यमसृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान् ब्रह्मलोकगतान् विष्वक् नानाविधगतयोऽन्या

पिकमतं श्रुतिवाच्यत्वान्नादरणीयमेवेत्याह । बुद्धिर्हीति ॥ कामप्रविलयस्य सुषुम्नेऽपि भावादसृतत्वचिह्नत्वं भवतीति मत्वाह । कदा पुनरिति ॥ १४ ॥ १५ ॥

प्रकरणविच्छेदेनोक्तस्य सखन्धं दर्शयति । निरस्ताशेषेत्यादिना ॥ पदभाणिभास्करेण प्रकरणाद्ब्रह्मविद्विषयैवेयं गतिरिति तदसङ्गतिश्रवणेन लिङ्गेन परिच्छिन्ने चामानयोगेऽस्या गतेः सखन्धप्रागमे सुदुर्बलेन प्रकरणेन प्रकृतब्रह्मवित्सखन्धावु

सूतैका ॥ तयोर्ह्यमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या
उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये
सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेपीकां
धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृत-
मिति ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तान्निचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योग-

नाद्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्ती-
त्यर्थः ॥ १६ ॥

इदानीं सर्ववस्तुप्रयोजनसंहारार्थमाह । अङ्गुष्ठमात्रः पुरु-
षोऽन्तरात्मा सदा जनानां सस्वन्निहि हृदये सन्निविष्टो यथा
व्याख्यातस्तं स्वादात्म्याच्छरीरात्प्रवृहेदुद्वच्छेन्निःकर्षेण पृथकु-
र्यादित्यर्थः । किमिवेत्युच्यते । मुञ्जादिवेपीकाम् अन्तस्थां धैर्येणा-
प्रमादेन ॥ तं शरीरान्निष्कृतं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रं-
शुद्धममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति । तं विद्याच्छुक्रममृतमिति द्विर्व-
चनस्युपनिषत्प्रमाणमिति ॥ १७ ॥

विद्यास्तुत्यर्थाऽवमाख्यायिकार्योपसंहारोऽधुनोच्यते । मृत्यु-
प्रोक्तां यमोक्तामेतां विद्यां ब्रह्मविद्यां योगविधिञ्च कृत्स्नं समस्तं
पपत्तेः । नाद्यन्तराणामपि सत्त्वस्वन्धप्रसङ्गाच्छ्रुतिविरुद्धप्रस-
ङ्गाच्च । विस्तरश्च प्रकटार्थे द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

आत्मानं देहमधिकृत्य वर्त्तत इत्यध्यात्मं प्रत्यक्स्वरूपमेव
ब्रह्म प्राप्य विस्तृत्युर्भवति ॥ नान्यद्रूपमर्च्चिरादिमार्गगम्यं प्राप्य ।

विधिञ्च कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
न्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

सहनावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै

सोपकरणं सफलमित्येतन्नाचिकेतोऽथ वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा
प्राप्येत्यर्थः । किञ्च ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मृतोऽभवदित्यर्थः । कथं विद्या-
प्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मा विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्
पूर्वमित्यर्थः । न केवलं नचिकेता एव अन्योऽपि य एवं नचि-
केतोवदध्यात्ममेवं निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तमेवेत्यभि-
प्रायः ॥ नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपं तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण यो
वेद विजानाति एवंविद्धोऽपि विरजः सन् ब्रह्मप्राप्त्या विमृ-
त्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥ १८ ॥

अथ शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रति-
पादननिमित्तदोषशमनार्थं शान्तिरभिधीयते । सह नावा-
वामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः । स एव परमे-
श्वर उपनिषत्प्रकाशितः । किञ्च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रका-
शनेन नौ पालयतु । सहैवावा विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं कर-
वावहै निष्पादयावहै । किञ्च तेजस्वि नौ तेजस्विनोरावयो-
र्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथ वा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं
तदधीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः । भाविद्विषावहै शिष्याचा-
र्यावन्योन्यं प्रमादकृताभ्यामध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा

संयोगस्य विनियोगवासनात्वादित्यर्थः । एवंशब्दस्य विच्छब्देन
सह सम्बन्ध एवंविधः । एवंविदिति ॥ इति श्रीमच्छङ्करस्य

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ॥ ॐ शान्तिः
शान्तिः शान्तिः । हरिः ॐ ॥ १६ ॥

इति कठोपनिषदि द्वितीयाध्याये षष्ठी वल्ली
समाप्ता ॥ ६ ॥ ॐ तत्सत् ॥ ॐ ॥

करवावहा इत्यर्थः ॥ शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिवचनं
सर्वदोषोपशमार्थम् ॥ इत्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राज-
काचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ काठकभाष्ये द्वितीयाध्याये
षष्ठी वल्ली समाप्ता ॥ ६ ॥ इति कठोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम् ॥

ॐ तत्सत् ॐ ॥

कठोपनिषद्भाष्यटीका श्रीमदानन्दज्ञानकृता समाप्ता ॥ १७ ॥ १८ ॥

ॐ हरिः ॐ ॥

यजुर्वेदीयकठोपनिषत् ।

परमहंसपरिव्राजकार्यश्रीशङ्करभगवत्कृत

भाष्यसहिता

श्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवतानन्द-

ज्ञानकृतभाष्यटीका

मि. वा ।

मा ।

कलिकातानगरे

श्रीयुतवावुभुवनचन्द्रवसाकसंस्थापित

संवादज्ञानरत्नाकराख्यवल्गे

तद्वारैव मुद्रिता ।

इंराजी १८७२ सन १२७१ साल ।

(निमतलाघाट इष्टीट ८ संख्यक भवन)

जात
न कीठो

अथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषत् ।

परमहंसपरिव्राजकार्यश्रीशङ्करभगवत्कृत

भाष्यसहिता

श्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवतानन्द-

ज्ञानकृतभाष्यटीका

विभूषिता ।

कलिकातानगरे

श्रीयुतवावुभुवनचन्द्रवसाकसंस्थापित

संवादज्ञानरत्नाकराख्ययन्त्रे

तद्वारैव मुद्रिता ।

इंराजी १८७२ सन १२७१ साल ।

(निमतलाघाट इष्टीट ८ संख्यक भवन)

अथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषद्भाष्यम् ।

ओं नमः परमात्मने नमः । मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्त-
रानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते । ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्या-
यिका तु विद्यास्तुतये एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तै-
स्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादिवत्सर्वज्ञकल्पैराचार्यैर्व-
क्तव्या च । न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति । ब्रह्म-
चर्यादिसाधनमूचनाञ्च तत्कर्त्तव्यता स्यात् ॥

ओं परमात्मने नमः ॥ अथर्वणे ब्रह्म देवानामित्यादिमन्त्रैरेवात्म-
तत्त्वस्य निर्णीतत्वात्तत्रैव ब्राह्मणेन तदभिधानं पुनरुक्तमित्याशङ्क्य
तस्यैवेह विस्तरेण प्राणोपासनादिसाधनसाहित्येनाभिधानान्न पौनरु-
क्त्यमिति वदन् ब्राह्मणमवतारयति । मन्त्रेति ॥ विस्तरेति ॥ मन्त्रे हि
द्वे विधे वेदितव्ये परा चैवापरा चेति उक्ता तत्रापरा ऋग्वेदाद्यभिधेये-
त्युक्तम् । सा चाविद्याकर्मरूपोपासनारूपा च । तत्र द्वितीया द्विती-
यतृतीयप्रश्नाभ्यां विव्रीयते । आद्या कर्मकाण्डे विवृतेति नेह विव्री-
यते । उभयोः फलन्तु ततो वैराग्यार्थं प्रथमप्रश्ने स्पष्टीक्रियते । पर-
विद्या च अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यत इत्युपक्रमस्य कृत्वन्नेन मुण्ड-
केन प्रतिपादिता । तत्रापि यथा सुदीप्तादित्यादिमन्त्रद्वयोक्तार्थस्य
विस्तरार्थं चतुर्थः प्रश्नः । प्रणवो धनुरित्यतोक्तस्यार्थस्य स्पष्टीकर-
णार्थः पष्ठः प्रश्न इतीदं ब्राह्मणं तद्विस्तरानुवादीत्यर्थः । अत एव
विषयप्रयोजनादिकं तत्रैवोक्तमिति नेह पुनरुच्यत इति बोध्यः ॥
आख्यायिकायाः ब्रह्मचर्यतपआदिसाधनविधानं पुराकल्पस्वरूपेण
प्रयोजनान्तरञ्चास्तीत्याह । ब्रह्मचर्यादिसाधनेति ॥

क

॥ अथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदारम्भः ॥

ॐ नमः परमात्मने ॥ हरिः ॐ ॥ सुकेशा
च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी
च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः
कवन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः
परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्य-

सुकेशा च नामतः भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः । शै-
व्यश्च शिवेरपत्यं शैव्यः सत्यकामो नामतः । सौर्यायणी
सूर्यस्यापत्यं सौर्यस्तस्यापत्यं सौर्यायणिष्छान्दसः सौर्या-
यणीति गार्ग्यः गर्गगोत्रोत्पन्नः । कौशल्यश्च नामतः
अश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः । भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं
भार्गवः वैदर्भिर्विदर्भैः प्रभवः । कवन्धी नामतः कत्यस्या-
पत्यं कात्यायनः । विद्यमानप्रपितामहो यस्य सः । युवा-
र्यप्रत्ययः । ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गता-
स्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः कि-
न्तु । यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं य-
तिष्याम इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमाय एष ह वै

सौर्यायणिरिति वक्तव्ये दैर्घ्यं छान्दसमित्यर्थः । युवप्रत्यय इति
कत्यस्य युवापत्ये विवक्षिते फक्प्रत्यये तस्यऽयनादेशे च कात्यायन इति
सिद्धप्रतीत्यर्थः ॥ ब्रह्मपराणां पुनर्ब्रह्मान्वेषणमनुक्तमित्यत आह ।
अपरं ब्रह्मति ॥ नन्वपरब्रह्मान्वेषणेनैव पुरुषार्थसिद्धेः किं परब्रह्मा-
न्वेषणेनेत्याशङ्कते । तित्तिदिति ॥ तस्य कोटतिशयइत्यर्थः । तस्या-
नित्यत्वेन तत्प्राप्तेरप्यनित्यहेतुत्वेनापुरुषार्थत्वात् परस्यैव नित्यत्वान्त-
र्यातेस्तज्ज्ञानमात्रसाध्यत्वेनापि नित्यत्वाच्च तस्यैवान्वेषणीयत्वमिति
परस्वरूपकथनायाह । यदिति ॥ परब्रह्मान्वेषमाणानां कोटतिशय

तीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलाद-
सुपसन्नाः ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा
ब्रह्मचर्येण अद्वया संवत्सरं संवत्स्यथ यथा-

तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः । कथम् । ते ह समि-
त्पाणयः समिद्धारयः हीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पूजावन्तं
पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः ॥ १ ॥

तानेवमुपगतान् ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव
यद्यपि पूर्वं तपस्विन एव तपसेन्द्रियसंयमेन तथापीह
विशेषतो ब्रह्मचर्येण अद्वया चास्तिक्यबुद्ध्याऽऽदरवन्तः
संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरुशुश्रूषापराः सन्तो वत्-
स्यथ । ततो यथाकामं यो यस्य कामस्तमनतिक्रम्य यद्वि-
षये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान् प्रश्नान् पृच्छथ । यदि

इत्यत आह । तत्प्राप्तार्थमिति ॥ तत्प्राप्तार्थं तदधिगमाय तदन्व-
ेषणं कुर्वन्तो यथाकामं यतिष्याम इत्येवमभिप्रायेणेत्यन्वयः ॥ समि-
दिति ॥ समिद्ग्रहणं यथायोग्यं दन्तकाष्ठाद्युपहारोपलक्षणार्थम् ॥ १ ॥

तथापीत्यस्य तपसेत्यतः पूर्वमन्वयः । विशेषत इत्यस्य पूर्वत्वा-
न्वयः ॥ निष्कृष्टमर्थमाह । यद्विषय इति ॥ अज्ञानाद्यर्थत्वाभावे हे-
तुमाह । प्रश्नेति ॥ अत्र इतिशब्दोऽध्याहार्यः । सर्वप्रश्नानां निर्णया-
दज्ञानाद्यसम्भवादित्यर्थः ॥ परब्रह्मान्वेषमाणा इत्युपक्रान्तेऽस्मिन्
ब्रह्मप्रकरणे प्रजापतिकर्तृकप्रजासृष्टिविषयप्रश्नप्रत्युत्तरे सङ्गतिमाशङ्क्य
प्रश्नप्रत्युक्तिरुपायाः श्रुतेस्तत्पर्यमाह । अपरविद्येति ॥ तेषामसौ
विरजो ब्रह्मलोक इति समुच्चितकार्यस्य ब्रह्मलोकस्याथोत्तरेणेति
तद्गतेर्देवयानमार्गस्य चेह वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । इदमुपलक्षणं केवल-
कर्मणाञ्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ केवलकर्म कार्यस्यापि चेन्द्रलोकस्य

कामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं
ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

अथ कवन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भ-
गवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति
॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः

तद्युष्मत्पृष्टं विज्ञास्यामः । अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थं यदि-
शब्दो नाज्ञानसंशयार्थः । प्रश्ननिर्णयादवसीयते सर्वं
ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कवन्धी कात्यायन उपेत्यागत्य पप्रच्छ
पृष्टवान् । हे भगवन् कुतः कस्याह वै इमा ब्राह्मणाद्याः
प्रजाः प्रजायन्ते उत्पद्यन्ते । अपरविद्याकर्मिणोः समु-
च्चितासमुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिरुद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं
प्रश्नः ॥ ३ ॥

तस्मा एवं पृष्टवते स होवाच । तदपाकरणायाह ।
प्रजा कामः प्रजा आत्मनः सिद्ध्यै प्रजापतिः सर्व्वात्मा

तद्गतेः पितृयानस्य च । तेषामेवैष ब्रह्मलोकः । प्रजाकामा दक्षिणं
प्रतिपद्यन्त इति वक्ष्यमाणत्वादिति । यद्यपीदमपि परब्रह्मजिज्ञासा-
वसरेऽसङ्गतमेव तथापि केवलकर्म कार्यात्मसुचितं कर्मकार्याच्च वि-
रक्तस्यैव तत्वाधिकार इति । ततो वैराग्यार्थमिदमुच्यते । यद्यपि
मुखतः स्पष्टिः प्रतीयते तथापि तदुक्तौ प्रयोजनाभावात्स्पष्ट्युक्तिव्याजेन
परविद्याफलमेवात्रोच्यत इति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥

प्रश्न इति प्रतिवचनञ्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ताभ्यामेव तदुक्तेरिति
तस्मै स होवाचेति प्रतिज्ञातं विशेषतो दर्शयति । तदपाकरणायेति ॥

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मियुनमुत्पाद-
यते । रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे वज्रधा प्रजाः
करिष्यत इति ॥ ४ ॥

सन् जगत् स्रक्ष्यामीत्येवं विज्ञानवान् यथोक्तकारी तद्भाव-
भावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां
प्रजानां स्यावरजङ्गमानां पतिः सन् जन्मान्तरभावितं
ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत ।
अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसा-
धनभूतं मयुनमुत्पादयते मियुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान् ।
रयिञ्च सोममन्नं प्राणञ्चाग्निमत्तारमेतावग्नीषोमावन्ना-
द्यभूतौ मे मम वज्रधानेकधा प्रजाः करिष्यत इत्येवं सञ्चि-
न्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् ॥ ४ ॥

आद्यस्य सन्नित्यस्य प्रकाशः सन्नित्यन्वयो यथोक्तकारीति ज्ञानकर्म्म-
समुच्चयकारीत्यर्थः । तद्भावभावित इति प्रजापतिरहं सर्वात्म्येत्थुपा-
सनकालीनप्रजापतिभावनायुक्त इत्यर्थः । पूर्वकल्पीयतद्भावभावित
एतत्कल्पादौ हिरण्यगर्भात्मना निर्वृत्तः प्रजापतिः सन् पश्चात्प्रजा-
कामः सन् तपो जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थं विषयमाप्यत
अन्वालोचयच्चित्तादिना तत्संस्कारमुद्बोध्य ज्ञानमुत्पादितवानित्यन्वयः ।
तत्र प्रथममादित्यचन्द्रोत्पादनेन तद्भावमापद्य पश्चाच्चन्द्रादित्यसाध्यस्व-
त्वरभावमापद्य एवमेव तदवयवायनद्वयमापच्चाहोरात्रभावमापद्य
ततस्तत्साध्यव्रीह्याद्यन्नभावं रेतोभावश्चापद्य तेन रेतसा प्रजाः सृजेय-
मित्येवं निश्चित्य प्रथमं रयिं प्राणशब्दितसूर्यचन्द्रद्वन्द्वमुत्पादितवानि-
त्याह । स एवमिति ॥ रयिशब्देन धनवाचिना भोज्यजातं लक्षयित्वा
भोज्यस्य सोमकिरणान्तयुक्तत्वात्तद्द्वारा सोमो लक्ष्यत इत्याह ।
रयिञ्चेति ॥ एवं प्राणशब्देनापि । अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तिञ्चामूर्त्तिञ्च तस्मान्मू-
र्त्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

तत्वादित्यो ह वै प्राणोऽन्ता अग्निः । रयिरेव च-
न्द्रमाः । रयिरेवान्नं सोम एव । तदेतदेकमन्ता चा-
न्नञ्च प्रजापतिरेकं तु मिथुनम् । गुणप्रधानकृतो भेदः
कथम् । रयिर्वै अन्नं वै एतत्सर्वं किन्तद्यन्मूर्त्तिञ्च स्थू-
लञ्च अमूर्त्तिञ्च सूक्ष्मञ्च मूर्त्तामूर्त्ते अन्तन्नरूपे रयिरेव ।
तस्मात्प्रविभक्तादमूर्त्ते द्यदन्यन्मूर्त्तिरूपं मूर्त्तिः सैव रयिर-
मूर्त्तिस् अन्नाद्यमानत्वात् ॥ ५ ॥

देहमाश्रितः । प्राणायामसमायुक्तः पचास्यन्नं चतुर्विधमिति स्मृतेः ।
अग्नेः प्राणसस्वत्वादग्निर्भोक्ता लब्धत इत्याह । प्राणञ्चेति ॥ अ-
ग्नीषोमयोरण्डान्तर्गतत्वेनाण्डोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्तिरित्याशयेनाह । अ-
ण्डोत्पत्तीति ॥ उद्यन्नं वाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहतीति श्रुतेः ।
सूर्याग्नौरेकत्वमभिप्रेत्याग्निस्सूर्यपदेनाह । सूर्याचन्द्रमशविति ॥ ४ ॥

रयिप्राणौ श्रुतिः स्वयमेव व्याचष्ट इत्याह । तत्वादित्य इति ॥
प्रजापतेरेव संवत्सरादि प्रजापर्यन्तं स्मृत्युक्तं वक्तुं रयिप्राणयोः संवत्सर-
स्रद्धोः प्रजापत्युपादानत्वात्प्रजापत्यात्मत्वमाह । तदेतदेकमिति ॥ क-
थमेकस्यान्तान्नञ्चेति भेद इत्याशङ्क्य तस्यैव गुणभावविवक्षयान्नत्वं प्रा-
धान्यविवक्षया चातृत्वमिति भेद इत्याह । गुणेति ॥ रयिप्राणयोः
कथं प्रजापत्यात्मत्वमिति शङ्कते । कथमिति ॥ तत्र रयेः सर्वात्मक-
त्वात्प्रजापतित्वमित्याह । रयिरिति ॥ अमूर्त्तस्यापि वाच्यादेः केन-
चिदद्यमानत्वाद्व्यतिर्यक्तमित्यर्थः । ननु मूर्त्तामूर्त्तयोरन्तन्नयोरुभयोरपि
रयित्वेऽन्नमेव रयिरिति कथमुक्तमित्याशङ्क्य मूर्त्तामूर्त्तत्वे विभागमकृत्वा
सर्वस्य गुणभावमात्रविवक्षया सर्वं रयिरित्युच्यते । यदा उभे वि-

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति
तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । यद्-
क्षिणां यत्प्रतीचीं यदुचीं यदधो यदूर्ध्वं यद-
न्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्
प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरु

तथाऽमूर्त्तेऽपि प्राणोऽन्ता सर्वमेव यच्चाद्यम् । कयम्
अथ आदित्य उदयन् उद्गच्छन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति
तेन तत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति । तेन
स्वात्मव्याप्त्या सर्वांस्तत्स्थान् प्राणान् प्राच्यानन्तर्भूतान्
रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः
सन्निधत्ते सन्निवेशयति आत्मभूतान् करोतीत्यर्थः । तथैव
यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्र-
विशति यच्चान्तरा दिशो कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चा-
न्यत्सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान् सर्व-
दिक्स्थान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

स एषोऽन्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो वि-
श्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निरथ स एवाऽन्तोदयते उद्गच्छति प्र-

भज्य गुणप्रधानभावेन विवक्ष्यते तदाऽमूर्त्तेन प्राणेन मूर्त्तस्याद्यमानत्वा-
न्मूर्त्तस्यैव रयित्वमित्याह । तस्मादिति ॥ ५ ॥

रयिगदितस्याक्षस्य प्रजापतित्वार्थं सर्वात्मत्वमुक्त्वा प्राणस्यापि
तदर्थमेव सर्वात्मत्वमुच्यते अथादित्य इति वाक्येनेत्याह । तद्येत्यादिना ॥
यच्चाद्यं तदपि प्राणोऽन्ता प्राणोऽपि सर्वमेवेति सर्वात्मक इत्यर्थः ।

दयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

त्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन् । तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्यभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिमन्तं जातवेदसं जात-
प्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां
चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं
सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः । कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः ।
सहस्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधा अवेकधा प्राणिभेदेन वर्त्त-
मानः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

स्वप्रकाशेनेति स्वकीयप्रकाशेन स्वप्रभयेत्यर्थः । अन्तर्भूतानिति यद्यपि
प्राणस्यान्तृतृमुक्तं तथापि रविर्वा एतत्सर्वमित्यत्वामूर्त्तस्य प्राणस्यापि
गुणभावविवक्षया अन्तृतृमुक्तमिति । तथोक्तस्वात्मावभासरूपेष्वाति
स्वात्मप्रभाकरेषु रश्मिष्वित्यर्थः । व्याप्तत्वादिति ससम्बद्धत्वादित्यर्थः ॥
तस्य प्रत्यक्षत्वमाह । स एष इति ॥ वैश्वानर इति नरा जीवा विश्वे
च ते नराश्च विश्वानराः स एव वैश्वानरः सर्वजीवात्मक इत्यर्थः ।
विश्वरूपः सर्वप्रपञ्चात्मक इति भेदः । उक्तं वस्त्विति आदित्यस्योक्तं
माहात्म्यमित्यर्थः । विश्वरूपमित्यादिद्वितीयान्नानां सहस्ररश्मिरित्वा-
दिप्रयसान्नानां सामानाधिकरण्यादेरनान्यथायोगादध्याहारं कृत्वा वाक्या-
भेदेन व्याचष्टे । स्वात्मानमित्यादिना ॥ समिधुनमुत्पादयत इत्युपक्रान्तं
मिधुनमुपसंहरति । यश्चासाविति ॥ यश्चासौ चन्द्रमा यश्चामूर्त्तः प्रा-
णस्तदेकं मिधुनं सर्वं मर्वात्मकमित्यन्वयः । एतौ मे ब्रह्मधाः प्रजाः
करिष्यत इत्युक्तं तत्केन प्रकारेणेति पृच्छति । कथमिति ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिण-
ञ्चोत्तरञ्च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्यु-
पासते । ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त

यश्चासौ चन्द्रमा भूर्तिरन्नममूर्तिश्च प्राणोऽन्तादित्य-
स्तदेतदेकमेतन्मिथुनं कथं सर्वं प्रजाः करिष्यत इति ।
उच्यते तदेव । कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्य-
त्वात्संवत्सरस्य । चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यतिथ्यहोरात्रसमुदायो
हि संवत्सरस्तदनन्यत्वाद्रयिप्राणस्तन्मिथुनात्मक एवेत्यु-
च्यते तत्कथं तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गो द्वौ
दक्षिणं चोत्तरञ्च । द्वे प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणं
याभ्यां दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकस्मिणां
ज्ञानसंयुक्तकस्मैवताञ्च लोकान् विदधत् । कथं तत्र च
ब्राह्मणादिषु ये वैतदुपासत इति क्रियाविशेषणो द्विती-
यस्तच्छब्दः । इष्टञ्च पूर्त्तञ्च इष्टापूर्त्ते इत्यादि कृतसेवोपा-

रयिप्राणयोः सम्बत्सरादिद्वारा प्रजास्रष्टृत्वमित्याह । उच्यत इति ॥
तदेव मिथुनमेव संवत्सरः कालः । स च प्रजापतिः प्रजापत्यात्मकमि-
थुनं निर्वर्त्येत्यादिनेत्याह । तन्निर्वर्त्यत्वादिति ॥ तदुपपादयति । चन्द्रेति ॥
चन्द्रनिर्वर्त्येत्यास्तिथय आदित्यनिर्वर्त्याख्यहोरात्राणीति विभागस्तन्नि-
र्वर्त्यत्वेऽपि कालस्य कथं तदात्मतेत्याशङ्क्य कार्यकारणयोरभेदादि-
त्याह । तदनन्यत्वादिति ॥ न केवलं तिथ्यादिद्वारा चन्द्रादिनिर्वर्त्यत्वं
संवत्सरस्य किन्त्वयनद्वारापीति वक्तुं तस्यायने इत्यादिवाक्यं तत्प्रश्नपूर्वकं
व्याचष्टे । तत्कथमिति । चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यत्वं कुतो हेत्वन्तरादित्यर्थः ।
केवलकस्मिणां लोकान् विदधदक्षिणेन याति । ज्ञानयुक्तकस्मैवतां
लोकान् विदधदुत्तरेण यातोत्यन्वयः । सवितेत्युपलक्षणं चन्द्रस्यापि
ज्येष्ठादि दक्षिणायनं मार्गशीर्षीयुत्तरायणमिति श्रुतिषु प्रसिद्धेः ।
ततश्च कस्मिणां लोकान् विधातुं तयोर्दक्षिणोत्तराभ्यां यास्योत्तर-

एव पुनरावर्त्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजा
कामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रविर्यः
पितृयाणः ॥ ६ ॥

सते नाकृतं नित्यं ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि सवं प्रजापते-
र्मियुनात्मकस्यांशं रविमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूप-
त्वाच्चान्द्रमसस्य । तएव च कृतक्षयात्पुनरावर्त्तन्ते इमं
लोकं हीनतरं वा विशन्तीति ह्युक्तम् । यस्मादेवं प्रजा-
पतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्त्तयन्ति चन्द्रमिष्टापूर्त्तक-
र्माणा ऋषयः स्वर्गदृष्टारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो ष्ट-
हस्थाः । तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं
चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रविमन्नं यः पितृयाणः
पितृयाणोपलक्षितचन्द्रः ॥ ६ ॥

लोकस्थानां गमनात्तन्निमित्तत्वाच्चायनद्वयप्रसिद्धेस्तन्निर्वर्त्यत्वं तयोरन-
योरिति तद्द्वारा सम्बन्धरस्यापि तन्निर्वर्त्यत्वमित्यर्थः ॥ चन्द्रादित्ययोः
कथं लोकविधायकत्वमिति पृच्छति । कथमिति ॥ चन्द्रादित्यनिर्वर्त्य-
दक्षिणोत्तरायणद्वारा लोकप्राप्तेः प्राप्यस्य लोकस्यापि चन्द्रादित्यात्म-
कत्वाच्च तयोस्तद्विधायकत्वमिति तद्ये ह वा इत्यादिवाक्येन परि-
हरति । तत्तत्वेति ॥ इष्टञ्चेति ॥ अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुप-
लम्भनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते । वापीकूपतडागादि-
देवतायतनानि च । अन्नप्रदानसारासः पूर्त्तमित्यभिधीयत इत्यभयोर्भेदः
कृतमिदं पासत इति । कृतशब्दोपरितनमिति शब्दमिष्टापूर्त्तं इति पूर्त्त-
शब्दोपर्याकृत्यादिशब्दपर्यायतया व्यावष्टे । इत्यादीति ॥ दत्तमादि-
शब्दार्थः । कृतमेवोपासते कार्यमेवानुतिष्ठन्तीत्यर्थः । इदञ्च विशेषणं
पुनरावर्त्तौ हेतुतयोक्तम् । कृतरूपेणादिजन्यत्वाच्चन्द्रस्यापि कृतत्वेना-
नित्यत्वात्पुनरावर्त्तत्वरित्याह । कृतरूपत्वादिति ॥ पुनरावर्त्तौ मन्त्रवाक्यं
प्रमाणायति । इमं लोकमिति ॥ ६ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया
विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद्वै
प्राणानामायतनमेतददृष्टमभयमेतत् परायण-
मेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते इत्येष निरोधस्तदेष
श्लोकः ॥१०॥

अथोत्तरेणायनेन प्राजापत्यं प्राणसत्तारमादित्यमभि-
जयन्ते । केन । तपसा इन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण
श्रद्धया विद्यया च प्रजापत्यात्मविषययात्मानं प्राणं सूर्यं
जगतस्तस्युषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वाऽऽदित्यमभिजय-
न्तेऽभिप्राप्नुवन्ति एतद्वै आयतनं सर्वप्राणानां सामान्य-
मायतनमाश्रयः एतददृष्टमविनाशि अभयम् अत एव
अभयवर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिभयवदेतत्परायणं पराग-
तिर्विद्यावतां कस्मिणाञ्च ज्ञानवतामेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते
ययेतरे केवलकस्मिण इति यस्मादेषोऽविदुषां निरोध
आदित्याद्विनिरुद्धा अविद्वांसो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं

अथेति मार्गान्तरारम्भाद्यौष्ठशब्दः । प्रजापत्यात्मविषयेति तत्तादात्म्य-
विषयेत्यर्थः ॥ आदित्यमभिजयन्त इति पूर्वजन्यवार्थमुक्तमिदानीं व्याख्या-
नार्थमिति द्रष्टव्यम् । सामान्यमिति समष्टिरूपमित्यर्थः । विद्यावतामिति
कस्मान्निधिकांरिणाम् अतएव केवलोपासनवतामित्यर्थः । कस्मिणाञ्च
ज्ञानवतामिति समुच्चयवतामित्यर्थः । ननु केवलकस्मिणामस्यादित्य-
प्राप्तावपुनरावर्त्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषामादित्यप्राप्तिरेव नास्तीति
वक्तृमित्येष इति वाक्यं व्याचष्टे । इति यस्मादिति ॥ तस्मात्तेषामादित्य-
प्राप्तिरनाशङ्केति शेषः । यद्वा तस्यायने इत्यारभ्य इत्येष इति ।
अतः अतिवाक्यमनयोः रयिप्राणरूपत्वप्रतिपादनपरतया व्याख्येयम् ।

आहि संवत्सरस्य रयिप्राणमिष्टुननिर्वर्त्यते रयिप्राणरूपत्वञ्च वक्तव्यं

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः
परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ परे विच-

प्राणसभिप्राप्नुवन्ति । स हि संवत्सरः कालात्मा ऽविदुषां
निरोधः । तत्तत्तास्मिन्नर्थ एष लोको मन्त्रः ॥ १० ॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदि-
त्यस्य तैरसौ पादैरिवर्तुर्भिवर्तते । हेमन्तशिशिरावेकी-
कृत्येयं कल्पना । पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य
द्वादशमासा ऋतवोऽवयवा आकरणं वा अवयविकरण-
मस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवः कालोकात्परे
ऊर्ध्वं ऊर्ध्वस्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः । पुरीषिणं पुरी-
षवन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः । विचक्षणं निपुणं
सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपे चक्रे सततं गतिकालात्मनि-

तत्कथमिति पृच्छति । कथमिति ॥ तदवयवयोरनयोस्तद्रूपत्वं वक्तुं
तयोः प्रथमं प्रसिद्धिमाह । तस्येति ॥ प्रसिद्धिमेवाह । यास्यामिति ॥
एवमपि कथं तयोस्तदात्मकत्वमित्याह । कथमिति ॥ दक्षिणायनस्य
रयित्वं वक्तुं कर्म्मिणां रयिरूपचन्द्रनिर्वर्तकत्वमाह । तत्तत्वेति ॥
लोकमिति सोमरूपं शरीरमित्यर्थः ॥ तस्य कर्म्मकृतत्वं पुनरावृत्त्या साध-
यति । कृतरूपत्वादिभिः ॥ रयिरूपचन्द्रस्य दक्षिणायनद्वारा प्राप्यत्वान्त-
स्यायनस्य तदन्तर्भाव इति वक्तुं तस्य कर्म्मभिः प्राप्यत्वमाह । यस्मा-
दिति ॥ एवञ्चेत्तस्य रयित्वं सिद्धमित्याह एष इति ॥ १० ॥

पितृयाणोपलक्षित इति तत्राप्य इत्यर्थः । ततश्च तद्विशेषणस्या-
यनस्यापि रयित्वमित्यर्थः । इदानीमुत्तरायणस्य प्राणत्वमाह । अथेति ॥
प्राणरूपादित्यप्रापकत्वादुत्तरायणस्य तस्यापि प्राणत्वमिति संवत्सरस्य
रयिप्राणमिधुनात्मकत्वमिति तत्कार्यत्वं युक्तमिति भावः ॥ अस्य कर्म्म-
साध्यचन्द्रवैलक्षण्यमाह । एतद्वा इति ॥ इतरमर्धे समानम् ॥ इति

क्षणं सप्तचक्रे षडर आङ्गरर्पितमिति ॥११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः

षडरे षडृतुमिति आङ्गः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति ।
अर्पितमरा इव रयनाभौ निविष्टमिति । यदि पञ्चपादो
द्वादशाकृतियेदि सप्तचक्रः षडरः सर्वथापि संवत्सरः
कालात्मा प्रजापतिश्चन्द्रादित्यलक्षणेऽपि जगतः कारणं
॥११॥

अस्मिन्निदं श्रितं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः
स्वावयवे मासे कृतस्तः परिसमाप्यते । मासो वै प्रजापति-

न्नर्थे इति संवत्सरस्वरूप इत्यर्थः । इयं कल्पनेति पञ्चधा कल्पनेत्यर्थः ।
जनयितृत्वादिति संवत्सरात्मककालस्य सर्वजनकत्वादित्यर्थः ॥ सामाना-
धिकरणवज्जब्रीहितया व्याख्या व्यधिकरणवज्जब्रीहिर्वेत्याह ।
आकरणं वेति ॥ अवयविकरणमित्यवयवित्वेन करणमित्यर्थः । पक्षद्वये-
ऽप्येक एवार्थः । क लोकादिति ॥ आकाशरूपादन्तरिक्षलोकादित्यर्थः ।
अन्यथा स्वर्गलोकात्परस्य चतुर्थत्वेन तृतीयस्यामित्यनन्वयापत्तेः ।
उदकवन्तमिति आदित्याज्जायते वृष्टिरिति स्मृतैरित्यर्थः । अन्ये इत्या-
पर्वार्द्धगतेमाङ्गरित्यनेन सम्बन्धः । उ इति तु शब्दसमानार्थे निपातः
परे तु तमेव विचक्षणमाङ्गरित्यन्वयः ॥ किमाङ्गरित्यत आह । सप्तच-
इति ॥ तस्मिन्विचक्षणे सप्तचक्राद्यात्मके सर्वमिदं जगदर्पितमित्याङ्ग-
रित्यर्थः । मतद्वयेऽपि कीदृशोऽर्थभेद इत्यत आह यदीति ॥ पूर्वमते
ऋतूनां पादत्वकल्पनया मासानामवयवत्वकल्पनया, २२दित्यात्मना
संवत्सरः काल एवोक्तः । द्वितीये तु हेमन्तशिशिरौ पृथक्कृत्य पश्चान्तरू-
नामरत्वकल्पनया संवत्सरस्य परिवर्त्तनगुणयोगेन चक्रत्वकल्पनया
कालप्राधान्येन सर्वान्नयत्वेन च स एवोक्तः । पक्षद्वयेऽपि गुणभेदेन
कल्पनाभेदेन च भेदो न धर्म्मिभेद इत्यर्थः ॥ ११ ॥

कारणत्वे श्लोकोक्तं जगदाश्रयत्वं हेतुमाह । यस्मिन्निति ॥

शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं
कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

यथोक्तलक्षण एव । मिथुनात्मकस्तस्य मासात्मनः प्रजापते-
रेको भागः कृष्णपक्षो रयिरन्नं चन्द्रमा अपरो भागः ।
शुक्लः शुक्लपक्षः प्राण आदित्योऽन्ताग्निर्वस्माच्छुक्लपक्षात्मानं
प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति तस्मात्प्राणदर्शिनः । एते ऋषयः
कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्तः शुक्लपक्ष एव कुर्वन्ति प्राण-
व्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मादितरे तु प्राणं न
पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति । इतरदित-
रस्मिन् कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि
॥१२॥

संवत्सरस्यापि मासाहोरात्ररूपव्यतिरेकेणौषधादिजनकत्वाभावात्तस्य
मासाद्यात्मकत्वमाह । स एवेति ॥ यथोक्तेति संवत्सररूपो रयिप्राण-
मिथुनात्मक इत्यर्थः । शुक्लकृष्णयोरपि दर्शपूर्णमासादिकस्मिन्नुद्धानदर्श-
त् ॥ तस्मादेते ऋषय इत्यादिवाक्यमनुपपन्नमित्याशङ्क्य शुक्लस्य प्राणा-
त्त्वज्ञानस्तुतिपरतया व्याचष्टे । यस्मादिति ॥ यस्मात्प्राणं सर्वमेव
व्यात्मकमेव पश्यन्ति यस्माच्च प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते
तस्मादित्यन्वयः । प्राणस्य शुक्लपक्षात्मकत्वात्कृष्णपक्षादिसर्वजगतः
प्राणात्मत्वात्प्राणद्वारा कृष्णपक्षस्यापि शुक्लपक्षत्वे सति कृष्णे कुर्वन्तो-
ऽपि प्रकाशात्मके शुक्ले एव कुर्वन्तीति शुक्लपक्षे प्राणत्वज्ञानस्य स्तुति-
रित्यर्थः ॥ एतत् स्तुत्यर्थमेव ज्ञानरहितान्निन्दति । इतरे त्विति ॥ वे तु
सर्वात्मानं प्राणं न पश्यन्त्यज्ञत्वात्तेषां शुक्लपक्षः प्राणत्वेनाज्ञानान्वादा-
ज्ञानात्मकः सन् कृष्णपक्षत्वमार्पयते अतः शुक्ले कुर्वन्तोऽपि अदर्शना-
त्मकत्वात्प्रकाशरहिते कृष्णे एव कुर्वन्तीति ते निन्द्यन्त इत्यर्थः ॥
उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं करोति । इतर इति ॥ १२ ॥

अहोरात्रौ वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो
रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ।
ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्य-
द्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्त-

सोऽपि मासाला प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परि-
समाप्यते । पूर्ववत् । तस्याप्यहरेव प्राणोऽन्ताऽग्नीरात्रि-
रेव रयिः पूर्ववत् प्राणमहरात्मानं वै एते प्रस्कन्दन्ति
निर्गमयन्ति शोषयन्ति वा स्वात्मनो विच्छिद्याऽपनयन्ति।
के । ये दिवाऽर्हान् रत्या रतिकारणभूतया सह स्त्रिया
संयुज्यन्ते मिथुनमैथुनमाचरन्ति मूढाः । यत एवं तस्मा-
त्तन्न कर्त्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः । यद्रात्रौ संयु-
ज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ
भार्यागमनं कर्त्तव्यमिति । अयमपि प्रासङ्गिको विधिः ।
प्रकृतन्तूच्यते सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहियवाद्य-
न्नात्मना व्यवस्थितः ॥१३॥

एवं क्रमेणाहोरात्रः प्रजापतिरन्ने विपरिणम्यते अन्नं
वै प्रजापतिः । कथम् । ततस्तस्माद् वै रेतो नृवीजं तत्प्रजा

रयिः पूर्ववदिति । रयिरन्नं चन्द्रमा इत्यर्थः । अहः प्राणत्वोक्ति-
प्रसङ्गादह्नि मैथुनं निषेधति । प्राणमिति ॥ कृतमिति ॥ कुतो ह वा
इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति पृष्टमित्यर्थः । पूर्वीक्तं सर्वमेतदुपयोगितयोक्तं
न तु साक्षात्प्रकृतमिति भावः ॥ १३ ॥

एवं क्रमेणेति रयिप्राणसंवत्सरादिक्रमेण परिणम्य व्रीह्याद्यात्मना

स्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

तद्ये ह तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमु-
त्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो
ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः
प्रजाः प्रजायन्ते यत्पृष्ठं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति ।
तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्तेनान्तरेतो-
द्वारेणैमाः प्रजाः प्रजायन्त इति निरूपितम् ॥१४॥

तत्तत्तैवं सति ये गृहस्था ह वै इति प्रसिद्धस्मरणार्थं
निपातौ । तत्प्रजापतेर्व्रतम् । ऋतौ भार्यागमनं चरन्ति
कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम् । किम् । ते मिथुनं पुत्रं दुहि-
तरञ्चोत्पादयन्ते । अदृष्टञ्च फलमिष्टापूर्त्तदत्तकारिणां
तेषामेव । एष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयानलक्षणा
येषां तपः स्नातकव्रतादीनि ब्रह्मचर्यम् । ऋतावन्यत मैथु-
नासमाचरणं ब्रह्मचर्यम् । येषु च सत्यमदृतवर्जनं प्रति-
ष्ठितमव्यभिचारितया वर्त्तते ॥१५॥

व्यवस्थितः सन् अन्नं वै प्रजापतिरन्नात्मको जातः प्रजापतिरित्यन्वयः ।
कथमिति ॥ अन्नरूपत्वेऽपि तस्य कथं प्रजाजनकत्वमित्यर्थः । तत इति
भक्षितादन्नादित्यर्थः । रेत इति ॥ शोणितस्याप्युपलक्षणं तत्त्वत्वादिति ।
प्रजापतिव्रताचरणमात्रेणादृष्टफलं चन्द्रलोकः प्राप्यते मूर्खाणामपि
प्रसङ्गादत आह । इष्टापूर्त्तं ॥ चान्द्रमसो ब्रह्मलोक इत्यपरब्रह्मणः
प्रजापतेरंशत्वादित्यरूपस्य चन्द्रस्य ब्रह्मलोकत्वमित्यर्थः । इष्टादिका-
रिणां तप आदिकमपि चन्द्रलोकप्राप्तरर्थमपेक्षितमित्यत आह । येषां
तप इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु
जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

इति प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो
विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्भ्रजस्वलो वृद्धिचया-
दियुक्तोऽसौ । केषां तेषामित्युच्यते । यथा गृहस्थ्या-
नामनेकविरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्मं कौटिल्यं
वक्रभावोऽवश्यम्भावि । तथा न येषु जिह्मम् । यथा च
गृहस्थानां क्रीडादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं तथा न येषु
तत्तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते । माया नाम
वहिरन्यथात्मनं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया
मिथ्याचाररूपा । मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु
ब्रह्मचारिवानप्रस्यभिच्छुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्त्वा-
धनानुरूपेणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा ज्ञान-
युक्तकर्मवतां गतिः । पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां
चन्द्रलोक इति ॥१६॥ इति प्रथमः प्रश्नभाष्यं समाप्तम् ॥१॥

तेषामसौ विरज इत्यादिवाक्य व्याचष्टे । यस्त्विति ॥ उत्तरायण
इति । तेन प्राप्य इत्यर्थः । प्राणात्मभावोऽपरब्रह्मतथाऽवस्थानमित्यर्थः ।
असौ केषां तेषामिति तेषामसौ विरज इत्यत्र तेषामित्यनेन केषां
निर्द्देश इति प्रश्नार्थः । न येषु जिह्ममित्यत्र जिह्मादिशब्दं व्यतिरेक-
प्रदर्शनेन व्याचष्टे । यथेत्यादिना ॥ मायाग्रहणं तादृशानां दोषाणा-
मुपलक्षणमिति वदन् वाक्यार्थं सङ्गृह्य दर्शयति । मायेत्येवमिति ॥
भिच्छुष्विति परमहंसव्यतिरिक्तानां कुटीचराणां ग्रहणम् । तेषां ब्रह्म-
लोकादपि विरक्तत्वेन तत्त्वानर्थितत्वात् ॥ इति शब्दार्थमाह । इत्येवेति ॥

ॐ इति प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भग-
वन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर
एतत् प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति
॥१॥

प्राणोऽन्ता प्रजापतिरित्युक्तम् । तस्य प्रजापतित्वमन्तत्वं
आस्मिञ्चरीरेऽवधारयितव्यमित्ययं प्रश्नश्चारभ्यते । अथा-
नन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । हे भगवन्
कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण
धारयन्ते ॥ कतरे बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानामेतत्प्रका-
शनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते । कोऽसौ पुनरेषां
वरिष्ठः प्रधानः कार्यकारणलक्षणानामिति ॥ १ ॥

प्रश्नान्तरस्यैतेन प्रश्नेन सङ्गतिमाह । प्राणोऽन्तेति ॥ अवधारयित-
व्यमिति ॥ अन्ता विश्वस्य सत्यतिरित्यन्तृत्वस्यैषोऽग्निस्तपतीत्यारभ्यारा
इव रथनाभौ प्राणे सर्वे प्रतिष्ठितम् । प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव
प्रतिजायस इत्यादिना च प्रजापतित्वस्योत्तरत्वं वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः ।
इदमुपलक्षणं पूर्वं गतिश्रवणेन विरक्तस्यापि चित्तैकाग्र्यं विना वक्ष्य-
माणात्मना सिद्धेस्तदर्थं मन्दानां फलविशेषार्थं च प्राणोपासनार्थं प्रश्न-
द्वयारम्भः । तत्रापि अष्टत्वात्तत्त्वप्रजापतित्वादिगुणनिर्द्धारणार्थं
द्वितीयः प्रश्नः । तदुत्पत्त्यादिनिर्द्धारणपूर्वकं तदुपासनविधानार्थं
तृतीयः प्रश्न इत्यपि द्रष्टव्यम् । प्रजाशब्देन शरीरमेव गृह्यते न जीव-
स्तस्य प्राणधारकत्वेन तद्वार्थत्वाभावादित्याह । शरीरेति ॥ विभक्ता-
नामिति निर्द्धारणे पृष्टी । समाहात्म्यप्रख्यापनमिति अवकाशदानादि
कमाकाशादीनां माहत्म्यं तस्य ख्यापने तस्य लोकान् प्राति प्रकटनं
तत्प्रकाशयन्ते कुर्वन्तीत्यर्थः । पाकं पचतीति वदवकाशदानादिकं स्वस्व-
कार्यं सर्वं लोकप्रकटनं यथा तथा कतरे कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो
वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चाज्जः श्रोत्रञ्च ।
ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्वाणामवष्टभ्य
विधारयामः ॥२॥

एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच ॥ आकाशो ह वा एष
देवो वायुरग्नि रापः पृथिवीत्येतानि पञ्च महाभूतानि
शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रमित्यादीनि कर्म्मो-
न्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि च शरीरं धारयन्ते । तन्मध्ये कर्म्मो-
न्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि शरीरे स्वमाहात्म्यख्यापनं प्रकाशयन्ते
कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च ते देवा आत्मनो माहात्म्यं
प्रकाश्याभिवदन्ति स्पर्द्धमानाः श्रेष्ठतायै । कथं वदन्ति ।
वयमेतद्वाणं शरीरं कार्यकारणसङ्घातमवष्टभ्य प्रासादमिव
स्तम्भादयोऽविशिष्टिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धार-
यामः । मयैवैकेनायं सङ्घातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः
॥ २ ॥

एष देव इति वक्ष्यमाणाभिवदनादिव्यवहारसिद्धार्थं चेतनत्वं
सम्भावयितुं देव इति विशेषणम् । अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषणानु-
गतिभ्यामिति न्यायेनाकाशाद्यभिमानिदेवताग्रहणार्थम् । तच्च विशेषणं
वाष्पादिष्वपि सर्वत्र सम्बध्यते । वाग्यग्रहणं कर्म्मोन्द्रियोपलक्षणार्थम् ॥
चक्षुरादिग्रहणं ज्ञानेन्द्रियोपलक्षणार्थमिति सत्वाह । कर्म्मोन्द्रियेति
कार्यलक्षणाः शरीराकारेण परिणता आकाशादयः । करणलक्षणानी-
न्द्रियाणि माहात्म्यमिति आकाशादीनामवकाशदानादिरूपं शरीरधार-
णैकदेशात्मकं प्रकाश्यं स्वकार्यं प्रकाश्यं सर्वलोकप्रकटं यथा तथा कृत्वा-
भिवदन्ति अभितः सर्वतः कृत्स्नं शरीरधारणं प्रत्येकं वयमेव कुर्म इति
वदन्तीत्यर्थः । वाणमिति ॥ बातीति वक्त्रोरभेदाद्वा । तति

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोह-
मापद्यथाऽहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यै-
तद्वाणामवष्टभ्य विधारयामीति ॥३॥

तेऽश्वहधाना बभूवुः सोऽभिमानादुर्ध्व-
मुत्क्रामत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवो
त्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव-
प्रतिष्ठन्ते । तद्यथा मल्लिका मधुकरराजा

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठः प्राणो मुख्य उवाचोक्त-
वान् । मा मैवं मोहमापद्य अविवेकतयाऽभिमानं मा
कुरुत यस्मादहमेवैतद्वाणामवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधा
ऽत्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधार-
यामीति ॥ ३ ॥

इत्युक्तवति चास्मिँस्तेऽश्वहधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवुः
कथमेतदेवमिति । स च प्राणः तेषामश्वहधानतामाल-
क्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रामत इवोत्क्रामति इवेदमुत्क्रान्तवा-
निव सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृतं तद्दृष्टा-
न्तेन प्रत्यक्षीकरोति । तस्मिन्नुत्क्रामति सति अयानन्तरमे-
वेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्ते उत्क्रामन्ति

कुलितं गन्धं वहतीति वा । विनाशं गच्छतीति वा । देशादेशान्तरं
गच्छतीति वा वाणम् । वाणमिव वाणं कार्यकरणसङ्घातं शरीरमि-
त्यर्थः ॥२॥

कथमेतदिति । एतत्तु अहमेवैतदित्याद्युक्तम् । एवं यथाभूतं
कथमित्यर्थः ॥३॥

उत्क्रान्तवानिवेति ॥ अत्यन्तोत्क्रान्त्यभावादिवशब्दः । निरपेक्ष
इति स्वयमेवेत्यर्थः । दृष्टान्तेनेति तत्र यथेति व क्षमणेनेत्यर्थः ॥४॥

नमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च
प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मन
श्चक्षुः श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥४॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो
मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदस-
श्चामृतञ्च यत् ॥५॥

उच्चक्रमुः । तस्मिँश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवत्यनुत्क्रा-
मन्ति सति सर्वे एव प्रतिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभवन् ।
तद्यथा लोके मल्लिका मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजा-
नमुत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठ-
माने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते प्रतिष्ठन्ति । यथाऽयं दृष्टान्त
एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रञ्चेत्यादयस्त उत्सृज्यामृद्धानतां
बुद्ध्या प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥ ४ ॥

कथमेष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति । तथैष सूर्यः
सन् प्रकाशते । तथैष पर्जन्यः सन् वर्षति । किञ्च मघवा-
निन्द्रः सन् प्रजाः पालयति जिघांसत्यसुररक्षांसि । एष
वायुरावहप्रवाहादिभेदः । किञ्चैष पृथिवी रयिर्देवः
सर्वस्य जगतः सन् मूर्तमसदमूर्तश्चामृतञ्च यद्देवानां
स्थितिकारणं किञ्च वज्रना ॥ ५ ॥

सूर्यः सन्निति तपतोत्यनुषङ्गः । सन्तापयतीत्यर्थः । आवहप्रवा-
हादीत्यावहादयः सप्त वायुगुणास्तथा भूतः सन्नेधान् ज्योतिश्चक्रा-
दात् वहतीति शेषः । एष देवः पृथिवी सन् सर्वस्य जगतो धार-
यिता । रयिश्चन्द्रः सन् सर्वं पुष्पातीत्यर्थः । श्रद्धादीति ॥ प्राणाच्छु-
द्धात् खं वायुर्ज्योतिराप इत्यादिना वक्ष्यमाणोऽप्रज्ञात्मक इत्यर्थः

अरा इव रयनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
 ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च
 ॥६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ।
 तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा वलिं हरन्ति यः प्राणौः
 प्रतितिष्ठसि ॥७॥

अरा इव रयनाभौ शुद्धादिनामान्तं सर्वं शरीरं
 स्थितिकाले प्राणे प्रतिष्ठितम् । तथा ऋचो यजूंषि सामा-
 नीति त्रिविधा मन्वास्तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रञ्च सर्वस्य-
 पालयित ब्रह्म च यज्ञादिकस्मीकटत्वेऽधिकृतञ्चैवैष प्राणः
 सर्वम् ॥ ६ ॥

किञ्च । यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि पितु-
 र्मातुश्च प्रति पतिरूपः सन् प्रतिजायसे प्रजापतित्वादेव
 प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वं सर्वदेहदेह्याकृतिच्छन्न
 एकः प्राणः सर्वात्मासीत्यर्थः । तुभ्यं त्वदर्थाय इमा मनु-
 ष्याद्याः प्रजाः तु हे प्राणश्चक्षुरादिद्वारैर्वलिं हरन्ति ।
 यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वत-
 स्तुभ्यं वलिं हरन्तीति युक्तम् । भोक्ता हि यस्त्वं तवैवान्य-
 त्सर्वं भोज्यम् ॥ ७ ॥

ब्रह्म चेति ब्राह्मणजातिरित्यर्थः ॥ चशब्दार्थमाह । यज्ञादीति ॥
 अधिकृतं सर्वमेवेत्यन्वयः ॥ ६ ॥

किञ्चेति यः प्रजापतिर्विराट् सोऽपि त्वमेवेत्यन्वयः । पितुर्गर्भे
 रेतोरूपेण मातुर्गर्भे पुत्ररूपेण यश्चरति यश्चानयोरेव पतिरूपः सन्
 सदृशः सन् यः प्रजायते स त्वमेव प्रजायस इत्यन्वयः प्रतिशब्दार्थः
 उक्तः पतिरूप सन्निति ॥ ननु प्राणस्य पुत्ररूपत्वमेवोक्तं न तु पितृ-

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा
स्वधा । ऋषीणाञ्चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसा
मसि ॥ ८ ॥

इन्द्रन्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परि-
रक्षिता । त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं
ज्योतिषाम्पतिः ॥ ९ ॥

किञ्च देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमः
हविषां प्रापयित्तमः । पितृणां नान्दीमुखे आद्वे या पितृ-
भ्यो दीयते स्वधाऽन्नं सा देवप्रदानमपेक्ष्य प्रथमा भवति ।
तस्या अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः । किञ्च ऋषीणां
चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसामङ्गिरसभूतानामथर्वणां
तेषामेव प्राणो वा ऽथर्वा इति श्रुतेः । चरितं चेष्टितं सत्य-
मवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि ॥ ८ ॥

किञ्चेन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण तेजसा वीर्येण ।
रुद्रोऽसि हरन् जगत् । स्थितौ च परि समन्ताद्रक्षिता
पालयिता परिरक्षिता त्वमेको जगतः सौम्येन रूपेण ।
त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च
सर्वेषां ज्योतिषाम्पतिः ॥ ९ ॥

मातृरूपत्वं तत्कस्मादत आह । प्रजापतित्वादेवेति । तस्य सर्वात्मत्वा-
दित्यर्थः ॥ निष्कृष्टार्थमाह । सर्वदेहेति । अत्रापि निष्कृष्टार्थमाह ।
भोक्ता हीति । अतस्तत्रैवेत्यतः शब्दाध्याहारेण योज्यम् ॥ ७ ॥

हविषां प्रापयित्तम इति ॥ वह्निमन्दा वहनाच्चह्निरिति यौगिक
इत्यर्थः । प्रथमा भवतीति यज्ञादिदेवकर्मणि प्रथमं नान्दीमुख आद्व-
स्यावश्यकत्वं व्यक्तात्मा प्रथमेत्यर्थः । ऋष गताविति धातोर्ज्ञानार्थत्वा-

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायानं भविष्य-
तीति ॥ १० ॥

ब्राह्मस्वः प्राणैककृत्पिरन्ता विश्वस्य

यदा पर्जन्यो भूत्वाभिवर्षसि त्वम् अथ तदान्नं प्राप्येमाः
प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तोत्ययः । अथवा प्राण ते
तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्द्धितास्त्वदभिवर्षण-
दर्शनमात्रेण चानन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यस्तिष्ठन्ति ।
कामाय इच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः ॥ १० ॥

किञ्च प्रथमजत्वादित्यस्य संस्कृत्तुरभावादसंस्कृतो ब्रा-
ह्मस्वः स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः । हे प्राण एककृत्पि-
स्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामाऽग्निः सन्नन्ता सर्वह-
विषाम् । त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य सप्तो विद्यमानस्य पतिः
सत्पतिः । साधुर्वा पतिः सत्पतिः । वयं पुनराद्यस्य
तवादनीयस्य हविषो दातारः । त्वं पिता मातरिष्वनो-

दपिशब्दस्य ज्ञानजनकचक्षुराद्यर्थत्वमित्यर्थः । अङ्गिरसभूतानामिति ॥
प्राणाभावेऽङ्गानां शोषदर्शनात्तेषामङ्गिरसत्वमित्यर्थः । मुख्यप्राणस्या-
थर्वत्वम् अतर्भहितं यद्यपि तथापि चक्षुरादिनामपि तदंशत्वादथ-
र्वशब्दार्थत्वमिति भावः । इहेन्द्रशब्देन परमेश्वरत्वमुच्यते सध्वानि-
त्यनेन त्विन्द्र उक्त इति भेदमाह । इन्द्रः परमेश्वर इति ॥ वीर्येण
संहारसामर्थ्येनेत्यर्थः । सौम्येनेति विष्णादिहृषेणेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

असंस्कृत इति । संस्कारहीनो ब्राह्म इति स्मृतेरित्यर्थः । अनेन

सत्यतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरि-
रिष्व नः ॥११॥

या ते तनून्वाचि प्रतिष्ठिता या ओले
या च चक्षुषि । या च मनसि सन्तता शिवां
तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।

ऽस्माकम् । अथवा मातरिष्वनो वायोऽस्मत् । अतश्च सर्व-
स्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम् ॥ ११ ॥

किं वज्जना । या ते त्वदीया तनून्वाचि प्रतिष्ठिता
वक्तृत्वेन वदनचेष्टां कुर्वतो + या ओले या च
चक्षुषि या मनसि सङ्कल्पादिव्यापारेण सन्तता समनुगता
तनून्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेनाशिवां
माकाषीरित्यर्थः ॥ १२ ॥

किं वज्जना । अस्मिन्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं
यत्किञ्चिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रति-

स्वतः शुद्धत्वं विवक्षितमित्याह । स्वभावत एवेति ॥ मातरिष्वेति
मातरिष्व इत्यत्र नलोपश्चान्दस इत्यर्थः । वायोस्त्वमिति पितेत्यनु-
पङ्गः । अस्मिन्व्याख्याने वायुभावपितृत्वादस्मादादिसर्वपितृत्वमनुक्तं
स्यादत आह । अतश्चेति ॥ अस्यदादिसर्वजनकत्वाद्वायोस्तज्जनक-
स्याकाशात्मनः प्राणस्य सर्वजनकत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ वाचि प्रतिष्ठि-
तेति ॥ वाच्यपानरूपा तनूः प्रतिष्ठिता । ओले व्यानरूपा । चक्षुषि
प्राणरूपा ॥ मनसि समानरूपा । स प्राणस्तच्चक्षुः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं
सोऽपानः सा वाक् स समानस्तन्मन इति श्रुतेरित्यर्थः । उक्तक्रमणेति
प्राणोत्क्रमणे सत्यपानाद्यात्मिका वागादिरूपा तनूः अशिवा कार्या-

मातेव पुत्रानृक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञाञ्च विधेहि न
इति ॥ १३ ॥ इति द्वितीयप्रश्नः ॥ २ ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ ।
भगवन् कुत एष प्राणो जायते कथमायात्य-

ष्ठितं देवाद्युपभोगलक्षणं तस्यापि प्राण एव ईशिता र-
क्षिता । अतो मातेव पुत्रानृक्षान्वक्षस्व पालयस्व । त्वन्नि-
मित्ता हि ब्राह्मणः चातियाश्च श्रियस्तासु श्रीश्च प्रज्ञाश्च
त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्वेत्यर्थः । इत्येवं
सर्व्वाल्लना यो वागादिभिः प्राणैः सुत्यागमितमहिमानः
स प्रजापतिरेवेत्यवधृतम् ॥ १३ ॥

इति द्वितीयप्रश्नभाष्यम् ॥ २ ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । प्राणैर्ह्येवं
निर्द्धारिततत्त्व उपलब्धमहिमाऽपि संहतत्वात् स्यादस्य
कार्यत्वमतः पृच्छामि । भगवन् कुतः कस्मात्कारणादेष
यथावधृतः प्राणो जायते । जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषे-
णायात्यस्मिच्छरीरे । किन्निमित्तकमस्य शरीरग्रहणमि-

योग्या स्यादित्यर्थः । ब्राह्मण इत्यृगादिमन्त्ररूपा ब्राह्मणः श्रियः
ऋचः सामानि यजूंषि । सा हि श्रीरष्टता सतामिति श्रुतेः । चात्वरः
प्रसिद्धा धनाद्यैश्चर्यरूपाः । अस्मिन्प्रश्ने निर्द्धारितं गुणं सङ्गृह्याह ।
इत्येवमिति ॥ इदं वरिष्ठत्वादेरुपलक्षणम् ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

इति द्वितीयप्रश्नभाष्यटीका ॥ २ ॥

एवं प्रजापतित्वात्तृत्वादिसृष्टजातं निर्द्धार्य प्राणस्योत्पत्त्यादि
निर्द्धारयन् तदुपासनां विधातुं प्रश्नान्तरमवतारयति । अथेति ॥ वैद-
र्भिप्रश्नान्तरमित्यर्थः । प्राणैरिति यैर्वागादिप्राणैराकाशादिभिश्च प्रा-

स्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्राति
ष्ठते केनोत्क्रमते कथं वाह्यमभिधत्ते कथम
ध्यात्ममिति ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाति प्रश्नान् पृच्छसि
ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा

त्यर्थः । प्रविष्टश्च शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं
कृत्वा कथं केन प्रकारेण प्रतिष्ठते प्रतितिष्ठति । केन वा
वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरादुत्क्रमते उत्क्रामति । कथं वा-
ह्यमभिभूतमधिदैवञ्चाभिधत्ते धारयति । कथमध्यात्ममिति
धारयतीति शेषः ॥ १ ॥

इत्येवं पृष्टस्तस्मै स होवाचार्यः । प्राण एव तावद्-
र्विज्ञेयत्वाद्विषमप्रश्नार्हस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतो-
ऽतिप्रश्नान् पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसीत्यतिशयेन त्वं ब्रह्मवि-
दतस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं प्रब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु ॥ २ ॥

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्मत्वादेवैष उक्तः प्राणो

णस्य तत्त्वमुपलब्धं तैरित्यर्थः । प्राणस्य पूर्वोक्तमहिमत्वादिदेवोत्पत्ति-
शङ्काभावात्कुत इति प्रश्नानुपपत्तिमाशङ्क्य । अपि संहतत्वादिति ॥
अनेकात्मकत्वात्प्राणवत्त्वादित्यर्थः । शरीरग्रहणमिति शरीरप्रवेश
इत्यर्थः । प्रातिष्ठत इत्यङ्गप्रश्लोषादीर्घत्वम् ॥ विषमेति विषमं दुर्घटं
यथा प्रश्नार्हमित्यर्थः । अतिप्रश्नानिति त्वद्वद्व्येषां प्रश्नानतिक्रान्तान-
न्यदीयप्रश्नागोचराण् सूक्ष्मप्रश्नान् पृष्टव्यार्थानित्यर्थः । अतिशयेनेत्य-
पेक्षयाऽतिशयितं मुख्यम् ॥ ब्रह्मविदिति प्रोत्साहार्थं स्तौतीति भावः
॥ १ ॥ २ ॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुष अक्षरात्परतः परः । एतस्माज्जायते प्राण

पुरुषे कायैतस्मिन्नेतदाततं मनोऋतेनायात्य
स्मिञ्छरीरे ॥ ३ ॥

यथा सम्नाडेवाधिक्षतान्विनियुङ्क्ते ।

एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष

जायते । कथमित्यत्र दृष्टान्तः । यथा लोके एषा पुरुषे
शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते काया नैमित्तिकी जायते
तद्वदेतस्मिन् ब्रह्मण्येतत्प्राणाख्यं कायास्थानीयमव्यतरूपं
तत्त्वं सत्ये पुरुषे आततं समर्पितमित्येतत् । कायैव देहे
मनोऋतेन मनः ऋतेन मनःसङ्कल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मणि-
मित्तेनेत्येवमिति हि पुण्येन पुण्यमित्यादि । तदेव सत्ताः
सह कर्मण्येति च श्रुत्यन्तरात् । आयात्यागच्छत्यस्मिञ्छ-
रीरे ॥ ३ ॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्नाडेव ग्रामादिष्व-
धिक्षतान्विनियुङ्क्ते । कथम् । एतान् ग्रामानेतान् ग्रामान-
धितिष्ठस्वेति । एवमेव यथा दृष्टान्तः । एष मुख्यः प्राण

इति मन्त्रौ अत्र संवादयितुं तद्वतविशेषणान्याह । परस्मादिति ॥
अत्र दृष्टान्त इति तस्याव्यतत्त्वार्थं दृष्टान्त उच्यते इत्यर्थः । कायेति
प्रतिबिम्बादिरूपेत्यर्थः । एतस्मिन्निति प्रकृतजनके आत्मानि ब्रह्मणी-
त्यर्थः ॥ कथमायातीत्यस्योत्तरमाह । मनोऋतेनेति ॥ सन्धिरार्थः ।
तदेव सत्ता इत्यस्य कर्मिणो मनो यस्मिन् फले निष्कृतं संसक्तं आसक्तः
सन् तदेव फलं कर्मणा सह एतीति श्रुतौ च शरीरग्रहणं कर्मसाध्य-
मुक्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥

आत्मानं वा प्रविभज्येत्यस्योत्तरं दृष्टान्तेनाह । यथेति ॥ इतरा-
निति इतरांश्चक्षुरादीन् यथास्थानं अक्ष्यादि गोलकस्थाने सन्निधत्ते
सन्निधापयति । आत्मभेदान् मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदान् प्राणापानादीन्

प्राणः । इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ॥ ४ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः । एष

इतरान् प्राणांश्चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक् पृथगेव यथास्थानं सन्निधत्ते विनियुङ्क्ते ॥ ४ ॥

तत्र विभागः । पायूपस्थे पायुश्च उपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन् । अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वन्तिष्ठति सन्निधत्ते । तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रश्च चक्षुःश्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे । मुखनासिकाभ्याश्च मुखश्च नासिका च मुखनासिके ताभ्यां मुखनासिकाभ्याश्च निर्गच्छन् प्राणः स्वयं सन्नादस्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति । मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्याम् । समानमश्रितं पीतञ्च समं नयतीति समानः । एष हि यस्माद्यदेतद्भुतं भुक्तं पीतञ्चात्माग्नौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादश्रितपीतेन्धनादग्नेरौदर्याद्बृहदयदेशादेताः सप्तसङ्ख्याका अ-

पाय्वादिषु नियुङ्क्त इत्यत्र श्रुत्या नेत्रादीनां चक्षुरादिस्थानानां स्पष्टत्वात्तानि नोक्तानीति द्रष्टव्यम् । यः कुर्वन्तिष्ठति तं सन्निधत्ते विनियुङ्क्त इत्यर्थः । मध्येति प्राणापानयोर्मध्ये या नाभिलस्यां समानः प्रतितिष्ठतीत्यन्वयः ॥ समानशब्दार्थमुक्त्वा श्रुत्यारूढं करोति । एष हीति ॥ आत्माग्नाविति आत्मनि शरीरेऽग्निस्तस्मिन्नित्यर्थः । एवं इतपदवत्तादन्नस्य हविर्द्वं जाठराग्नेराहवनीयत्वं प्रक्षेपस्य होमत्वञ्चोक्त्वा शीर्षण्यसप्तद्वाराभिर्गतानां ज्ञानानामर्चिर्द्वं वक्तुं तस्मादेता इति वाक्यं व्याचष्टे । तस्मादिति ॥ सप्तेति ॥ अग्नेरौदर्याद्भेतोः

ह्येतदुतमन्नं समन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो
भवन्ति ॥ ५ ॥

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं ना
डीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वास

र्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्यः । प्राणद्वारा
दर्शनश्रवणादिलक्षणरूपादिविषयप्रकाश इत्यभिप्रायः
॥ ५ ॥

हृदि ह्येष । पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्नं
हृदयाकाशे एष आत्मा आत्मसंयुक्तो लिङ्गात्मा जीरात्मे-
त्यर्थः । अत्रास्मिन् हृदये एतदेकशतमेकोत्तरशतं स-
ङ्ख्या प्रधाननाडीनां भवतीति । तासां शतं शतमेकै-
कस्यां प्रधाननाद्यां भेदाः । पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वा-
हे सहस्रेऽधिकसप्ततिश्च सहस्राणि । सहस्राणां द्वास-
प्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि प्रति प्रतिनाडीशतस-
ङ्ख्या प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति । आसु नाडीषु

प्राप्तपरिपाकादन्नरसादन्ननाडीद्वारा देहं प्राप्तं नाडीस्थानं हृदयं
प्राप्तादन्नरसादिति शेषः ॥ दर्शनद्वयं श्रवणद्वयं प्राणद्वयं मुखश्वैकं
रसनामिति सप्तार्चिषः । जाठराग्निपाकजन्यान्नरसवलेन दर्शनादीनां
प्रवृत्तेः । तेषु तदर्चिषद्वारोप इत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

व्यानस्य नाडीरूपं स्थानं दर्शयितुं नाडीनामुत्पत्तिस्थानं वक्तुमाह ।
हृदीत्यादिना ॥ हृदयस्य लिङ्गात्मस्थानत्वोक्तेः । प्रयोजनन्तं केचि-
द्योगिनो नाभिकन्दस्य नाड्युत्पत्तिस्थानत्वं वदन्ति । तन्निराकरणं
तत्रैव लिङ्गात्मनः सञ्चरणार्थं नाड्यः । नाडीभिः प्रत्यवष्टभ्येत्यादि
श्रुतेः । ततश्च लिङ्गात्मनो हृदयस्थानत्वे त्वत्सञ्चारमार्गभूतनाडीनामपि
तदेकोत्पत्तिस्थानं अन्यथा प्रदेशान्तरस्थाननाडीनां तन्मार्गत्वायोगाद्वा

प्रतिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु
व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

व्यानो वायुश्चरति । व्यानो व्यापनात् । आदित्यादिव
रश्मयो हृदयात्सर्वतो गामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं
संव्याप्य व्यानो वर्त्तते । सन्निष्कन्धमस्मिन् देशेषु विशेषेण-
प्राणपानवृत्त्योश्च मध्य उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्त्ता भवति
॥ ६ ॥

सप्तसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठतमिति श्रुतेऽस्तेति लिङ्गश-
रीरस्यात्मत्वमात्मोपाधित्वेन तद्योगादित्याह । आत्मसंयुक्त इति ॥
यस्मात्सिद्धात्मा हृदि वर्त्तते तत्तच्चारमार्गभूतनाडीनामपि तदेव स्या-
न्मित्याह । अत्रेति ॥ नाडीनां शरीरविधारकत्वेन प्रसिद्धत्वं वक्तु-
मेतदिति विशेषणम् । तस्य स्पष्टत्वाद्वाच्यं व्याख्यानम् । एकैकस्या
नाड्याः शाखानाड्यः शतं शतं भवतीत्याह । वासामिति ॥ ततश्च
शतोत्तरमयुतं शाखानाड्य इत्यर्थः । शाखानाडीनां च प्रत्येकं
द्व्यधिकसप्तसहस्राणि प्रतिशाखानाड्यः सन्तीत्याह । पुनरपीति ॥
सप्तरितरितपदस्य सङ्ख्याप्रधानत्वे सहस्राणीत्यस्य तेन सामानाधिकर-
ण्यायोगात् पृथ्यन्ततया व्याचष्टे । सहस्राणामिति ॥ प्रतिशाखेति ॥
प्रतिशाखाभ्यो निर्गताल्पशाखाः प्रतिशाखाः । दासप्रतिरित्यत्र यीष्वा-
र्थमाह । प्रति प्रतीति ॥ प्रतिनाडीशतमित्यनन्तरमेकैकस्या इत्यनु-
पङ्गः । तथा च प्रतिनाडीशतमेकैकस्या नाड्याः प्रतिशाखानाडीनां
दासप्रतिहस्राणि भवन्तीत्यर्थः । तथा मूलशाखाप्रतिशाखानाड्यो
मिन्नित्वा दासप्रकोटयो दासप्रतिलक्षाणि षट्सहस्रञ्च शतद्वयमेका च
भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ एवं नाडीरुक्ता व्यानस्य तत्स्थानमाह । व्या-
सिति ॥ सृज्यासु नाडीषु विद्यमानस्य व्यानस्य कथं व्यापकत्वमि-
त्याशङ्क्य नाडीनां सर्वदेहव्याप्तेस्तत्स्यस्यापि व्यानस्य तद्द्वारा व्याप्ति-
रित्याह । आदित्यादिवेति ॥ यथाऽदित्यादिनिर्गत्य रश्मयः सर्वतो
गतास्तथा हृदयात्सर्वतो गामिन्या नाड्यस्ताभिरिति योज्यम् ॥ सा-

अथैकयोद्ध उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं
नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्
॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै वाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं

अथ या तु तत्कैशतानां नाडीनां मध्ये ऊर्ध्वं गा सु-
षम्ना नाडी तथैकयोद्धः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तक-
वृत्तिः सञ्चरन् पुण्येन कर्म्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं
देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति । पापेन तद्विपरी-
तेन पापं नरकं तिर्य्यग्योन्यादिलक्षणम् । उभाभ्यां सम-
प्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्त्तते
॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं वाह्यः प्राणः स
एष उदयत्युज्जच्छति । एष हेतुनमाध्यात्मिकं चक्षुषि भवं

सायेतु सर्वशरीरव्याप्रावपि विशेषस्थानमाह । सन्वीति ॥ शरीरे-
षेत्युक्त्वा सनिश्वासयोः प्राणापानवृत्त्योरभावे व्यानवृत्तिरुद्भवतीत्यर्थः ।
वीर्य्यवदिति अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यान इत्युक्त्वा याति-
वीर्य्यवन्ति कर्म्माणि बलवता पुरुषेण साध्यानि धनुरायमानादीनि
ताभ्यप्राणव्रनपानम् करोतीति श्रुत्यन्तरोक्तेरित्यर्थः ॥ ६ ॥

इदानीमुदानस्य स्थानं वदन् केनोत्क्रमत इत्यस्योत्तरमाह या
त्विति ॥ उभाभ्यां समप्रधानाभ्यामिति ॥ अनेन पुण्याधिक्ये देवलोकं
पापाधिक्ये नरकलोकं नयतीति पूर्वं व्याख्यातं भवति ॥ ७ ॥

कथं वाह्यं मभिधत्ते । कथमध्यात्ममित्यस्योत्तरमाह । आदित्य
इति ॥ या देवता प्रसिद्धेति अग्निदेवता एष्टिव्येव यस्यायतनमग्नि-
लोक इति श्रुतेरग्निसम्बद्धावगमादित्यर्थः । अवष्टभ्येत्यनन्तरमध्या-
हारेण वाक्यं पूरयति । अध एवामकर्षणेनेति वृत्तार्थं सन्मादेह-

चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता
सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः
स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोपलब्धौ चक्षुष आ-
लोकं कुर्वन्नित्यर्थः । तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता
प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्यापानमपानवृत्तिमवष्टभ्याकृष्य वशी-
कृत्याथ एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्त्तत इत्यर्थः ।
अन्यथा हि शरीरं सुखत्वात्पतेत्सावकाशे वोक्तच्छेत् ।
यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायु-
राकाश उच्यते । मञ्जुस्यवत् । स समानः समानमनुगृ-
ह्णानो वर्त्तत इत्यर्थः । समानस्यान्तराऽऽकाशस्यत्वसामा-
न्यात् । सामान्येन च यो वाह्यो वायुः स व्याप्तिसामा-
न्याद्व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्त्तत इत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

क्षमुखेन निखातस्य परितो विद्यमानरज्जुभिरध एवापकर्षणेन पत-
नाभाववदध एवापकर्षणेन शरीरस्य पतनाभावः सिद्धातीत्यर्थः ।
अनुग्रहमिति शरीरधारणलक्षणमित्यर्थः । अन्यथेति पृथिवीदेव-
ताया विधारणाकरणे सुखत्वादपानेनाथ आकर्षणाच्च सावकाशे भूस्या-
दिपतनप्रतिबन्धकाभावस्यले पतेदित्यर्थः ॥ अन्तरा यदाकाश इति
वाक्यं व्याचष्टे । यदेतदिति ॥ यदिति क्लीबत्वं छान्दसमित्याह । य
आकाश इति ॥ मञ्जुस्यवदिति मञ्जाः क्रोशञ्जीत्यत्र मञ्जुशब्देन मञ्जुस्या
यथा लक्ष्यते तथाऽऽकाशशब्देन तत्स्थो वायुर्लक्ष्यत इत्यर्थः । समान
इति ॥ सामानाधिकरण्यमनुग्राह्यानुग्राहकयोरभेदोपचारादित्याह ।
समानमनुगृह्णान इति ॥ एवमुत्तरत्वापि अनुग्रहहेतुमाह । समान-
स्येति ॥ शरीरान्तराकाशस्यत्वं समानस्य द्यावापृथिव्यन्तराकाशस्यत्वं

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।

पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ६ ॥

यद्वाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीरे उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशनेत्यभिप्रायः । यस्मात्तेजो-
भावो बाह्यतेजोऽनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्त्ता तस्माद्यदा
लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति । उपशान्तं स्वाभा-
विकं तेजो यस्य सः । तदा तं चीणायुधं सुमूर्धुं विद्यात् ।
स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते । कथम् । सहेन्द्रियै-
र्मनसि सम्पद्यमानैः प्रविशद्भिर्वाङ्गादिभिः ॥ ६ ॥

बाह्यवायोरिति अन्तराकाशस्थत्वं तयोस्तुल्यमित्यर्थः ॥ वायुर्व्यान
इत्यत्र त्वन्तराकाशस्थत्वविशेषरहितो वायुसामान्येन समुच्चीयत इति न
पूर्वाभिदे इत्याह । सामान्येनेति ॥ ८ ॥

तेजो ह वाव इति वाक्यं व्याचष्टे । यद्वाह्यमिति ॥ पूर्वमा-
दित्यात्मकं विशेषतेज उक्तम् अत्र तेजःसामान्यमुच्यत इति न पौनरु-
क्त्यमित्याह । सामान्यं तेज इति ॥ एषमादित्यादिना रूपेण मुख्यप्रा-
णस्य प्राणापानसमानोदानव्यानानुग्राहकत्वोक्त्या ध्यात्मं प्राणादिष्ट-
न्यनुग्राहकत्वमुक्तम् । आदित्याग्न्याकाशसामान्यवायुतेजोरूपी सन्
बाह्यमधिदैवमादित्यात्मकं धारयतीत्युक्तम् । तद्रूपेणावस्थानमेव त-
द्धारणं प्राणापानाद्यनुग्रहेण चक्षुराद्यनुग्रहोक्तैस्तद्द्वारा तद्वाह्याधिभू-
तविधारकत्वमुक्तम् ॥ स प्राणस्तच्चक्षुः सोऽपानः सा वाक् स व्यान-
स्तच्छ्रोत्रं स समानस्तन्मनः स उदानः स वायुरिति श्रुत्यन्तरे
चक्षुरादीनां प्राणाद्यात्मत्वोक्तैश्चक्षुराद्यनुग्राहकत्वोक्त्या चक्षुरादि
रूपाध्यात्मविधारकत्वञ्चोक्तमिति कथं बाह्यमभिधत्ते । कथमाध्यात्म-
मिति । अस्योत्तरमुक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ तेजस उदानवाय्वनुग्राह-
कत्वं व्यतिरेकप्रदर्शनेन साधयति । यस्मादिति ॥ यस्मात्तेजःस्वभाव

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा
युक्तः । सहात्मना यथा सङ्कल्पितं लोकं
नयति ॥ १० ॥

सरणकाले यच्चित्तो भवति तेनैष जीवः चित्तेन स-
ङ्कल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्यप्राणवृत्तिमायाति । सरण-
काले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सम्मुख्यया प्राणवृत्तैवावतिष्ठत
इत्यर्थः । तदा हि वदन्ति ज्ञातय उच्छ्रमति जीवतीति ।
स च प्राणस्तेजसोदानवत्या युक्तः सन् सहात्मना स्वाभिना
भोक्ता स एवमुदानवृत्तैव युक्तः प्राणसं भोक्तारं पुण्य-
पापकर्म्मवशाद्व्यासङ्कल्पितं यथा ऽभिप्रेतलोकं नयति
प्रापयति ॥ १० ॥

उत्क्रान्तिकदस्युदानवायुवीक्ष्यतेजोऽनुगृहीतः सन्नेव शरीरे वर्तते त-
स्माज्जीवजीवनहेतुकर्मापरमे वाह्यतेजोऽनुग्रहाभावेनोपशान्ततेजो
मुमूर्षुर्भवतीत्यन्वयः ॥ स्वाभाविकमिति जाठराग्निकृतं हस्तादिना
स्वशरीरस्पर्शे सत्यप्युत्पलेनोपलभ्यमानं तेज इत्यर्थः ॥ भवत्युत्पद्यत इति
भयः शरीरमित्यर्थः ॥ शरीरान्तरप्रतिपत्तिरात्मनोऽर्कियस्य न तस्मा-
यतीति शङ्कते । कथमिति ॥ इन्द्रियोपाधिवशादित्याह । सहेति ॥
मनसि सम्पद्यमानैरिन्द्रियैः सह शरीरान्तरं प्रतिपद्यत इति पूर्वणा-
न्वयः । उक्तशरीरान्तरप्राप्तिमेवोत्क्रान्तिक्रमप्रदर्शनेन स्पष्टीकर्त्तुं य-
च्चित्त इत्यादि वाक्यं तदपेक्षिताध्याहारं कुर्वन् व्याचष्टे । सरणेति ॥
यच्चित्त इति यदेव तिर्यगादिशरीरं सम्यगिति चित्ते यस्य स यच्चित्त
इत्यर्थः । प्राणं प्रत्यागमनं लोकव्यवहारेण प्रययति । तदेति । ते-
जसा तेजोऽनुगृहीतयोदानवृत्तेत्यर्थः । एवम्भूतो भोक्तोदानकंयुक्तः
प्राणः कं नयतीत्यपेक्षायां तमेव भोक्तारं नयतीति वदन् वाक्यार्थमाह ।
स एवमिति ॥ एवकारस्य तमेवेत्यन्वयः । यथा सङ्कल्पितमिति कर्म-

य एवंविद्वान् प्राणं वेद । न हास्य प्रजा
हीयतेऽमृतो भवति तदेष्ट श्लोकः ॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा ।

यः कश्चिदेवंविद्वान् यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टसुत्यत्या-
दिभिः प्राणं वेद जानाति तस्येदं फलमैहिकमासुषिकसो-
च्यते । न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजाः पुत्रपौत्रादिल-
क्षणा हीयते हीयन्ते ह्रियन्ते । पतिते च शरीरे प्राण-
सायुज्यतयाऽमृतोऽमरणधर्म्मा भवति तदेतस्मिन्नर्थे
सङ्क्षेपाभिधायक एष श्लोको मन्त्रो भवति ॥ ११ ॥

उत्पत्तिपरमात्मनः प्राणस्यायतिमागमनं मनोऋतेन
मनःकृतेन नास्ति च्छरीरे स्थानं स्थितिश्च पायूपस्थादिस्था-
नेषु विभुत्वं च स्वाभ्यसेव सम्पादिव प्राणवृत्तिभेदानां
पञ्चधा स्थापनम् । वाह्यमादित्यादिरूपेणाध्यात्मञ्चैव च-

ज्ञानादिसाधनानुष्ठानदशायां सङ्कल्पितं मरणकाले वासनारूपेण पुन-
रभिव्यक्तं लोकं देवादिशरीरमित्यर्थः ॥ ६ ॥ १० ॥

एवं प्राणस्वरूपं निर्द्धार्य तदुपासनं विधत्ते । यः कश्चिदिति ॥
उत्पत्त्यादिभिर्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्ट आत्मनः प्राणो जायते मनः क-
ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां शरीरं गृह्णाति । आत्मानञ्च पञ्चधा विभज्य
पायूपस्थयोरपानं स्वरूपम् । प्राणं चक्षुःश्रोत्रयोः । नाभौ समा-
नम् । नाडीसमूहे व्यानम् । उदानञ्च सुषुम्नायां स्थापयति । उदा-
नेनोत्क्रामन्ति वाह्यैः प्राणापानसमानव्यानोदानानुयाहकैरादित्यष्ट-
थिवीदेवताकाशवायुतेजोरूपैरधिदैवमादित्यादिकमादित्यादिक्रतामुग्र-
हैरध्यात्मं चक्षुर्वाक्श्रोत्रमनस्त्वक्चक्षुरादियाह्यमधिभूतञ्च धारयति ।
स एवोदानवृत्त्या भोक्ता च युक्तो भोक्तारं लोकान्तरं नयति स एव
च वरिष्ठः प्रजापतिरत्ताशरे इत्येवं प्राणं वेद इत्यर्थः ॥ ऐहिकफलमु-

अध्यात्मञ्चैव प्राणस्य विज्ञायास्तमश्नुते विज्ञा-
यास्तमश्नुत इति ॥१२॥ इति तृतीय प्रश्नः ॥३॥

अथ हैनं सौख्यीयणी गार्ग्यः पप्रच्छ ।

क्षुराद्याकारेणावस्थानं विज्ञायैवं प्राणमस्तमश्नुत इति ।
विज्ञायास्तमश्नुत इति द्विवचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम्
॥ १२ ॥

इति तृतीयप्रश्नभाष्यम् ॥ ३ ॥

अथ हैनं सौख्यीयणी गार्ग्यः पप्रच्छ प्रश्नतयेणापर-
विद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्य-
साधनलक्षणमित्यम् । अथेदानीमसाधनलक्षणमप्राण-
ममनोगोचरमतीन्द्रियमविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं

क्वाऽऽमुष्मिकफलमाह । पतित इति ॥ अस्तत्वं नात्र मुख्यं किन्तु
प्राणसायुज्यमेवेत्याह । प्रणेति ॥ इदन्त कामिनः निष्कामस्य तु
चित्तैकाग्र्ये तच्छुद्धिद्वारा मुख्यमेषास्तत्वं भवतीति स्पष्टव्यम् । आया-
तिमिति आयातिमित्यर्थः । ह्रस्वं छान्दसम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

प्रश्नभाष्यविवरणे तृतीयः समाप्तः ॥ ३ ॥

एवं कर्मविद्यागतित्तवर्णेन विरक्तस्य प्राणविद्यया चित्तैकाग्र्यं
तच्छुद्धिमतोऽत एव साधनचतुष्टयवतो मुख्याधिकारिणः परविद्यो-
क्त्यर्थं प्रश्नतयमारभ्यते । अथ हैनमिति ॥ पूर्वं विद्ययैवास्तत्त्वो-
क्तेरुत्तरप्रश्नारम्भो व्यर्थ इत्यत आह । प्रश्नतयेणेति ॥ संसारमित्यतो
न तन्मुख्यमस्तत्त्वमित्यर्थः ॥ तस्य संसारत्वे व्याकृतत्वं हेतुमाह । व्या-
कृतविषयमिति ॥ व्याकृताश्रयं तदन्तर्गतमित्यर्थः । साध्यसाधनलक्ष-
णमिति साध्यसाधनसम्बन्धेन लक्ष्यतेऽभिव्यज्यते उत्पद्यत इति तथा ।
यद्वाऽपरब्रह्मणः प्राणस्य साध्यसाधनोभयात्कलाद्वा तथा तस्मादनि-
त्यमित्यतोऽपि संसारमित्यर्थः ॥ वक्ष्यमाणात्मा तु न तथेत्याह । अ-

भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्य-

सत्त्वं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं सवाच्याभ्यान्तरमजं यत्तद्व्य-
मित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते । तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्या-
त्परादचरात्सर्वे भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्रैवापि
यन्तीत्युक्तम् । द्वितीये सुण्डके के ते सर्वभावा अचरा-
द्विमज्यन्ते । कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैवापि यन्ति ।
किंलक्षणं वा तदचरमिति । एतद्विवक्षयाऽधुना प्रश्ना-
नुद्गावयति । भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे शिरःपाण्यादिमति
कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति स्वव्यापारा-

साध्येत्यादिना ॥ अतीन्द्रियमविषयमिति इन्द्रियविषयत्वमतिक्रान्त-
मित्यव्याकृतमकार्यमित्यर्थः ॥ तत्र हेतुः । अप्राणमिति ॥ प्राणगो-
चरत्वेन तदात्मकमिन्द्रियागोचरत्वं मनोऽगोचरत्वेन ज्ञानेन्द्रियागो-
चरत्वमुक्तम् । सुखरूपतामाह । शिवमिति ॥ निवृत्तानर्थत्वमाह ।
शान्तमिति । तत्र भावविकाररहितत्वं हेतुमाह । अविकृतमिति ॥
अनेनोत्पत्तिपरिणामवृद्धयो निषिद्धाः । अचरमित्यपक्षयविनाशौ नि-
षिद्धौ । उत्पत्तिनिषेधेन तदनन्तरभाव्यस्थित्वं निषिद्धम् । अत्र सर्वत्र
हेतुः । सत्यमिति । कालत्रयेऽप्येकरूपमित्यर्थः ॥ तत्र अथ परा
यया तदचरमधिगम्यत इत्यादि वाक्यं मानमाह । परविद्यागम्यमिति ।
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुष इति मन्त्रमप्याह । पुरुषाख्यमिति ॥ कथं
पुरुषशब्दोदितं पूर्णत्वं वाच्याभ्यान्तरवस्तुभेदादत आह । सवा-
ह्येति ॥ स एव वाच्याभ्यन्तरात्मकस्तद्व्यतिरेकेण तदुभयं नास्तीत्यर्थः ।
प्रश्नत्रयमिति ॥ यद्यपि पञ्चमः प्रश्नोऽपरविद्याविषय एव प्रणवोपा-
सनविषयत्वात्तथापि तस्य क्रममुक्तिफलत्वेन निर्विशेषात्ममेव सविशेष-
ब्रह्मप्राप्तिद्वारा पर्यवसानात्तोऽपि परविषय एवेति भावः । एवं
सामान्येन प्रश्नत्रयस्यापि सम्बन्धमुक्त्वा चतुर्थप्रश्नस्य प्रातिस्निकसम्बन्ध-

स्निग्धं जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति

दुपरमन्ते । कानि चास्निग्धं जाग्रति जागरणमनिद्रा-
वस्थाव्यापारं कुर्वन्ति । स्वव्यापारान् कुर्वन्तीत्यर्थः ।
कतरः कार्यकरणलक्षणानां य एष देवः स्वप्नान्
पश्यति । स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्र-
द्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम् । तत्किं कार्यलक्षणेन दे-
वेन निर्व्वर्त्तयते किं वा करणलक्षणेन केनचिदित्य-
भिप्रायः । उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं
निरायासलक्षणमनावधं सुखं कस्यैतद्भवति । त-
स्मिन् काले जाग्रत्स्वप्नव्यापारादुपरताः सन्तः कस्मिन्

माह । तत्रेति ॥ यस्यादित्यस्य किं वा तदचरमिति तच्छब्देनान्वयः ।
उक्तमिति यथा प्रदीपत्पावकाद्विस्तुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति रूपाः
तथाऽचराद्वि विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्तीति
मन्त्रेणेत्यर्थः ॥ एतद्विवक्ष्येति ॥ मन्त्रोक्तार्थविस्तरानुवादित्वादस्य त्रा-
ह्यणस्येति भावः । अत्राक्षरस्वरूपस्यैव विवक्षितत्वात्तन्निर्णयार्थं
कानि स्वपन्तीत्यादिप्रश्नः जागरितादिना धर्मविशेषनिर्द्धारणार्थः
अन्यथा तेषामात्मधर्मत्वशङ्कायां तन्निर्विशेषत्वनिर्णयसिद्धेः । भावानां
स्वरूपविभागादिविवक्षा तु ताः पुनरुदयतः प्रचरन्तीति दृष्टान्तवला-
द्यत्वेकीभावः ततो विभागेन निर्गमनमित्यचरे एकीभूतानां दृष्टिव्या-
दिकार्यकारणानामचरादिभागप्रतीतेस्तावन्मात्रेण भाष्ये उक्तेति दृष्ट-
व्यम् ॥ तत्राद्यप्रश्नेन जागरितस्य धर्मी दृष्टः । स्वप्ने यस्य व्या-
पारोपरमे जागरितं नास्ति स तस्य धर्म इति निश्चेतुं शक्यत्वात् ।
द्वितीयेनावस्थाव्येऽपि शरीररक्षणं कस्य धर्म इति दृष्टम् । जाग्र-
तोऽनुपरतव्यापारस्य प्राणस्य देहरक्षकत्वोपपत्तेः । तृतीयेन स्वप्नस्य
धर्मी दृष्टः । चतुर्थेन सुषुप्तिधर्मी सुखमहमस्वाप्नमिति सुप्तेत्येतस्य

कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रति-
ष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

उ सर्वे सम्यगेकीभूताः सम्प्रतिष्ठिताः । मधुनिरसवत्स-
सुदं प्रतिष्ठनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति
सङ्गताः सम्प्रतिष्ठा भवन्तीत्यर्थः । ननु न्यस्तदात्रादिक-
रणवत्स्वव्यापारादुपरतानि पृथक् पृथगेव स्वात्मन्यव-
तिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां कर-
णानां कस्मिंश्चिदेकीभावगणनाशङ्कायाः । प्रष्टुः युक्तैव-
न्वाशङ्का । यतः संहतानि करणानि स्वास्थ्यानि पर-
तन्त्राणि च जाग्रद्विषये तस्मात्स्वापेऽपि संहतानां पारत-

परामर्शे सुखस्य सुषुप्तिवत्स्वावगमात् । पञ्चमप्रश्नेनावस्थात्वय-
विनिर्मुक्तमवस्थात्वयपर्यवसानभूमिरूपं तुरीयमन्तरं एवमिति वि-
वेकः । कार्येति कार्यं शरीरं प्राणो वा । करणानि मनआदीनि ॥
प्रदार्थानुक्ता वाक्यार्थं पिण्डीकृत्याह । तत्किमिति ॥ तत्त्वदं पूर्वा-
परयोः सम्बध्यते । प्रसन्नमिति विषयसम्पर्ककालुष्यराहित्यम् । नि-
रायासेन विज्ञेयाभावमात्रेण । लक्ष्यतेऽभिव्यज्यते । निर्वातस्यापि-
तदीपा लोकवदनावाधं विनाशरहितं सत्यमात्मस्वरूपमित्यर्थः । एत-
दिति सुषुप्ते प्रकाशमानं सुखमहमस्वाप्तिमिति परामर्शमूलभूतमि-
त्यर्थः ॥ तस्मिन् काले इति यद्यपि पञ्चमेन प्रश्नेन तुरीयं एच्छते न
सुषुप्तिस्तथापि संसारदशायाम् । सर्वोपाधिरहिततुरीयावस्थाभावे
कुत एव तस्य प्रदर्शनीयत्वान्तसुषुप्तवज्ज्ञाने सत्यपि इतरोपाधिराहि-
त्येन तत्रैव सर्वोपाधिविवेककरणेन तुरीयप्रदर्शनस्य सुकरत्वान्तस्मिन्
काले तुरीयप्रदर्शनार्थं सर्वसम्प्रतिष्ठितोक्तिः । सम्यगेकीभूता इति
तदात्मभावप्राप्ता विलयं गता इत्यर्थः । मधुनिरसवदिति यथा नाना-
पुष्परसा मधून्येकीभवन्ती तद्वदित्यर्थः । विवेकाभावमात्रेण दृष्टान्ता-

न्येणैव कस्मिंश्चि सङ्गतिर्यायेति । तस्मादाशङ्कानुरूप
एव प्रश्नोऽयम् । अत्र तु कार्यकारणसङ्घातो यस्मिंश्च
प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयोस्तद्विशेषं बुभुक्षोः स कोनु-
स्यादिति कस्मिन् सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

युक्तैः ॥ तत्र सर्वात्मना लयाभावादित्याह । विवेकानर्ही इति । पूर्वे
विवेकानर्हीः सन्तः पश्चात्सम्प्रतिष्ठिता इत्यर्थः । न चानेनापिप्रश्नेना
विद्यावासनाभिरविविक्तः सौषुप्त एव एष्ट इति शङ्कम् । परे आत्मन्य-
चरे प्रतिष्ठन्त इति वक्ष्यमाणत्वात्सुषुप्ते चाज्ञान एव सम्प्रतिष्ठानादेष
हि दृष्टेत्याद्यज्ञानप्रतिविम्बितस्य भोक्तुरपि प्रतिष्ठाया अभिधास्यमा-
नत्वादच्छायमित्यज्ञानाभावोक्तेश्च तृतीयमेव एष्टमिति भावः । ननु
कार्यकारणव्यतिरिक्ते सम्प्रतिष्ठानाधिकारणे सामान्येन कस्मिंश्चिद-
वगते कस्मिन् सम्प्रतिष्ठिता इति विशेषप्रश्नो घटते । न च तस्याव-
गतिरस्ति । न च सम्प्रतिष्ठानस्य साधिकरणत्वेन सामान्येनाधिकर-
णावगतिरस्तीति वाच्यम् । तत्तदुपादानानामेवाचेतनानां तदधिकर-
त्वेन तदतिरिक्तस्य चेतनस्यासिद्धिरिति शङ्कते । नन्विति ॥ दातुं नो-
सस्यादिलवनार्थः । शस्त्रविशेषः । स्वात्मनीति सोपादान इत्यर्थः ।
सुषुप्तपुरुषाणां करणानामिति सुषुप्तपुरुषाणां यानि करणानि
तेषामित्यर्थः । एष हि दृष्टेत्यादिना पुरुषाणामप्येकीभावस्य वक्ष्यमा-
णत्वाद्वा पुरुषाणामित्युक्तम् अस्मिन् पक्षे करणादश्चेति चकारो द्रष्टव्यः ।
प्रष्टुः शङ्कायाः कुतः प्राप्तिरित्यन्वयः ॥ संहतानां परार्थेन व्याष्टत्वा-
त्संहतत्वेन हेतुना परस्मिंश्चेतने सामान्येनावगते प्रष्टुर्विशेषप्रश्नो
युक्त इत्याह । युक्तैव त्विति ॥ स्वास्यर्थाणि सङ्घाताभिमान्यवानी-
त्यर्थः । आशङ्कानुरूप इति मनसि विद्यमानाशङ्कानुरूपो वाचिकः
प्रश्न इत्यर्थः ॥ अत्र सम्प्रतिष्ठानविशिष्ट आत्मा एष्टः किन्तु तदुपलक्षितः
केवल आत्मा एष्ट इति वाक्यतात्पर्यमाह । अत्र त्विति ॥ भवतीत्यन-
न्तरं एष्टमिति शेषः । यत्त्वया एष्टं तच्छृण्वित्यन्वयः । तत्सर्वार्कस्य
ता मरीचय इत्यर्थः ॥१॥

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयो-
ऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले
एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं
ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन
तर्ह्येष पुरुषो न गृह्णोति न प्रश्यति न जिघ्रति
न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाद ते ना-

तस्मै स होवाचाचार्यः । शृणु हे गार्ग्य यत्त्वया पृष्टम् ।
यथा मरीचयो रश्मयोऽर्कस्यादित्यस्यास्तमदर्शनं गच्छतः
सर्वा अग्रेषत एतस्मिंस्तेजोमण्डले तेजोराशिरूपे
एकीभवन्ति विवेकानर्हत्वमविशेषतां गच्छन्ति ता मरी-
चयस्तस्यैवाऽर्कस्य पुनः पुनरुदयत उद्गच्छतः प्रचरन्ति
विनिकीर्यन्ते । यथाऽयं दृष्टान्तः । एवं ह वै तत्सर्वं विष-
वेकः इन्द्रादिजातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि
पट-
चक्षुरादिदेवानां मनस्तन्वत्वात् परो देवो मनस्तस्मिन्
स्वप्नकाले एकीभवति मण्डले मरीचिवदविशेषांगच्छति ।
जिजागरिषोश्च रश्मिरन्मण्डलान्मनस एव प्रचरन्ति
स्वप्नापाराय प्रतिष्ठन्ते । यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि
शब्दाद्युपलब्धिकरणानि मनस्येकीभूतानीव करणव्यापा-
रादुपरतानि तेन तस्मात्तर्हि तस्मिन् स्वापकाले एष

स्वप्नपि चक्षुरादिव्यापारोपलब्धेरकीभावोऽसिद्ध इत्याशङ्क्य
वासनामयेन्द्रियव्यापारोपलब्धेर्वपि वाक्ष्यशब्दादिश्रवणादिव्यापारा-
भावेन तं साधेयितुं तेनेति वाक्यं व्याख्याति । यस्मादिति ॥ श्रोत्रादी-
नामेकीभावो नाम स्वप्नव्यापारं विहाय मनस्तन्वतयावस्थानमात्रं
न तु मुख्यभेकत्वं तेषां मनःप्रकृतिकत्वाभावेनाप्रकृतौ तदनुपपत्तेरित्य-

नन्द्यते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते
॥२॥

प्राणाग्नय एव तस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्ह-
पत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यप्रचनो
देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न
जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाहते
नानन्द्यते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते
लौकिकाः ॥२॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु करणेज्जेतस्मिन् पुरे नवद्वारे
देहे प्राणाग्नयः प्राणादिपञ्चवायवोऽग्नय इवाग्नयो
जाग्रति । अग्नितामान्यं ह्याह । गार्हपत्यो ह वा एषो-
ऽपानः । कथमित्याह । यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्र-
काले इतराग्निहोत्रकाले इतरोऽग्निराहवनीयः प्रणी-
यते प्रणयनात्प्रणीयत अस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्यो-
ऽग्निर्यथा तथा सुप्तस्यानाहतेः प्रणीयत इव प्राणो

भिप्रेत्य इवकारः प्रयुक्तः । नेयायत इति इणो गत्यर्थस्य यङ् तस्य
रूपमेतत् न गच्छतीत्यर्थः ॥२॥

कानि स्वपन्तीत्यस्य सविषयाणि वाच्यकरणानि स्वपन्त्यपरम-
नेऽतस्तेषामेव जागरणधर्म इत्युत्तरमुक्त्वा कानि जाग्रतीत्यस्योत्तर-
माह । सुप्तवत्स्विति ॥ प्राणानामग्नित्वं गाणमित्याह । अग्नय
इवेति ॥ अपानस्य गार्हपत्यत्वे यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादितोदं
वाक्यं व्यवहितमपि हेतुत्वेन योजयति । यस्मादिति ॥ प्रणयनादि-
तिपदं गार्हपत्यविज्ञेयमित्याह । प्रणयनो गार्हपत्य इति । तत्स-
दृशमाहवनीयः प्राण इति वाक्यसादृश्याभिध्यानपूर्वं व्यापष्टे ।
तथेति ॥ गार्हपत्यत्वेनोक्तेऽपानेऽप्यगच्छति सति वहिर्गच्छन् प्राण

यद्वाह्वनीयत्प्राणीयते प्राणयमादाहवनीयः
प्राणः ॥३॥

यदुच्छ्वासनिश्वासावेताज्जती समं नयतीति

मुखनासिकाभ्यां सञ्चरत्याहवनीयस्थानीयः प्राणः ।
व्यानस्तु हृदयादक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमादक्षिणदिक्स्-
वन्वाह्वान्वाह्वार्यपचनो दक्षिणाग्निः ॥३॥

अतः च होताग्निहोतस्य यद्यस्मादुच्छ्वासनिश्वासा-
वग्निहोत्राज्जती इव नित्यं द्वित्वसामान्यादेव तु एतावा-
ज्जती समं सास्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायु-
रग्निस्थानीयोऽपि होता चाज्जत्योर्नैतत्वात् । कोऽसौ स
समानः । अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोतहवनमेव ।

आहवनीय इत्यर्थः ॥ परित्यक्तं व्यानोऽन्वाह्वार्यपचन इति वाक्यमि-
दानीं व्याचष्टे । व्यानस्त्विति ॥ छान्दोग्ये गायत्रीविद्यायां तस्य वा
एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषिरा इत्युपक्रम्याथ यावत्स्य दक्षिणः सुषिरः
स व्यानस्तच्छ्रोत्रमित्यनेन व्यानस्य दक्षिणसुषिरतो निर्गमनमुक्तमित्य-
न्वाह्वार्यपचनसादृश्यं दक्षिणदिक्स्वाम्बलं व्यानस्येतिव्यानोऽन्वा-
ह्वार्यपचन इत्यर्थः ॥३॥

अत्र चेति ॥ अग्निहोतस्य होता हामस्य कर्त्ता ऋत्विगुच्यते
उत्तरवाक्येनेति शेषः । अत्रोच्छ्वासनिश्वासयोरज्जतित्वस्य पूर्वमस्ति-
द्वित्वेन रिद्धवन्निर्देशायोगात् स समान इति तच्छब्दान्वयाच्च वाक्य-
त्वयं कृत्वाऽन्वयत्वयेण योजयति । यद्यस्मादिति ॥ उच्छ्वासनिश्वासा-
वित्यनन्तरमाज्जतीति, पदं भाष्येऽध्याहृतैतादुच्छ्वासनिश्वासौ आज्जती ।
आहवनीयाधिकरणाग्निहोत्राज्जतीवद्वित्वसामान्यादेवेत्येकोऽन्वयः । अन-
न्तरं भाष्ये तच्छब्दश्चार्थे श्रुतिगत इति शब्दस्तस्मादित्यर्थः । यस्मादेत-
वाज्जती यस्माच्चैतौ समं नयति शरीरस्थितिभावाय सास्येन नयति
प्रवर्त्तयति यो वायुर्हृदयादग्निहोत्रे होतवर्त्ता आज्जतिद्वयमाहवनीयं

स समानः । मनो ह वाव यजमान इष्टफल-
 तस्माद्विद्वान्नाकर्षीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः । सर्वेदा
 सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्नपि स्वपत इति हि वाजसने-
 यके । अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषुपहत्य वाह्यकरणानि
 विषयांश्चाग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो
 ह वाव यजमानो जाग्रति यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधा-
 न्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रतिप्रस्थितत्वाद्यजमानो
 मनःकल्पते । इष्टफलं यागफलसेवोदानो वायुः । उदान-
 निमित्तत्वाद्विष्टफलप्राप्तेः । कथं स उदानो मनश्चाख्यं
 यजमानं स्वप्रवृत्तिरूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्तिकाले
 स्वर्गमिव ब्रह्माचरं गमयति । अतो यागफलस्थानीय
 उदानः ॥४॥

प्रति समं नयति प्रापयति तद्वत् तस्मादाहुर्व्योर्नेहत्वात् वायुर्होतेति
 यच्छब्दहोतृशब्दाध्याहारेण द्वितीयोऽन्वयः । कोऽसौ वायुरिति
 तद्विशेषप्रश्ने स होता वायुः स समान इति तृतीयान्वय इति विभागः ॥
 ननु प्राणाग्नयः इत्यत्र सर्वेषां प्राणानामग्निलोक्तेः कथमिह समानस्य
 होतृत्वमुच्यत इत्याशङ्केताक्तम् । अग्निस्थानीयोऽपीति । अग्नित्वेनोक्तो-
 ऽपीति भावः । होता चेति चकारोऽवधारणे होतैवेत्यर्थः । आहुति
 नेहत्वाद्बोहत्वे स्थितेऽग्निलोक्तिः । कृत्विन्यायेनाग्नयः अग्निमुद्राये
 लाक्ष्णिकोऽर्थः । अवस्थातयवर्त्तिनामुच्छ्वासनिश्वासाप्राणानाञ्चाग्नि-
 होताऽवयवसम्पादनस्य नोपासनं प्रयोजनम् । निर्विशेषात्मप्रकरणा-
 त्वात्तद्विध्यदर्शनाच्च किन्त्रिन्द्रियाण्युपरमन्ते प्राणा जाग्रतीति ॥ एवं
 त्वंपदार्थशोधनरूपस्य ज्ञानस्य स्तुतिरेवेत्याह । अतश्चेति ॥ सर्वदेति-
 वाजसनेयके हि वाक्चितः प्राणश्चितश्चक्षुश्चित इत्यादिना सर्वप्राण-
 व्यापारेषु प्रत्येकमग्निचितत्वदृष्टिर्विधायैवं दृष्टिमातः सर्वाणि भूता
 न्यस्य स्वापकालेऽपि चयनं कुर्वन्तीति सदृष्टिस्तुता तद्वदिहापीत्यर्थः ।
 अत्र हीति ॥ अत्र मनो यजमानः कल्पित इति व्यवहृताख्यः ।

मेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गम-
यति ॥४॥

अतैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति ।

एवं विदुषः ओत्ताद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तो-
त्थितो भवति तावत्सर्वेयागफलानुभवेनाविदुषामिवानर्था-
येति विद्वत्ता स्तूयते । न हि विदुष एव ओत्तादीनि
स्वपन्ते प्राणान्नयो वा जाग्रति । जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः
स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते । समानं

तत्कल्पनायां हेतुद्वयमाह । यजमानवदिति ॥ हेतुद्वयं साधयति ।
जाग्रत्स्थिति ॥ अत्र स्वप्नकाले विषयान् करणानि घोषसंहृत्य मनो
जागर्त्ति । प्राधान्येन स्वयापारं कुर्त्तुमर्त्तते । अग्निहोतृफलं स्वर्गं
जिगमिषुर्यजमान इव सुषुप्ति काले स्वर्गरूपब्रह्म जिगमिषु च मन
इत्यन्वयः । माय्ये यजमान इत्यनन्तरमिवशब्दो द्रष्टव्यः । हवावशब्देन
तत्प्रसिद्धमित्युक्तम् । इष्टेति उदाननिमित्तकरणानन्तरं यागादिफल
प्राप्तेः । तस्य तन्निमित्तत्वात्कारणे कार्योपचारादुदान इष्टफलत्वेन
कल्प्यत इत्यर्थः । न केवलं मरणद्वारा यागफलप्रापकत्वमुदानस्य
किन्तु तस्यैवानन्दस्यान्यानि भुतानि मात्मासुपजीवन्तीति श्रुतेः सर्व
यागफलानामपि ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मप्रापकत्वादपि ॥ अहरहर्इष्टफल
प्रापकत्वमुदानस्येति प्रश्नपूर्वकमाह । कथमिति ॥ स्वर्गमिवेति
स्वर्गमेवेत्यर्थः । सर्वयागफलात्मकस्वरूपमेव ब्रह्मावरं गमयतीत्यर्थः ।
यद्यप्यहरहर्ब्रह्मप्राप्तिर्न यागसाध्या यागरहितानामपि तत्प्राप्तेः
तथापि ब्रह्मण एव सर्वयागफलत्वेन तत्प्रापकस्योदानस्येष्टफलप्राप-
कत्वमस्तीति भावः । न चोदानस्य कथं तत्प्रापकत्वमिति शङ्क्यम् । तस्य
सुषुम्नानाडीचारित्वेन समस्तनाडीः प्रवेशयन्तं ऊतं ब्रह्म प्रापयती-
त्युपपत्ते ॥४॥

ननु गार्ग्यपत्न्यो वा एषो उपान इति श्रुतिमारभ्य मनो ह वाय वज-

यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुष्ट-

हि सर्वे प्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिगमनं अतो विद्वत्तास्तुतिरेवेयमुपपद्यते । यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यतीति तदाह । अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देह-रक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः एतस्मिन्नन्तराले एष देवोऽर्करश्मिवत्स्वात्मनि संहतश्रो-त्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषयविषयिलक्षण-मनेकात्मभावगमनमनुभवति प्रतिपद्यते । ननु महिमानु-भवने करणं मनोऽनुभवितुस्तत्कथं स्वातन्त्र्येणानुभवती-त्युच्यते स्वतन्त्रोऽपि क्षेत्रज्ञः । नैष दोषः । क्षेत्रज्ञस्य स्वात-न्त्र्यस्य मनोऽपाधिकृतत्वान्न हि क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः स्वपिति जागर्त्ति वा । मनोऽपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीवे-त्यादि । तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव । मनोऽपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयं ज्योतिष्ट्वं बाधत इति केचित् । तत्र श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्ति-मान इति श्रुत्यन्तेन ग्रन्थेन विद्वान् कर्म्मि न भवतीति सूयत इत्युक्त-मस्तु । एवं तत्वाग्निहोत्रादिकर्म्मप्रतीतेरुदानस्य यागफलस्थानीयत्वो-क्तेस्तु न तत्फलत्वं तत्र कर्म्मप्रतीतेरत आह । एवं विदुष इति ॥ विद्वत्तेति श्रोत्रादीनि स्वप्ने उपरमन्ते प्राणा एव जाग्रतीत्येवरूपा विद्येत्यर्थः । अस्याश्च विद्याया जागरणं श्रोत्रादिवाह्येन्द्रियधर्म्मः । शरीररक्षणं प्राणधर्मो नात्मधर्म इत्येव त्वंपदार्थविवेकरूपत्वात् स्तोतव्यत्वोपपत्तिः । अत एव प्राणजागरणस्याविद्वत्साधारणत्वात्कथं विद्वत्तास्तुतिरित्यपि शङ्का निरस्ता तस्यैवभूतविवेकाभावादिति ॥ ननु विद्याप्रकरणत्वादस्य विदुषः श्रोत्राद्युपरमादिकं सर्वं भवतीति विधीयतां किं स्तुत्येत्याशङ्क्य विद्वद्विद्वत्साधारण्येन स्वयमेव भवतो

योति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः

स्तेषां । यस्मात् स्वयं ज्योतिष्वादिदिव्यवहारोऽप्यामोक्षान्तः
सर्वोऽविद्याविषय एव मनश्चाद्युपाधिजनितः । यत्र वा
अन्यदिव स्यात्तत्तान्योऽन्यत्प्रत्येकमात्रं संसर्गस्वस्य भवति ।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यादिश्रुतिभ्यः ।
अतो मन्द ब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न त्वेकात्मविदाम् । नन्वेवं
सत्यत्वायं पुरुषः स्वयं ज्योतिरिति विशेषणमनर्थक-
मलोच्यते । अल्पमिदमुच्यते य एषोऽन्तर्हृदय आका-
शस्त्वस्मिञ्चेत इति । अन्तर्हृदयपरिच्छेदे सुतरां स्वयं
ज्योतिष्ट्वं बाध्येत सत्यमेवमयं दोषो यद्यपि स्यात्स्वप्ने
केवलतया स्वयं ज्योतिष्टेनार्द्धन्तावदपनीतं भारस्येति

न विधेयत्वमित्याह । न हीति ॥ विदत्तास्तुतिरेवेति ॥ ओत्वादिकं
परे देवे मनस्येकीभवति प्राणाग्नयो जायतीत्यत्र पदार्थविवेकरूपं ज्ञानं
विवक्षितं तज्ज्ञानं गार्हपत्यो वा एषो उपान इत्यादिना स्तूयते उक्त
प्रकारेण त्वर्थः ॥ तृतीयप्रश्नोत्तरत्वेन कतर एष इत्यादि सर्वः पश्य-
तोत्यन्तं व्याचष्टे । यदिति । कतर इति ॥ अत्रेति श्रौतं पदं गृहीत्वा
व्याचष्टे । उपरतेष्वित्यादिना अन्तराले इत्यन्तेन ॥ अनेकेति विषयवि-
षयाद्यनेकभावगमनमित्यर्थः ॥ इदञ्च महत्त्वव्याख्यानं स्वप्नद्रष्टुर्जीवस्य
स्वातन्त्र्यवक्तव्यं देवशब्दितमनसस्तदुक्तिः ॥ स्वप्नो मनोधर्मा नात्मधर्मा ।
आत्मनि तु तदारोपमात्रं लोकस्येति ख्यापनार्थेति शङ्कापरिहाराभ्या-
माह । नन्विति ॥ मनोऽपाधिज्ञतमिति बाह्येन्द्रियप्रयुक्तं मनोऽपाधि-
ज्ञतं जागरणं केवलं मनोऽपाधि ज्ञतः स्वप्न इत्यर्थः ॥ स्वप्नस्य धोशब्द-
वाच्यतनः परिणामत्वात् । स्वप्नो भूतेति श्रुतौ सामानाधिकरण्य-
निर्देश इति द्रष्टव्यम् । नन्विदं श्रुतिर्विभूत्यनुभवेन स्वातन्त्र्यं न वक्तुं न
शक्नोति श्रुत्यन्तरविरोधापत्तेः । अतोऽत्र देवशब्देन चेतनं त्ववाच्यते ।
तस्यैव स्वतः स्वातन्त्र्यमिति शङ्कते । मन इति ॥ स्वयं ज्योतिष्टमिति
स्वयं ज्योतिष्ट्वोपधकश्रुतिरित्यर्थः । अन्यथा द्वितीयसत्त्वेऽपि दीपादो-

चेन्न । तत्रापि पुरीततिनाडीषु श्वेत इति श्रुतेः पुरीतति-
नाडीसखन्वात्ततापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिर्देनाद्विभारा-
पनयाभिप्रायो मृषैव कथं तर्ह्येतायं पुरुषः स्वयंज्योति-
रिति । अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेन्न ।
अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजि-
ज्ञापयिषितो बुभुक्षितश्च । तस्माद्युक्ता स्वप्ने आत्मनः

नामिव वास्तवस्य तस्य बाधाभावादित्यत्र किं मनसः सत्त्वे ज्योतिर-
न्तस्य मनसो विद्यमानत्वादात्मनः स्वयं ज्योतिर्बोधनं न शक्यमिति
श्रुतेः कार्यस्य बोधनस्य बाधोऽभिप्रेतः उत तद्बोधनरूपकार्यसिद्धयर्थं
मनसोऽभावोऽपि विवक्षितः श्रुतौ ततश्च तत्सत्त्वे श्रुत्यर्थबाध इति वा ।
नाद्यः । मनसि सत्यपि एवं तर्हीति वक्ष्यमाणरीत्या मनसो दृश्यत्वेन
ज्योतिर्द्वायोगेनात्मन एव स्वयं ज्योतिर्द्वस्य बोधयितुं शक्यत्वादित्याह ।
तन्नेति । न द्वितीयः । तदानीं मनसाऽभावस्तु श्रुत्यर्थे एव न भवती-
त्याह । श्रुत्यर्थेति ॥ आत्मनो ज्योतिर्द्वाबोधनात्मकव्यवहारस्य प्रकाश्या-
दिसापेक्षत्वात्तस्मिन् सत्येवैतद्बोधसाधने मनआद्यौ च सत्येव तद्बोधयितुं
शङ्क्यते । नान्यथेति ॥ मनआद्यभावो न श्रुतो विवक्षितः तथा सति
तद्बोधनाशक्तेरित्याह । यस्मादिति ॥ तत्र मानमाह । यत्र वेति ॥
द्वितीयाभावे व्यवहारो नास्तीत्यत्रापि मानमाह । मात्रेति ॥ दृश्यमा-
त्राशब्दार्थः असंसर्ग इतिच्छेदः । दृश्यासंसर्गे सुषुप्तौ विशेषविज्ञानाभा-
वोक्त्या द्वितीयाभावे व्यवहारो नास्तीत्यर्थः ॥ अतो न द्वितीयः कल्पः
सम्भवतीत्याह । अत इति ॥ ननु यदि स्वयंज्योतिर्बोधनार्थं मन-
आद्यभावो नापेक्षितः जागरितेऽपि तर्हि तद्बोधनसम्भवादित्येति स्वप्नवा-
चिविशेषणमनर्थकमिति शङ्क्यते । नन्वेति ॥ किं विशेषणबलान्मनसो-
ऽभावः सिषाधयिषितः उत विशेषणस्य गतिमात्रं पृच्छ्यते । नाद्यः ।
मनसोऽभावाङ्गीकारेऽप्यनर्हं दयाकाशस्य तत्कृतपरिच्छेदस्य च श्रुति-
सिद्धत्वेन त्वन्मतेऽपि तत्र स्वयंज्योतिर्बोधनासम्भवात् ॥ विशेषणानर्थक्यं
सुल्लभित्याह । अतोच्यत इति । परिच्छेदोऽधिकोऽतोच्यत इति तैरयं

प्रत्यनुभवति दृष्टञ्चादृष्टञ्च श्रुतञ्चाश्रुतञ्चानु-

स्वयं ज्योतिष्टोपपत्तिर्वक्तुम् । श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात् ।
एवं तर्हि श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वप्रभिमानं न त्वभिमानेन
वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितस्मृत्यैः ।
यथा हृदयाकाशे पुरीततिनाडीषु च स्वपतस्तत्त्वस्वन्धा-
भावात् ततो विविच्य दर्शयितुं शक्यत इति । आत्मनः
स्वयं ज्योतिष्ट्वं न बाध्यते । एवं मनस्यविद्याकाशकर्म-

प्रयोगः । स्वयं ज्योतिष्ट्वमिति तद्बोधनमित्यर्थः ॥ यथाश्रुते वास्तवस्य
तस्य बाधस्यानाशङ्क्यतादिति । यद्यपि स्वप्नेऽन्तर्हृदयाकाशसत्त्वा-
त्त्वस्य स्वयं ज्योतिष्ट्वं बोधयितुं न शक्यमिति दोषस्तु त्वतथापि स्वप्ने
मनसोऽभावेन तद्बोधनप्रतिबन्धकस्याभावाददूषविप्रकर्षेण स्वयं ज्योतिष्ट्वं
स्वप्ने बोधयितुं शक्यमिति तद्विशेषणमर्थवदिति शङ्कते । सत्यमिति ॥
स्यादित्यनन्तरं तथापीति शेषः । केवलतवेति मनसोऽभावेनेत्यर्थः ।
भारस्येति प्रतिबन्धकस्येत्यर्थः । शेषबोधनं तु सुषुप्ते भविष्यतीत्यभिप्रायः ।
एवं तर्हि सुषुप्ते सर्वस्यायभावाभावात् सत्यगबोधनं विवक्षणीयं न च
तत्त्वम्भवति । तत्रापि बद्धप्रतिबन्धकस्य विद्यमानत्वादित्याह । न तत्रा-
पीति । सुषुप्तेऽपीत्यर्थः । तत्रापीति स्वप्नेऽपीत्यर्थः । सुषुप्ते चेत्सर्वभाराप-
नयः स्यात्तदा स्वप्नेऽर्द्धभारापनयाभिप्रायो वर्णयितुं शक्यते न च तदस्ति ।
अतोऽत्रेति विशेषणं तदध्ययनार्थककथनावसरे कैव श्रुतिगतविशेषणस्य ग-
तिर्न वक्तव्या ॥ प्रकृतानुपयोगादिति सिद्धान्तैकदेशी कश्चिन्नन्दः शङ्कते
अन्येति ॥ सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायेनाथर्वश्रुतिविरोधेनैकवाक्यतया
श्रुत्यर्थस्य वर्णनीयत्वात्तदविरोधोऽपि वक्तव्य इति पूर्ववाद्याह ।
नार्थैकत्वस्येति ॥ तर्हि का एव श्रुतिरर्थाभावान्तर्ज्यतामत आह ।
श्रुतेर्यथार्थेति ॥ स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनविधेरर्थावबोधफलत्वा-
त्तुल्यञ्च सास्त्रदायिकमिति न्यायज्ञानरमात्स्वध्यायनार्थक्यायोगादि-
त्यर्थः ॥ एवमेकदेशिनि दूषिते सिद्धान्त्युत्तरमाह । एवं तर्हीति ॥ तत्त्व-
दावेक मुख्यश्रुत्यर्थ उच्यतां किं पूर्वोक्तरीत्या पञ्चान्तराशङ्का तन्निराक-

भूतज्ञाननुभूतञ्च सर्वं पश्यति सर्वं पश्यति

॥ ५ ॥

निमित्तोद्भूतवासनावति कर्म्मनिमित्ता वासनाऽविद्यया-
ऽन्यद्वस्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य
द्रष्टृवासनाभ्यो हृद्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुद-
र्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते । तस्यात्साधूक्तं
रणाभ्यामित्याशङ्क्य पाण्डित्याभिज्ञानवतो यथावदर्थबोधेऽनधिकारा-
त्तस्य तदभिमानावतारचिकीर्षया तदीयनानापक्षा निराकृता इति
वक्तुं सर्वमभिमानं निरस्येत्याद्युक्तम् । स्वयंज्योतिर्वायुतेरनतिशङ्का-
त्वाद्द्विधात्स्वप्नादौ हृदयाकाशादिसत्त्वेऽपि तत्सम्बन्धप्रतीत्यभावाद्विद्य-
मानस्याप्यविद्यमानतुल्यत्वेनात्मनः केवलत्वात्प्रकाशदर्शनाच्च स्वयंज्यो-
तिर्द्विमिति बोधनीयं मनसोऽभावादिनाप्येवं मनसि सत्यपि तस्य
वासनामयगजतरगादिविषयतया परिणामाद्दृश्यत्वाच्च द्रष्टुः । ततो
भेदेन विवेकतः श्रुत्या स्वप्रकाशत्वं बोध्यत इत्याह । यथेत्यादिना ॥
मनसीति सत्यमिति शेषः । ननु मनस्वेदविद्यादिनिमित्तवशाज्जतर-
गादिरूपेणाभिव्यक्तवासनावत्तर्हि जाग्रतीय तस्याहन्तयैव प्रतीतिः
स्यान्नेदन्तयाऽत आह । कर्म्मनिमित्तेति ॥ तथा प्रतीतिं विना स्वप्ने
भोगासिद्धेः स्वप्नभोगप्रदकर्म्मनिमित्तवशाज्जाग्रति गजादीनामिदन्त-
याऽनुभवेन तद्वासनानामपि तथैवानुभवार्हत्वेन तद्वासनारूपविद्या-
यशाच्च वासनाश्रयस्य मनस इदन्तयैव वस्वन्तरवत्प्रतीतिरित्यर्थः ।
इदञ्च विशेषणं मनसो विषयत्वेन विषयित्वासम्भवाद्विषयिण आत्मन
एव स्वप्रकाशरूपत्वमिति वक्तुं जाग्रत्यादित्यादिकार्यं ज्योतिषां
चक्षुरादिकरणज्योतिषाच्च सत्त्वेन तत्संकीर्णत्वेनात्मनः स्वयंज्योतिर्द्वं
दुर्वाधम् । स्वप्ने तु तदभावात्सुबोधमिति वक्तुं सर्वकार्येत्यादिविशेषणम् ।
स्वप्ने आदित्यादिकार्यकरणज्योतिषां भासमानत्वेऽपि तेषां वासनामा-
त्रत्वाद्दृश्यत्वाच्च विषयप्रकाशनासासर्थमिति वक्तुं वासनाभ्य इति
विशेषणम् । एतैश्च विशेषणैः स्वप्न एव एवमभूतस्वयंज्योतिष्टस्य बोधयितुं

मनसि प्रलीनेषु करणेष्वप्रलीने च मनसि मनोमयः
 स्वप्नान् पश्यतीति । कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते ।
 यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः पुत्रमित्रा-
 दिवासनासमुद्भूतं पुत्रमित्रमिव चाविद्यया पश्यतीव
 मन्यते तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयानुष्ठयोतीव देशदिगन्त-
 रैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनु-
 भवतो वा ऽविद्यया तथा दृष्टञ्चास्मिन् जन्मन्यदृष्टञ्च
 जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः । अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः । एवं
 श्रुतञ्चाश्रुतञ्चानुभूतञ्चास्मिन् जन्मनि केवलेन मनसाऽननु-
 भूतञ्च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः । सच्च परमार्था-
 दकादि । असच्च मरीच्युदकादि । किं वज्रना उक्तं सर्वं
 पश्यति सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन् एवं सर्व-
 करणात्मा मनोदेवः स्वप्नान् पश्यति ॥ ५ ॥

शक्यत्वादन्यत्वासम्भवादत्वायमिति श्रुतौ स्वप्नविशेषणग्रहणमर्थवदित्युक्त-
 मिति द्रष्टव्यम् । स्वयंज्योतिष्ठमिति सिद्धमिति शेषः । अतः काण्वश्रुतौ
 स्वप्ने मनसोऽभावविवक्षाकारणाभावेन तद्विरोधाभावादत्र देवशब्देन
 परदेवे मनस्येकीभवतीत्युक्तम् ॥ मन एवोच्यत इत्युक्तमुपसंहरति । तस्मा-
 दिति ॥ नन्विन्द्रियाणामुपरतत्वादिप्रयसस्वप्नाभावात् कथं मनसो
 महिमानुभव इति शङ्कते । कथमिति ॥ पूर्वं ज्ञातस्यैव स्वप्नो ज्ञानाक्षस्य
 वासनामात्रत्वमतो नेन्द्रियापेक्षेत्याह । उच्यत इति ॥ दिति यन्मित्रं
 पुत्रं वा पूर्वं दृष्टवान् तदेव दृष्टं पुत्रमित्रादिविषयवासनासमुद्भूतं
 मित्रं पुत्रं वाऽविद्यया पश्यतीति । दृष्टवानित्यादिप्रदाध्याहारेण वाक्यं
 योज्यम् । अन्यथा पुत्रमिति द्वितीयाया यच्छब्दस्य चानन्वयः स्यादिति ॥
 चक्षुरभावे तद्दर्शनायोगान्मन्यत इत्युक्तम् । तथेति । अत्रापि योऽर्थः
 श्रुतस्तमेव श्रुतमर्थमित्यध्याहारेणैव श्रुतिर्दोष्या ॥ देशो नदीतीरादिः ।
 दिक्प्राच्यादिरिति भेदः । प्रत्यनुभूतं प्रतिवारजनुभूतं पुनः पुनरनेक-

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति । अत्रैष
देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीरे एत-
त्सुखं भवति ॥ ६ ॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन् काले सौरेण चिन्ता-
ख्येन तेजसा नाडीशये सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृ-
तवासनाद्वारो भवति तदा सह करणैर्मनसो रश्मयो
हृद्युपसंहृता भवन्ति । तदा मनोदामनो दावाग्नि-
वदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा
सुषुप्तो भवति । अत्रैतस्मिन् काले एष मनआख्यो देवः
स्वप्नान्नपश्यति दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वात्तेजसा । अथ तदैत-
स्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशे-
षेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ एतस्मिन्

दिनेष्वनेकस्त्रिंशन्नुभवतीत्यर्थः ॥ जन्मान्तरदृष्टमिति व्याख्याने हेतु-
माह । अत्यन्तेति ॥ अनुभूतञ्चेत्यस्य प्रत्ययस्य प्रत्यनुभूतमित्यनेन पुन-
रुक्तिमाशङ्क्याह । केवलेनेति ॥ पूर्वमिन्द्रियद्वारकानुभव उक्त इत्यसौ
पुनरुक्त इत्यर्थः ॥ सर्वदर्शने हेतुमाह । सर्व इति ॥ ५ ॥

कस्यैतत्सुखं भवतीत्यस्योत्तरं तदपेक्षितं वदन्नाह । स यदेति ।
चिन्ताख्येति इदमुपलक्षणं चिद्रूपेण ब्रह्मणा चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तन्मतः
प्राणमेवोपश्रयत इति अत्यन्तरेण प्राणशब्दिते ब्रह्मणि तस्य
क्षयाभिधानात्तिरस्कृतेति वासनाभिष्यक्तौ द्वारं स्वप्नभोगप्रदं कर्मा-
यत्तन्तिरस्कृतं ततोपरतं भवति तेजःशब्दितं ब्रह्मचैतन्यसम्बन्धा-
दित्यरश्मय इति वासनेत्यर्थः । अविशेषविज्ञानेति सामान्यचैतन्यरूपे-
त्यर्थः । चेतनाशब्दितसामान्यवृत्तिरूपेण वाग्नेन सुषुप्तमुक्त इत्याह ।
तदेति ॥ नन्वथैतत्सुखं भवतीत्युक्तं जन्यसुखस्य तदानीमसम्भवात्सु-
खरूपसुखस्य पूर्वमपि समत्वेन तदा भवतीत्यनुपपत्तेरित्याशङ्क्य स्वरूप-

स यथा सोम्य वयांसि वासो दृक्षं सम्प्र-
तिष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि
सम्प्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमाता चापश्चापोमाता

कालेऽविद्याकामकर्म्मनिबन्धनानि कार्यकरणाणि शा-
न्तानि भवन्ति । तेषु शन्तेष्व्वात्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा
विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां
पृथिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह ।
स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सौम्य प्रियदर्शनं वयांसि
पक्षिणो वासार्थं दृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति एवं यथा
दृष्टान्तो ह वै तद्वत्प्रमाणं सर्वं परे आत्मन्यक्षरे सम्प्रति-
ष्ठते ॥ ७ ॥

किन्तत्सर्वम् । पृथिवी च पृथिवीमाता च ।
आपश्च आपोमाता च । तेजश्च तेजोमाता च । वायुश्च
वायुमाता च । आकाशश्चाकाशमाता च । स्थूलानि
सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः । तथा चक्षुरिन्द्रियं द्रष्टव्यञ्च ।
सुखमेव विशेषविज्ञानरूपविज्ञेयाभावे निर्व्यातस्थदीपप्रभावत्स्यक्-
प्रकाशते तदपेक्षमेव तद्वचनमित्याह । यद्विज्ञानमिति ॥ विज्ञानरूपं
स्वरूपसुखमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अनेनानन्दमयकोशशब्दतमनभिव्यक्तं मनश्चादिवासनावज्ञज्ञानं
सुषुप्तिधर्मीत्युक्तम् ॥ पञ्चमप्रश्नस्योत्तरं तुरीयस्वरूपं विवेकसौकर्यादि-
विद्यावैबोध्यत इत्याह । एतस्मिन्निति ॥ पूर्वमन्यथा विभाव्यमान-
मित्यर्थः । मात्रानुप्रवेशेनेति मात्राणां विवेकतोऽक्षरेऽनुप्रवेशेनेत्यर्थः
॥ ७ ॥

आपोमाता इत्यत्र विभक्त्यलोपश्चान्दसः । स्थूलानि चेति पञ्चीक-

च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा
चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च
श्रोत्रञ्च श्रोतव्यञ्च घ्राणञ्च घ्रातव्यञ्च रसश्च
रसायितव्यञ्च त्वक् च स्पर्शयितव्यञ्च वाक् च
वक्तव्यञ्च हस्तौ चादातव्यञ्चोपस्थश्चानन्दयित-
व्यञ्च पायुश्च विसर्जयितव्यञ्च पादौ च गन्त-
व्यञ्च मनश्च मन्तव्यञ्च बुद्धिश्च बोद्धव्यञ्चाह-
ङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यञ्च चित्तञ्च चेतयितव्यञ्च
तेजश्च विद्योतयितव्यञ्च प्राणश्च विभारयित-
व्यञ्च ॥ ८ ॥

श्रोत्रञ्च श्रोतव्यञ्च । घ्राणञ्च घ्रातव्यञ्च । रसश्च रसायित-
व्यञ्च । त्वक् च स्पर्शयितव्यञ्च । वाक् च वक्तव्यञ्च । हस्तौ
चादातव्यञ्च । उपस्थश्चानन्दयितव्यञ्च । पायुश्च विसर्ज-
यितव्यञ्च । पादौ च गन्तव्यञ्च । बुद्धीन्द्रियाणि कर्म्मन्दि-
याणि तदर्थोक्तः । मनश्च पूर्वोक्तम् । मन्तव्यञ्च तद्वि-
षयः । बुद्धिश्च निश्चयात्मिका । बोद्धव्यञ्च तद्विषयः ।
अहङ्कारश्चाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहङ्कर्तव्यञ्च तद्वि-
षयः । चित्तञ्च चेतनावदन्तःकरणम् । चेतयितव्यञ्च तद्वि-
षयः । तेजश्च त्वगिन्द्रियव्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या
त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम् । प्राणश्च सूत्रं
तानि चेत्यर्थः । ततश्च पञ्चीकरणमेतच्छ्रुतिसिद्धमित्युक्तमन्यथा आकाश-
मात्रयोः पृथगुक्त्यनुपपत्तेरिति ॥ यद्यपि मन्तव्यादयो मनश्चादिवत्तद्व्य-
विषया अपि द्रष्टव्यादिविषया एव न पृथक् तथापि मन्तव्यादिरूपेण पृ-
थङ्निर्दिष्टा इति द्रष्टव्यम् । प्रकाशविशिष्टा या त्वगिति त्वगाश्रयं चक्षुः

एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता धाता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स
परे ऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ ६ ॥

यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रहणीयं सर्वं कार्य-
कारणजातं परार्थेन संहतं नामरूपात्मकमेतावदेव
॥ ८ ॥

अतःपरं यदात्मरूपं जगत्कर्तृ सूर्यकादिवद्भोक्तृत्व-
कर्तृत्वेनेहानुप्रविष्टम् । एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता धाता
रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषो विज्ञानं
विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्ध्यादि ददन्तु विजानातीति
विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातस्व-
भाव इत्यर्थः । पुरुषः कार्यकरणसङ्घातोक्तोपाधिपूर्ण-
त्वात्पुरुषः । स च जलसूर्यकादिप्रतिविम्बस्य सूर्यादिप्रवेश-
वज्जलाद्याधारशोषे परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ ६ ॥

तत्प्रकाशनिर्भास्यञ्च तदेवेत्यर्थः । पृथिवी चेत्यादिना विधारयितव्यञ्चे-
त्यन्तेनात्मव्यतिरिक्तं तदुपाधिभूतं सर्वं शोक्तमित्याह । सर्वं हीति
॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टेत्यादिनोपहितस्वरूपमुच्यत इत्याह । अतःपरमिति ॥
द्रष्टेत्युपाधिकृतमपि द्रष्टृत्वादिकमुपाधिव्यतिरिक्तोऽनुपहिते आत्मन्या-
रोपितं स्फटिके लौहित्यवदस्तीत्युपाधिभिन्नोऽप्यात्मा द्रष्टेत्यादिनोक्तः ।
विज्ञानात्मत्वत्वं द्रष्टेत्यादाविव कर्तृवाचकत्वचोऽभावादिज्ञानं यच्च
तनुत इत्यादाविव बुद्धेरभिधाने पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह । विज्ञानमिति ॥
करणभूतमिति विज्ञानमय इत्यादावित्यर्थः ॥ एष हीति हिशब्दश्च-
शब्दार्थकः स च सम्प्रतिष्ठित इति क्रियानुकर्षणार्थ इति वदन्
द्रष्टुरात्मनः पृथिव्यादिवत्स्वरूपेणाक्षरे लयो न सम्भवतीत्याशङ्क्यो-
पाधिलये उपहितरूपाभावमेवास्य लय इत्याह । स चेति ॥ ६ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तद-
च्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते
यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष
श्लोकः ॥ १० ॥

तदेकत्वविदः फलमाह । परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशे-
षणं प्रतिपद्यत इत्येतदुच्यते । स यो ह वै तत्सर्वेषणावि-
निर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम् । अशरीरं नाम रूपसर्वो-
पाधिशरीरवर्जितम् । अलोहितं लोहितादिवत्सर्वगुण-
वर्जितम् । यत एवमतः शुभ्रम् । सर्वविशेषणरहित-
त्वादक्षरम् । सत्यं पुरषाख्यम् । अप्राणममनोगोचरम् ।
शिवं शान्तं सवाच्याभ्यान्तरमजं वेदयते विजानाति ।
यस्तु सर्वत्यागो सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किञ्चि-
त्सम्भवति । पूर्वमविद्ययाऽसर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाऽ-
विद्यापनये सर्वो भवति तदा तस्मिन्नर्थे एष श्लोको बन्तो
भवति ॥१॥

एवं जायदादीनामन्यधर्मत्वोक्त्या शोधिततृतीयांशानुवादेन तस्या-
क्षरैक्याभिधानपुरःसरं तद्ज्ञानस्य फलमुच्यत उत्तरवाक्येनेत्याह ।
तदेकत्वेति ॥ यक्ष्यमाणलक्षणमक्षरं प्रतिपद्यते इत्येकं रूपं फल-
माहेत्यन्वयः । उत्तरवाक्यमिति शेषः । उक्तमर्थं श्रुत्यक्षराकृदमाह ।
एतदुच्यत इति ॥ स इत्यस्यार्थमाह । सर्वेति ॥ अत्राधिकारिणो
दुर्लभत्वं स यो ह वा इत्यनेनोक्तम् । स यः कश्चिदेवापूर्वं वदच्छाया-
दिविशेषणमक्षरं वेदयत इत्येकं वाक्यं समापनीयम् । यस्तु वेदयते
स सर्वज्ञ इति वाक्यान्तरं कार्यमन्यथा यच्छब्दरूपातन्वयादाद्यवा-
क्येऽप्यादिविशेषणत्वेण कारणरूपस्य शूलशरीरत्वयनिराकरणेनाव-

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा
भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत् । तदक्षरं वेदयते
यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

इति चतुर्थप्रश्नः समाप्तः ॥४॥

उक्तार्थसंग्राहको विज्ञानात्मा सह देवैश्चान्यादिभिः
प्राणश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि सम्प्रतिष्ठन्ति
प्रविशन्ति । यत् यस्मिन्क्षेत्रे तदक्षरं वेदयते यस्तु
सोम्य प्रियदर्शनः स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश आविशती-
त्यर्थः ॥११॥ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये चतुर्थप्रश्नः समाप्तः ॥४॥

स्यात्वनिराकारेणावस्थावराहित्यमनूद्यते । लोहितादिगुणव-
र्जितमित्यनेन तद्गुणकस्थूलशरीरवर्जितमिति प्रतीतेः शुभ्रमित्यनेन
तमेव तुरीयमनूद्य तस्याक्षरसामान्याधिकरण्येनैक्यमुक्तमिति विवेकः ।
अत्राक्षरमित्यनेनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं सवाच्याभ्यन्तरो ह्यजो-
ऽप्राणो ह्यमराः शुभ्र इति मन्त्रोक्तानि सर्वाणि विशेषणा-
न्यात्मोपलक्षणा न्यात्मोपलक्षणार्थं सङ्गृहीतानीत्याह । सत्यमित्या-
दिना ॥ यस्तु सर्वत्यागीत्यत्रापि वाक्ये वेदयत इत्यस्यानुषङ्गः ।
अत्र सर्वज्ञ इत्यनेन कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भव-
तीति प्रतिज्ञातं सर्वविज्ञानमुक्तम् । सर्वात्मत्वस्य ज्ञानजन्यत्वेऽनि-
त्यत्वं स्यादत आह । पूर्वमिति ॥ एवं चारोपनिषत्तिद्वाराऽभूतत-
द्भावो विवक्षित इत्याह । सर्वो भवतीति ॥ अग्न्यादिभिरिति ।
ततश्च चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्चेत्यत्रापि चक्षुरादिभिर्देवा अक्षुपलक्षिता
इति व्याख्यातम् ॥१०॥११॥ इति चतुर्थप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीका समाप्ता
॥४॥

अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स
यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारम-
भिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जय-
तीति ॥१॥

अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ । अथेदानीं
परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनौङ्कारस्योपासनविधित्वया प्रश्न
आरभ्यते । स यः कश्चिद्भगवै भगवन्मनुष्येषु मनुष्याणां
मध्ये तद्भगुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तं यावज्जीवमित्येत-
दोङ्कामभिध्यायीत आभिमुख्येन चिन्तयेत् । वाह्यविषयेभ्य
उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशित ब्रह्मभावे
ओंकारे आत्मप्रत्ययसन्तानाविच्छेदो भिन्नजातीयप्रत्य-
यान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थादीपशिखासमोऽभिधान-
शब्दार्थः । सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहत्यागसन्नप्राप्तशौ-
चसन्तोषामायावित्वाद्यनेकयमनियमानुष्ठेयः स एवं
यावज्जीवव्रतधारणः । कतमं वाव अनेके हि ज्ञानकर्म्म-
भिर्जेतया लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनौङ्काराभिधानेन
कतमं स लोकं जयतीति ॥१॥

एवं चतुर्थप्रश्नोक्तोत्तमाधिकारिणः पदार्थशोधनपूर्वकवाक्या-
र्थज्ञानेनाक्षरप्राप्तिमुक्त्वाऽत्यानधिकारिणो मन्दैराग्यवत ओमि-
तेवं ध्यायत आत्मानं प्रणवो धनुरित्यादिमन्त्रस्त्वचितब्रह्मलोकप्राप्ति-
द्वारा क्रमेणाक्षरप्राप्त्यर्थमोङ्कारोपासनं वक्तुं पञ्चमप्रश्नमवतारयति ।
अथ हैनमिति ॥ इदानीमिति गाग्यप्रश्ननिर्णयानन्तरमित्यर्थः ।
परेत्यपरब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण परब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनेत्यर्थः ।

तस्मै सहोवाच । एतद्वै सत्यकाम परञ्चा-

एवं पृष्ठवते तस्मै सहोवाच पिप्पलादः । एतद्वै सत्य-
काम । एतद्ब्रह्म वै परञ्चापरञ्च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरु-
षाख्यमपरञ्च प्राणाख्येप्रथमजं यत्तदोङ्कार एवोङ्कारा-
त्मकसोङ्कारप्रतीकत्वात् । परं हि ब्रह्मशब्दाद्युपलक्षणा-
नर्हं सर्वधर्म्भविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचर-
त्वात्केवलेन मनसाऽवगाहितुमोङ्कारे तु विष्ण्वादिप्रतिमा-

तदङ्गुतमिवेति तदिति क्रियाविशेषणं तादृशमभिध्यानमिति तेन
विशेषणेनाङ्गुतत्वं दुष्करत्वं भातीत्यर्थः ॥ अभिध्यानेन तत्पूर्वकालीने
प्रत्याहारधारणे सूचित इत्याह । वाञ्छेति ॥ भक्त्याऽऽदरेणोपचारे-
णोवाऽऽवेशित आरोपितो ब्रह्मभावो यस्मिन्नोङ्कारे तस्मिन् समा-
हितचित्त इत्यन्वयः । अनेन धारणोक्ताध्यानशब्दार्थमाह । आत्मेति ॥
सन्नानाविच्छेद इत्यविच्छिन्नसन्नान इत्यर्थः । प्रत्ययान्तरेण विजातीय-
प्रत्ययेनाखिलीकृतोऽनन्तरितश्चित्तस्यात्मविषयस्यैव सत एकदेशवि-
च्छेपं वारयति । निर्वीतेति ॥ ध्यानेनैव यमादिसाधनजातमपि सूचि-
तमित्याह । सत्येति ॥ कतममिति उतमचोऽर्थे ब्रह्मणि निर्धारणं दर्श-
यति । अनेके हीति ॥ ओंकाराभिध्यानत्वाद्दहराद्युपासनवदपर-
प्राप्तिसाधनमेवोत परप्राप्तिसाधनमपीति प्रष्टुरभिप्रायः ॥ १ ॥

तदभिप्रायतः पिप्पलादोऽपरालम्बनतया ध्यानञ्चेदपरप्राप्ति-
मात्रसाधनं परालम्बनत्वेन च क्रमेण परप्राप्तिसाधनमित्युत्तरमाह ।
एतद्वा इति ॥ एतद्यच्छब्दयोर्नपुंसकयोरङ्कारविशेषणत्वाद्योगाद्ब्रह्म-
विशेषणत्वमाह । एतद्ब्रह्मेति ॥ किन्तद्ब्रह्मेत्यत आह । परञ्चेति ॥
यदेतत्परञ्चापरं ब्रह्मास्ति तदुभयमोङ्कार इति वाक्यान्वय इत्यर्थः ।
न चैवं ब्रह्मोद्देशेनोङ्कारत्वविधाने ब्रह्मण्योङ्कारदृष्टिः प्रसज्येतेति
शङ्क्यम् । ब्रह्मदृष्टेरुत्कर्षादितिन्यायेन लोकेषु सामोपासीतेत्यादाविव-
निकटे ओङ्कारे एव ब्रह्मदृष्टिः सिद्धप्रतीति भावः । तयोर्भेदात्कथ-

परञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायत-
ननैकतरमन्वेति ॥२॥

स्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदतीत्यव-
गम्यते शास्त्रप्रामाण्यात् । तथाऽपरञ्च ब्रह्म । तस्मात्पर-
ञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कार इत्युपचर्यते । तस्मादेवं विद्वा-
नेतेनैवात्मप्राप्तिसाधनेनैव ओंकाराभिध्यानेनैकतरं पर-
मपरमन्वेति ब्रह्मानुगच्छति नेदिष्टं ह्यालम्बनमोङ्कारो
ब्रह्मणः ॥२॥

मैक्यमत्याशङ्क्योपचारादित्याह । ओंकारप्रतीकत्वादिति ॥ अनेन
सामानाधिकरण्येनौङ्कारस्य प्रतीकत्वमुपदिश्यत इति भावः । ननु
किं प्रतीकोपदेशेन साक्षादेव ब्रह्माभिधीयतामत आह । परं हीति ॥
शब्दादिति शब्दादिभिः साक्षाद्बोधनानर्हमित्यर्थः । आदिशब्देनानु-
मानादि गृह्यते ॥ प्रवृत्तिनिमित्तस्य धर्मस्य लिङ्गत्वाभावादिति
तत्रहेतुमाह । सर्व्वेति ॥ न शक्यमित्यवगाहितमित्यन्वयः । तर्ही-
न्द्रियैर्मनसा वा तदुपगृहोऽस्त्वित्यत आह । अतोन्द्रियेति ॥ मनसेती-
न्द्रियैर्वेत्यपि द्रष्टव्यं तर्हि तथाविधस्योङ्कारेऽप्यावेशासम्भवात्किञ्चि-
द्विशेषमारोप्यावेशो वक्तव्यः । अत एव सूर्यान्तर्गतत्वं विशेषं
वक्ष्यति ॥ ओंकारतादत्ते च तत्कथं निर्विशेषं लभ अत आह ।
ओंकारे त्विति ॥ प्रसीदतीति तदुपासनेन चित्तस्य नैर्मल्ये-
सति निर्विशेषं स्वयमेव प्रकाशत इत्यर्थः । तत्र मानमाह । शास्त्रे-
ति । अन्यथा परब्रह्मार्थिनस्तदुक्तिवैयर्थ्यादित्यर्थः । तथाऽपरञ्चेति
प्रसीदतीत्यन्वयः । तस्मादिति प्रतीकत्वादित्यर्थः । तस्मादेव विद्वा-
निति ब्रह्मत्वाहत्वाद्ब्रह्मत्वाहमिति विद्वानित्यर्थः । एतेनैवेत्यन-
न्तरमायतनेनालम्बनेनेति पदद्वयं प्रमादतो गलितमिति द्रष्टव्यम् ॥
तस्य पदस्य पिण्डितार्थमाह ॥ ओंकारेति ॥ न त्वेतच्छब्दार्थकयनमेत-
दिति द्रष्टव्यम् ॥२॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवे-
दितस्त्वं मेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तच्छ्रु-
मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मच-

स यद्यप्योङ्कारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति
तथाप्योङ्काराभिधानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति
किन्तु हि यद्यप्येवमोङ्कारमेकमात्राविभागज्ञ एव केवलो-
ऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा ध्यायीत स तेनैव मात्राविशिष्ट
ओंकाराभिधानेनैव संवेदितः सम्बोधितस्त्वं चिप्रमेव
जगत्यां पृथिव्यामभिसम्पद्यते किं मनुष्यलोकमनेकानि
जन्मानि जगत्यां तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकसेवोप-

अभिधानस्यायतनत्वाभावः दितोतरोपासनावदस्याधुपासनत्वात्पर-
प्रापकत्वं न सम्भवतीत्यत आह । नेदिष्ठमिति । मनश्चाद्यपेक्षयेदं
नेदिष्ठं समीपवर्त्तमानरङ्गं श्रेष्ठमात्रस्वनसेतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदा-
लम्बनं परमित्यादिश्रुतेरित्यर्थः । नेदिष्ठत्वमेव संस्तुवद्बुत्तरवाक्येन
साधयति । स यतीति ॥ विकल्पस्यापि फलजनकत्वान्नेदिष्ठत्वमि-
त्यर्थः । सकलेत्याकारादिमात्राव्यात्मक ओंकारः स चोपासितव्य
इति न जानाति किन्त्वाकारमात्रमुपासितव्यं जानातीत्यर्थः । तथा-
प्येकदेशज्ञानवैशुल्यतया दुर्गतिं न गच्छति किं तर्ह्योङ्काराभिधान-
प्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छतीत्यन्वयः । तात्पर्यार्थमुक्तेदानीम-
न्तरार्थमाह । यद्यप्येवमिति ॥ यदि शब्दोऽयद्यपीत्यर्थं व्याख्यातः ।
एवञ्च स तेनैवेत्यतः प्राक्तथापि इति पदं द्रष्टव्यम् । एकमात्रात्मक-
मोङ्कारमित्यर्थः । एकमात्राविशिष्टत्वात्वापि एकमात्रात्वविशिष्टेत्यर्थः ।
ओंकारेति तदवयवेत्यर्थः । एकमात्राप्रधानमप्रधानीभूतमात्राद्वयं
लक्ष्मणमोङ्कारमिति केचिद्व्याचक्षते । दीपिकायां व्याचक्षति नैवाका-
रमात्रमित्येव व्याख्यातम् । सम्बोधित इति तन्मात्राध्यानेन तन्मात्रा-

यथैषा अद्वया सम्पन्नो महिमानमनुभवति
॥३॥

नयन्ते उपनिगमयन्ति । ऋचो ऋग्वेदरूपा ह्योङ्कारस्य
प्रथमा एका मात्राः । तदभिध्यानेन स मनुष्यजन्मनि
द्विजाग्रतः सन्तपसा ब्रह्मचर्येण अद्वया च सम्पन्नो महि-
मानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टा भवति
योगश्चष्टः कदाचिदपि न दुर्गतिं गच्छति ॥३॥

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्ट-
मोङ्कारमभिध्यायीत स्वप्नात्मके मनसि मननीये यजुर्मये
सोमदैवत्ये सम्पद्यते एकाग्रतयात्मभावं गच्छति स एवं
सम्पन्नो मृतोऽन्तरिक्षमन्तरिक्षाधारं द्वितीयरूपं द्वितीया-

साक्षात्कारवानित्यर्थः ॥ एथिव्यां किमभिसम्पद्यत इति कर्माकाङ्क्षते
किमिति मनुष्यलोकमिति पदमिहाकथ्याकाङ्क्षां पूरयति । मनुष्येति ।
मनुष्यगरीरमित्यर्थः । एथिव्यां मनुष्यलोकस्यैव नियमात्तदुक्तिवैयर्थ्य-
मत आह । अनेकानि हीति । पञ्चादीनि हीत्यर्थः ॥ तर्हि तस्य
नियमेन कथं मनुष्यत्वप्राप्तिरत आह । तत्र तमिति ॥ ऋग्वेदरूपा
हीति एथिव्यकारः स ऋग्वेद इति अतएवकारस्य तद्रूपत्वमित्यभि-
धानाकाररूपा मात्रा ऋग्वेदरूपेत्यन्वयः । तेनेति येन ऋचो मनुष्य-
लोकमुपानयन्त इत्यर्थः । वीतश्रद्ध इति श्रद्धाविरहितः सन्नित्यर्थः ।
योगश्चष्ट इति एकदेगज्ञानविकल इत्यर्थः । अनेन न हि कल्याणकृतक-
श्चिदिति गीतावाक्यसंवादः सूचितः । द्विमात्रेण विशिष्टमिति
द्वितीयमात्रत्वेन विशिष्टमोङ्कारं तद्वत्तमोङ्कारमित्यर्थः । न तु मात्रा-
द्वयमकारस्य पूर्वमेवोक्तत्वादत एव द्वितीयमात्रारूपमिति वक्ष्यति ।
श्रुतौ तृतीया द्वितीयार्थे ओंकारमभिध्यायीतेत्युपक्रमादिति भावः ।
अत्र मात्राभिधानं तादात्म्याभिमानपर्यन्तमिति वक्तुं मनसि सम्पद्यत

अथ यदि द्विमात्रेण सनसि सम्पद्यते
सोऽत्तरिच्छं यजुर्भिरुन्नीयते । स सोमलोकं
स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते
॥४॥

यः पुनरेतन्त्रिमात्रेणैवोमित्येतेनैवाक्षरेण
मात्रारूपैरेव यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म प्राप-
यन्ति तं यजूंषीत्यर्थः । स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके
मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्त्तते ॥४॥

यः पुनरेतमोङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञान
विशिष्टेनोमित्येतेनैवाक्षरेण प्रतीकेन परं सूर्यान्तर्गतं
पुरुषमभिध्यायित तेनाभिध्यानेन प्रतीकत्वेन त्वालम्बनत्व-
प्रकृतमोङ्कारस्य परञ्चापरञ्च ब्रह्मेति भेदाभेदयुतेरोङ्कार-

इति वाक्यं तत्र नाक्षान्मः सम्पन्ने साधनत्वेन फलत्वेन वाऽन्वया-
त्मानः शब्देन तत्परिणामस्वप्नादिलक्षणद्वारा स्वप्नयजुराद्यात्मत्वेन
श्रुत्यन्तरे श्रुतोङ्कार एव लक्ष्य इत्याह । स्वप्नात्मक इति ॥ ओंकार-
सम्पत्तिपर्यन्तमभिध्यानं यः करोतीति वाक्यार्थ इत्यर्थः । अत्र केचि-
त्स्वपदीत्यादिर्यः पुनरित्यन्तं स्तुतिः । किन्तूक्तफलाकारे विश्वाभिन्न-
विराडुपासनमोङ्कारे तैजसाभिन्नहिरण्यगर्भापासनञ्च विवक्षित-
मित्याहुः । तन्मते मनःशब्देनाण्डपरिणामस्वप्नाभिमानी हिरण्यगर्भ
उच्यते इति वक्तुं स्वप्नात्मक इत्यादि विशेषणानीति बोध्यम् । दोषि-
कायान्त मात्राद्वयस्य मिलितस्योपासनं मनसि सम्पत्तिश्च मनसा
एकाग्रतया चिन्तनमिति च व्याख्यातम् ॥३॥४॥

एवमोङ्कारं स्तुत्वा तदुपासनं परब्रह्मविषयं विधत्ते यः
पुनरिति । विज्ञानविशिष्टेनेति विज्ञानविषयीकृतेनेत्यर्थः । मात्रात्

परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये
सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं

मिति च द्वितीयानेकशः श्रुता बाध्येत अन्यथा यद्यपि
तृतीयाभिधानत्वेन करणत्वमुपपद्यते तथापि प्रकृतानुरो-
धान्तिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणयेया । त्वजेदेकं
कुलस्यार्थेति न्यायेन स तृतीयो मातारूपस्तोजसि सूर्ये
सम्पन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादि-
वन्न पुनरावर्तते किन्तु सूर्यसम्पन्नमात्र एव । यथा
पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स
पुनर्नवो भवति । एवं ह वै एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना
सर्पत्वक्स्थानीयेनाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सोमभिस्तृती-
या मातारूपैर्ब्रह्ममुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो
लोकं सत्याख्यम् । स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां

यात्कृत्तानेनेति यावत् पूर्ववदत्रापि त्रिमात्रेणेत्यत्र तृतीयमाता-
मत्तार उच्यते इति भ्रमं वारयितुमिति तेनैवाचरेणेत्युक्तम् । पूर्वत्व
तत्तन्मात्रप्रधानेद्वार एवोच्यते इति ज्ञेते इहैवेदं विशेषणमुपप-
न्नम् । पूर्वत्वाद्योद्वारस्यैवोक्तत्वादिति तन्मात्रमुपपन्नमिव मातीति
त्रिमात्रेणेति तृतीया । अवणादोद्वारो न प्रतीकं तथा सति विषय-
त्वेन कर्म्मतया द्वितीया स्यात् किन्तुभिध्यापकत्वेन करणत्वमेव
मानः प्रतीक इति भ्रमं वारयति । प्रतीकेति ॥ तस्य कर्म्मत्वेऽपि कारक-
पराज्जीवधनात्परं निर्वर्त्तकत्वेन हेतुत्वात्तन्मात्रविवक्षया तृतीयोप-
पन्नः यत्नः पुनरेतमित्यादि । प्रतीकत्वेनेति ॥ अमेदेति
इति ॥ मृत्युगोचरा इति प्रत्येकं ब्रह्मदेव । अनेकश इत्योद्वारमभि-
ध्यायन्नति क्रमणीय इत्यर्थः ॥ ब्रह्मदृष्ट्या मातारित्यर्थः । अन्यथे-
प्रयुक्ताश्चेनायं दोष इत्याह । किञ्चेति ॥ जायदिति ॥

ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरु-
न्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परा-
त्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ
भवतः ॥ ५ ॥

जीवानामात्मभूतः । स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानां
तस्मिंस्त्रिङ्गात्मनि संहताः सर्वे जीवाः । तस्मात्स जीव-
घनः स विद्वांस्त्रिमात्रोद्गाराभिन्नः । एतस्माज्जीवघना-
द्विरण्यगर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते ॥ पुरि-
शयं सर्वशरीरानुप्रविष्टः पश्यति ध्यायमानः । तदेता-
वस्मिन्मयोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः ॥ ५ ॥

तस्य बाध्यतेत्यनेनान्वयः । अथ यदि द्विमात्रेण यः पुनरेतं त्रिमात्रेणेति
च तृतीयापि द्विवारं अतः हेतुत्वापेक्षया करणत्वेन स्वरसा च
कारकविभक्तित्वात्तत्तस्या अपि बाधो न युक्त इति शङ्कते । यद्य-
पीति ॥ द्वितीयादयस्यापि कस्मै स्वरस्यादुपक्रमस्यत्वाच्च तस्यैव
प्राग्वह्यमित्याह । तथापीति ॥ प्रकृतेति प्रक्रमानुरोधादित्यर्थः । किं
द्वितीयादयमुक्ताभेदश्रुतिः । एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति । आयतने
नैवान्त्रेतीत्यालम्बनवाच्यायतनश्रुतिद्वयञ्चेति बहुश्रुत्यनुरोधेन तृती-
यादयं त्याज्यमित्याह । त्यजेदेकमिति ॥ तृतीयमात्रारूप इति
यद्यपि मात्रात्रयध्यानान्मात्रात्रयरूपित्वमेव तस्य तथापि तृतीय-
मात्राया एवेहासाधारण्यात्तत्प्राधान्येन निर्देश इति बोध्यम् । अण्यगर्भ
मात्रारूप इति सप्तम्यन्तपाठे तत्सूर्यविशेषणं सकाशाध्यम् । दीपि-
त्वादिति । द्विरण्यगर्भस्य जीवघनत्वमत्र मनसि सम्पत्तिश्च मनसा
यति । स द्विरण्यगर्भ इति ॥ लिङ्गाख्यातम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

तस्मिन् हीति ॥ समष्टिर्लिङ्गत्वा तदुपासनं परब्रह्मविषयं विधत्ते यः
सर्वे जीवा गोत्व-
विज्ञानविशिष्टेनेति विज्ञानविषयीकृतेनेत्यर्थः । मात्रात्र

तिस्रो माता मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्य-
सक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु वाह्याभ्यन्तर-
मध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पन्ते ज्ञः
॥६॥

तिस्रस्त्रीसंख्याका तकारउकारमकाराख्यां ओंकारस्य
माताः । मृत्युर्थासां विद्यते ता मृत्युमत्यः मृत्युगोचराद-
नतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः । ता आत्मनो ध्यान-
क्रियासु प्रयुक्ताः । किञ्चान्योन्यसक्ता इतरेतरसम्बद्धाः ।
अनविप्रयुक्ता विशेषेणैकैकविषय एव प्रयुक्ताः । तथा न
विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
किन्तुर्हि विशेषेणैकस्मिन्ध्यानकाले ऽतिस्वष्टासु क्रियासु
वाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्यान-
लक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले
प्रयोजितासु न कम्पन्ते न चलन्ते ज्ञः । ज्ञो योगी यथोक्त-
विभागज्ञ ओंकारस्येत्यर्थः । न तस्यैवंविदश्चालनमुप-
पद्यते । यस्माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात-
यरूपेणोङ्कारात्मरूपेण दृष्टाः ॥६॥

इदानीं वाक्यं योजयति । स विद्वानिति । स विद्वानिदानीं ध्याय-
मानः पश्चाद्ब्रह्मलोकं प्राप्तः । तत्र ब्रह्मलोके स्थाविरजङ्गमेभ्यः
पराज्जीवधनात्परां पुरुषं पश्यति ततो मुक्तो भवतीत्यन्वयः ॥१॥

यत्र यः पुनरेतमित्यादिनोक्तेरर्थे आद्यं मन्त्रं योजयति । तिस्र
इति ॥ मृत्युगोचरा इति प्रत्येकं ब्रह्मादृष्टिञ्च विना तदुपासकानाम् ।
मृत्युर्नतिक्रमणीय इत्यर्थः ॥ ब्रह्मादृष्ट्या संश्लिष्टत्वेन च समूह्य च
प्रयुक्ताश्चेनायं दोष इत्याह । किञ्चेति ॥ जाग्रदिति जाग्रत्पुरुषो

ह वै
नोद्य

त्परं

भवत

जीवान्

तस्मिन्

घनः स

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभि-
र्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोङ्कारेणैवायतनेना

स ह्येवं विद्वान् सर्वात्मभूत ओंकारमयः कुतो वा
चलेत्कस्मिन् वा । सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः । ऋग्-
भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम् । यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमा-
धिष्ठितम् । सामभिर्यत्तद्ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो
मेधाविनो विद्यावन्त एव नाविद्वांसो वेदयन्ते । तं त्रिवि-
धलोकमोङ्कारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्त्रेणानुगच्छति
विद्वान् । तेनैवोङ्कारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं
शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिविशेषसर्वप्रपञ्चविव-
र्जितमत एवाऽजरं जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमेव ।

च तृतीयादि
कारकविभ-
षीति ॥ १
प्रावर्त्यमित्य-
द्वितीयादि
नैवान्ते तीत्य-
यादयं त्व-
यद्यपि मात्वा
मात्वाया एव
मात्वारूप इ-
त्यादिति ।
यति । स वि-
तस्मिन् ही-
सर्वे जीवा

वैश्वानराभिर्वो विश्वस्तत्स्थानं स्थूलं शरीरं जागरितञ्च । स्वप्नपु-
रस्तु हिरण्यगर्भाभिन्नस्त्वैजस्तत्स्थानं लिङ्गशरीरं स्वप्नञ्च । सुषुप्तावी-
श्वरात्मा प्राज्ञस्तत्स्थानमव्याकृतं सुषुप्तिञ्च । तेषामकारादितादात्म्येन
यदभिधानं तत्तत्सूक्ष्मवशाच्च योगक्रियाच्च प्रयुक्तास्त्रयोऽन्यसक्ता
अनविप्रयुक्तास्त्रिस्तो मात्वा प्रयुक्ताश्चेन्न कम्पत इत्यन्वयः । अनेन
सर्वात्मके परब्रह्मणीय्यरे ओंकाराभेदेन ध्यानमुक्तम् । यथोक्तेति
तिस्तो मात्वा इति श्लोकोक्तविभाग इत्यर्थः । कुतो वेति चलनं
विक्षेपः स्वस्य सर्वात्मत्वेन स्वव्यतिरिक्ताभावाच्चलनं न सम्भवतीति
कुतो हेतोः कस्मिन् वा विषय चलेदित्यर्थः । अपरब्रह्मप्राप्त्यर्थं य-
ओङ्कारः प्रयुक्तस्तेनैव न पृथक्प्रयुक्तः परमपि प्रैति ब्रह्मलोके ।
उत्पन्ननिर्दिशेत्तद्ब्रह्म साक्षात्कारोक्तस्योङ्कारस्य क्रममुक्तिफलत्वादित्य-
ह । तेनैवेति ॥ येनापरमन्त्रेति तेनैव परमस्थानन्त्रेतीत्येवकारार्थः ।
तदोङ्कारेणैवायतनविशेषणार्थं पुनरोङ्कारग्रहणमिति न पुनरुक्ति-
रिति बोध्यम् ॥ ६॥ ७॥ इति प्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमप्रश्नः
पर्यः ॥ ५॥

न्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं
परञ्चेति ॥७॥

इति पञ्चमप्रश्नः समाप्तः ॥५॥

यस्माज्जराविक्रियादिरहितमतोऽभयम् । यस्मादेवाभयं
तस्मात्परं निरतिशयम् । तदप्योङ्कारेणायतनेन गमन-
साधनेनान्वेतीत्यर्थः । इति शब्दो वाक्परिसमाप्तार्थः ॥७॥

इति प्रश्नोपनिषद्भाष्ये पञ्चमप्रश्नः समाप्तः ॥५॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ समस्तं जगत्का-
र्यं कारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन् चरे सुषुप्ति-
काले सम्प्रतिष्ठित इत्युक्तम् । सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्ने-
वाचरे सम्प्रतिष्ठते जगत् तत एवोत्पद्यते इति सिद्धं
भवति । न ह्यकारणो कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते ।
उक्तञ्चात्मन एष प्राणो जायत इति । जगतश्च यन्मूलं
तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः ।
अनन्तरञ्चोक्तं स सर्वज्ञः सर्वो भवतीति । वक्तव्यञ्च क्व
तर्हि तद्वचरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति । तदर्थो-

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः कर्माणि विज्ञानमयश्चेति मन्त्रे
कर्माणि सह षोडशकलानां परस्मिन् लयमुक्त्वा यथा नद्यः स्यन्द-
माना इति मन्त्रेण दृष्टान्तोक्तिद्वारा परप्राप्तिरुक्ता तन्मन्त्रयोर्वि-
स्तराभिधानार्थं षष्ठं प्रश्नमारभते । अथ हैनमिति ॥ तस्य पूर्वेषु
सङ्गतिमुक्ताऽर्थानुवादपूर्वकमाह । समस्तमित्यादिना ॥ अक्षरस्य
कारणत्वमिदं प्रलयेऽपि तस्मिन्नेव लयमाह । सामर्थ्यादिति ॥
लयाधारत्वेन कारणत्वमाह । तत इति ॥ तदुक्तेः प्रयोजनमात्र-
जगत इति ॥ यद्यप्यद्वितीयात्मज्ञानात्मुक्तिर्न कर्माणां इति वाक्य-
तस्य कारणत्वे तद्व्यतिरेकेणान्वारति ॥१॥२॥

ह

नी

त्य

भव

जीवा

तस्मिन्

त्यस्य वा
च तृती
कारका
पीति ।
प्राथम्य
द्वितीय
नैवान्त
याहयं
यद्यपि मात

माताय

माताय

त्वादिति

यति ।

तस्मिन्

सर्वे

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः प्रप्रच्छ ।
भगवन् हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो
मासुपेत्यैतं प्रश्नमष्टच्छत । षोडशकलं भार-
द्वाज पुरुषं वेत्य तमहं कुमारमब्रुवं नाह-
मिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं तेनावक्ष्य-

ऽयं प्रश्न आरभ्यते । वृत्तान्वाख्यानञ्च विज्ञानस्य दुर्लभत्व-
ख्यापनेन तल्लब्धार्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोत्पादनायैव ।
हे भगवन् हिरण्यनाभो नामतः कौसल्यायां भवः
कौशल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो मासुपेत्योपग-
म्यैतमुच्यमानां प्रश्नमष्टच्छत । षोडशकलं षोडशसंख्याकाः
कला अवयवा इवात्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन्
पुरुषे सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज पुरुषं
वेत्य । तमहं राजपुत्रं कुमारं दृष्टवन्तमब्रुवमुक्तवा-
नस्मि नाहमिमं वेद यत्त्वं दृच्छसीति । एवमुक्तवत्यपि
अय्यज्ञानमसम्भावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम् ।
यदि कयञ्चिदहमिमं त्वया दृष्टं पुरुषमवेदिषं विदित-
वानस्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं
नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः । भूयोऽप्यप्रत्ययमिवालक्ष्यं

तीति तादृशात्तज्ज्ञानात्परं अथ इति । आत्मा वा इदमेक एव । स
एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् । अज्ञानं ब्रह्म । स एतेन प्रज्ञानेना-
त्मना अमृतः समभवत् । सदैवैकमेवाद्वितीयमित्युपक्रम्याचार्यवान्
पुरुषो वेद अथ सम्प्रत्येन तमेवैकं जानय । अमृतस्यैव सेतुः अहं
ब्रह्मास्मीति । तस्मान्तत्सर्वमभवदित्यादिषु निश्चितमित्यर्थः । अत्रापि
तादृशात्तज्ज्ञानादेव सर्वात्मभावः अथ उक्तइत्याह । अनन्तरमिति ॥

मिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृत-
मभिवदति तस्मान्नाहर्हाम्यनृतं वक्तुं स तुष्णीं
रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि कासौ
पुरुष इति ॥१॥

प्रत्याययितुमब्रुवम् । समूलः सह मूलेन वै एषोऽन्यथा
सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्ननृतमयथाभूतार्थमभिवदति यः
सा परिशुष्यति शोषमुपैतीहलोकपरलोकाभ्यां विच्छि-
द्याते विनश्यति । यत एवं जाने तस्मान्नाहर्हाम्यहमनृतं
वक्तुं मूढवत् । स राजपुत्र एवं प्रत्यायितस्तुष्णीं व्रीडि-
तोरथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान् यथा गतमेव । अतो
न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्यैव
अनृतञ्च न वक्तव्यं सर्वस्ववस्थास्वित्येतत्सिद्धं भवति ।
तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्य इव
मे हृदि स्थितं कासौ वर्त्तते विज्ञेयः पुरुष इति ॥१॥

छत्तमनृत्य वर्त्तिष्यमाणमाह । वक्तव्यमिति ॥ तदर्थोऽयमिति तस्य
शरीरान्तस्थत्वोक्तिद्वारा तस्य प्रत्यगात्मत्वज्ञानार्थमित्यर्थः । प्रश्नमिति
मदव्यमित्यर्थः । अज्ञाने कारणमिति अज्ञानसम्भावनायां कारण-
मित्यर्थः । अप्रत्ययमिति अविश्वासमित्यर्थः । अन्यथा सन्तमिति
ज्ञानिनं सन्तमन्यथा कुर्वन्नज्ञानिनं कुर्वन्नारोपयन्नित्यर्थः ॥ कथं
ते नावक्ष्यमित्यनेन सूचितमर्थमाह । अत इति ॥ समूलो वा इत्यनेन
सूचितमाह । अनृतञ्चेति ॥ स्वरूपेण शल्यत्वाभावादाह । विज्ञेय-
नेति ॥ यावच्छिज्ञासितं न ज्ञायते यावत्तद्भृदि शल्यवद्भासत इति
ल्यमिवेत्युक्तम् । पुरुषस्य षोडशकलत्वं न साक्षात्भावयत्वेन किन्तु
कलाजनकत्वेन तदुपाधिमत्त्वादिति वक्तुं यस्मिन्नेता इति वाक्य-
मिति तत्तात्पर्यमाह । षोडशकलाभिरिति ॥१॥२॥

तस्मै स होवाच ब्रह्मैवान्तःशरीरे सोम्य स
 पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति
 ॥२॥

स ईक्षान्चक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त

तस्मै स होवाच । ब्रह्मैवान्तः शरीरे हृदयपुण्डरीका-
 काशमध्ये हे सोम्य स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मि-
 न्नेता उच्यमानाः षोडशकलाः प्राणाद्याः प्रभवन्तुत्पद्यन्त
 इति षोडशकलाभिरुपाधिरूपाभिः सकल इव निष्कलः
 पुरुषो लक्ष्यते विद्ययेति ॥२॥

तदुपाधिकलाधारोपापनयनेन विद्यया स पुरुषः
 केवलो दर्शयितव्य इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते । प्राणा
 दीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे न शक्योऽधारो-
 पमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रतिपादनादिव्यवहारः कर्तुमिति
 कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्ते अविद्याविषयाच्चैत-
 न्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रलीयमा-

ननु केवल आत्मा प्रदर्श्यतां किं वक्ष्यमाणकलोक्त्येत्यत आह ।
 तदुपाधीति ॥ तथैव स प्रदर्शनीय इत्यत्र हेतुमाह । अत्यन्तेति ॥
 अविद्याविषया इति अविद्याधीना इत्यर्थः । कालत्रयेऽपि तासा-
 च्चैतन्यरूपाधिष्ठानाव्यतिरेकाद्रज्जुसर्पवन्मृपात्वमित्यविद्याविषयत्वं साध-
 यति । चैतन्येति ॥ चैतन्याव्यतिरेकेण लक्ष्यमाणत्वं हेतुं विज्ञा-
 नावादिभ्रान्त्या दृढीकरोति । अत एवेति ॥ घृतं यथाऽग्निसंयोगा
 द्दृवावस्थां प्रतिपद्यते एवंमहिमाकारमालयविज्ञानमेव वासनावशा-
 द्विषयाकारेण जायत इति वदतां तेषां भ्रमो विषयस्य चैतन्याव्य-
 तिरेके प्रत्ययं गमयति अन्यथा तथा भ्रमानुपपत्तेरित्यर्थः । विषयाणां
 चैतन्याव्यतिरेकेण प्रतीतिनियमादेव विषयविज्ञानरूपेण चैतन्याभावे

उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते
प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

नाञ्च सर्वदा लक्ष्यन्ते । अत एव भ्रान्ताः केचिदग्निसं-
योगाद्भूतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यमेव प्रतिक्षणं जायते
नश्यतीति तन्निरोधे मूल्यमिव सर्वमिति । अपरे घटा-
दिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्यात्मनोऽनित्यं जायते
विनश्यतीति । अपरे चैतन्यमभूतधर्मा इति । लोकायति-
काः अनपायोपजनधर्माश्चैतन्यमात्मैव नामरूपाद्युपा-
धिधर्मैः प्रत्यवभासते । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । प्रज्ञान-
मानन्दं ब्रह्म । विज्ञानघन एवेत्यादिश्रुतिभ्यः । स्वरूपा-
व्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचारात् यथा यथा

सुषुप्तादौ शून्यभ्रमो जातः केषाञ्चिदिति तदीयभ्रान्तरापि चैत-
न्याव्यतिरिक्तमतीतिं दृढीकरोति । तन्निरोध इति ॥ चैतन्यस्यानि-
त्यस्य कलारोपाधिष्ठानत्वं न सम्भवति । कलाकार्यत्वादिति ॥
नैयायिकपक्षोक्तिव्याजेन शङ्कते । घटादिति ॥ भूतधर्मा इति
देहाकारेण संहतभूतधर्मा इत्यर्थः । चैतन्यस्यारोपाधिष्ठानत्वमि-
द्वयार्थं नित्यत्वमेकलक्ष्यं वदन् तन्निराकरोति । अनपायेति ॥ प्रत्यव-
भासत इति ॥ नानात्वेन कार्यत्वेन चेति शेषः । सत्यं ज्ञानमिति ॥
तथा च श्रुतिविरोधान्ते पक्षा हेया इत्यर्थः । किन्त्वज्ञानकाले विषयाणां
सङ्गावनियमाभावाद्विषयाकाले च ज्ञानस्य सङ्गावनियमात्तयोर्भेद इति
विज्ञानवादिपक्षं निराकुर्वन्नव्यभिचारादेव ज्ञानस्य नित्यत्वं साधयन्नै-
यायिकादिपक्षमपि निराकरोति । स्वरूपेति ॥ घटज्ञानकाले घटाभा-
वसम्भवाद्विषयाणां ज्ञानव्यभिचारित्वं ज्ञानस्य तु विषयकालेऽवश्य-
म्भावनियमादव्यभिचारित्वमित्यर्थः । घटकाले घटज्ञानमपि नास्तीति
घटज्ञानस्यापि घटविषयव्यभिचारित्वं तुल्यमित्याशङ्क्य स्वरूपेत्युक्तम् ।

अ

यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव
तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तु च भवति किञ्चिन्न
ज्ञायत इति चानुपपन्नम् । रूपञ्च दृश्यते न चास्ति चक्षु-
रितिवत् । व्यभिचरति तु ज्ञानं ज्ञेयं न व्यभिचरति
कदाचिदपि । ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरेऽभावाज्ज्ञानस्य ।
न हि ज्ञानेऽस्ति ज्ञेयं नाम भवति । कस्यचित्सुषुप्तेऽदर्श-
नाज्ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानं स्वरूपस्य
व्यभिचार इति चेन्न । ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्यालोकवज्-
ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वात् स्वव्यङ्ग्याभावे आलोकाभावानु-
पपन्नित्वत् सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः । न ह्यन्धकारे
चक्षुषो रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुम्-

ज्ञानस्य विषयविशिष्टत्वरूपेणैव व्यभिचारः । विषयस्य तु स्वरूपेणै-
वेति विशेष इत्यर्थः । ज्ञानस्याव्यभिचारित्वमुपपादयति । यथा
यथेति ॥ न नूतन्नविनष्टादेर्मेरुगुहान्तर्वर्तिनश्चाज्ञायमानत्वाज्ञानस्यापि
ज्ञेयाव्यभिचारोऽसिद्ध इत्याशङ्क्य तस्याज्ञाने तत्तद्भावासिद्धेस्तथा-
भूतपदार्थाऽसिद्ध इत्याह । वस्तु चेति ॥ अनुपपत्तिमेव दृष्टान्तेन
स्फुटीकरेति । रूपञ्चेति ॥ ज्ञेयस्य ज्ञानव्यभिचारित्वं ज्ञानकाले
सत्त्वनियमाभावरूपं स्पष्टमित्याह । व्यभिचरति त्विति ॥ घटज्ञान-
काले कदाचिद्घटाभावादित्यर्थः । पटकाले घटज्ञानस्यापि व्यभिचार-
स्तुल्य इत्याशङ्क्य विशिष्टरूपेण व्यभिचारेऽपि स्वरूपेणाव्यभिचारं
पूर्ववत्सूचितमाह । न व्यभिचरतीति ॥ ज्ञानमित्यस्येहाप्यनुषङ्गः ।
पर्ववाक्ये द्वितीयान्तं इह तु प्रथमान्तमिति विशेषः । भावादिति
स्वरूपेणेत्यर्थः । ज्ञानस्य स्वरूपेण सतामेव ज्ञेयान्तरस्य ज्ञेयत्वादेव साध-
यति । न हीति-॥ स्वरूपेणाप्यभावं शङ्कते सुषुप्त इति ॥ किन्तदानीं
ज्ञेयाभावेन ज्ञानभावः साध्यते उत ज्ञानस्य दर्शनाद्वा आद्योऽपि ज्ञेयस्य
व्यङ्ग्यत्वात्तदभावादङ्गकाभाव इति । उभयोरैक्यभाव इतराभाव इति ।

वैनाशिकेन । वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्ये-
वेति चेत् येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्पयत
इति वक्तव्यम् । वैनाशिकेन तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञा-
नाभावे तदनुपपत्तेः । ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेया-
भावे ज्ञानाभाव इति चेत् । न । अभावस्यापि ज्ञेयत्वा-
भ्युपगमादभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युपगम्यते । वैनाशिकैर्नित्यस्य
तदव्यतिरिक्तञ्चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्यात्तदभावस्य
च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव न परमार्थतोऽभा-
वत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य । न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावना-
ममात्रधारोपे किन्नश्किन्नम् । अथाभावो ज्ञेयोऽपि सन्
ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेन्न । तर्हि ज्ञेयभावे ज्ञानाभावः ।
ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति
चेन्न शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुपपत्तेः । ज्ञेयज्ञानयोरेकत्व-
स्येदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न ज्ञेयव्यतिरिक्तं

नाद्यो व्यभिचारादित्याह । न ज्ञेयेति ॥ व्यङ्गप्रज्ञानैककल्पस्य व्यङ्गप्रा-
भावेऽभाव उच्यते आलोकस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्नैवमिति । ज्ञानानुमेय-
त्वादिनं प्रति दृष्टान्तान्तरमाह । न हीति ॥ वैनाशिकमते विज्ञान-
व्यतिरिक्तालोकाद्यभावान्न तत्र व्यभिचार इति शङ्कते । वैनाशिक
इति ॥ कल्पयत्येवेत्युक्तव्यभिचारस्थलाभावेन व्यभिचाराभावादित्यर्थः ।
एवमपि ज्ञानाभावकल्पकस्य ज्ञेयाभावस्य ज्ञानमङ्गीक्रियते न वा ।
आद्ये न ज्ञानाभावमिद्विस्तस्यैवाभावज्ञानस्य सत्त्वादित्याह । येनेति ॥
येन ज्ञेयाभावज्ञानेन तदभावं कल्पयेत्तस्य ज्ञानस्याभावः केन कल्पयते
न केनापि कल्पयितुं शक्य इत्यर्थः । न द्वितीय इत्याह । तदभाव-
स्यापीति ॥ ज्ञेयाभावस्याप्यज्ञानस्य ज्ञानाभावकल्पकत्वासम्भवादवश्यं
ज्ञेयत्वान्तज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः कल्पनानुपपत्तेर्ज्ञानमङ्गीकारपक्षो
न युक्त इत्यर्थः ॥ आद्यकोटौ द्वितीयकल्पं शङ्कते । ज्ञेयेति ॥ वैना-

ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेव तद्वह्निरग्नि-
व्यतिरिक्तोऽग्निर्न वह्निरव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्य
ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानभावानुपपत्तिः
सिद्धा । ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेन्न ।
सुषुप्तेरित्यभ्युपगमात् । वैनाशिकैरभ्युपगम्य ते हि सुषुप्ते-
ऽपि विज्ञानास्तित्वं तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते । ज्ञानस्य
स्वेनैवेति चेन्न । भेदस्य सिद्धत्वात् । सिद्धं ह्यभावविज्ञेय-
विषयस्य ज्ञानस्याभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेयज्ञानयोरन्य-
त्वम् । न हि तस्मिन् सृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं
शक्यते वैनाशिकशतैरपि ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति । तदप्यन्ये
न तदप्यन्ये नेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न । तद्विभागोप-

शिकमतेऽप्यभावस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमाद् द्विविधं त्वयादन्यत्वं स्मृतं
क्षणिकं च तदिति प्रतिसंख्याननिरोधादाकाशरूपत्वव्यतिरिक्तस्यैव
क्षणिकत्वेन निरोधशब्दितस्याभावस्य नित्यत्वाङ्गीकारेण तदभिन्नस्य
ज्ञानस्यापि सुषुप्ते सत्त्वं नित्यत्वं च प्राप्तिमित्याह । नाभावस्येति ॥
ज्ञानस्याभावमिन्नत्वेनाभावत्वमेव स्यान्न तु भावत्वेन सत्त्वं नित्यत्वं च
स्यादित्याह । तदभावस्येति ॥ अनित्यत्वञ्च ज्ञानस्येति वाङ्मात्रमेव
स्यादित्यनुपपन्नः । वाङ्मात्रेणाप्यभावस्याभावत्वेन ज्ञानानित्यत्वेन
चास्त्वस्मिन्नान्तसिद्धिरित्याशङ्क्य नाममात्रेण तेन वास्तवनित्यत्वादिवि-
रोधाभावान्नास्माकं क्षतिरित्याह । न चेति ॥ अभावनामेत्यनित्यनामे-
त्यपि द्रष्टव्यम् । एतद्दोषपरिहारार्थं ज्ञेयस्यापि सतोऽभावस्य ज्ञाना-
भेदो नाङ्गीक्रियत इति शङ्कते । अथेति ॥ तर्हि ज्ञेयाभिन्नत्वेन हेतुना
सुषुप्ते ज्ञानाभावो न सिद्धयति घटाद्यभावसिद्धावपि अभावज्ञाना-
भावासिद्धेस्तस्याभिन्नत्वाभावादित्याह । न तर्हीति ॥ यद्वाऽभावस्य
ज्ञेयस्य ज्ञानाङ्गदे भावस्यापि तथात्वं स्याद्विशेषहेतुभावात्तथाच न
ज्ञेयाभावाज्ज्ञानाभावसिद्धिरित्याह । न तर्हीति ॥ ननु ज्ञेयस्य ज्ञान-
व्यतिरिक्तत्वमङ्गीक्रियते तथाचाभावस्य ज्ञानव्यतिरिक्तत्वादभावत्वा-

पत्तेः । सर्वस्य यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्व्यतिरिक्तं
ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैना-
शिकैः । न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्तिः । ज्ञानस्य
स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत् सोऽपि दोषस्त-
स्यैवास्तु किन्तन्निवर्हणेनास्माकमनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य
ज्ञेयत्वाभ्युपगमादवश्यञ्च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् ।
स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थाऽनिर्व्वर्त्या । समान एवायं
दोष इति चेन्न । ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः । सर्वदेशकालपुरु-
षाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवि-

दिकं सिद्धति । ज्ञानस्य न ज्ञेयव्यतिरिक्तत्वम् । तथाच ज्ञेयाभावे ज्ञाना-
भावसिद्धिरिति निरुद्धगतिकः शङ्कते । ज्ञेयमिति ॥ ज्ञानज्ञेयाव्यतिरेके
ज्ञेयस्यापि तद्व्यतिरेकावश्यम्भावादन्यथोभयोरत्यन्तभेद एव स्यात् ।
भेदाभेदयोर्विरोधादनुपपत्तेरिति दूषयति । न शब्दमात्रत्वादिति ।
इदमुपलक्षणम् । ज्ञानस्याभावाव्यतिरेकेण नित्यत्वादिकञ्च स्यादेवे-
त्यपि द्रष्टव्यम् । यद्येतद्दोषपरिहाराय तस्यापि भेद एवाङ्गीक्रियते
तर्हि न सुषुप्तौ ज्ञानाभावसिद्धिरित्युपसंहरति । ज्ञेयव्यतिरेके त्विति ॥
सुषुप्ते ज्ञानस्यादर्शनादेवाभाव इत्याद्यै द्वितीयं शङ्कते । ज्ञेयभाव इति ॥
आलयविज्ञानसन्ततेर्नित्यत्वाङ्गीकारेण त्वया तदापि तदभावो वक्तुं
न शक्यत इत्याह । न सुषुप्त इति ॥ अस्तित्वमिति तथाच ज्ञानस्याद-
र्शनसिद्धं सुषुप्तेऽपि तदङ्गीकारादित्यर्थः । ननु ज्ञेयाभावेन तन्निरूपि-
तस्य ज्ञानस्यादर्शनमित्युच्यते मया सुषुप्ते च स्वस्यैव स्वज्ञेय-
त्वाज्ज्ञानदर्शनमप्युपपद्यते अस्मिन्नते । तस्मिन्नेतत् स्वज्ञेयत्वानङ्गी-
कारात्सुषुप्ते चान्यस्याभावान्निरूपकामावात्त ज्ञानदर्शनास्तित्वमुप-
पद्यत इति शङ्कते । तत्रापीति ॥ अभावस्थले ज्ञानज्ञेयोर्भेदस्य साधि-
तत्वात्तददृष्टान्तेन सर्वत्र ज्ञानज्ञेयोर्भेदसाधनान्न स्वज्ञेयत्वं ज्ञानस्ये-
त्याह । न भेदस्येति ॥ अभावरूपो ज्ञेयो विषयो यस्य तस्य ज्ञानस्या-
भावरूपो यो ज्ञेयस्तद्व्यतिरेकादित्यर्थः ॥ अभावस्थले भेदेऽपि न सर्व-

तादिजलादिप्रतिविस्ववदनेकधावभासत इति । नाऽमौ
दोषः । तथा चेहेदमुच्यते । ननु श्रुतेरिहैवान्तः शरीरे
परिच्छिन्नः कुण्डवदरवत्पुरुष इति । न । प्राणादिकला-
कारणत्वात् । न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नस्य प्राणस्य
अङ्गादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात् । कला-
कार्यत्वाच्च शरीरस्य । न हि पुरुषकार्याणां कलानां
कार्यं सच्छरीरे कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डवदर-
मिवाभ्यन्तरः कुर्यात् । बीजवत्स्यादिति चेत् । यथा
बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यञ्च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्य-
न्तरोकरोत्याम्नादि तद्वत्पुरुषमभ्यन्तरीकुर्यात् शरीरं

त्वेषां क्व न्यायस्य तुल्यत्वान्न तदन्यथाकर्तुं शक्यमित्याह । न हीति ॥
ज्ञानस्य स्वव्यतिरिक्तज्ञेयत्वनियमपक्षेऽनवस्थां वैनाशिकः शङ्कते । ज्ञान-
स्येति ॥ ज्ञेयस्य स्वव्यतिरिक्तज्ञेयत्वनियमाङ्गीकारादस्मान्मते च ज्ञानस्य
ज्ञेयत्वानङ्गीकारान्न दोष इत्याह । न तदिति ॥ सर्वस्य वस्तुजातस्य
विभागोऽसङ्करः ज्ञानं ज्ञेयमपि ज्ञेयमेव न कदाचिदपि ज्ञानमित्वेवं
रूपस्तस्योपपत्तेरित्यर्थः । अथवा द्विभागोपपत्तेरिति क्लेशः । ज्ञानज्ञेय
रूपभागद्वयमेव राशिद्वयमेवाङ्गीक्रियते न तृतीयो ज्ञानविषयज्ञान-
रूपो भावराशिर्ङ्गीक्रियत इत्यर्थः ॥ तामेवाह । यदा हीति ॥
यस्मिन्पक्षे ज्ञेयं सर्वं व्यतिरिक्तस्य कस्यचिज्ज्ञानस्य ज्ञेयमित्यङ्गीक्रि-
यत इति ज्ञेयपदादृष्ट्या व्यतिरिक्तस्येतिपदाध्याहारेण च यदाहोति
वाक्यं योज्यमवैनाशिकैरिति क्लेशः । तद्विषय इति ज्ञानविषयकज्ञा-
नात्मक इत्यर्थः । तर्हि तत्पक्षे ज्ञानात्मकस्य त्रच्छायाः सर्वज्ञत्वं न स्यात्
स्वने स्वस्य ज्ञानादिति शङ्कते । ज्ञानस्येति । ज्ञातं योग्यस्य सर्वं स्याज्ज्ञाने
हि सर्वं ज्ञतवानिः अन्यथा शशविपाणादेरज्ञानात्मकज्ञत्वं कस्यापि
मते न स्यादतो नास्मान्मते तस्य दोषस्य प्राप्तिः किन्तु वैनाशिकस्यैव
तेन ज्ञानस्यावश्यज्ञेयत्वाङ्गीकारात्स्वने स्वस्य ज्ञेयत्वस्य सिद्धं हीति

स्वकारणकारणमपीति चेन्न । अन्यत्वात् सावयवत्वाच्च ।
 दृष्टान्ते कारणबीजादृष्टफलसंघत्तान्यन्यान्वेव बीजानि
 दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरे-
 ऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते । बीजदृष्टादीनां सावयवत्वाच्च
 स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवस्य पुरुषः सावयवाच्च कलाः
 शरीरञ्च एतेनाकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं किमु-
 ताकाशकारणस्य पुरुषस्य तस्मादसमानो दृष्टान्तः ।
 किन्दृष्टान्तेन वचनात् स्यादिति चेन्न । वचनस्याकारकत्वात् ।

पूर्वग्रन्थे दूषितत्वादन्यज्ञेयत्वस्य चानङ्गीकारात्सर्वज्ञत्वयोगादि-
 त्याह । सोऽपीति ॥ तर्हि तव मते कथं सर्वज्ञत्वनिर्वाह इत्याशङ्क्य-
 स्तन्मते तस्य मायिकत्वेन तदनिर्वाहेऽपि न दोष इत्याह । किन्-
 दिति ॥ वस्तुतस्तु सर्वस्य व्यवहारहेतुज्ञानवत्त्वं सर्वज्ञत्वं तत्तु ज्ञान-
 स्यापि स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारहेतुत्वादस्ति ज्ञातुं योग्यत्वं सर्वज्ञा-
 नाद्वा तदस्तीति भावः । पूर्वाज्ञानवस्यादोषोऽपि तस्यैवेत्याह । अनव-
 स्येति ॥ ननु तेन खेनेव ज्ञेयत्वङ्गीकारान्नानवस्येत्यत आह ॥ स्वात्मना
 चेति ॥ सिद्धं हीत्यत्र स्वज्ञेयत्वसम्भवस्योक्तत्वात् परिशेषादन्यज्ञेयत्वे
 तस्य तस्याप्येवमित्यनवस्थाऽनिवार्येत्यर्थः । ज्ञानस्याज्ञेयत्वे तद्व्यवहा-
 रासिद्धिः ज्ञानान्तरज्ञेयत्वे चानवस्था तत्रापि स्यादिति शङ्कते ।
 समान एवेति ॥ स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारसिद्धे र्निर्भेदस्यैवास्माभि-
 रनङ्गीकारादनवस्थायाः प्रसक्तिरेव नास्तीति परिहरति । न ज्ञान-
 स्येति ॥ एकत्वपक्षे भेदप्रतीतिमुपापदयति । नामरूपेति ॥ एवं
 चैतन्यस्यैकत्वेन नित्यत्वाज्ज्ञानत्वेन तस्य सत्यत्वाच्चाधिष्ठानत्वोप-
 पत्तेः । तस्मिन् कलानामध्यारोप आत्मप्रतिपत्तार्थमिहोच्यत इत्याह ।
 तथा चेहेति ॥ चैतन्यस्य नित्यत्वेनाधिष्ठानत्वे सतीह श्रुताविदं
 कलानामध्यारोपणमुच्यत इत्यर्थः । ननु चैतन्यस्य न नित्यत्वं परि-
 च्छेदश्रुतेः परिच्छिन्नस्य च घटादिवदनित्यत्वादिति शङ्कते । तेन

न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते किन्तर्हिय-
थाभूतार्थावद्योतने । तस्मादतः शरीर इत्येतद्वचनम्
अण्डस्यान्तर्व्यामेतिवच्च द्रष्टव्यम् । उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च ।
दर्शनश्रवणमननविज्ञानादिलिङ्गैरन्तः शरीरे परिच्छिन्न
इव ह्युपलस्यते चात उच्यते अन्तः शरीरे सोम्य स
पुरुष इति । न पुनराकाशकारणः सन् कुण्डवदरवच्छ-
रीरपरिच्छिन्न इति मनसापीच्छति वक्तुं मूढोऽपि क्रिसुत
प्रमाणभूता श्रुतिः । यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ती-

चेति ॥ शरीरान्तरस्थत्वं प्रत्यक्षविवक्षयोच्यते न परिच्छेदविवक्षया
तथा सत्युत्तरवाक्यविरोधादित्याह । नेति ॥ अयोग्यत्वादपि सोऽर्थो
न विवक्षित इत्याह । कवेति ॥ स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्थाभावात्तत्कालीन-
पुरुषं परिच्छेदं न शक्नोतीत्यर्थः । बीजकार्यस्य दृक्चस्य कार्यं फलं
स्वकारणदृक्कारणबीजमभ्यन्तरी करोतीति दृष्टमिति नायोग्यमिति
शङ्कते । बीजवदिति ॥ तद्विदृणोति । यथेति ॥ दृष्टान्ते बीजव्यक्ति-
भेदादविरोधे यो हि पुरुषव्यक्त्यैक्यात्कारणाभ्यन्तरीभावयोर्विरोध
इत्याह । नेति ॥ ननु कारणीभूतबीजस्यैव दृक्चमफलदन्तर्गतबीज-
रूपेण परिणामान्तयोः कारणकार्यबीजयोरैक्यमागङ्गा एवमपि-
तस्य सावयवत्वादृक्चवत्फलाकारेण परिणतावयवेभ्यो भिन्नावयवा-
नामेव तदन्तर्गतबीजरूपेण परिणामान्तयोर्भेदेनाधाराधेयभावः स्यात्
इह तु निरवयवत्वान्न तथात्वमित्याह । सावयवत्वाच्चेति ॥ व्याप्त्यं
हेतुं विदृणोति । दृष्टान्त इति ॥ श्रूयत इति यस्मिन्नेताः षोडश-
कला इति यच्छेदोक्तस्यैव पुरुषस्यान्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति
तच्छेदेनाभिधानादित्यर्थः ॥ द्वितीयं हेतुं विदृणोति । बीजेति ॥
निरवयवश्चेति तथाचेकदेशेन कलादिरूपेण परिणाम एकदेशेन
तत्रावस्थानं बीजवन्न सम्भवतीत्यर्थः । किञ्च कलानां सावयवत्वेन
परिच्छेदात्पुरुषस्य तद्विपरीतत्वादपि परिच्छिन्नस्य न परिच्छिन्नाधार-
कत्वं सम्भवतीत्याह । सावयवश्चेति ॥ यदा सावयवत्वेन कार्यतया

त्युक्तं पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः स चान्योऽर्थोऽपि
 श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते । चेतनपूर्विका
 च सृष्टिरित्येवमर्थे च पुरुषः षोडशकलः पृष्टो यो भार-
 द्वाजेन स ईक्षाञ्चक्रे ईक्षणां दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः ।
 सृष्टिफलक्रमादिविषयं कथमित्युच्यते कस्मिन् कर्तृविशेषे
 देहादुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्याव्यहमेव वा कस्मिन्वा
 शरीरे प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः
 ॥ ३ ॥

सृष्टात्वान्निरवयवतया परमार्थसत्यपुरुषाधारत्वं नोपपद्यत इत्याह ।
 सावयवाश्चेति ॥ नन्वाकाशकार्यशरीरे आकाशस्यापरिच्छिन्नस्याभ्य-
 न्तरीभावो दृष्ट इत्याशङ्क्य तस्यापि शरीराकारेणावस्थानमेव छिद्रा-
 दिविशिष्टस्यैव शरीरत्वान्न तु तदन्तस्थत्वमित्याह । एतेनेति ॥
 युक्त्यसहमपि वचनप्रामाण्यादङ्गीकार्यमिति शङ्कते । किं दृष्टान्तेनेति ॥
 वचनस्यापि वस्तुतोऽन्यथाकरणे सामर्थ्याभावाद्वास्तुस्वरूपाविरोधेनैव
 बोधकत्वादन्यथाविचारवैयर्थ्यादिरुद्धार्थो न बोधार्ह इत्याह । वच-
 नस्येति ॥ तर्ह्यन्तःशरीर इति श्रुतेः कथमुपपत्तिरित्यत्राशङ्क्य पुरु-
 षस्य शरीरोपादातत्वेन तदनुस्यूतस्य तदन्तर्गतत्वप्रतीतिस्तदभिप्रायेयं
 श्रुतिरिति सदृष्टान्तमाह । तस्मादिति ॥ अगृह्येत्पण्डकारणस्य व्योम्नो
 यथा तदनुस्यूतत्वेन तदन्तर्गतत्वप्रतीतिस्तद्वदित्यर्थः । यद्वा लोक-
 भ्रमसम्बद्धं परिच्छिन्नत्वमनूद्यते श्रुत्येत्याह । उपलब्धीति ॥ तत्वाभि-
 व्यक्तेर्वा तदन्तर्गतत्वाव्यपदेश इत्याह । उपलभ्यते चेति ॥ ननु
 यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीत्यनेनाधारोपस्योक्तत्वात् स ईक्षा-
 मित्यादिना पुनः सृष्टिकथनमधिकमित्यत आह । यस्मिन्निति ॥ अत
 इति क्रमप्रतिपत्तिप्रर्थे स ईक्षामित्याद्युच्यत इत्यर्थः । तत्प्रतिपत्तिश्च
 कलोत्पत्तिप्रतिपत्तिसौकर्यार्थं विपर्ययेण तु क्रमत उपतद्यते चेति
 न्यायेन कार्यस्य स्वकारणक्रमेणपवादसौकर्यार्थञ्चेत्यर्थः ॥ ईक्षणांतेः

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्या-

नन्वात्माऽकर्त्ता प्रधानं कर्त्तुं अतः पुरुषार्थे प्रयोजन-
मुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्त्तते सहदाद्याकारेण तत्वेदमनु-
पपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येणापूर्वकं कर्त्तुं त्ववचनं सत्त्वा-
दिगुणसाध्ये प्रधाने प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्त्तरि सति ईश्वरे-
च्छानुवर्त्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्त्तृत्वे
साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्त्तृत्वानुपपत्तेश्च । न हि
चेतनावान् बुद्धिपूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात् । तस्मात्पु-
रुषार्थेन प्रयोजनेनेनापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्त्तमा-
नेऽचेतने प्रधाने चेतनवदुपचारोऽयं स ईच्छाञ्चक्रे इत्यादिः ।

प्रयोजनमाह । चेतनेति ॥ सृष्टीति ॥ सृष्टिः प्राणादेः सृष्टिसंस्था
उत्क्रान्त्यादि फलं क्रमः प्राणाच्छ्रद्धानित्याद्युक्तानन्तर्यम् । आदिश-
ब्देन लोकेषु नाम चेत्याधाराधेयविशेषो गृह्यते । नन्वीक्षणोक्त्या
न चेतनपूर्वकत्वसिद्धिः ॥ ३ ॥

न्यायेन चेतनस्याकर्त्तृत्वेनाहेतुत्वेऽचेतनस्य प्रधानादेर्विक्रियावत्त्वेन
हेतुत्वे सति ईक्षणस्यान्यथा नेयत्वादिति साङ्ख्यैः शङ्कन्ते । नन्वात्मेति ॥
अकर्त्तृत्वस्य तत्वेदमित्यनेनान्वयः । आत्माऽकर्त्ता । तत्र तथा सतीदं
कर्त्तृत्ववचनमुपपन्नमित्यर्थः । किञ्च तस्य कर्त्तृत्वाङ्गीकारेऽपि कर्त्तुः
कुलालादेरिव सहकारसाधनान्तराभावादात्मनो दुःखाद्यनर्थहेतुप्रा-
णादिसंसारकर्त्तृत्वानुपपत्तेश्चानुपपन्नं स्वष्टृत्ववचनमित्याह । आत्म-
नोऽपीति ॥ कर्त्तृत्वेऽपीत्यपिशब्दान्वयः ॥ तर्हि किं कर्त्तुं अत आह ।
प्रधानमिति ॥ कर्त्तृति । क्रियाशक्तिवदतः प्रवर्त्तत इत्यन्वयः ॥ ननु
प्रधानस्याचेतनस्य प्रयोजनायेनाभावात् प्रवृत्तानुपपत्तिरित्यत आह ।
पुरुषार्थमिति ॥ पुरुषस्य चेतनस्य भोगापवर्गरूपमर्थं प्रयोजनमुद्दिश्य
प्रवर्त्तते वक्ष्यविष्टद्वयमचेतनसाध्यं देहगतचीरस्य सस्यादिद्वयार्थम-
खुनश्चाचेतनस्य प्रवृत्तिदर्शनादित्यर्थः । ननु प्रधानस्याप्येकत्वेन सहका-

तिरापः पृथिवीन्द्रियम् । मनोऽन्तमन्नादीर्यं

यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि मृत्ये राजेति तद्वत् । ना-
त्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः । यथा साङ्ख्यस्य चिन्मात्र-
स्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं तद्वद्देवादिनामीक्षादि-
पूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात् । तत्त्वान्तर-
परिणामादात्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तचिन्मात्र-
स्वरूपविक्रियातः पुरुषस्यात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरू-
पविक्रिया न दोषाय । भवतां पुनर्वदेवादिनां सृष्टि-
कर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्व-
दोषप्रसङ्ग इति चेन्न । एकस्याप्यात्मनोऽविद्याविषयनाम-
रूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषाभ्युपगमादविद्याकृतनामरूपो-

र्थभावात्कारणत्वानुपपत्तग्रह्या चेतनस्यैव कथंचित्कर्तृत्वं वाच्यमित्यत
आह । सत्त्वादीति ॥ सत्त्वादिगुणत्रयस्य साम्यावस्था प्रधानमिति
साङ्ख्यमतम् । तत्र सत्त्वादिगुणैरनेकात्मके प्रधाने कारणे सति पुरुषस्य
कर्तृत्ववचनसङ्गतेरभावादनुपपन्नमित्यन्वयः । यदि चेतनानाधिष्ठित-
स्याचेतनस्य प्रवृत्तिर्न दृष्टेति मन्यसे तर्हि परमाणुकारणवादोऽस्तु
तत्रेश्वरस्याधिष्ठातुः सत्त्वादित्याह । ईश्वरेच्छेति ॥ अत्रापि सत्स्वि-
त्यस्यानुपपन्नमिति पूर्वैर्यान्वयः । तर्हीक्षणश्रवणस्य का गतिरत
आह । तस्मादिति ॥ पुरुषार्थेनेति पुरुषस्य भोगापवर्गार्थेनेत्यर्थः ।
मुख्ये ईक्षितरि विद्यमाने न नियतक्रमेण प्रवर्तमानत्वेन गुणेन योगा-
दैक्षतेति गौणः प्रयोगः । माणवके पैङ्गल्यगुणयोगेनाग्निशब्दप्रयोग-
वदित्यर्थः । नन्वेवमपीक्षितरि प्रधाने पुरुषशब्दः कथमत आह ।
यथा राज्ञ इति ॥ तद्वदिति पुरुषस्य भोगाय वर्गकारिणि प्रधाने
पुरुषशब्द औपचारिक इत्यर्थः । स्वतोऽकर्तृरपि आत्मनो मायोपा-
धिककर्तृत्वं सम्भवतीति हृदि निधाय प्रथमं मायां ततः प्रतिषन्धी
परिहरति । नेति ॥ बुद्धिकर्त्ताभोक्ता पुरुष इति वदद्भिः साङ्ख्यैरा-

तपो मन्वाः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥४॥

पाधिकृतो हि विशेषोऽभ्युपगम्यते आत्मनो बन्धमोक्षा-
दिशास्त्रज्ञतसंव्यवहाराद्युपरनार्थतोऽनुपाधिकृतञ्च तत्त्व-
मेकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्व्वतार्किकबुद्धिप्रवगाह्यमभयं
शिवमिष्यते न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलञ्च
स्यादद्वैतत्वात्सर्व्वभावानाम् । साङ्ख्यसूत्रविद्याधारोपितमेव
पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलञ्चेति कल्पयित्वाऽऽगमवा-
ह्यत्वात्पुनस्ततस्त्वस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्ये-
च्छन्ति तत्त्वान्तरञ्च प्रधानं पुरुषात् परमार्थवस्तुभूतमेव
कल्पयन्तोऽन्यतार्किकज्ञतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते ।
तथेतरे तार्किकाः साङ्ख्यैरित्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्प-

त्मनो भोक्तृत्वमुक्तमित्यर्थः । श्रुतिप्रामाण्यादिति श्रुत्युक्तजगत्कर्तृत्वमवि-
कारिणोऽपि कथञ्चिन्निर्वाह्यमित्यर्थः ॥ साङ्ख्यः प्रतिबन्धी परिहारं
शङ्कते । तत्त्वान्तरेति ॥ भोगो नाम सुखदुःखानुभवः ॥ स च पुरु-
षस्य स्वरूपभूत इति न तत्त्वान्तरापत्तिरुच्यते परिणाम इत्यर्थः । परि-
णामो हि पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः । सा च सजातीयरूपान-
न्तरापत्तौ विजातीयरूपान्तरापत्तौ वाऽनित्यत्वादिकमावहेदेवेति
भोज्याविवेकोपाधिकं भोक्तृत्वमङ्गीकर्त्तव्यम् ॥ तेन तदात्मककर्तृत्वेऽपि
तत्त्वमित्यभिप्रेत्य मुख्यपरिहारमाह । नेति ॥ एकस्य वस्तुनोऽस-
हायस्याकर्तुराप्तकामस्यापीत्यर्थः । उपाधिकृतकर्तृत्वसम्भवादवि-
द्यारूपसहायस्य सम्भवाद्भ्रान्त्याऽस्माद्विज्ञजीवानामनाप्तकामानां स-
म्भवान्तत्पुरुषार्थस्रष्टृत्वं तथाविधस्याभ्युपपद्यत इति नाचेतनस्य
चेतनाधिष्ठितस्य तद्युक्तमिति भावः । नामरूपेत्यनभिव्यक्तनामरूपे-
त्यर्थः । बन्धमोक्षादीत्यादीत्यादिशब्देन तत्साधनमुच्यते । मोक्षस्यापि
बन्धप्रतियोगित्वेन सोपाधिकत्वमुक्तम् ॥ परमार्थस्य श्रुत्यैकगम्यत्व-
माह । सर्व्वेति ॥ एवमन्तस्यात्मनो न स्रष्टृत्वमित्याह । न तत्रेति ॥

नात आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यं विरुद्धमाना
अर्थदर्शित्वात् परमार्थतत्त्वान्तदूरमेवापन्नयन्तेऽतस्तन्मत-
मनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रत्यादरवन्तो मुमु-
क्षवः स्युरिति तार्किकमते दोषदर्शनं किञ्चिदुच्यते
ऽस्माभिर्न तु तार्किकतात्पर्येण । तथैतदतोक्तम् । विवदन्
खेऽवनिक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम् । तैः संरक्षितसद्बुद्धिः
सुखं निर्व्वर्ति वेदवित् । किञ्च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिय-
योर्विशेषानुपपत्तिः । का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता
भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते
न कर्त्ता । प्रधानन्तु कर्त्तैव न भोक्तृत्वमिति । न नूक्तं पुरु-
षश्चिन्मात्र एव स्वात्मस्यो विक्रियते भुञ्जानोऽनन्तत्वान्त-
रपरिणामेन । प्रधानन्तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रिय-
तेऽतो ऽनेकमशुद्धमचेतनञ्चेत्यादिधर्मवत्तद्विपरीतः पुरुषः ।

कल्पयित्वेति कल्पयितुं प्रवृत्ता इत्यर्थः । पुरुषस्य निर्विशेषत्वेन तस्मि-
न्वस्तुतः कर्तृत्वाद्ययोगान्तदारोपितमेवेति कल्पयितुं प्रवृत्ता अपि सर्व-
विरोधं निरासकागमप्रमाणैकशरणत्वाभावात्प्रत्यक्षादिविरोधापत्तप्रा-
प्त्यारोपितत्वाङ्गीकाराच्च त्वस्यन्तः सर्वं परमार्थत एवेच्छन्ति । तत्वाप्य-
चेतनस्य भोक्तृत्वायोगान्तन्मात्रमात्मनोऽङ्गीकुर्वन्ति ॥ कर्त्तृत्वा-
दिकन्त प्रधानस्याङ्गीकुर्वन्तीत्यर्थः । तर्हि तस्य को दोष इत्या-
शङ्क्य भोक्तृत्वाङ्गीकारे तथैव तस्यैव कर्तृत्वमपि स्यादित्यन्यैः
शिक्षिताः सन्तः स्वमतात्प्रच्यवन्त इत्याह । अन्येति ॥ कृतायाः
शिक्षिताया बुद्धेर्विषया अधीनाः शिक्षितबुद्धय इत्यर्थः । तर्हि
साङ्ख्यशिक्षकस्य तार्किकस्य मतं याह्यमत आह । तथेति ॥ त-
स्यापि साङ्ख्येन शिक्षितत्वान्न तदपि याह्यमित्यर्थः । तर्हि तस्य तार्-
किकस्य मतं याह्यमित्याशङ्क्य न कस्यापीत्याह । इत्येवमिति ॥ तर्हि
त्वया तार्किकमतं किमर्थं दूष्यते । परस्परमेव तैर्दूषितत्वान्तव तद्वदेव

नाऽसौ विशेषो वाङ्मातृत्वात्प्राग्भोगोत्पत्तेः । केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नामविशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं स्वरूपेणावतिष्ठत इति । अस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेष इति वाङ्मात्रेण प्रधानपुरुषयोर्विशिष्टविक्रिया कल्पते । अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेन्न । तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेन्न । प्रधानस्यापि भोगकालेऽविक्रियत्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः । चिन्मात्रस्यैव विक्रियाभोक्तृत्वमिति चेदौप्यप्रादसाधारणधर्मावतामग्नप्रादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुप-

द्वेषादिमत्त्वप्रसङ्गाच्चेत्याह । अत इति ॥ विरोधोद्भवकारणमिति पारमार्थिकतया भेददर्शनमित्यर्थः । संरक्षितेति भेददर्शनस्य परस्परोक्तदोषयस्तत्वाद्वैतमेव निर्दुष्टमिति निश्चितबुद्धिः सन्निवर्ति सर्वविकल्पेभ्य उपशान्तो भवतीत्यर्थः । दोषप्रदर्शनं हि किञ्चित्क्रियत इति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयन् कर्तृत्वादेरारोपितत्वमेव परेणापि वक्तव्यमित्याह । किञ्चेत्यादिना ॥ तत्वादौ भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विशेषस्य यत्तुमशक्यत्वात्तयोराश्रयव्यवस्थानं सम्भावतीत्याह । भोक्तृत्वेति ॥ आश्रयमविदान् शङ्कावसरोक्तं विशेषं शङ्कते । नन्विति ॥ स्वात्मस्यो विक्रियत इति चिद्रूपेण विक्रियत इत्यर्थः । तत्त्वान्तरेत्यनेकत्वाशुद्धादियुक्तस्वविलक्षणमहदादिरूपेणेत्यर्थः । पुरुषस्य चिद्रूपेणैव परिणामाच्च रूपान्तरापत्तिः अशुद्धादिकं वा । प्रधानस्य त्वाकारान्तरेण परिणामात्पूर्वरूपत्यागादशुद्धादिकं स्यादित्यर्थः । किञ्चिद्रूपेण परिणाम आगन्तुको वा न वा । आद्ये आगन्तुकविशेषवत्त्वेनानित्यत्वाद्यापत्तप्रा प्रधानाद्विशेषः । भोगानन्तरं पुनः स्वरूपावस्थाना-

पत्तिः । प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेन्न । प्रधानस्य पारमार्थ्यानुपपत्तेः । न हि भोक्तोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतेतरप्रकाशने । भोगधर्म्यवति सन्वाङ्मनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बादयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेन्न । पुरुषस्य कस्यापनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयतेऽविद्याधारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत् परमार्थतः पुरुषो भोक्तैव न कर्त्ता प्रधानं कर्त्तैव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं कल्पनाऽऽगमवाच्या व्यर्था निर्हेतुका च इति नादर्त्तव्या मुमुक्षुभिः । एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेन्न । भावात् । स

न्नानित्यत्वादोषश्चेत्प्रधानस्यापि प्रलये तथात्वाङ्गीकाराच्च तयोर्विशेषः स्यादिति दूषयति । नामाविति ॥ संयहवाक्यं विदुषोति । प्रागिति ॥ अस्यां कल्पनायामिति चिद्रूपेण विक्रियाकल्पनायामपि विचार्यमाणेऽर्थतो न कश्चिदपि विशेषो लभ्यत इति तयोर्विशिष्टविक्रिति वाङ्मात्रेणैव कल्प्यत उच्यत इत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते । अथेति ॥ चिन्मात्र एवेति न त्वागन्तकरूपान्तरमित्यर्थः । तर्हि कर्मजन्यः कदाचित्को भोगो न सिद्धेऽदित्याह । न तर्हीति ॥ एतदोषपरिहारायागन्तकं परिणाममङ्गीकृत्य भोगकालीनविक्रियामात्रं भोगः स च पुरुषस्यैव न प्रधानस्येति भोगसदसत्त्वविशेषमात्रेण शङ्कते । भोगकाल इति ॥ तत्रापि किं भोगकालो न विक्रियमात्रं भोगः उत तत्कालीनचिन्मात्रगतविक्रियावत्त्वं भोग इति विकल्पनाद्ये भोगकाले प्रधानस्यापि सुखाद्याकारेण विक्रियावत्त्वाद्भोगः स्यादित्याह । नेति ॥ द्वितीयं शङ्कते । चिन्मात्रस्यैवेति ॥ चिन्मात्रस्यैव विक्रियेत्येवकारेण धर्म्यन्तरगतविक्रियानपेक्षाचैतन्यविक्रियामोग इत्युच्यते वा चैतन्यमात्रगता तदसाधारणा विक्रिया भोग इति वा । - नाद्यः ॥ सुखादिरूपप्रधान-

हि शास्त्रप्रणेतृदिषु तत्फलार्थं च शास्त्रस्य प्रणयनम-
नर्थकं सार्थकञ्चेति कल्पना स्यात् । न ह्यात्मैकत्वे शास्त्र-
प्रणेतृदयस्ततोऽभिन्नाः सन्ति तदभावे एवंविकल्पे नैवा-
नुपपन्नाः । अशुपगते आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाशुपगतो
भवता यदात्मैकत्वमशुपगच्छता । तदशुपगमे च कल्प-
नानुपपत्तिमाह शास्त्रम् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त-
त्वेन कं पश्येदित्यादिशास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिश्चाह ।
अन्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये यन्न हि द्वैतमिव
भवतोत्यादि । विस्तरतो वाजसनेयके । अविभक्ते वि-
द्याऽविद्ये परापरे इत्याद्यावेव शास्त्रस्यातो न तार्किकवा-
दभट्टप्रवेशः । वेदान्तराजप्रमाणवाङ्मते इहात्मैकत्व-

विक्रियां विना भोगासिद्धेः । न द्वितीयः । चैतन्यासाधारणविक्रि-
याभोग इत्यत्र हेतुभावात्स्वासाधारणविक्रियाभोग इति वक्तव्यम् ।
तथावातिप्रसङ्गः । सर्वस्यापि स्वासाधारणविक्रियावत्त्वात् । भोग-
कालीनासाधारणविक्रियावत्त्वं तु प्रधानस्याप्यस्ति ॥ तत्कालीन-
सुखादिविक्रियावत्त्वादि दूषयति । औपग्येति ॥ ननु भोगका-
लीना साधारणविक्रियैव भोगः । न चाग्न्यादेस्तत्काले नियमेन
विक्रियास्ति । न च प्रधानस्यापि प्रसङ्गः इष्टापत्तिरिति शङ्कते ।
प्रधानेति ॥ भोक्ता हि शेषो भोगश्च शेषः । उभयोरपि
भोक्तृत्वे शेषशेषिभावो न स्यादित्याह । नेति ॥ ननु भोगः
सत्त्वगुणप्रधानचेतोरूपेण परिणतप्रकृतेरेव धर्मस्तस्याविक्रियोपपत्तेः
न पुरुषस्य तस्याविक्रियवत्त्वात् । न च तस्य भोगभावप्रसङ्गस्तस्य
तथाविधचित्तप्रतिविम्बतत्त्वमात्रेण भोक्तृत्वव्यपदेश इति शङ्कते । भोग-
धर्मवतीति ॥ सत्त्वाङ्गिनीति सत्त्वगुणोऽङ्गी प्रधानं यस्य तस्मिन्
चेतसीत्यर्थः । तर्हि चित्तगतभोगेन चैतन्ये विशेषो जायते वा न वेति
विकल्प्य न द्वितीय इत्याह । नेति ॥ किं चास्मिन् पक्षे स्वकीयशास्त्र-

विषय इति । एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेक-
शक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वाद्वत्क्षणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साध-
नाद्यभावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थ-
कटृत्वादिदोषश्च । यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थका-
रिणि कर्तव्युपचाराद्राजा कर्त्तृति सोऽत्रानुपपन्नः ।
स ईक्षाञ्चक इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाधनात्प्रमाणभूतायाः ।
तत्र हि गौणो कल्पना शब्दस्य यत्र मुख्यार्थो न सम्भ-
वति । इह त्वचेतनस्य सुक्तबद्धपुरुषविशेषापेक्षया कटृ-
कर्मदेशकालनिमित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था
नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । यथोक्तसर्वज्ञे-
श्वरकटृत्वपक्षे तूपपन्ना ईश्वरेणैव सर्वाधिकारी प्राणः
पुरुषेण सृज्यते । कथं स पुरुष उक्तप्रकारेणैचित्वा सर्व-

प्रणयनं च व्यर्थं स्यादित्याह । भोगरूपश्चेदिति ॥ आद्यो सविशेषः
सत्यो वाऽसत्यो वेति विकल्पः सत्यविशेषवत्त्वे पुरुषस्य विकारित्वं
स्यादिति मनसि सन्निधायास्यारोपितविशेषवत्त्वमस्तीत्याद्यं शङ्कते ।
अविद्येति ॥ अनर्थेतिभोगरूपेत्यर्थः । तर्हि भोक्तृत्वविशेषवत्कर्तृत्वादि-
विशेषस्य प्रधानादेश्वारोपत्वमङ्गीकर्त्तुं युक्तं नार्हवैशमस्यदुक्तरीत्या
बन्धमोक्षव्यवहारसिद्धुपपत्तेः । तथा कल्पनायां प्रयोजनाभावात्
प्रभाणात् प्रत्युतसर्वं श्रुतिविरोधापत्तेश्चेत्याह । परमार्थत इति ॥ पुरु-
पादस्त्वनरं च प्रधानमित्यन्वयः ॥ उक्तदोषजातं साङ्ख्यस्य मतं
मोक्षकामिना नादर्त्तव्यमिति ज्ञापनार्थमुक्तं न तु द्वेषपक्षपातादित्या-
शयेनाह । इति नादर्त्तव्यमिति ॥ आत्मैकत्वपक्षेऽपि निरसनीयबन्धा-
भावाच्छास्त्रप्रणयनानर्थक्यमिति शङ्कते । एकत्वेऽपीति ॥ किमात्मैकत्व-
निश्चयबन्तं प्रति तस्यानर्थक्यमुच्यते तद्विपरीतं प्रति वेति विकल्पग्राह्यं
प्रति प्रणयनाभावादानर्थक्यदोषाभावमाह । नभावादिति ॥ दोषापाद-
नाभावादित्यर्थः । संप्रहृवाक्यं विदुषोति । न ह्यात्मैकत्व इति ॥

प्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारमन्तरात्मान-
मसृजत सृष्टवान् । अतः प्राणात् अङ्गां सर्वप्राणिनां
शुभकस्मिप्रवृत्तिहेतुभूताम् । ततः कस्मिंफलोपभोगसाधनाधि-
ष्ठानानि कारणभूतानि सहाभूतान्यसृजत । खं शब्दगुणां
वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम् ।
तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्याञ्च विशिष्टं त्रिगुणं
शब्दस्पर्शाभ्याम् । तथाऽपो रसेन गुणोपासाधारणेन
पूर्वगुणानुप्रवेशेन चतुर्गुणाः । तथा गुणेन पूर्वगुणा-
नुप्रवेशेन पञ्चगुणा पृथिवी । तथा तैरेव भूतैरारब्ध-

निश्चित इति शेषः । तदभावे शास्त्रप्रणेतृत्वाभावे इयं कल्पनैवार्थवद-
नर्धकञ्चेति विकल्पनैवानुपपन्नेत्यर्थः । नैवानुपपन्नेति पाठे तु तद-
भाव इत्यनेनैकत्वनिश्चयाभावोऽभिधीयते* । तदानीं निरसनीयबन्धा-
दिसत्त्वादियं कल्पना बन्धनिवृत्त्यर्थं शास्त्रप्रणयनकल्पना नानुपप-
न्नेति योज्यम् । किञ्चात्मैकत्वनिश्चये जाते तन्निश्चयजनकत्वेन शास्त्रा-
र्थवत्त्वस्य स्वानुभवसिद्धतात्तेनेयं शङ्का किं नुमपि न शक्येत्याह । अभ्यु-
पगत इति ॥ प्रमाणार्थ इति प्रमाणस्य शास्त्रस्यार्थः प्रयोजनमित्यर्थः ।
एकत्वनिश्चयवन्तं प्रति शास्त्रानर्धका कल्पनाभावः श्रुत्याभ्युक्त इत्याह ।
तदभ्युपगमे चेति ॥ अत्राप्यभ्युपगमो निश्चयः । एकत्वनिश्चयाभाव-
दशयान्तु निरसनीयारोपितबन्धसत्त्वान्नानर्धक्यं तदपि श्रुत्योक्त-
मित्याह । शास्त्रप्रणयनेति ॥ अनेन द्वितीयकल्पो निरस्तः । श्रुतिगतं
यत्र पदं व्याचष्टे । अन्यत्वेति ॥ अथर्वणोऽपि मन्त्रोपनिषदि द्वौ
विद्यो वेदितव्य इत्यपक्रम्यापरविद्या ऋग्वेदादिरूपा परात्वदृश्यत्वा-
दिगुणकप्रत्यक्षमितसर्वद्वैतवस्तुविषयेत्युक्त्या विद्याविद्ययोर्विषयभेदः

* भावोविधीयत इति पाठान्तरम् ।

मिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्धयर्थं कर्म्मार्थञ्च दशसङ्ख्यम् । तस्य
चेत्स्वरमतस्य संशयसङ्कल्पादिलक्षणं मनः । एवं प्राणिनां
कार्यं कारणञ्च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं ब्रौह्मिवादि लक्षण-
मन्नम् । ततश्चान्नादद्यमानाद्दीर्घ्यं सामर्थ्यं बलं सर्व-
कर्म्मप्रवृत्तिसाधनम् । तद्दीर्घ्यवताञ्च प्राणिनां तयोर्वि-
शुद्धिसाधनं सङ्कीर्त्यमाणानां मन्त्रास्तपोविशुद्धान्तर्वहिः
करणेभ्यः । कर्म्मसाधनमेता ऋग्यजुःसामायर्वाङ्गिरसः ।
ततः कर्म्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । ततो लोकाः कर्म्मणां
फलम् । तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो
यज्ञदत्त इत्यादि । एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादि-
दोषगीजापेक्षया सृष्टास्तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रम-

शास्त्रस्यादावेव सूचित इत्याह । अत्र चेति ॥ अद्वैतवादे सर्वं शङ्कानां
श्रुतिप्रमाण्येनैव निरासात् । तार्किकोत्प्रेक्षितशङ्कायूकस्यापि
नात्र प्रवेश इत्युपसंहरति । अत इति ॥ राजप्रमाणेति प्रमाणराजे-
त्यर्थः । राजदन्तादित्वात्परिपातः । वेदान्तप्रमाणमेव राजेश राजा
तद्वाहवस्तदुक्तन्यायास्तैर्गुण आत्मैकत्वमेव विषय इव देश इव देशो
रक्षणीयत्वात् तार्किकभट्टैर्योधैर्न प्रवेश इत्यन्वयः ॥ पूर्ववाद्युक्तं
दोषं निराकरोति । एतेनेति ॥ उपाधिकृता अनेकाः शक्तयः साध-
मानि च तत्कृतस्य भेदस्यानेकत्वस्य सत्त्वादित्यर्थः । आत्मेति आत्मनो
योऽनर्थः संसारस्तत्कर्तृत्वमित्यर्थः । आदिशब्देनाप्तकामत्वेन प्रयो-
जनापेक्षा उपपत्तिः संगृहीता । कलनायाः स्वव्यतिरिक्तस्य जीवस्य
सत्त्वात्संसारोनात्मनः । तदीयकर्म्म फलदानार्थञ्चाप्तकामस्यापि सृष्ट्या-
दिप्रवृत्तिः सम्भवति । संव्यवहारस्यापि स्वप्रतल्यत्वाद्वा स्वप्न इव
सर्वं मय्युपपद्यत इति सूत्रभाष्यादावेव परिहृत इत्यर्थः । सांख्येन
स्वप्ने पुरुषशब्दस्येक्षणस्य चोपपत्तिरुक्ता । तामनूय निराकरोति ।
यस्त्विति ॥ यजमानः प्रस्तर इत्यादावुपचारो दृष्ट इत्याशङ्काह ।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः
समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नाम-
रूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परि-

शकमक्षिकाद्याः स्वप्रवृत्तदृष्ट्या इव च सर्व्वपदार्थाः पुनस्त-
स्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम्
॥४॥

कथं स दृष्टान्तः । यथा लोके इमा नद्यः स्यन्दमानाः
स्रवन्तः समुद्रायणाः समुद्रमयनं गतिरात्मभावो यासां
ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिर-
स्कारं गच्छन्ति । तासाञ्चास्तं गतानां भिद्येते विनश्येते

तत्र हि गौणीति ॥ प्रधानपक्षे न केवलमीक्षणश्रुत्यनुपपत्तिः वस्तु-
तस्तु तस्य स्पष्टत्वमपि न सम्भवतीत्याह । इह त्विति ॥ मुक्तान् वर्ज-
यित्वा बद्धान् प्रत्येव प्रवृत्तिः कर्तृकस्माद्यपेक्षया बन्धनोच्चादिशब्दि-
तमोगोपवर्गाधी व्यवस्थिता पवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः ॥ अनेन पुरु-
षार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तत इति यदुक्तं शङ्कावसरे तन्नि-
रस्तम् । ईश्वरकारणवादे तु न कोऽपि दोष इत्याह । यथोक्तेति ॥
एवं परपक्षं निराकृत्य श्रुतिव्याख्यानं कुर्व्वन् स प्राणमसृजतेत्यस्य
तात्पर्य्यार्थमाह । ईश्वरेणैवेति ॥ राशेवैत्यर्थः ॥ अक्षरार्थं प्रश्नपूर्व्वक-
माह । कथमिति ॥ हिरण्यगर्भाख्यमिति हिरण्यगर्भ इत्याख्या येनो-
पाधिनाऽऽत्मनो भवति तं बुद्धिभिन्नं सर्व्वप्राणं समष्टिप्राणमित्यर्थः ।
यथाश्रुते कस्मिन्नहमुत्क्रान्त इत्यादिनाऽऽत्मन उत्क्रान्तप्राणोपाधिरुद्धेः
प्रस्तुतत्वाद्विरण्यगर्भस्य जीवस्य तथात्वादुपक्रमविरोधापत्तेः । हिर-
ण्यगर्भाख्यमित्युक्तिस्त्वात्मनो हिरण्यगर्भादिसंसारिभावीऽप्येतदुपाधिक
इति सूचयितुमिति बोध्यम् ॥ तस्य समष्टित्वमाह । सर्व्वेति ॥
अन्तरात्मानमिति सर्व्वस्थूलशरीरान्तरत्वादात्मबुद्धिगोचरत्वाच्चान्त-

द्रष्टुमिमाः षोडशकलाः पुरुषायणां पुरुषं
प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे
पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो
भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिचणो । तदभेदे समुद्र इत्येवं
प्रोच्यते । तद्वस्तूदकलक्षणमेवं यथाऽयं दृष्टान्तः । उक्तल-
क्षणस्य प्रकृतस्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परिसमन्ताद्द्रष्टुर्दर्श-
नस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य । यथार्कः स्वात्मप्रकाशस्य
कर्त्ता तद्वदिमाः षोडशकलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः
पुरुषायणा नदीनामिव समुद्रः पुरुषोऽयनमात्मभावग-
मनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरु-
षात्मभावमुपगम्य यथैवास्तं गच्छन्ति । भिद्येते तासां
नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्यारूपञ्च । यथा स्वभेदे च
नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मवि-
द्भिः । य एवंविद्वान् शुश्रूणा प्रदर्शितंकलः प्रलयमार्गः

रात्मा स इत्यर्थः । तत इत्यानन्तर्यार्थेयं पञ्चमो । एवमुत्तरत्वापि ।
न च भूतकार्यत्वात्प्राणस्य कथं ततः पूर्व कालीनत्वमिति वाच्यम् ।
सत्यम् । सूक्ष्मभूतसृष्ट्यनन्तरं प्राणमसृजतेति कल्पनीयत्वात् । नचैतद-
नन्तरं भूतसृष्ट्युक्तिविरोधशङ्का । तस्याः पञ्चीकृतस्थूलभूतविषयलोप-
पत्तेः । अतएव भोगसाधनाधिष्ठानानीत्युक्तम् । सूक्ष्माणां तथात्वा-
योगात् । न चैवमपि स्थूलभूतसृष्ट्यनन्तरमिन्द्रियमनःसृष्ट्युक्तिवि-
रोधः । भूतारब्धदेहाधिष्ठितानामेव तेषां कार्यक्षमत्वेन तेषां तदन-
न्तरलोक्तिरिति भावः । भोगसाधनाधिष्ठानत्वमिति भावः ॥ भूतानां
तत्कारणत्वादित्याह । कारणभूतानीति ॥ तेषां भूतानां लक्षणतया

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रति-
ष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा सा वो
मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥

स एष विद्यया प्रविलापितास्त्रविद्याकामकस्त्रीजनितास्तु
प्राणादिकलास्वकलोऽविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्यु-
स्तदपगमेऽकलत्वादेवास्ततो भवति तदेतस्मिन्नर्थे एष
श्लोकः ॥५॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य
नाभौ यथा प्रवेशितास्तदाश्रया भवन्ति यथा तथेत्यर्थः ।
कलाः प्राणाद्या यस्मिन् पुरुषे प्रतिष्ठिता उत्पत्तिस्थिति-
लयकालेषु तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्ण-
त्वात्पुरुषं पुरिशयनाद्वा वेद जानीयात् । यथा हे शिष्या
वो युष्मान्मृत्युर्मां परिव्यथाः सा परिव्यथायतु । व्यथा-

खण्डगुणमित्यादिनाऽसाधारणगुणा उक्ताः । पूर्वपूर्वगुणानुवृ-
त्तिस्तु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरोपादानत्वसूचनार्थं स्थौल्यतारतम्यमि-
द्वर्धश्चेति बोध्यम् । वायुमिति श्रुतौ वायुरित्यादि प्रथमा द्विती-
यार्थः । प्राणमसृजतेति द्वितीयोपक्रमात् । तैरेवेत्यपञ्चीकृतावस्थायाः
मित्यर्थः । तस्य चेश्वरमिति नियामकमित्यर्थः । सङ्कीर्त्यमाणानामित्य-
विशुद्धसत्त्वतया पापाचरणेन तैः पापैः सङ्कीर्त्यमाणानां सङ्करपरि-
हाराय चित्तशुद्धिसाधनं तपोऽसृजतेत्यर्थः । फलमिति लोच्यते
भुज्यत इति लोकः फलमित्यर्थः । नाम चेति ब्रह्मणाऽऽदिनाम्नोक्त-
व्यवहारासङ्करार्थमित्यर्थः । नन्वेवमसृष्टत्वात् कलानां सत्यत्वमङ्गी-
कर्तव्यम् । चारोपे शुक्तिरजतादौ स्रष्टृत्वव्यवहाराभावादित्या-
संख्यद्रुत्यवदन्मनेवमर्हनादिना प्रयत्नेन स्रष्टृस्य द्विचन्द्रमशकमजि-
कादे रारोपत्वदर्शनान् । अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत इति स्रष्टृ-

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद ।
नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

मापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ अतस्तन्माभूदुष्माकमित्य-
भिप्रायः ॥ ६ ॥

तानेवमनुशिष्य शिष्यान् तान् होवाच पिप्पलादः किञ्चै-
तावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद विजानाम्यहमेतत् नातोऽ-
स्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्तवान् शिष्या-
णामविदितशेष्यास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये कतार्थबुद्धिजनना-

त्वेनोक्तस्वप्नपदार्थस्य च अमलदर्शनान्नैवमित्याह । एवमेता इति ॥
अविद्याकामकर्मादिदोषरूपं यद्वीजं तदपेक्षया तत्साधनीकृत्येत्यर्थः ।
तैमिरिकशब्दो नेत्रेऽङ्गुल्यवदम्भाद्युपलक्षणाद्यर्थः ॥ ४ ॥

एवमात्मप्रतिपत्तार्थमध्यारोपभुक्त्वा तदपवादमवतारयति ।
पुनस्तस्मिन्नेति ॥ यामादिवद्भेदेन गन्तव्यभ्रमं वारयति । आत्मभाव
इति ॥ अस्तशब्देन नाशो नाभिधीयते भेदकोपाधिना नामरूपयोर्ना-
शोऽपि स्वरूपस्य समुद्रात्मना विद्यमानत्वादित्याह । नामरूपेति ॥
तिरस्कारमिति पदरूपतिरस्कारमित्यर्थः । तद्वस्त्विति नामरूपनाश-
नन्तरं परिशिष्टमुदकलक्षणं वस्तु समुद्र इत्येवोच्यत इत्यन्वयः । पुरुष-
स्येति कर्मणि पठौ । पुरुषं स्वात्मरूपं परितः सर्वं स्वरूपेण पश्यत
इत्यर्थः ॥ द्रष्टुरित्युक्ते आगन्तुकस्य कर्त्ता प्रतीयत इत्यत आह । दर्श-
नस्य कर्त्तुः स्वरूपभूतस्येति ॥ स्वरूपत्वे दर्शनस्य तत्कर्त्तृत्वानुप-
पत्तिसादर्थ्यकर्त्तरि शिच्प्रत्ययविरोध इत्याशङ्क्यार्कः, सर्वतः स्वप्रकाशक
इत्यत्र यथा कर्त्तृर्धकस्य प्रत्ययस्योपचरितत्वं तद्वदिहापीत्याह ।
यथार्क इति ॥ नदीनामिवेति इवशब्दस्तथाशब्दार्थः । यथा नदीनां
समुद्रोऽयनं तथा पुरुषोऽयनमित्यन्वयः ॥ अस्तगमनस्वरूपमाह ।
मिद्योते इति ॥ नाम रूपभेद एवास्तगमनमिहेत्यर्थः । ययैवास्त्विति यस्य

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माक-
मविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः
परमकृषिभ्यो नमः परमकृषिभ्यः ॥८॥

इति षष्ठप्रश्नः समाप्तः ॥९॥

ईश्वर । ततस्ते शिष्यागुरुणाऽनुशिष्टास्तं गुरुं कतार्थाः
सन्तो विद्यानिष्क्रियमपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते ।
अर्चयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन प्रणिपातेन च
शिरसा किमूचुरित्याह । त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्म-
शरीरस्य विद्याया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरस्याम-
यस्य । यस्त्वमेवास्माकमविद्याया विपरीतज्ञानाज्जन्मज-

यत्स्वरूपं प्राणाद्यात्माकं तदपि भिद्यत इत्यन्वयः । पुरुष इत्येवं
प्रोच्यत इत्यस्यार्थमाह । स्वभेदे चेति ॥ यदनष्टमिति कलानां हि
रूपमारोप्याधिष्ठानोभयात्मकं सत्त्वान्तमिथुनरूपं तत्वारोप्यस्य नाम-
रूपात्मकस्य भेदेऽधिष्ठानात्मक रूपपुरुषात्मनोच्यत इत्यर्थः । यथा
समुद्रस्वरूपभूतं जलं मेघैराकष्याभिदृष्टं गङ्गादिनामरूपोपाधिना
समुद्राद्भिन्नमिव व्यवहियमाणं तदुपाधिविगमे समुद्रस्वरूपमेव प्रति-
पद्यते । एवमविद्याविद्याकृतनामरूपोपाधिवशादात्मनो भिन्नमिव
स्थितं सर्वं जगद्विद्यायाऽविद्याकृतनामरूपविगमे ब्रह्मात्मतयाऽव-
शिष्यत इत्यर्थः । एवं प्राणादिकलोपाधिक आत्मन उत्क्रमणादिश-
ब्दितमरणादिव्यवहार इत्युक्तेः । प्रयोजनं प्राणादिनिमित्तावुत्क्रम-
णादिसर्वसंसारधर्म्मरहितात्मस्वरूपवस्थानं रूपं दर्शयितुं स एष
इति वाक्यं व्याचष्टे । य एवं विद्वानित्यादिना ॥ परिवारा इति
नाभेः परितो नाभौ नेस्याञ्च प्रोतास्त्येकाष्टविशेषा इत्यर्थः । यथा
प्रवेशिता इति यथावत्स्यकप्रवेशिता इत्यर्थः । माङ्गेऽर्थव्यतिरेक-
प्रदर्शनेन स्पष्टयति न चेदिति ॥५॥६॥

इति प्रश्नोपनिषत् समाप्ता ॥ ॐ तत् सत् ॥
हरिः ॐ ॥

मरणरोगदुःखादिग्रहादविद्यामहोदधेर्विद्यामन्त्रेण प-
मपुनरावृत्तिलक्षणं मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारय-
स्थानं प्रति । अतः पित्रत्वं तवास्थानं प्रत्युपपन्न इतर-
स्थात् । इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्मं जनयति तथापि
तत्प्रपूज्यतमो लोके किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरि-
त्यभिप्रायः । नमः परमच्छपिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदाय-
वर्तृभ्यो नमः परमच्छपिभ्य इति । द्विर्वचनमादरा-
र्थम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरि-
व्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावाथर्वणप्रश्नो-
पनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥ ओं तत्सत् ॥

शिष्याणां कृतार्थतावुद्भिजननार्थं तानित्यादिवाक्यं व्याचष्टे ।
तानेवमिति ॥ प्रकिरणेनेति प्रक्षेपेणेत्यर्थः । अतः पित्रत्वं तवेति ॥
जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति । अन्नदाता भयताता
पञ्चैते पितरः स्मृता इति स्मृतेरित्यर्थः ॥ नोऽस्माकमिति हेतूक्ते-
स्तात्पर्यं वदन् पित्रत्वोक्तिमात्रेण विद्यानिष्क्रियार्थं किं दत्तमित्य-
मेक्षायां स्वशरीरमेव परिचारकतया दासभावेन गुरवे दत्तमित्याह ।
इतरस्मादिति ॥ पित्रत्वादेव किं पूज्यतरत्वे परिचार्यत्वम् । स्वामित्वं
किमु वक्तव्यमित्यर्थः । अत एव वाजसनेयके साञ्चापि सह दास्या-
येति युक्तमिति भावः ॥ ७ ॥ ८ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजका-
चार्यश्रीमदानन्दज्ञानविरचिता आथर्वणिकप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीका
समाप्ता ॥ हरिः ओं ॥

ॐ

३८
अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषत् ।

परमहंसपरिव्राजकार्यश्रीशङ्करभगवत्कृत

भाष्यसहिता

श्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवदानन्द-

ज्ञानकृतभाष्यटीका

विभूषिता ।

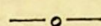
श्रीयुक्त नवचन्द्रशिरोमणिना परिशोधिता ।

श्रीभुवनचन्द्रवसाकेन प्रकाशिता

(८ नं० निमतलाघाट द्वीट्)



(द्वितीयसंस्कृता)



कलिकातानगरे

१६ नं० नूतन पगयापटी

नारायणयन्त्रे

मुद्रिता ।



इंराजी १८८० सन १२८६ साल ।

अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यम् ।

ओं ब्रह्मणे नमः ॥ ओं ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोप-
निषत् । अस्याश्च विद्यासम्प्रदायकर्तृत्वपारम्पर्यलक्षण-
सम्बन्धमादावेवाह स्वयमेव स्तुत्यर्थम् । एवं हि महद्भिः
परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणाऽऽयासेन लब्धा विद्येति श्रुत-
पूर्वादिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति । स्तुत्या प्ररोचितायां
हे विद्यायां सादराः प्रवर्तयुरिति । प्रयोजनेन तु विद्यायाः

अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीका ।

ओं ब्रह्मणे नमः ।

यदक्षरं परं ब्रह्म विद्यागम्यमितीरितम् ।

यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञातं सर्वं तत् स्यामसंशयम् ॥

ब्रह्मोपनिषद्भर्गोपनिषदाद्या आथर्वणवेदस्य ब्रह्म उप-
निषदः सन्ति । तासां शरीरकेऽनुपयोगित्वेनाव्याचिख्या-
सितत्वाददृश्यत्वादि-गुणक-धर्मोक्तेरित्याद्यधिकरणोपयोगितया
मुण्डकस्य व्याचिख्यासितस्य प्रतीकमादत्ते । ब्रह्मा देवाना-
मित्याद्याथर्वणोपनिषदिति । व्याचिख्यासितेति शेषः । ननु
इयमुपनिषद्वन्तरूपा मन्त्राणाञ्चेष्टेत्वेत्यादानां कर्मसम्बन्धेनैव
प्रयोजनवत्त्वम् । एतेषाञ्च मन्त्राणां विनियोजकप्रमाणानुप-
लब्धेन तत्सम्बन्धासम्भवान्निष्प्रयोजनत्वाद् व्याचिख्यासितत्वं न
सम्भवतीति शङ्कमानस्योत्तरम् । सत्यं कर्मसम्बन्धाभावेऽपि
ब्रह्मविद्याप्रकाशनसामर्थ्याद्विद्यया सम्बन्धो भविष्यति । ननु

साधनसाध्यलक्षणसम्बन्धमुत्तरत्र वक्ष्यति भिद्यते हृदयग्रन्थि-
रित्यादिना । अत्र चापरशब्दवाच्यायामृश्वेदादिलक्षणायां
विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसारकारणाविद्यादि-
दोषनिवर्त्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरेति विद्याभेद-
कारणपूर्वकमविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना इत्यादिना । तथा
प्रप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसाद-

विद्यायाः पुरुषकर्तृत्वात् तत्प्रकाशकत्वेऽस्या उपनिषदोऽपि
पौरुषेयत्वप्रसङ्गात् पाक्षिकपुरुषदोषजत्वशङ्कयाऽप्रामाण्याद्
व्याचिख्यासितत्वं नोपपद्यत इत्याह । अस्याश्चेति । विद्यायाः
सम्प्रदायप्रवर्त्तका एव पुरुषा न तूत्प्रेक्षया निर्मातारः सम्प्र-
दायकर्तृत्वमपि नाधुनातनं येनानाश्वासः स्यात् किन्त्वनादि-
पारम्पर्यागतम् । ततोऽनादिप्रसिद्धब्रह्मविद्याप्रकाशनसमर्थोप-
निषदः पुरुषसम्बन्धः सम्प्रदायकर्तृत्वपारम्पर्यलक्षण एव तमा-
दावेवाहेत्यर्थः । विद्यासम्प्रदायकर्तृत्वमेव पुरुषाणाम् । यथा
विद्यायाः पुरुषसम्बन्धस्तथेवोपनिषदोऽपि । यदि पुरुषसम्बन्धो
विवक्षितः पौरुषेयत्वपरिहाराय तर्हि तथाभूतसम्बन्धाभिधाय-
केनान्येन भवितव्यं स्वयमेव स्वसम्बन्धाभिधायकत्वे आत्माश्रय-
प्रसङ्गादित्याशङ्काह स्वयमेव स्तुत्यर्थमिति । विद्यास्तुतौ तात्-
पर्यान्न स्ववृत्तिदोष इत्यर्थः । स्तुतिर्वा किमर्थेत्यत आह
श्रोतबुद्धीति । प्रवर्त्तेरन्निति पाठो युक्तः । वृत्तधातोरात्मनेपद-
त्वाद्विद्याया यत् प्रयोजनं तदेवास्या उपनिषदोऽपि प्रयोजनं
भविष्यतीत्यभिप्रेत्य विद्यायाः प्रयोजनसम्बन्धमाह । प्रयोजनेन
त्विति । संसारकारणनिवृत्तिर्ब्रह्मविद्याफलञ्चेत्तर्ह्यपरविद्यैव
तन्निवृत्तेः सम्भवात् तदर्थं ब्रह्मविद्याप्रकाशकोपनिषदुच्यते ।

लभ्यां ब्रह्मविद्यामाह परीक्ष्य लोकानित्यादिना । प्रयोजन-
श्चासक्तद् ब्रवीति ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति । परामृतात्
परिमुच्यन्ति सर्व इति च । ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाग्रमि-
णामधिकारस्तथापि सत्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं
न कर्मसहितेति भैक्षचर्याञ्चरतः सत्यासयोगादिति च ब्रुवन्

तथेत्याशङ्गाह । अत्र चेति । संसारकारणमविद्यादिदोष-
स्तन्निवर्तकत्वमपरविद्यायाः कर्मात्मिकाया न सम्भवत्यविरो-
धात् । न हि शतशोऽपि प्राणायामं कुर्वतः शुक्तिदर्शनं विना
तदविद्यानिवृत्तिर्दृश्यते । ततोऽपरविद्यायाः संसारकारणा-
विद्यानिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्तां ब्रह्मविद्यामाहेति
सम्बन्धः । किञ्च परमपुरुषार्थसाधनत्वेन ब्रह्मविद्यायाः पर-
विद्यात्वं निकृष्टसंसारफलत्वेन च कर्मविद्याया अपरविद्या-
त्वम् । ततः समाख्याबलादपरविद्याया मोक्षसाधनत्वाभावो-
ऽवगम्यत इत्यभिप्रेत्याह । परापरेति । यच्चाहुः कर्मजडाः
केवलब्रह्मविद्यायाः कर्तृसंस्कारत्वेन कर्माङ्गत्वात् स्वातन्त्र्येण
पुरुषार्थसाधनत्वं नास्तीति तदनन्तरश्रुत्यैव निराकृतमित्याह ।
तथा परप्राप्तिसाधनमिति । ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे कर्मणो
निन्दा न स्यात् न खल्वङ्गविधानाय प्रधानं विनिन्द्यते । अत्र
तु सर्वसाध्यसाधननिन्दया तद्विषयवैराग्याभिधानपूर्वकं पर-
प्राप्तिसाधनं ब्रह्मविद्यामाह । विषयवैराग्यपूर्वकमिति । अतो
ब्रह्मविद्यायाः स्वप्रधानत्वात् प्रकाशकोपनिषदां न कर्तृत्वावक-
त्वमित्यर्थः । यद्युपनिषदां स्वतन्त्रब्रह्मविद्याप्रकाशकत्वं स्यात्तर्हि
तदध्येतॄणां सर्वेषामेव किमिति ब्रह्मविद्या न स्यादित्या-
शङ्गाह । गुरुप्रसादलभ्यामिति । गुर्वनुग्रहादिसंस्काराभावात्

दर्शयति । विद्याकर्मविरोधाच्च । न हि ब्रह्मात्मैकत्व-
दर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम् । विद्यायाः
कालविशेषाभावानियतनिमित्तत्वात् कालकर्म सङ्कोचानुप-
पत्तिः । यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृत्वादिलिङ्गं
न तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते । न हि विधिशतेनापि
तमःप्रकाशयोरेकत्र सम्भवः शक्यते कर्तुं किमुत लिङ्गैः

सर्वेषां यद्यपि न भविष्यति तथापि विशिष्टाधिकारिणां भवि-
ष्यतीति भावः । ननु स्वतन्त्रा चेद् ब्रह्मविद्या तर्हि प्रयोजन-
साधनं न स्यात् । सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोः प्रवृत्तिनिवृत्ति-
साध्यतावगमात् तत्राह । प्रयोजनञ्चेति । स्मरणमात्रेण विस्मृत-
सुवर्णलाभे सुखप्राप्तिप्रसिद्धेः रज्जुतत्त्वज्ञानमात्राच्च सर्पजन्य-
भयकम्पादिदुःखनिवृत्तिप्रसिद्धे च न प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यत्वं
प्रयोजनस्यैकान्तिकम् अतो विश्वं श्रुतिः प्रयोजनसम्बन्धं
विद्याया असक्तद् ब्रवीति । तस्मात् तत्प्रकाशकोपनिषदो
व्याख्येयत्वं सम्भवतीत्यर्थः । यच्चाहुरेकदेशिनः स्वाध्यायाध्यायन-
विधेरर्थावबोधफलस्य त्रैवर्णिकाधिकारत्वादधीतोपनिषज्जन्ये
ब्रह्मज्ञानेऽस्येव सर्वेषामधिकारः । ततः सर्वाश्रमकर्मसमुच्चितैव
ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनमिति तत्राह । ज्ञानमात्र इति । सर्वस्व-
त्यागात्मकसत्यासनिष्टैव परब्रह्मविद्या मोक्षसाधनमिति वेदो
दर्शयति । तादृशसत्यासिनां च कर्मसाधनस्याभावान्न कर्म-
सम्भवः । आश्रमधर्मोऽपि शमदमाद्युपवृत्तिविद्यासन्निष्ठत्व-
मेव । तेषां शौचाचमनादिरपि तत्त्वतो नाश्रमधर्मो लोक-
संग्रहार्थत्वात् । ज्ञानाभ्यासेनैवाऽपावनत्वनिवृत्तेः । न हि

कैवलैरिति । एवमुक्तसम्बन्धप्रयोजनाया उपनिषदोऽल्पग्रन्थ-
विवरणमारभ्यते । य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन
अद्वाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं
निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणञ्चान्य-
तममवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत् । उप-नि-पूर्वस्य सदे-
रेवमर्थस्मरणात् ।

ज्ञानेन सृष्टं पवित्रमिह विद्यते इति स्मरणात् । त्रिषवण-
स्नानविध्यादेरन्नसत्यासिविषयत्वात् । अतः कर्मनिवृत्त्यैव
साहित्यज्ञानस्य न कर्मण इत्यर्थः । इतश्च न कर्मसमुच्चिता
विद्या मोक्षसाधनमित्याह । विद्याकर्मविरोधाच्चेति । अकर्तृ
ब्रह्म वास्मि करोमि चेति स्फुटो व्याघात इत्यर्थः । यदा ब्रह्मा-
त्मैकत्वं विस्मरति तदोत्पन्नविद्योऽपि किं करिष्यति ततः समु-
च्चयः सम्भाव्य इति न वाच्यमित्याह । विद्याया इति । ननु
गृहस्थानामङ्गिरःप्रभृतीनां विद्यासम्प्रदायप्रकर्तकत्वदर्शनाद्
गृहस्थाश्चमकर्मभिः समुच्चयो लिङ्गादवगम्यत इत्याशङ्क्याह ।
यत्त्विति । लिङ्गस्य न्यायोपवृंहितस्यैव गमकत्वाङ्गीकारात्
समुच्चये च न्यायाभावात् प्रत्युत विरोधदर्शनान्न लिङ्गेन समु-
च्चयसिद्धिः । सम्प्रदायप्रवर्तकानाञ्च गार्हस्थ्यस्याभासमात्रत्वानु-
सन्धानेन मुहुर्मुहुर्वाधात् । यस्य मे चास्ति सर्वत्र यस्य मे
नास्ति किञ्च न । मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्च न दह्यत
इत्युद्गारदर्शनात् कर्माभासेन न समुच्चयः स्यात्तत्र च विधिर्न
दृश्यत इति भावः । साधितं व्याख्येयत्वमुपसंहरति । एव-
मिति ।

अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषदारम्भः ।

॥ ओं ॥ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य
कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां सर्ववि-
द्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

ब्रह्मा परिवृद्धो महान् धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वान-
न्यानतिशयेनेति । देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमो
गुणैः प्रधानः सन् प्रथमोऽग्रे वा सम्बभूवामिव्यक्तः सम्यक्
स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः । न तथा यथा धर्माधर्मवशात्
संसारिणोऽन्ये जायन्ते । योऽसावतीन्द्रियग्राह्य इत्यादि
स्मृतेः । विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्त्तात्पादयिता । भुवन-
स्योत्पन्नस्य गोप्ता पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये ।
स एवं प्रख्यातमहत्त्वं ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां
ब्रह्मविद्यां येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यमिति विशेषणात् ।
परमात्मविषया हि सा । ब्रह्मणा वाऽयजेनोक्तेनेति ब्रह्म-
विद्या । तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्

ग्रन्थे कथमुपनिषच्छब्दप्रयोग इति शङ्कायामुपनिषच्छब्द-
वाच्यविद्यार्थत्वात्तात्त्विक इति दर्शयितुं विद्याया उपनिष-
च्छब्दार्थत्वमाह । य इमामिति । आत्मभावेनेति प्रेमास्यद-
तयेत्यर्थः । अनर्थपूगं क्लेशसमूहं निशातयति शिथिलीकरोति
अपरिपक्वज्ञानाद् द्विवैर्जन्मभिर्मोक्षसम्भवादित्यर्थः । ज्ञानम-
प्रतिषं यस्य वैराग्यञ्च जगत्पतेः । ऐश्वर्यञ्चैव धर्मश्च सह सिद्धं

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचा-
ङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् । स भारद्वाजाय सत्यवाहाय
प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः । सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत
इति । येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमृतं मतमविज्ञातं विज्ञात-
मिति श्रुतेः । सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति । विद्या-
मथय ज्येष्ठपुत्राय प्राह । ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चानेकेषु ब्रह्मणः
सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वमथर्वा सृष्ट
इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

यामेतामथर्वणे प्रवदेत अवदत् ब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव
ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवाचोक्तवानङ्गिरे अङ्गिर्नाम्ने
ब्रह्मविद्याम् । स चाङ्गीर्भारद्वाजाय भारद्वाजगोत्राय सत्य-
वाहाय सत्यवाहनान्ने प्राह प्रोक्तवान् । भारद्वाजोऽङ्गिरसे
स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात् परस्मादवरेण प्राप्तेति
परावरा परावरसर्वविद्याविषयव्याप्तेर्वा तां परावरामङ्गिरसे
प्राहेत्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

चतुष्टयमिति स्मरणाद्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिक्रम्य
वर्त्तत इति परिवृद्धत्वं सिद्धमित्यर्थः । योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः
सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एष स्वय-
मुद्बभौ । स्वयमुद्भूतः शुक्रशोणितसंयोगमन्तरेणाविर्भूत इति
स्मृतेः स्वातन्त्र्यं गम्यत इत्यर्थः । वाक्योत्पत्तिबुद्धित्वमिव
ब्रह्मैव ब्रह्मविद्या । तच्च ब्रह्म सर्वाभिव्यञ्जकम् । ततः सर्व-

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुप-
सन्नः पप्रच्छ । कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं
विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं
भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवद्यथाशास्त्रमित्येतत् । उपसन्नः
उपगतः सन् पप्रच्छ । शौनकाङ्गिरसयोः सम्बन्धादर्वाग्वि-
धिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते ।
मध्यदीपकन्यायार्थं वा विशेषणम् । अस्मदादिष्वप्युपसदन-
विधेरिष्टत्वात् किमित्याह । कस्मिन् भगवो विज्ञाते नु
इति वितर्के भगवो हे भगवन् ! सर्वं यदिदं विज्ञेयम् ।
विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीत्येकस्मिन् ज्ञाते सर्वविद्
भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवान् शौनकः तद्विशेषं विज्ञातुकामः
सन् कस्मिन्निति वितर्कयन् पप्रच्छ । अथवा लोकसामान्य-
दृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ । सति लोके सवर्णादिसकलभेदाः
सवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः । तथा

विद्याव्यञ्जकतयाऽऽश्रीयत इति सर्वविद्याश्रया अथर्वविद्या-
श्रया । अथर्वा सर्वविद्यानां प्रतिष्ठा परिसमाप्तिर्भवति यस्या-
मुत्पन्नायां ज्ञातव्याभावात् सर्वविद्याप्रतिष्ठेत्याह । सर्वविद्या-
वेद्यं वेति ॥ १ ॥ २ ॥

प्रश्नबीजमाह । कस्मिन्निति । उपादानात् कार्यस्य पृथक्-
सत्त्वाभावादुपादाने ज्ञाते तत् कार्यं ततः पृथङ्नास्तीति
ज्ञातं भवतीति सामान्यव्याप्तिस्तद्वलाद्वा पप्रच्छेत्याह अथ-

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्य इति
ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥

किन्त्वस्ति सर्वस्य जगद्देवस्यैककारणम् । यदेकस्मिन् विज्ञाते
सर्वं विज्ञातं भवतीति । नन्वविदिते हि कस्मिन्निति प्रश्नो-
ऽनुपपन्नः । किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो युक्तः । सिद्धे
ह्यस्तित्वे कस्मिन्निति स्यात् । यथा कस्मिन्निधेयमिति ।
नाक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात् प्रश्नः सम्भवत्येव । किन्त्वस्ति
तद्यस्मिन्नेकस्मिन् विज्ञाते सर्ववित् स्यादिति ॥ ३ ॥

तस्मै शौनकायाङ्गिरा आह किलोवाच । किमित्यु-
च्यते । द्वे विद्ये वेदितव्य इति । एवं ह स्म किल यद्-
ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति । के ते
इत्याह । परा च परमात्मविद्या । अपरा च धर्माधर्म-
साधनतत्फलविषया । ननु कस्मिन् विदिते सर्वविद् भव-
तीति शौनकेन पृष्टं तस्मिन् वक्तव्येऽपृष्टमाह अङ्गिरा द्वे
विद्ये इत्यादिना । एष दोषः क्रमापेक्षत्वात् प्रतिवचनस्य ।
अपरा हि विद्याऽविद्या सा निराकर्तव्या । तद्विषये हि
विदिते न किञ्चित्तत्त्वं नो विदितं स्यादिति निराकृत्य हि
पूर्वपक्षं पश्चात् सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥ ४ ॥

वेति । प्रश्नाक्षरां यस्यामाक्षिप्य समाधत्ते । नन्वविदिते ही-
त्यादिना । किमस्ति तदिति प्रयोगेऽक्षरबाहुल्येनायासः स्यात् ।
तद्भीरुतया कस्मिन्नित्यक्षरसामञ्जस्य लाघवात् प्रश्न इत्यर्थः
॥ ३ ॥ ४ ॥

तत्वापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व-
वेदः शिखा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो

तत्र का अपरेत्युच्यते । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-
ऽथर्ववेदा इत्येते चत्वारो वेदाः । शिखा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षड्विधाऽपरा विद्या ।
अथेदानीमियं परा विद्याच्यते यया तद्वक्ष्यमाणविशेषणम-
क्षरमधिगम्यते प्राप्यते । अधिपूर्वस्य गमैः प्रायशः प्राप्य-
र्थत्वात् । न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति । अवि-
द्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् । ननु ऋग्-
वेदादिवाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनञ्च ।
या वेदवाह्या स्मृतय इति हि स्मरन्ति । कुट्टित्वान्निष्फल-
त्वाद्नादेया स्यात् । उपनिषदाञ्च ऋग्वेदादिवाह्यत्वं
स्यात् ॥ ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम् । अथ परेति
न वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् उपनिषत् । वेद्या-
क्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विव-

कल्पः सूत्रग्रन्थः । अनुष्ठेयक्रमः कल्प इत्यर्थः । अविद्याया
अपगम एव परप्राप्तिरुपचर्यते । अविद्यापगमश्च ब्रह्मावगति-
रेवेति व्याख्यातमस्माभिः । ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वा अविद्या-
निवृत्तिरित्येतद्व्याख्यानावसरेऽधिगमशब्दोऽत्र प्राप्तिपर्याय
एवेत्याह । न च परप्राप्तेरिति । साङ्गानां वेदानामपरविद्या-
त्वेनोपन्यासात्ततः पृथक्कारणाद्देवाह्यतया ब्रह्मविद्यायाः परत्वं
न सम्भवतीत्याक्षिपति । नन्विति । या वेदवाह्या स्मृतयो

ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधि-
गम्यते ॥ ५ ॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तद-

क्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्द-
राशिर्विवक्षितः । शब्दराश्यधिगम्येऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्व-
धिगमनादिलक्षणं वैराग्यञ्च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति
पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनञ्चेति ॥ ५ ॥

यथा विधिविषये कर्ताद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण
वाक्यार्थज्ञानकालादन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्त्वग्निहोत्रादि-लक्षणेन
तथेह परविद्याविषये वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्य-
वसितो भवति । केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठाव्य-
तिरिक्ताभावात् । तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेनाक्ष-
रेण विशिनष्टि यत्तदद्रेश्यमित्यादिना । वक्ष्यमाणं बुद्धौ
संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते । यत्तदिति । अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां
बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । दृशेर्वहिःप्रकृतस्य पञ्चेन्द्रिय-

याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमो निष्ठा हि
ताः स्मृता इति स्मृतेः । कुदृष्टित्वादनुपादेया स्यादित्यर्थः ।
विद्याया वेदवाह्यत्वे तदर्थानामुपनिषदामप्यृग्वेदादिवाह्यत्वं
प्रसज्येत्यर्थः । वेदवाह्यत्वेन पृथक्करणं न सम्भवति । किन्तु
वैदिकस्यापि ज्ञानस्य वस्तुविषयस्य शब्दराश्यतिरेकाभिप्रायेणे-
त्याह । न वेद्यविषयेति । वैराग्यञ्चेत्यत्र यत्नान्तरमिति शेषो
द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥

पाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं
यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

हारत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगोत्रं
गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरम् । अगोत्रमनन्वयमित्यर्थः ।
न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात् । वर्णन्त इति
वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा । अविद्य-
माना वर्णा यस्य तद्वर्णमक्षरम् । अचक्षुः श्रोत्रं चक्षुश्च
श्रोत्रञ्च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तुना तेऽविद्यमाने यस्य
तदचक्षुः श्रोत्रम् । यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादि चेतनावत्त्व-
विशेषणात् प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणै-
रर्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुःश्रोत्रमिति वार्यते । पश्यत्यचक्षुः
स शृणोत्यकर्ण इत्यादिदर्शनात् । किञ्च तदपाणिपादं
कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत् । यत एवमग्राह्यमग्राहकञ्च अतो
नित्यमविनाशि । विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणि-
भेदैर्भवतीति विभुम् । सर्वगतं व्यापकमाकाशवत् सुसूक्ष्मं
शब्दादिस्थूलत्वकरणरहितत्वात् । शब्दादयो ह्याकाशवाय्वा-

कर्मज्ञानाद्विलक्षणत्वाभिप्रायेण च पृथक्करणमित्याह ।
यथा विधिविषय इति । अप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गान्न प्रधानपरत्व-
मपि शङ्कनीयमिति मत्वाह । यः सर्वज्ञ इति । अगुणत्वादिति
उपसर्जनरहितत्वादित्यर्थः । सर्वात्मकत्वाच्चेति हेयस्यातिरिक्त-
स्याभावाच्चेत्यर्थः । ब्रह्म न कारणं सहायशून्यत्वात् कुलाल-
सात्वदित्यस्यानैकान्तिकमुक्तवर्णनाभिदृष्टान्तेन । ब्रह्म जगतो

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या-
मोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केश-
लोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥७॥

दीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात् सुसूक्ष्मम् । किञ्च
तदव्ययम् । उक्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम् । न ह्यनङ्गस्य
स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः सम्भवति शरीरस्येव । नापि
कोषापचयलक्षणो व्ययः सम्भवति रात्र इव । नापि गुण-
हारको व्ययः सम्भवत्यगुणत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च । यदेवं
लक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं पृथिवीव स्थावरजङ्गमानां
परि सर्वत आत्मभूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीराः धीमन्तो
विवेकिनः । ईदृशमक्षरं यथा विद्ययाऽधिगम्यते सा परा
विद्येति समुदायार्थः ॥ ६ ॥

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तम् । तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते
प्रसिद्धदृष्टान्तैः । यथा लोके प्रसिद्ध ऊर्णनाभिर्लूताकीटः
किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यति-
रिक्तान् तन्तून् वह्निः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च
गृह्णाति स्वात्मभावमेवापादयति । यथा च पृथिव्यामोषधयो
ब्रीह्यादिस्थावरान्ताः स्वात्माव्यतिरिक्ता एव भवन्ति । यथा

नोपादानं तदभिन्नत्वात् स्वरूपस्येवेत्यनुमानान्तरस्यानैका-
न्तिकत्वमाह । यथा च पृथिव्यामिति । जगन्न ब्रह्मोपादानं
तद्विलक्षणत्वात् । यद्यद्विलक्षणं तत्तदुपादानकं न भवति ।
यथा घटो न तन्तूपादानक इति । अस्य व्यभिचारमाह ।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणी मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चावृ-
तम् ॥ ८ ॥

सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात् केशलोमानि केशाश्च
लोमानि च सम्भवन्ति विलक्षणानि । यथैतद्वृष्टान्तस्तथा
विलक्षणं सलक्षणञ्च निमित्तान्तरानपेक्षाद्योक्तलक्षणादन्न-
रात् सम्भवति समुत्पद्यत इह संसारमण्डले विश्वं समस्तं
जगत् । अनेकदृष्टान्तो पादानान्तु स्मस्वार्थप्रबोधनार्थम् ।
यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते न
युगपद्दरमुष्टिप्रक्षेपवदिति ॥ ७ ॥

क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते । तपसा ज्ञाने-
नोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयते उपचीयते
उत्पादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छून्यतां गच्छति पुत्र-
मिव पिता हर्षेण । एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहारशक्ति-
विज्ञानवत्तयोपचितात्ततो ब्रह्मणोऽन्नम् । अद्य ते भुज्यत
इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां चिकीर्षितावस्थारूपे-

यथा च सत इति । एकस्मिन्नपि दृष्टान्तेऽनुमानानामनैका-
न्तिकत्वं योजयितुं शक्यमिति शङ्कमानं प्रत्याह । अनेक-
दृष्टान्तेति ॥ ६ ॥ ७ ॥

ईश्वरत्वोपाधिभूतं मायातत्त्वं महाभूतादिरूपेण सर्वजीवै-
रुपलभ्यत इति साधारणोऽपि कथं जायतेऽनादिसिद्धत्वादित्या-
शङ्क्याह । व्यचिकीर्षितेति । कर्माऽपूर्वसमवायिभूतसूक्ष्ममव्या-

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमब्रह्म जायते ॥ ६ ॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

णाभिजायते उत्पद्यते । ततश्चाव्याकृताद्वाचिकीर्षितावस्था-
तोऽन्नात् प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठित-
जगत्साधारणोऽविद्याकामकर्षभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जग-
दात्माभिजायत इत्यनुसङ्गः । तस्माच्च प्राणान्ननो मन
आख्यं सङ्कल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते । ततो-
ऽपि सङ्कल्पाद्यात्मकत्वान्ननसः सत्यं सत्याख्यमाकाशादिभूत-
पञ्चकमभिजायते । तस्मात्सत्याख्याद्भूतपञ्चाकादण्डं क्रमेण
सप्तलोका भूरादयः । तेषु मनुष्यादिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण
कर्माणि । कर्मासु च निमित्तभूतैस्वभूतं कर्मजं फलम् ।
यावत्कर्माणि कल्यकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति तावत् फलं
न विनश्यतीत्यभूतम् ॥ ८ ॥

उक्तमेवार्थमुपजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह । य उक्त-
लक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः ।

कृतमिति केचित् । न तस्य प्राप्तं जीवं भिन्नत्वादीश्वरत्वोपाधि-
त्वासम्भवात् । सामान्यरूपेण सम्भवेऽपि पृथिव्यादिसामान्यानां
बहुत्वात् । प्रकृतावेकत्वश्रुतिव्याकोपापाताज्जाद्य-महामाया-
रूपेणैव सम्भवेऽपि न कर्मापूर्वसमवायित्वम् । तस्याकारकत्वाद्
बुद्धादीनामेव कारकत्वाभिधानात् । कारकावयवेष्वेव क्रिया-
समवायाभ्युपगमात् । किञ्च न कार्यस्य स्वकारणप्रकृतित्वं

विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित् । यस्य ज्ञानमयं ज्ञान-
विकारमेव सर्वज्ञलक्षणं तपो नायासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात्
सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते ।
किञ्च नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम् । रूप-
मिदं शुक्लं नीलमित्यादि । अन्नञ्च ब्रीहियवादिलक्षणं जायते
पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेणेत्यविरोधो द्रष्टव्यः ॥ ८ ॥

इति मुण्डके प्रथमखण्डभाष्यम् ॥ १ ॥

पृष्ठमिति भूतसूक्ष्मस्य पञ्चीकृतभूतपञ्चकप्रकृतित्वं न स्यात् ।
तस्मान्महाभूतसर्गादिसंस्कारास्पदं गुणत्रयसाम्यं मायातत्त्व-
मव्याकृतादिशब्दवाच्यमिहाभ्युपगन्तव्यम् । पूर्वस्मिन् कल्पे
हिरण्यगर्भप्राप्तिनिमित्तं प्रकृष्टं ज्ञानं कर्म च येनानुष्ठितं तदनु-
ग्रहाय मायोपाधिकं ब्रह्म हिरण्यगर्भावस्थाकारेण विवर्तते ।
स च जीवस्तदवस्थाभिमानो हिरण्यगर्भं उच्यत इत्यभि-
प्रेत्याह । ब्रह्मण इति । ज्ञानशक्तिभिः क्रियाशक्तिभिश्चाधि-
ष्ठितं विशिष्टं जगद्व्यष्टिरूपं तस्य साधारणः समष्टिरूपः
सूत्रसञ्ज्ञक इत्यर्थः । समष्टिरूपं विवक्षितम् । व्यष्टिरूपस्य
लोकसृष्टिरुत्तरकालत्वाद्ब्रह्मणस्याविद्याविवरणस्यारम्भार्थमुक्तः
परविद्यासूत्रार्थोपसंहार इत्यर्थः । सामान्येनेति । समष्टिरूपेण
मायाख्येनोपाधिनेत्यर्थः । विशेषणेति व्यष्टिरूपेणाविद्याख्ये-
नोपाधिनाऽनन्तजीवभावमापन्नः स एव सर्वसोपाधिस्तत्
संसृष्टञ्च सतीत्यधिदैवमध्यात्मञ्च तच्चाभिदः सूत्रितः । संसृष्ट्वं
प्रजापतीनां तपसा प्रसिद्धम् । संसृष्ट्वे तपोऽनुष्ठानं वक्तव्यम् ।
ततः संसारित्वं प्रसज्येत इत्याशङ्क्याह । यस्य ज्ञानमयमिति ।
सत्त्वप्रधानमायाज्ञानाख्यो विकारस्तदुपाधिकं ज्ञानविकारं

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्य-
पश्यन्तानि वेतायां बहुधा सन्त तानि । तान्या-

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्या-
दिना यत्तद्वेश्यामित्यादिना नामरूपमन्त्रं जायत इत्यन्तेन
ग्रन्थेनोक्तलक्षणमन्त्रं यया । विद्यायाऽधिगम्यते इति परा
विद्या सविशेषेणीक्ता । अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयो विवे-
क्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यत । तत्रापरविद्या-
विषयः कर्त्तादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिरनन्तो
दुःखस्वरूपत्वाद्वातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः । सामर्थ्येन नदी-
स्रोतोवदवच्छेदरूपसम्बन्धस्तदुपशमलक्षणी मोक्षः परविद्या-
विषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः शुद्धः प्रसन्नः स्वात्म-
प्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति । पूर्वं तावदपरविद्याया
विषयप्रदर्शनार्थमारभ्यः । तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः ।
तथा च वक्ष्यति । परीक्ष्य लोकान् कश्चिचितानित्यादिना ।
न ह्यप्रदर्शितं परीक्ष्योपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह तदेतत् सत्य-
मवितथम् । किन्तन्मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माण्यग्निहोत्रा-

सृज्यमानं सर्वपदार्थाभिज्ञत्वलक्षणं तपो न तु क्लेशरूपं प्रजा-
पतीनामिवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमखण्डभाष्यटीका ।

अनादिरूपादानरूपेणानन्तो ब्रह्मज्ञानात् प्रागत्यन्तासम्भ-
वात् प्रत्येकं शरीरिभिर्हातव्यो दुःखरूपत्वादित्यनेन । यदाहु-
रेकजीववादिनः एकश्चैतन्यमेकयैवाविद्यया बद्धं संसरति ।

चरथ नियतं सत्यकामा एषः वः पन्थाः स्वकृतस्य
लोके ॥ १ ॥

दीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि कवयो मेधाविनो वशिष्ठादयो
यान्यपश्यन् दृष्टवन्तः । यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधन-
त्वात् तानि च वेदविहितान्यृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां
त्रयो संयोगलक्षणायां होत्राध्वर्यवोद्गात्रप्रकारायामधिकरण-
भूतायां बहुधा बहुप्रकारां सन्ततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः
क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्तानि अतो यूयं
तान्याचरथ निर्वर्त्तयथ नियतं नित्यं सत्यकामा यथाभूत-
कर्मफलकामाः सन्तः । एष वो युष्माकं यथा पन्था मार्गः
सुकृतस्य स्वयं निर्वर्त्तितस्य कर्मणो लोके फले निमित्तं
लोकान्ते दृश्यते भुज्यते इति कर्मफलं लोक उच्यते । तदर्थं
तत्प्राप्तये एष मार्ग इत्यर्थः । यानि यान्यग्निहोत्रादीनि
तस्यविहितानि कर्माणि तान्येष पन्थाऽवश्यफलप्राप्ति-
साधनमित्यर्थः ॥ १ ॥

तदेव कदाचिन्मुच्यते नाऽस्मदादीनां बन्धमोक्षौ स्त इति तद-
पास्तं भवति । श्रुतिवहिष्कृतत्वात् । सुषुप्तेऽपि क्रियाकारक-
फलभेदस्य ग्रहाणं भवति । बुद्धिपूर्वकग्रहाणस्य ततो विशेष-
माह । सामख्येनेति । स्तोपाध्यविद्याकार्यस्याविद्याग्रहाणे-
नात्यन्तिकग्रहाणं विद्याफलमित्यर्थः । असरोऽपक्षयरहितः ।
अमृतो नाशरहित इत्यर्थः । अपरविद्यायाः परविद्यायाश्च
विषयौ प्रदर्श्य पूर्वमपरविद्याया विषयदर्शने श्रुतेरभिप्राय-

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया
हुतम् ॥ २ ॥

तत्राग्निहोत्रमेव तावत् प्रथमं प्रदर्श्यते प्रदर्शनार्थ-
मुच्यते । सर्वकर्मणां प्राथम्यात् । कथम् । यदैवं धनैरभ्या-
हितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यवाहने लेलायते चलति अर्च-
स्तदा तस्मिन् काले लेलायमाने चलत्यर्चिश्चाज्यभागा वा-
ऽऽज्यभागयोरन्तरेण मध्ये आवापस्थाने आहुतीः प्रतिपाद-
येत् प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य । अनेकाहःप्रयोगापेक्षयाऽऽहुती-
रिति बहुवचनम् । एष सम्यगाहुतीप्रक्षेपादिलक्षणकर्म-
मार्गो लोकप्राप्तये पन्थाः । अद्वयाहुतं तस्य च सम्यक्-
चरणं दुष्करम् । विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति ॥ २ ॥

माह । पूर्वं तावदिति । यदीष्टसाधनतयाऽनिष्टसाधनतया वा
वेदेन बोध्यते कर्म तस्यासति प्रतिबन्धे तत्साधनत्वाव्यभि-
चारः । सत्यत्वं न स्वरूपाबाधत्वं भूवा ह्येते इत्यादिना
निन्दितत्वात् स्वरूपबाध्यत्वेऽपि चार्थक्रियासामर्थं स्वप्नकामि-
न्यामिव घटत इत्यभिप्रेत्याह । तदेतत् सत्यमिति । ऋग्वेद-
विहितः पदार्थो हौत्रम् । यजुर्वेदविहित आध्वर्यवम् । साम-
वेदविहित औद्गात्रम् । तद्रूपायां लेतायामित्यर्थः ॥ १ ॥

सत्यकामा मोक्षकामा इति समुच्चयाभिप्रायेण व्याख्यान-
मयुक्तम् । एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोक इति स्वर्गफलसाधनत्व-
विषयशेषविरोधादित्याहवनीयस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयो राज्य-

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्य-
मनाग्रयणमतिथिवर्जितञ्च । अहुतमवैश्वदेवमवि-
धिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

कथम् । यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्यं न
कर्मणा वर्जितम् । अग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्त्तव्यत्वाददर्शस्य ।
अग्निहोत्रसम्बन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति । तदक्रिय
मानमित्येतत् । तथाऽपौर्णमासमित्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशे-
षणत्वं द्रष्टव्यम् । अग्निहोत्राङ्गत्वस्याविशिष्टत्वादपौर्णमासं
पौर्णमासकर्मवर्जितम् । अचातुर्मास्यचातुर्मास्यकर्मवर्जि-
तम् । अनाग्रयणं शरदादिकर्त्तव्यं तच्च न क्रियते यस्य ।
तथाऽतिथिवर्जितञ्चातिथिपूजनञ्चाहन्यहन्यक्रिमाणं यस्य स्वयं
सम्यग्ग्निहोत्रकालेऽहुतम् । अदर्शादिवैश्वदेवकर्मवर्जितं
ह्ययमानमप्यविधिना हुतं न यथा हुतमित्येतत् । एवं
दुःसम्पादितमग्निहोत्रादुपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यते
आसप्तमान् सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान् हिनस्तीवायास-
मात्रफलत्वात् । सम्यक्क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणाम-
रूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्तलोकाः फलं प्राप्यते । ते

भागाविज्येते अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेति दर्शपूर्णमासे ।
तयोर्मध्येऽन्ये यागा अनुष्ठीयन्ते । तन्मध्यमावापस्थानमुच्यते ।
अग्निहोत्राहुत्योर्द्वित्वं प्रसिद्धम् । सूर्याय स्वाहा प्रजापतये
स्वाहेति प्रातः । अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् ।
तत्कथमग्निहोत्रं प्रक्रस्याहुतीरिति बहुवचनं तत्राह । अनेकाह

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता
या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च
देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥ ४ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाह-
तयो ह्याददायन् । तद्भयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

लोका एवभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा अप्राप्यत्वाहिंस्यन्त
इवायासमावन्त्वथभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते । पिण्ड-
दानाद्यनुग्रहेण वा सम्बध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः
पुत्रपौत्रप्रपौत्राः स्वात्मोपकाराः सप्तलोका उक्तप्रकारेणाग्नि-
होत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते ॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च
सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना
दहनस्य जिह्वाः । अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताः सप्त
जिह्वा ॥ ४ ॥

एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्निहोत्री चरत्यग्निहोत्रादि
भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु । यथाकालञ्च यस्य कर्मणो यः

इति । अनेकेष्वहःसु प्रयोगानुष्ठानानि तदपेक्षयेत्यर्थः ॥ दर्श-
पूर्णमासस्याग्निहोत्राङ्गत्वे प्रमाणाभावात् कथं तदकरणमग्नि-
होत्रस्य विपत्तिरित्याशङ्क्य यावज्जीवचोदनावशादग्निहोत्रिणो-
ऽवश्यकर्तव्यत्वात् तदकरणं भवेद्विपत्तिरित्यभिप्रेत्य विशेषणम् ।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य
रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभि-
वदन्त्योऽर्चयन्त्या एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्म-
लोकः ॥ ६ ॥

कालस्तकालं यथाकालं यजमानमाददायन्नाददानां आहु-
तयो यजमानेन निर्वर्त्तिता अन्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता
आहुतयो ये इमा अनेन निर्वर्त्तिताः सूर्यस्य रश्मयो भूत्वा
रश्मिद्वारैरित्यर्थः । यत्र यस्मिन् सर्गे देवानां पतिरिन्द्र
एकः सर्वानुपर्यधिवसतीत्यधिवासः ॥ ५ ॥

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यते एह्ये-
हीत्याह्वयन्त्यः । सुवर्चसो दीप्तिमत्यः । किञ्च प्रियामिष्टां
वाचं सुत्यादिलक्षणाभिवदन्त्य उच्चारयन्त्यः पूजयन्त्यथैष
वो युष्माकं पुण्यः सुकृतो यथा ब्रह्मलोकः फलरूपः एवं
प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः । ब्रह्मलोकः स्वर्गः
प्रकरणात् ॥ ६ ॥

शरदादिषु नूतनान्नेन कर्त्तव्यमाग्रयणं कर्म । अदश्च वैश्वदेव-
मिति विशेषणम् । वैश्वदेवस्याग्निहोत्रानामङ्गत्वेऽप्यवश्यकर्त्तव्य-
त्वादित्यर्थः पिण्डोदकदानेन पित्रादीनां तयाणामुपकरोति ।
यजमानपुत्रादीनाञ्च तयाणां ग्रास्तादिदानेन । ततो मध्य-
वर्त्तिना यजमानेन सम्बध्यमानः पूर्वं त्रय उत्तरे च त्रयो
गृह्यन्त इत्याह । पिण्डदानादीति ॥ आहुतयो यजमानं
वहन्तीति सम्बन्धः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

प्लवा ह्येते अट्टा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-
मवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥ ७ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः
पण्डितस्मन्यमानाः । जड्वन्यमानाः परियन्ति
मूढा अश्वेनैव जीयमाना यथाश्वाः ॥ ८ ॥

एवञ्च ज्ञानरहितं कर्मेतावत्फलमविद्याकाम्यकर्मकार्य-
मतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते । प्लवाविनाशिन इत्यर्थः ।
हि यस्मादेते अट्टा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि
यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्त्तका अष्टादशाष्टादशसंज्ञकाः । षोडश-
र्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश एतदाश्रया उक्तं कथितं
शास्त्रेण । येष्वष्टादशस्वरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म ।
अतस्तेषामवरकर्माश्रयाणामष्टादशानामट्टतया प्लवत्वात्
प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म । कुण्डविनाशादिवत्
क्षीरदध्यादीनां तत्स्थाननाशः । यत एवमेतत्कर्म श्रेय
इति येऽभिनन्दन्त्यभिहृथन्त्यविवेकिनो मूढाः अतस्ते जरा
मृत्युश्च परामृत्युं किञ्चित् कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति
भूयोऽपि गच्छन्ति ॥ ७ ॥

किञ्चाविद्यायामन्तरे मध्ये वर्त्तमाना अविवेकप्रायाः
स्वयं वयमेव धीरा धीमन्तः पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति

रूप्यते निरूप्यते यदाश्रयतया यज्ञास्ते यज्ञरूपाः ॥ वय-

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था
इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति
रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्चावन्ते ॥ ९ ॥

इष्टापूरुषं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेद-
यन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति ॥ १० ॥

मन्यमाना आत्मानं सम्भावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरा-
रोगाद्यनेकानर्थव्रातैर्हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति
विभ्रमन्ति मूढाः । दर्शनवर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीय-
मानाः प्रदृश्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गर्त-
कण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

किञ्चाविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्त्तमानाः वयमेव
कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्येवमभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति
बाला अज्ञानिनः । यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
कर्मफलरागाभिभवनिमित्तं तेन कारुण्येनातुरा दुःखार्ताः
सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाश्चावन्ते ॥ ९ ॥

इष्टापूरुषम् । इष्टं यागादि श्रौतं कर्म । पूरुषं वापी-
कूपतडागादि स्मार्त्तं मन्यमाना एतदेवातिशयेन पुरुषार्थ-
साधनं वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयः

मेवेति तत्त्वदर्शयुपदेशानपेक्षतया स्वमनोरथेनैवेत्यर्थः ॥६॥७॥८॥

कं सुखं न भवतीत्येकं दुःखं तत्र विद्यते यस्मिन्नसौ नाकः ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता
 विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते
 विरजाः प्रयान्ति यवामृतः स पुरुषो ह्यव्य-
 तात्मा ॥ ११ ॥

साधनं न वेदयन्ति न जानन्ति प्रमूढाः पुत्रपशुबन्धादिषु
 प्रमत्ततया मूढास्ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठे उपरिस्थाने
 सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वाऽनुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं
 मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ् नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं
 विशन्ति ॥ १० ॥

ये पुनर्ज्ञानयुक्तास्तद्विपरीतवानप्रस्थाः सत्र्यासिनश्च तपः-
 श्रद्धे हि तपः स्वाश्रयविहितं कर्म । श्रद्धा हिरण्यगर्भादि-
 विषया विद्या ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्त्त-
 मानाः सन्तः । शान्ता उपरतकरणग्रामाः । विद्वांसो
 गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः । भैक्षचर्यां चरतः परि-
 ग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्य इति सम्बन्धः । सूर्यद्वारेण
 सूर्येऽपि लक्षितेनोत्तरायणेन यथा ते विरजा विरजसः
 क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः । प्रकर्षेण यान्ति यत्र
 यस्मिन् सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो
 ह्यश्रयामा अश्रयस्त्वभावो यावत्संसारः स्थायी । एतदन्तासु
 संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः । नन्वेतं मोक्षमिच्छन्ति केचिन्न
 हैव सर्वे प्रविलीयन्ते कामास्ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
 मुक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्तीति । श्रुतिभ्यः प्रकरणाच्च ।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं

अपरविद्याप्रकरणो हि प्रवृत्तेन ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति
विरजस्वन्त्वापेक्षिकं समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधन-
लक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम् । एतावद्विरण्यगर्भ-
प्राप्त्यवसानम् । तथाच स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामताम् ।
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्म्मी महानव्यक्तमेव च । उत्तमां
सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिण इति ॥ ११ ॥

अथेदानीमस्मात् साध्यसाधनरूपात् सर्वस्मात् संसाराद्
विरक्तस्य विद्यायामधिकारप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते । परीक्ष्य
यदेतद्वेदाद्यपरविद्याविषयं स्वाभाविक्यविद्याकासकर्म-
दोषवत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदोषवन्त एव पुरुषं प्रति-
विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च लोका ये दक्षिणोत्तरमार्ग-
लक्षणाः फलभूता ये च विहिताकारणप्रतिषेधातिक्रमदोष-
साध्या नरकतिथ्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान् परीक्ष्य प्रत्यक्षानु-
मानोपमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य लोकान् संसार-
गतिभूतानव्यक्तादिस्थावरान्तान् व्याकृताव्याकृतलक्षणात्
बीजाङ्गुर्वदितरेतरोत्पत्ति-निमित्ताननेकानर्थशतसहस्रसङ्कु-
लान् कदलीगर्भवदसारास्त्रायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकार-

केवलकर्मिणां फलमुक्त्वा सगुणब्रह्मज्ञानसहिताश्रमकर्मिणां
फलं ससारगोचरमेव दर्शयति । पुनर्ज्ञानयुक्ता इत्यादिना ।

स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म-
निष्ठम् ॥ १२ ॥

स्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान् प्रतिक्षणध्वंसान् पृथतः कृत्वाऽविद्या-
कामदोषप्रवर्तितकर्मचितान् धर्माधर्मनिर्वर्तकानित्येतद्
ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः । सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्याया-
मिति ब्राह्मणग्रहणम् । परीक्ष्य लोकान् किं कुर्यादि-
त्युच्यते । निवेदं निःपूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे । वैराग्य-
मायात् कुर्यादित्येतत् । स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते । इह
संसारे नास्ति कश्चिदप्यकृतः पदार्थः । सर्व एव हि लोकाः
कर्मचिताः कर्मचितत्वाच्चानित्याः । न नित्यं किञ्चिदस्ती-
त्यभिप्रायः । सर्वन्तु कर्मानित्यस्यैव साधनम् । यस्माच्चतु-
र्विधमेव हि सर्वं कर्म कार्यमुत्पाद्यमाप्य' संस्कार्यं विकार्य'
वा नातः परं कर्मणां विषयोऽस्ति । अहञ्च नित्येनामृतेनाभ-
येन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थी न तद्विपरीतेन । अतः
किं कृतेन कर्मणाऽऽयासबाहुल्येनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विस्मो-
ऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाभिगमार्थं
स निर्विस्मो ब्राह्मणो गुरुमेवाचार्यं शमदमदयासम्पन्नमधि-
गच्छेत् । शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न

अरण्ये स्त्रीजनासङ्कीर्णे देशे मुक्तानामिहैव सर्वकामप्रवि-
लयं सर्वात्मभावञ्च दर्शयन्ति श्रुतयः । ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तु देश-
परिच्छिन्नफलं ततो न मोक्ष इत्याह । इहैवेति । ब्रह्मा
चतुर्मुखः । विश्वसृजः प्रजापतयो मरीचिप्रभृतयः । धर्मो

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त-
चित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद
सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ।

इति प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥ १॥

कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम् । समित्पाणिः समिद्धार-
गृहीतहस्तः श्रोत्रियमध्ययनश्रुतार्थसम्पन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा
सर्वकर्माणि केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं
ब्रह्मनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यावत् । न हि कर्मणो ब्रह्मनिष्ठा
सम्भवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् । स तं गुरुं विधि-
वदुपसन्नः प्रसादा पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥ १२ ॥

तस्मै स विद्वान् गुरुर्ब्रह्मविदुपसन्नायोपगताय । सम्यग्यथा-
शास्त्रमित्येतत् । प्रशान्तचित्तायोपरतदर्पादिदोषाय । शमान्वि-
ताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत् ।
येन विज्ञानेन यथा विद्यया च परयाऽक्षरमद्रेष्यादिविशेषणं
तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात् पुरिश्यनाच्च सत्यं तदेव

यमः । महान् सूत्रात्मा । अव्यक्तं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः ।
सात्त्विकीं सत्त्वपरिणामज्ञानसहितकर्मफलभूतामित्यर्थः ।
ऐहिककर्मफलस्य पुत्रादेर्नाशविषयं प्रत्यक्षं विमतमनित्यं कृत-
कत्वाद्दृष्टवदित्यनुमानमामुषिकनाशविषयम् । तद्यथेह कर्म-
जितो लोकः क्षीयत इत्याद्यागमस्तैरनित्यत्वेन सर्वात्मनाव-
धार्येत्यर्थः । नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तम् । यथैकता सम्

तदेतत्सत्यं यथा मुदीप्तात् पावकाद्वि-
स्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथा-

परमार्थ-स्वाभाव्यादक्षरञ्चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च वेद
विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावगोवाच प्रब्रूया-
दित्यर्थः । आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्धायप्राप्तशिष्य-
निस्तारणमविद्यामहोदधेः ॥ १३ ॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयखण्डभाष्यम् ।

इति प्रथममुण्डकभाष्यं पूर्णम् ॥ १ ॥

अपरविद्यायाः सर्वं कार्यमुक्तम् । स च संसारो यत्-
सारो यस्मान्मूलादक्षरात्सम्भवति यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं
पुरुषाख्यं सत्यम् । यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं
भवति तत्परस्या ब्रह्मविद्याया विषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो
ग्रन्थ आरभ्यते । यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं सत्यं
तदापेक्षिकम् । इदन्तु परविद्याविषयं परमार्थतः सन्न-
क्षणत्वात् । तदेतत् सत्यं यथाभूतं विद्याविषयम् । अविद्या-

इति स्मृतेः । ब्राह्मणस्यैवाधिकार इत्यर्थः । कूटस्थेन परिणाम-
रहितेनाचलेन स्थन्दरहितेन ध्रुवेण प्रयत्नरहितेनाहमर्थी ।
ससित्वाणिरिति विनयोपलक्षणम् ॥ अक्षरणादित्यवयवान्यथा-
भावलक्षणपरिणामशून्यत्वात् अक्षतत्वादित्यवयवाच्चेत्यशरीर-
त्वाद्विकारशून्यत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयखण्डभाष्यटीका ॥ २ ॥

इति प्रथममुण्डकभाष्यटीका ॥ १ ॥

क्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि
यन्ति ॥ १ ॥

विषयत्वाच्चानृतमितरत् । अत्यन्तपरोक्षत्वात् । कथं नाम
प्रत्यक्षवदक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह । यथा सुदी-
प्तात् सुष्ठुदीप्तादिद्धात् पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः
सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ति निर्गच्छन्ति स्वरूपा अग्नि-
सलक्षणा एवं तथोक्तलक्षणादक्षराद्विविधा नानादेहोपाधि-
भेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा जीवा आका-
शादिवह्मटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदात् घटाद्युपाधिप्रभेदमनु-
भवन्ति । एवं नानानामरूपकृतदेहोपाधिप्रभेदमनुप्रजायन्ते
तत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपि यन्ति देहोपाधिविलयमनु-
लीयन्ते घटादिविलयमन्विव सुषिरभेदाः । यथाऽऽकाशस्य
सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव तद्वद-
क्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्ति-
प्रलयनिमित्तत्वम् ॥ १ ॥

हे विद्ये वेदितव्य इत्युपन्यस्यापरविद्यामाद्यमुण्डकेन
प्रपञ्च परविद्यासूत्रतां प्रपञ्चयितुं द्वितीयमुण्डकारम्भ इत्याह ।
अपरविद्याया इत्यादिना । कर्मणोऽपि प्रागसत्यत्वमुक्तं तद्व-
दिदं सत्यत्वं न मन्तव्यमित्याह । यदपरविद्याविषयमिति ।
विषीयते विशेष्यते विद्याऽनेनेति । व्युत्पत्त्या विषयशब्दस्य
वस्तुपरत्वान्नपुंसकलिङ्गत्वं परमार्थतः सलक्षणत्वादत्यन्तावाध्य-
त्वादित्यर्थः । अत्यन्तपरोक्षत्वादिति शास्त्रैकगम्यत्वादपूर्ववद-

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यात् स्वविकारापेक्षया
परादक्षरात् परं यत् सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव स्वरूप-
माकाशस्यैव सर्वमूर्त्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादिविशेषणं विव-
क्षन्नाह । दिव्यो द्योतनवान् स्वयं ज्योतिष्ठात् । दिवि वा
स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा । हि यस्मादमूर्त्तः सर्वमूर्त्ति-
वर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरि शयो वा । दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः
स बाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्त्तत इति । अजो
न जायते कुतश्चित् स्वतोऽजस्य जन्मनिमित्तस्य चाभावात् ।
यथा जलबुद्बुदादेर्वायुादि । यथा नभःसुषिरभेदानां
घटादिसर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात् तत्प्रतिषेधेन सर्वे
प्रतिषिद्धा भवन्ति । स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽजरोऽमृतो-
ऽक्षयो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः । यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीना-
मविद्यावशाद्देहभेदेषु स प्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय

ब्रह्मणप्रत्यक्षं न सम्भवति साक्षात्काराधीनञ्च कैवल्यं ततः
कथं नाम सत्यमक्षरं प्रत्यक्षवत्प्रतिपद्येरन् मुमुक्षुव इत्यभि-
प्रेत्य जीवब्रह्मणोरैकत्वे दृष्टान्तमाह । यथा सुदीप्तादिति ।
एकत्वे सति प्रत्यग्रूपस्यापरोक्षत्वादब्रह्मणोऽपि प्रत्यक्षत्वं भवि-
ष्यति । घटैकदेशप्रत्यक्षवदित्यर्थः । यथा विभक्तदेशावच्छिन्न-
त्वेन विस्फुलिङ्गेष्ववयवत्वादिव्यवहारः स्वतः पुनरग्न्यात्मत्व-
मेवोष्णप्रकाशत्वाविशेषात् तथा चिद्रूपत्वाविशेषाज्जीवानां
स्वतो ब्रह्मत्वमेवेत्यर्थः ॥ १ ॥

ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः
परः ॥ २ ॥

इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिवाकाशं तथापि तु स्वतः
परमार्थदृष्टो नाम प्राणो विद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चल-
नात्मको वायुर्यस्मिन्न विद्यते असावप्राणः । तथाऽमना
अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्सङ्ख्याद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं
यस्मिन् सोऽयममना अप्राणो ह्यमनाच्चेति । प्राणादिवायु-
भेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रि-
याणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः । यथा श्रुत्यन्तरि
ध्यायतीव लेलायतीवेति । यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिरद्वय-
स्तस्माच्छुभ्रः शुद्धः । अतोऽक्षरान्नामरूपवीजोपाधिलक्षित-
स्वरूपात् सर्वकार्यकारणवीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात् परं
तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारभ्यस्तस्मात्

अक्षरस्यापि जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वमौपाधिकमुक्त-
मेकत्वसिद्धयर्थम् । तत्त्वतः स्तुतिनिमित्तनैमित्तकभावोऽपि
नास्तीत्याह नामरूपवीजभूतादिति । देहापेक्षया यद्वाह्या-
भ्यन्तरञ्च प्रसिद्धं तेन सह तादात्म्येन तदधिष्ठानतया वा वर्तते
इति सवाह्याभ्यन्तरः । अत एव सर्वात्मत्वात् तदव्यतिरिक्त-
निमित्ताभावादतोऽज इत्यर्थः । जायते अस्ति विपरिणमते
वर्द्धते अपक्षीयते विनश्यतीत्येवामादिभावविकाराणां तात्पर्य-
मजशब्दस्याह । सर्वभावविकाराणामिति । जीवानां प्राणादि-
मत्त्वात् तदात्मत्वे ब्रह्मणोऽपि प्राणादिमत्त्वं प्राप्तं तन्निवर्त-
यति । यद्यपीत्यादिना । स्मृतिसंशयादन्येकज्ञानेषु शक्ति-

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

परतोऽक्षरात् परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः । यस्मिंस्तदा-
काशाख्यमक्षरं संख्यवहारविषयमौतञ्च प्रौतञ्च । कथं पुन-
रप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः
पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्य-
मानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः
सन्ति । अतोऽप्राणादिमान् परः पुरुषः ॥ २ ॥

यथाऽनुत्पन्ने पुत्रे अपुत्रो देवदत्तः कथं ते न सन्ति
प्राणादय इत्युच्यते । यस्मादेव पुरुषान्नामरूपवीजोपाधि-
लक्षितज्जायते उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयौ-
ऽनृतात्मकः प्राणः । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति
श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषये गुणानृतेन प्राणेन

विशेषोऽस्यास्तीति तथोक्तं नामरूपयोर्वीजं ब्रह्म तस्योपाधि-
तया लक्षितं शुद्धस्य कारणत्वानुपपत्त्या गमितं स्वरूपमस्येति
तथोक्तम् । तस्मादुपाधिरूपात् तद्विशिष्टरूपाच्च यतोऽक्षरात्
पर इति सम्बन्धः । कथं मायातत्त्वस्याक्षरस्य वरत्वमित्या-
काङ्क्षायामाह । सर्वकार्येति । कार्यं ह्यपरं प्रसिद्धम् । तत्-
कारणत्वेन गम्यमानत्वान्मायातत्त्वं परम् । यौक्तिकवाधाद-
निर्वाच्यत्वेऽपि स्वरूपोच्छेदाभावादक्षरम् । तदुक्तं गीतायाम् ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्तन्यः
परमात्मेत्युदाहृत इति ॥ २ ॥

सप्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण पुत्रत्वम् ।
 एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते ।
 तस्मात् सिद्धमस्य निरूपचरतमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः । यथा
 च प्राणोत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्या
 यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि तथा शरीरविषयकारणानि
 भूतानि स्वमाकाशं वायुर्वाह्य आवह्यादिभेदः । ज्योतिरग्निः ।
 आप उदकम् । पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी ।
 एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्तरगुणानि पूर्वपूर्वगुण-
 सहितान्येतस्मादेव जायन्ते । सङ्क्षेपतः धरविद्याविषयभक्षरं

यदेव चैतन्यं निरूपाधिकं शुद्धमविकल्पं ब्रह्म तत्त्वज्ञाना-
 जीवानां कैवल्यं तदेव मायाप्रतिविम्बितरूपेण कारणं भवती-
 त्यरह । यस्मादेवेति । प्राणोत्पत्तेरुद्धं तर्हि सा प्राणत्वमात्मनो
 भविष्यतीति शङ्कानिवृत्त्यर्थं श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं प्राणस्य विशेषण-
 माह । अविद्याविषय इति । नामधेयमिति वाङ्मात्रो न वस्तु-
 क्त इत्यर्थः । प्राणादीनां य उत्क्रमोपक्रमेण बाध्यते । गताः
 कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा इति । भूतेषु लयश्रवणेन प्राणानां
 भौतिकत्वावगमाद् भूतौत्पत्त्यनन्तरं प्राणोत्पत्तिर्द्रष्टव्येत्यभिमुख-
 मागच्छन् वायुः प्रवहः पुरतो गच्छन् प्रवह इत्यादिभेदः शब्द-
 स्पर्शरूपरसगन्धा उत्तरोत्तरगुण येषां तानि तथोक्तानि । यथा
 शुक्लतन्त्रवस्थापन्नादन्वयिकारणज्जायमानः पटः शुक्लगुणो
 जायते तथाकाशावस्थापन्नाद् ब्रह्मणो जायमानो वायुराकाश-
 गुणेन शब्देनान्वितो जायते । तथैव वायुभावापन्नाद् ब्रह्मणो-
 ऽग्निस्तद्गुणेनान्वितो जायत इति द्रष्टव्यम् । ननु सूक्ष्माणि
 भूतानि प्रथममुत्पद्यन्ते अनन्तरं तासां विवृतं विवृतमेकैक-

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे
वाग्ब्रह्मताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्व-
मस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

निर्विशेषं पुरुषं सत्यं दिव्यो ह्यमूर्त्त इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा
पुनस्तदेव सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रकृतं सङ्क्षेपविस्त-
रोक्तो हि पदार्थः सुखादिगम्यो भवति सूत्रभाष्योक्ति-
र्वदति ॥ ३ ॥

योऽपि प्रथमजात् प्राणाद्विरण्यगर्भाज्जायतेऽस्यान्तर्विराट्
स तत्त्वान्तरिक्षतत्त्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत
एव तन्मयञ्चेत्येतदर्थमाह । तच्च विशिनष्टि । अग्निर्दुर्लोकः ।
असौ वाव लोको गौतमाग्निरिति श्रुतेः । मूर्द्धा यस्योत्तमाङ्गं
शिरः । चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्य्यश्चेति । चन्द्रसूर्य्यौ यस्येति

मकरोदिति । पञ्चीकरणोपलक्षणार्थं विवृत्तं करणश्रुतेः पञ्चा-
त्मकत्वमवगम्यते । तत एकैकस्य भूतस्य गुणवत्त्वं वर्णितमन्यत्र
कथमिह पञ्चीकरणमनादृत्य प्रथमसर्गेण वाऽऽकाशस्यैकगुणत्वं
वायोर्हि द्विगुणत्वं तेजसस्त्रिगुणत्वमित्याद्युच्यते । सत्यम् ।
भूतसर्गे तात्पर्याभावद्योतनाय प्रक्रियान्तरं न विरुध्यते । न
ह्येतत् प्रतिवद्धं किञ्चित् फलं श्रूयते । अतएव गुणगुणीभावो
ऽपि न वैशेषिकपक्षवदिह विवक्षितः । किन्तु राहोः शिर
इति तद्व्यपदेशमात्रम् । विस्तरेण त्वन्यकार्यपर्यन्तं तेन
तेनाकारेण ब्रह्मैव विवर्त्तित इति प्रपञ्च्यते । ततोऽतिरिक्त-
स्याणुमात्रस्यासम्भवात्तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भव-
तीति प्रदर्शितमित्यर्थः ॥ ३ ॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्
पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः
सिञ्चति योषितायां वह्नीः प्रजाः पुरुषात्
सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

सर्वत्रानुसङ्गः कर्त्तव्यः । अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य
यस्येति विपरिणामं कृत्वा दिशः ओक्ते यस्य । वाग्विवृता
उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदाः । यस्य वायुः प्राणी यस्य
हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत् । सर्वं
ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात् ।
जागरितेऽपि तत एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात् । यस्य
च पद्भ्यां जाता पृथिवी । एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथम-
शरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा । स
हि सम्भूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकरणात्मा
पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजास्ता अपि तस्मादेव
युरुषात् प्रजायन्त इत्युच्यते ॥ ४ ॥

तस्मात् परस्मात् पुरुषात् प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः ।
स विशिष्यते । यस्य सूर्यः समिध इव समिधः । सूर्येण
हि द्युलोकं समिध्यते । ततो हि द्युलोकादग्निनिष्पन्नात्
सोमात् पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः सम्भवति । तस्माच्च पर्जन्या-
ओषधयः पृथिव्यां भवन्ति । ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्यः

सर्वेषां भूतानामिति पञ्चमहाभूतानामन्तरात्मा स्थूलपञ्च-
भूतशरीरे हि विराडित्यर्थः ॥ पञ्चाग्निद्वारेणेति द्युपर्जन्य-

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च
सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च । सम्बत्सरश्च यजमानश्च
लोकाः सोमो यत्र पचते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

पुमानग्नीरितः सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नी
स्त्रियामिति । एवङ्क्रमेण बह्वीर्बह्वः प्रजाः ब्राह्मणाद्याः
पुरुषात् परस्मात् सम्प्रसूताः समुत्पन्नाः । किञ्च कर्मसाध-
नानि फलानि च तस्मादेवेत्याह ॥ ५ ॥

कथं तस्मात् पुरुषादृचो नियताक्षरपादावसानाः गाय-
त्रादिच्छन्दो विशिष्टा मन्वाः । साम पाञ्चभक्तिकं साम-
भक्तिकञ्च स्तोभादिगीतिविशिष्टम् । यजुंश्चनियताक्षरपदा-
वसानानि वाक्यरूपाणि एवं त्रिविधा मन्वाः । दीक्षा
मौञ्ज्यादिलक्षणकर्तृनियमविशेषाः । यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोता-
दयः । क्रतवः सयूपाः । दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्व-
स्वान्ताः । सम्बत्सरश्च कालकर्माङ्गे । यजमानश्च कर्त्ता ।
लोकास्तस्य कर्मफलभुतास्ते विशेष्यन्ते । सोमो यत्र येषु
पचते पुनाति लोकान् यत्र येषु सूर्यस्तपति ते च दक्षिणाय-
नोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वद्विद्वत्कर्तृफलभूताः ॥ ६ ॥

पृथिवीपुरुषयोषितु पञ्चस्वग्निदृष्टेः श्रुत्यन्तरं प्रचोदितत्वात्तद्-
द्वारेणेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

पाञ्चभक्तिकमिति हिङ्गारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्याः
पञ्च भक्तयोऽवयवा यस्य तथोक्तम् । सामभक्तिकमिति हिङ्गार-
प्रस्तावाद्युद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधानाख्याः सप्त भक्तयो यस्य

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या
मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानौ ब्रीहियवौ
तपश्च अद्वा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः
समिधः सप्त होमाः । सप्त द्रुमे लोका येषु चरन्ति
प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

तस्माच्च पुरुषात् कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगण-
भेदेन सम्यक्प्रसूताः । साध्या देवविशेषाः । मनुष्याः
कर्माधिकृताः । पशवो ग्राम्यारण्याः । वयांसि पक्षिणः ।
जीवनञ्च मनुष्यादीनाम् । प्राणापानौ ब्रीहियवौ हवि-
रर्थौ । तपश्च कर्माङ्गपुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रञ्च फल-
साधनम् । अद्वा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्त-
प्रसाद आस्तिक्यबुद्धिः । सत्यमनृतवर्जितं यथाभूतार्थ-
वचनञ्चापीडाकरम् । ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचारः । विधि-
श्चेतिकर्तव्यता ॥ ७ ॥

किञ्च सप्तशीर्षण्याः प्राणास्तस्मादेव पुरुषात् प्रभवन्ति ।
तेषाञ्च सप्तार्चिषो दीप्तयः स्वस्वविषयावद्योतनानि । तथा
सप्त समिधः सप्त विषयाः । विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः ।

तथोक्तम् । स्तोभोऽर्थशून्या वर्णाः । विश्वजित् सर्वमेधयोः
सर्वस्वदाक्षिणा अत एकाङ्गामारभ्य सर्वस्वान्ता दक्षिणा भवन्ती-
त्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते
सिन्धवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ६ ॥

सप्तहोमास्तद्विषयविज्ञानानि । यदस्य विज्ञानं तज्जुहो-
तीति श्रुत्यन्तरात् । किञ्च सप्त इमे लोका इन्द्रियस्थानानि
येषु चरन्ति प्राणाः । प्राणा इति विशेषणात् प्राणानां विशेषण-
मिदं प्राणापानादिनिवृत्त्यर्थम् । गुहायां शरीरे हृदये
वा स्वापकाले शेरत इति गुहाशयाः । निहिताः स्थापिता
धात्रा सप्त सप्त प्रति प्राणिभेदम् । यानि च आत्मयाजिनां
विदुषां कर्माणि तत्साधानानि कर्मफलानि चाविदुषाञ्च
कर्माणि तत्साधानानि कर्मफलानि च सर्वञ्चैतत्परस्मादेव
पुरुषात् सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः ॥ ८ ॥

अतः पुरुषात् समुद्राः सर्वे चाराद्याः । गिरयश्च हिम-
वदादयोऽस्मादेव पुरुषात् सर्वे । स्यन्दन्ते स्रवन्ति गङ्गाद्याः
सिन्धवो नद्यः सर्वरूपाः बहुरूपाः । अस्मादेव पुरुषात् सर्वा
ओषधयो ब्रीहियवाद्याः । रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन
रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्त-
रात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम् । तद्वान्तराले शरीरस्यात्मन-
श्चात्मा बद्धत इत्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

तपश्च कर्माङ्गमिति पयो ब्राह्मणस्य व्रतं यवागूराजन्यस्या-
मिक्षा वैश्यस्येत्यादि श्रुतिविहितं कृच्छ्रचान्द्रायणादीत्यर्थः ॥ १० ॥
आत्मयाजिनामिति सकलमिदमहञ्च परमात्मैवेति भावना-

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं
विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

एवं पुरुषात्सर्वमिदं सम्प्रसूतम् । अतो वाचारम्भणं
विकारो नामधेयमनृतं पुरुष इत्येव सत्यम् । अतः पुरुष
एवेदं सर्वम् । न विश्वं नाम पुरुषादन्यत् किञ्चिदस्ति ।
अतो यदुक्तं तदेतदभिहितं कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं
विज्ञातं भवतीति । एतस्मिन् हि परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे
पुरुष एवेदं विश्वं नामैतदस्तीति विज्ञातं भवतीति किं
पुनरिदं विश्वमित्युच्यते । कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । तपो
ज्ञानं तत्कृतं फलमन्यदेव तावद्दीदं सर्वम् । तच्चेद्ब्रह्मणः
कार्यं तस्माद्ब्रह्म परममृतमहमेवेति यो वेद निहितं स्थितं
गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रन्थिमिव
दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह
जीवन्नेव न मृतः सन् हे सोम्य प्रियदर्शन ॥ १० ॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमखण्डभाष्यम् ॥ १ ॥

पूर्वकं परमेश्वराराधनबुद्ध्या ये यजन्ति तेषामित्यर्थः । यत्
पृष्टं कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति तन्नि-
रूपितम् । सर्वं परमात्मनो जायते । अतस्तावन्मात्रं सर्वं
तस्मिन् विज्ञाते विज्ञातं भवतीत्यविद्याक्षयफलाभिधानेनोप-
संहृतमिति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्
समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषश्च यदेतज्जानथ
सदसद्वरेण्यं परविज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

अरूपं सदत्तरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते । आविः
प्रकाशं सन्निहितं वागाद्युपाधिभिर्ज्वलति भ्राजतीति
श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते । दर्शनश्रवण-
मननविज्ञानाद्युपाधिधर्मेराविर्भूतं सन्नच्यते हृदि सर्व-
प्राणिनाम् । यदेतदाविर्भूतं ब्रह्म सन्निहितं सम्यक्स्थितं
हृदि तद्गुहाचरं नाम गुहायाञ्चरतीति दर्शनश्रवणादि-
प्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम् । महत्सर्वमहत्वात् पदं पद्यते
सर्वेणेति सर्वपदार्थास्यदत्वात् । कथं तन्महत्पदमित्युच्यते ।
यत्तत्तास्मिन् ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशिते रथानाभावि ।
एतच्चलत्पद्यादि । प्राणाप्राणितेति प्राणापानादिमन्मनुष्य-
पञ्चादि । निमिषन्निमिषादिक्रियावत् यच्चानिमिषञ्च शब्दात्
समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम् । एतद्यदास्यदं सर्वं जानथ
हे शिष्या अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम् ।

अधुना यस्य सकृदुपदेशभावेणाद्वितीयं ब्रह्मास्तीति वाक्यार्थ-
ज्ञानमवत्यन्तं न भवतीति तस्योपायानुष्ठानेन भवितव्य-
मित्यभिप्रेत्याह । अरूपं सदत्तरमिति । वाक्यार्थस्यैव पुनः
पुनर्भाविना युक्त्यनुसन्धानञ्चोपाय इत्याह । उच्यत इति ।
आविःशब्दो निपातः प्रकाशवाची । ब्रह्म विश्वोपलब्ध्यात्मना
प्रकाशमानमेव सदेति भावयेदित्यर्थः । अन्यैरप्युक्तं यदस्ति

यदर्चिमयदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता
लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदुवाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्देव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

सदसतोर्मूर्त्तामूर्त्तयोः स्थूलसूक्ष्मयोस्तद्व्यतिरेकेणाभावात् ।
वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्यत्वात् प्रार्थनीयं एवं
व्यतिरिक्तं विज्ञानात् प्रजानामिति व्यवहितेन सम्बन्धो यल्लौ-
किकविज्ञानागोचरमित्यर्थः । यद्वरिष्ठं वरतमम् । सर्वपदा-
र्थेषु वरेषु तद्व्यतिरेकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥ १ ॥

किञ्च यदर्चिमदीप्तिमदीप्त्याऽऽदित्यादि दीप्यत इति दीप्ति-
मद्ब्रह्म । किञ्च यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणुसूक्ष्मम् ।
चशब्दात् स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः ।
यस्मिंल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिता ये च लोकिनो
लोकनिवासिनो मनुष्यादयश्चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धा-

तदात्मरूपं नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति । स्वभावसंवित्
प्रतिभाति केवलं ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषैव कल्पनेति । सन्निहित-
मिति सर्वेषां प्राणानां हृदये स्थितवागाद्युपादिभिः शब्दादी-
नुपलभमानवद्ब्रह्मैव जीवभावमापन्नमवभासते । ततस्ततो-
ऽपरोक्षत्वेति सदा स्मरेदित्यर्थः । सर्वमिदं कार्यं परिच्छिन्नञ्च
सास्यदकार्यत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च घटादिवत् ततः सर्वास्यदं
यत् तदेव मायास्यदमात्ममतमिति युक्त्यनुसन्धानमाह । महत्
पदमिति ॥ १ ॥

घटादिवदादित्यादेर्जडत्वेऽपि यदीप्तिमत्त्वे वैचित्र्यं तदनुप-
पत्त्यापि तत् कारणं सम्भावनीयमित्याह । किञ्च यदर्चिं

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा
निशितं सन्धीयत । आयस्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥ ३ ॥

स्तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदुवाङ्मनो वाक् च
मनश्च सर्वाणि च करणानि अन्तश्चैतन्याः । अणो हि प्राणे-
न्द्रियादिसर्वसङ्घातः । प्राणस्य प्राणमिति श्रुत्यन्तरात् ।
यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यमवितथमतोऽमृत-
मविनाशितदेहव्यं मनसा ताडयितव्यम् । तस्मिन् मनः समा-
धानं कर्तव्यमित्यर्थः । यस्मादेवं हे सौम्य विद्धि अक्षरे चेतः
समाधत्स्व ॥ २ ॥

कथं वेदव्यमित्युच्यते । धनुरिष्वासनं गृहीत्वौपनि-
षदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रञ्च धनुस्त-
स्मिन् शरम् । किं विशिष्टमित्याह । उपासा निशितं सन्त-
ताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत् । सन्धीयत सन्धानं

मदिति । अर्चिमत्त्वादादित्यादिवदिन्द्रियग्राह्यत्वं प्राप्तं निषे-
धति । यदणुभ्य इति । परमाणुपरिमाणत्वं तर्हि स्यादिति
नाशङ्कनीयमित्याह । चशब्दादिति । स्थूलत्वात् तर्हि अन्या-
धारं स्यादिति नाशङ्कनीयमित्याह । यस्मिंस्त्रोका इति ।
प्राणादिप्रवृत्तिश्चेतनाधिष्ठानानिवन्धनाज्जड़-प्रवृत्तित्वाद्द्रव्यादिप्र-
वृत्तिवच्चिद्वेदे च प्रमाणाभावादङ्गं चैतन्यमात्रमस्तीति विचा-
रयेदित्याह । तदेतत् सर्वाश्रयमिति । प्राणाद्यधिष्ठानत्वात्
प्राणादिलक्ष्य आत्मा द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तद्ब्रह्ममुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

कुर्यात् । सन्ध्याय चायम्याकृत्य सेन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषया-
द्विनिवर्त्य लक्ष्य एवावर्जितं कृत्वेत्यर्थः । न हि हस्तेनैव
धनुष आयतनमिह सम्भवति । तद्भावगतेन तस्मिन् ब्रह्मण्य-
क्षरे लक्ष्ये भावना भावस्तद्गतेन च सालक्ष्यं तदेव यथोक्त-
लक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि । यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते । प्रणव
ओङ्कारो धनुः । यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथा-
त्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोङ्कारः । प्रणवेन ह्यभ्यस्य-
मानेन संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते ।
यथा धनुषास्त इषुर्लक्ष्ये । अतः प्रणवो धनुरिव धनुः ।
शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः पर एव जलसूर्यकादिवदिह
प्रविष्टो देहे सर्वबीजप्रत्ययसाक्षितया सशर इव स्वात्मविषयो-
पलब्धिदृष्ट्याप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्र-
चित्तेन वेदव्यं ब्रह्म लक्ष्यम् । ततस्तद्बोधनादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो
भवेत् । यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति । तथा
देहाद्यनात्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदि-
त्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

विचारासमर्थस्य प्रणवमवलम्ब्य ब्रह्मात्मैकत्वे चित्तसमान-
क्रममुक्तिफलं दर्शयितुमुपक्रमते । कायं वेदव्यमित्यादिना ।
प्रणवो ब्रह्मेत्यभिधायत उपसंहृतकरणग्रामस्य प्रणवोपरकं
यच्चैतन्प्रतिविम्बं स्फुरति स आमेत्यनुसन्धानं प्रणवे शर-

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः
सहप्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जनाय आत्मान-
मन्यावाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाडाः स

अक्षरस्यैव दुर्लभ्यत्वात् पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम् ।
यस्मिन्नक्षरपुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षञ्चोतं समर्पितं ममश्च
सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं
जानथ जानीथ हे शिष्याः । आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं
सर्वप्राणिनाञ्च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपरविद्यारूपां विमुञ्चत
परित्यजत । तत्रकाश्यञ्च सर्वं कर्मसमाधानम् । यथाऽमृत-
स्यैष सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षप्राप्तये सेतुः
संसारमहौदधेरुत्तरणहेतुत्वात् यथा च श्रुत्यन्तरम् । तमेव
विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति ॥ ५ ॥

किञ्च । अरा इव । यथा रथनाभौ समर्पिता अरा
एवं संहताः सम्प्रविष्टा यत्र यस्मिन् हृदये सर्वतो देहव्या-

सन्धानम् । तस्य चित्प्रतिविम्बसन्धानं लक्ष्यवेधः । उत्तर-
ग्रन्थस्य पौनरुक्त्यं परिहरति । अक्षरस्यैव दुर्लभ्यत्वादिति
॥ ३ ॥ ४ ॥

समाधानं सर्वं कर्म परित्यज्यात्मैव ज्ञातव्य इत्येव हेतुमाह ।
अमृतस्येति । धनुषाऽऽयुधेन लक्ष्यत इति तल्लक्षण आत्मैकत्व-
साक्षात्कार इत्यर्थः ॥ कर्मसङ्गिजनसङ्गत्या कर्मश्रद्धा विषय-
श्रद्धा च वाक्यार्थज्ञानस्यावगत्यन्ततायाः प्रतिबन्धको विघ्नः स

एसोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः । ओमित्येवं
ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः
परस्तात् ॥ ६ ॥

पिन्धो नाम तस्मिन् हृदये बुद्धिप्रत्ययसार्द्धिभूतः स एष
प्रकृत आत्मा तन्मध्ये चरते चरति वर्तते । पश्यन् शृण्वन्
मत्त्वानो विजानन् बहुधाऽनेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जाय-
मान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनविधायित्वाद् वदन्ति
लौकिका हृष्टो जातः क्रूडो जात इति तमात्मानमोमित्येव-
मोङ्कारालम्बनाः सन्तो यथोक्तकल्पनयाध्यायथ चिन्तयत ।
उक्तञ्च । वक्तव्यम् शिष्येभ्य आचार्य्येण जानता । शिष्याश्च
ब्रह्मविद्या विविदिषवो निवृत्तः कर्माणो मोक्षपथे
प्रवृत्ताः । तेषां निर्विद्यतया ब्रह्मप्राप्तिमाशाख्याचार्य्यः ।
स्वस्ति निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय परकालाय । कस्य ।
अविद्यातमसः परस्तात् । कस्मात् । अविद्यातमसोऽविद्या-
रहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः । योऽसौ तमसः परस्तात्
संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः परविद्याविषय इति ॥ ६ ॥

माभूदिति संशयम् । न तु वाक्यार्थावगतौ निष्पन्नायां फल-
प्राप्ते विघ्नशङ्काऽस्तीत्यभिप्रेत्याह । परस्तादिति । मदुपदेशा-
दूर्ध्वमित्यर्थः । सर्वेश्वरत्वं मनोमयत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मणो
हृदयपुण्डरीके ध्यानञ्च क्रममुक्तिफलम् । मन्दब्रह्मविदो
विधीयत इति दर्शयितुमाह । योऽसौ तमसः परस्तादित्या-
दिना ॥ ५ ॥ ६ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये
ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः
प्राणाशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय

स कस्मिन् वर्तत इत्याह । यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो
व्याख्यातस्तं पुनर्विशिनष्टि । यस्यैष प्रसिद्धो महिमा
विभूतिः । कोऽसौ महिमा । यस्येमे द्यावा पृथिवी शासने
विष्टते तिष्ठतः । सूर्यचन्द्रमसौ यस्य शासनेऽलातचक्रवद-
जस्रं भ्रमतः । यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं
नातिक्रामन्ति । तथा स्थावरं जङ्गमञ्च यस्य शासने निय-
तम् । तथा चर्तवोऽयनेऽब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति ।
तथा कर्तारः कर्माणि फलञ्च यच्छासनात् स्वं स्वं कालं
नातिवर्तते स एष महिमा । भुवि लोके यस्य स एष सर्वज्ञ
एवं महिमा । दिव्ये द्योतनवति सर्वबीजप्रत्ययकृतद्योतने
ब्रह्मपुरे मनसि । ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्त-
त्वाद् ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन् यद्गोम तस्मिन्
व्योम्नाकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते ।

अस्य परमात्मज्ञानस्येति । जीवन्मुक्तिफलस्याद्वैतवाक्यार्था-
वगमस्य चोपासनस्येत्यर्थः । अविद्यावासनाप्रचयो भिद्यत
इति कोऽर्थः । किं बुद्धौ विद्यमानायामविद्यादिभेदे ज्ञानफलं
किंवा तन्निवृत्तौ । नाद्यः । सत्युपादाने कार्यस्यात्यन्तोच्छेदा-
सम्भवात् । न द्वितीयः । ज्ञानस्याज्ञानेनैव साक्षाद्विरोध-
प्रसिद्धेः । किञ्च । बुद्धिरप्यनादिः सादिर्वा । नाद्यः । एतस्माज्जा-

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं
यद्विभाति ॥ ७ ॥

न ह्याकाशवत् सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वान्यथा सम्भवति । स ह्यात्मा तत्रस्थो मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति । मनोमयो मन उपाधित्वात् प्राणशरीरनेता । प्राणश्च शरीरञ्च प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं सूक्ष्मं प्रति प्रतिष्ठितोऽन्त्रे भुज्यमानान्न विपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ने हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकछिद्रे सन्निधाय समवस्थाप्य हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिरन्त्रे तदात्मतत्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानशमदमध्यानवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्ति उपलभन्ते धीरा विवेकिनः । आनन्दरूपं सर्वानर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥ ७ ॥

यते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चेति श्रुतिविरोधान्नान्यः प्रलये ब्रह्मज्ञानं विनैव बुद्धेर्नाशसम्भवात् तदानर्थक्यप्रसङ्गात् । सादित्वे च बुद्धेरुपादानं साक्षाद् ब्रह्म चेत् तन्नाशं विनाऽत्यन्तोच्छेदो न स्यात् । माया चेत् सा द्रष्टृगतज्ञानेन नोच्छेदमर्हति । लौकिकमाया विगतमायाया द्रष्टृगतज्ञानेनोच्छेदादर्शनात् । किञ्च । बुद्धेरुच्छेदो न तस्याः फलम् । स्वनाशस्याफलत्वान्नात्मनः तस्य बुद्धिसङ्गाभावेन तदुच्छेदस्याफलत्वात् । किञ्चात्मनोऽविद्याभिधानं श्रुतिविरुद्धप्रक्रमेऽविद्यायामन्तरे वर्तमाना

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥

अस्य परमात्मज्ञानफलमिदमभिधीयते । भिद्यते हृदय-
ग्रन्थिरविद्या वासनामयः । बुद्ध्याश्रयास्तथा प्रोक्ताः कामा-
येऽस्य हृदि श्रिता इति श्रुत्यन्तरात् । हृदयाश्रयोऽसौ
नात्माश्रयः । भिद्यते भेदं विनाशमायाति हृदयग्रन्थिः ।
छिद्यन्ते सर्वेऽज्ञानविषयाः संशया लौकिकानामामरणात्तु
गङ्गास्रोतोवत् प्रवृत्ता विच्छेदमायान्ति । अस्य विच्छिन्न-
संशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि
जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च
क्षीयन्ते कर्माणि । न त्वेतज्जन्मान्तरारम्भकानि प्रवृत्त-
फलत्वात् तस्मिन् सर्वज्ञेऽसंसारिणि दृष्टे परावरे परञ्च कारणा-
त्मना अपरञ्च कार्यात्मना तस्मिन् परावरे साक्षादहमस्मीति
दृष्टे संसरणीच्छेदान्मुच्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

इति श्रवणादुपसंहारे च अनीशया शोचति मुह्यमान इति
श्रवणाद् बुद्धिगतमेवाविद्याद्यात्मन्यध्यस्यत इति चेदध्यस्यत
इति कोऽर्थो निक्षिप्यते भ्रान्त्या दृश्यते वा । नाद्यः । अन्य-
धर्मस्यान्यत्र निक्षेपासम्भवात् । भ्रान्त्या च केन दृश्यते । न
तावदात्मना तस्या विद्याश्रयत्वानङ्गीकारात् । न बुद्ध्या । बुद्धे-
रात्मविषयत्वासम्भवेन तद्गतदर्शनासम्भवात् । भ्रान्तेश्च स्वाश्रय-
गतेन तत्त्वानुभवेन निवर्त्यत्वप्रसिद्धेर्बुद्धेरनुभवाश्रयत्वप्रसङ्गात् ।
तस्मान्नास्य भाष्यस्य सम्यगर्थं पश्याम इति चेदुच्यते । चित्त-

हिरण्यये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभं ज्योतिषां ज्योतिस्तदात्मविदो विदुः ॥६॥

उक्तस्यैवार्थस्य सङ्क्षेपाभिधायका उत्तरे मन्वास्त्रयोऽपि
हिरण्यये ज्योतिर्मये बुद्धिविज्ञानप्रकाशे परे कोशे इवाऽस्यैः ।
आत्मस्वरूपोपलब्धिस्थानत्वात् परं सर्वाभ्यन्तरत्वात् तस्मिन्
विरजमविद्यादशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्
सर्वात्मत्वाच्च निष्कलं निर्गताः कला यस्मात् तन्निष्कलं निरव-
यवमित्यर्थः । यस्माद्विरजं निष्कलञ्चातस्तच्छुभं शुद्धं ज्योतिषां
सर्वप्रकाशात्मनामन्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासम् । अन्या-
दीनामपि ज्योतिश्चमन्तर्गतब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्त-
मित्यर्थः । तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्यमात्मज्योति-
स्तदात्मविद आत्मानं शब्दादिविषयबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये
विवेकिनो विदुर्विजानन्ति ते आत्मविदस्तद्विदुरात्मप्रत्य-
यानुसारिणः । यस्मात् परं ज्योतिस्तस्मात्त एव तद्विदुर्नेतरि
वाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः ॥ ६ ॥

तानादिरनिर्वाच्या विद्या चैतन्यमवच्छिद्य स्वावच्छिन्नचैतन्यस्य
बुद्ध्यादितादात्म्यरूपेण विवर्तते । तस्याश्च ब्रह्मात्मतासाक्षा-
त्कारनिर्वर्त्यरूपमङ्गीकारात् तन्निवृत्तौ तदुत्थं हृदयग्रन्थिभेदं
श्रुत्योच्यते । भाष्यकारीयञ्च बुद्ध्याश्रयेणाभिधानमहङ्कारविशे-
षणत्वेनाविद्यादेश्यवहारिकाभिप्रायत्वमात्माश्रयत्वाभिधानञ्चा-
त्मनो निर्विकारत्वाभिप्रायम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

बाधितानुवृत्तिश्च प्रकटार्थे प्रदर्शितेति जोवन्मुक्तिर्न विरु-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा
विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनु-
भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते । न तत्र तस्मिन्
स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो न भाति । तद्-
ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । स हि तस्यैव भासा सर्वमन्य-
दनात्मजातं प्रकाशयतीत्यर्थः । नतु तस्य स्वतः प्रकाशन-
सामर्थ्यम् । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति
कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः । किं ब्रह्मना । यदिदं जगद्भाति
तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्य-
नुदीप्यते । यथा जलोल्मुकादि अग्निसंयोगादग्निं दहन्त-
मनुदहति न स्वतस्तद्वत् तस्यैव भासा दीप्या सर्वमिदं
सूर्यादिमज्जगद्भिभाति । यत एव तदेव ब्रह्म भाति च विभाति
च कार्यगतनेन विविधेन भासा अतस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं
स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतो विद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं
शक्नोति । घटादीनामन्यावभासकत्वाददर्शनाद्भारूपाणाञ्चादि-
त्यादीनां तदर्शनात् ॥ १० ॥

ध्यते । भातीति णिजन्ताध्याहारिण व्याख्यातं तस्य भासा
सर्वमिदं विभातीत्यस्य ब्रह्मणः स्वतो भारूपत्वे तात्पर्यं कथ-
यति । यत एवमिति तदेव ब्रह्म भाति चेति । उपसंहार-
मन्त्रस्य तात्पर्यमाह । यत् तज्ज्योतिषां ज्योतिरिति । न
ब्रह्मणा विविधं क्रियत इति तद्विकारं सर्वं जगत्सर्वं ब्रह्मैवेति

अथववेदायमुण्डकापानपत् ।
ब्रह्मैवेदमसृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म
दक्षिणतश्चोत्तरेण ॥ अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥ २ ॥

वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं

यत्तज्जगोतिषां ज्योतिर्ब्रह्म तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं
वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं
विस्तरेण हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण
पुनरुपसंहरति । ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रे ब्रह्मै-
वाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा
दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाधस्तादूर्ध्वञ्च सर्वतोऽन्यदपि
कार्याकारणे प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम् । किं
ब्रह्मना ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं वरतमम् ।
अब्रह्मप्रत्ययः सर्वाऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः ।
ब्रह्मैवैकं परमार्थसत्यमिति वेदानुशासनम् ॥ ११ ॥

इति द्वितीयमुण्डकभाष्यम् ॥ २ ॥

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते ।
यदधिगमे हृद्ग्रन्थादेः संसारकारणस्यात्यन्तिकविनाशः

बाधायां सामानाधिकरण्यं योऽयं स्थाणुः पुमानसाविति तद-
न्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेण तावन्मात्रत्वं बोध्यते ॥८॥१०॥११॥

इति द्वितीयमुण्डकभाष्यटीका ॥ २ ॥

परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न-
न्योऽभिचाक्शीति ॥ १ ॥

स्यात् । दर्शनोपायश्च योगो धनुरायुपादानकल्पनयोक्तः ।
अयेदानीं तत् सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति
तदर्थमुत्तरारम्भः । प्राधान्येन तत्त्वनिर्द्धारणञ्च प्रकारान्त-
रेण क्रियते । अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात् कृतमपि तत्र सूत्र-
भूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते । हा हौ सुपर्णा
सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा
सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ समानख्यातौ
समानाभिव्यक्तिकारणौ एवभूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपल-
ब्धप्रधिष्ठानतया एकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्यात् शरीरं
वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ । सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोप-
भोगार्थम् । अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्योऽव्य-
क्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलश्रयस्तं परि-
ष्वक्तवन्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपा-
ध्यात्मेश्वरौ । तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गो-
पाधिर्वृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं

प्राधान्येनेत्यपूर्वत्वेन तात्पर्यविषयतयेत्यर्थः । हा सुपर्णे-
त्यादौ द्विवचनस्याकारणान्दसः । जीवस्याज्ञत्वेन नियम्यत्वेन
योग्यत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन न्यासकत्वशक्तियोगाच्छोभनं
पतनमुचितम् । नियम्यन्यासकभावगमनं ययोस्तौ शोभन-
पतनौ । पक्षिसामान्यादेति वृक्षाश्रयणादिश्रवणादित्यर्थः ।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति
मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महि-
मानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

स्वाहनेकविचित्रवेदनास्वादुरूपं स्वादति भक्षयत्युपभुङ्क्ते-
ऽविवेकतः । अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-
स्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति । प्रेरयिता
ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्तोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण । स त्वन-
श्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम् । दर्शनमात्रेण हि
तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत् ॥ १ ॥

तत्रैवं सति समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवो-
ऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलावुरिव सामुद्रे
जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमेवाह अमुष्य
पुत्रोऽस्य नप्ता क्लृप्तः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखीत्येवं
प्रत्ययो नास्त्यन्योऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते
च सस्वस्थिवान्धवैः । अतोऽनीशया न कस्यचित् समर्थोऽहं
पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनेत्येवं दीन-
भावोऽनीशा तथा शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थ-

जडं सुत्कष्टं ब्रह्ममूलमधिष्ठाननस्येत्यूङ्मूलोऽर्वाचः प्राणा-
दयः शाखा इवास्थेत्यवाक्शाखः । स्वावस्थानं नियन्तुमस्य न
शक्यमित्यश्नत्यः । अव्यक्तमव्याकृतं मूलमुपादानमन्वयि तस्मात्
प्रभवतीति तथोक्तौ यावदज्ञानभावीत्यर्थः । अविद्याकामकर्म-
वासनानामाश्रयालिङ्गमुपाधिर्यस्यात्मनः स जीवस्तथोक्तः स

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं
ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

प्रकारैरविवेकितया चिन्तामापद्यमानः स एवं प्रेततिर्यङ्म-
नुष्यादियोनिष्वाजवं जवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु
शुद्धधर्मसञ्चितनिमित्तेन केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोग-
मार्गे अहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसम्पन्नः समा-
हितात्मा सन् जुष्टं सेवितमनेकैर्योगिमार्गैः कर्मभिश्च यदा
यस्मिन् काले पश्यति ध्यायमानोऽन्धं वृद्धोपाधिलक्षणाद्विल-
क्षणमीशमसंसारिणमनायापिपासा-शोकमोहजरामृत्वगतीत-
मीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्मग्रात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो
नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं
महिमानञ्च जगद्रूपमस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा
तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागरादिप्रमुच्यते कृत-
कृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम् । यदा
यस्मिन् काले पश्यः पश्यतीति विद्वान् साधक इत्यर्थः पश्यते
पश्यति पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयं ज्योतिः स्वभावं रुक्मस्येव वा

चेश्वरश्च तावित्यर्थः । सत्त्वो मायाख्यमुपाधिरस्येति सत्त्वो-
पाधिः । ज्ञानात्कल्याणलसत्त्वराशेरिति ह्युक्तम् । आवरणं
विक्षेपश्च द्वयमविद्यायाः कार्यम् । तत्रेश्वरभावा प्रतिपत्ति-
रनीशावरणं शोचतीति विक्षेपस्तदुभयहेतुरनिर्वाच्यमज्ञानं

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्
विद्वान् भवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्म-
रतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

ज्योतिरस्याविनाशि कर्त्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्म-
योनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासी ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो
वाऽपरस्य योनिं स यदा चैव पश्यति तदा स विद्वान् पश्यः
पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणि समूले विधूय निरस्य दग्धा
निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं
समतामहयलक्षणं द्वैतविषयाणि सामान्यतो वाच्ये वातो-
ऽहयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

किञ्च योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्व-
भूतैर्ब्रह्मादिस्तन्मप्यन्तैः । इत्यभूतलक्षणा तृतीया । सर्व-
भूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः । विभाति विविधं दीप्यते ।

मोहः । तेन विशिष्टोऽनेकैरनर्थप्रकारैरहं करोमीत्यादिभि-
र्विवेकतया तादात्म्यपन्नतयेत्यर्थः । आजवमनवरतं जीवभावं
निष्कृष्टभावं लक्षणया लघुभावं कर्म वायुप्रेरिततया जीवभावं
क्षैप्रमापन्नः पूर्ववदित्यभेदेनेत्यर्थः । आत्मनि रतिरात्मरतिस्तत्-
पुरुषः सैव क्रियास्यास्तीत्यात्मरतिः । क्रियावानिति मतुत्वे
कः प्रतीयते कथमुक्तं बहुव्रीहिमतुवर्ययोरन्यतरोऽतिरिच्यत
इति । सत्यम् असमासपाठे द्वयोरर्थवत्त्वमासीत् समासपाठे
त्वन्यतरे मनुरतिरिच्यते विशेष्यते बाह्यक्रियानिष्ठतिलाभा-
दित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

एवं सर्वभूतस्य साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन्
विद्वान् वाक्यार्थज्ञानमात्रे न स भवते न भवतीत्येतत् । किम्
अतिवादी अतीत्य सर्वानन्यान् वदितुं शीलमस्येत्यवादी ।
तस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वान्नातिवादी भव-
तीत्यर्थः । सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसा-
वतीत्य वदेत् । यस्य त्वपरमपरमन्यदृष्टमस्ति स तदतीत्य
वदति । अयन्तु विद्वानात्मनोऽन्यत्र पश्यति नान्यच्छृणोति
नान्यद्विजानाति । अतो नातिवदति । किञ्चात्मक्रीड
आत्मन्येव क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः
तथाऽऽत्मरतिरात्मन्येव च रतीरमणं प्रीतिर्यस्य स आत्म-
रतिः । क्रीडा वाह्यसाधनसापेक्षा । रतिस्तु साधननिर-
पेक्षा वाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः । तथा क्रियावान्
ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान् । समास-
पाठे आत्मरतिरेव क्रियाऽस्य विद्यत इति बह्व्रीहिमतुबर्थ-
योरन्यतरोऽतिरिच्यते । केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः
समुच्चयार्थमिच्छन्ति । तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन
मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते । न हि वाह्यक्रिया आत्मरतिश्च
भवितुं शक्नुतः । कश्चिद्वाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो
भवति वाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात् । न हि तमः प्रका-
शयोर्युगपदेकत्र स्थितिः सम्भवति । तस्मादसम्प्लपितमेतत् ।
अनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम् । अन्या वाचो विमु-
ञ्चथ सत्यासयोगादित्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्मादयमेवेह क्रिया-

एकदेशिव्याख्यामुद्गाह्य निराचष्टे । केचिदित्यादिना ।

प्राणी ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्
विद्वान् भवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्म-
रतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

ज्योतिरस्याविनाशि कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्म-
योनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासी ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो
वाऽपरस्य योनिं स यदा चैव पश्यति तदा स विद्वान् पश्यः
पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणि समूले विधूय निरस्य दग्धा
निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं
समतामह्यलक्षणं द्वैतविषयाणि सामान्यतो वाचे वातो-
ऽह्यलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

किञ्च योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्व-
भूतैर्ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तैः । इत्यभूतलक्षणा तृतीया । सर्व-
भूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः । विभाति विविधं दीप्यते ।

मोहः । तेन विशिष्टोऽनेकैरनर्थप्रकारैरहं करोमीत्यादिभि-
र्विवेकतया तादात्म्यापन्नतयैत्यर्थः । आजवमनवरतं जीवभावं
निष्कृष्टभावं लक्षणया लघुभावं कर्म वायुप्रेरिततया जीवभावं
क्षेप्रमापन्नः पूर्ववदित्यभेदेनेत्यर्थः । आत्मनि रतिरात्मरतिस्तत्-
पुरुषः सैव क्रियास्यास्तीत्यात्मरतिः । क्रियावानिति मतुत्वे
कः प्रतीयते कथमुक्तं बहुव्रीहिमतुर्वर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यत
इति । सत्यम् असमासपाठे द्वयोरर्थवत्त्वमासीत् समासपाठे
त्वन्वतरे मनुरतिरिच्यते विशेष्यते बाह्यक्रियानिवृत्तिलाभा-
दित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

एवं सर्वभूतस्थं साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन्
विद्वान् वाक्यार्थज्ञानमात्रे न स भवते न भवतीत्येतत् । किम्
अतिवादी अतीत्य सर्वानन्यान् वदितुं शीलमस्येत्यवादी ।
तत्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वान्नातिवादी भव-
तीत्यर्थः । सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसा-
वतीत्य वदेत् । यस्य त्वपरमपरमन्यदृष्टमस्ति स तदतीत्य
वदति । अयन्तु विद्वानात्मनोऽन्यत्र पश्यति नान्यच्छृणोति
नान्यद्विजानाति । अतो नातिवदति । किञ्चात्मक्रीड
आत्मन्येव क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः
तथाऽऽत्मरतिरात्मन्येव च रतीरमणं प्रीतिर्यस्य स आत्म-
रतिः । क्रीडा वाह्यसाधनसापेक्षा । रतिस्तु साधननिर-
पेक्षा वाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः । तथा क्रियावान्
ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान् । समास-
पाठे आत्मरतिरेव क्रियाऽस्य विद्यत इति बह्वब्रीहिमतुबर्थ-
योरन्यतरोऽतिरिच्यते । केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः
समुच्चयार्थमिच्छन्ति । तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन
मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते । न हि वाह्यक्रिया आत्मरतिश्च
भवितुं शक्नुतः । कश्चिद्वाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो
भवति वाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात् । न हि तमः प्रका-
शयोर्युगपदेकत्र स्थितिः सम्भवति । तस्मादसम्बलपितमेतत् ।
अनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम् । अन्या वाचो विमु-
ञ्चथ सत्यासयोगादित्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्मादयमेवेह क्रिया-

एकदेशिव्याख्यामुद्भाव्य निराचष्टे । केचिदित्यादिना ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभो यं पशन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

वान् यो ज्ञानध्यानादिक्रियावानसम्भिरार्थमर्थ्यादः संन्यासी । य एवं लक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥ ४ ॥

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि । सत्येनानृतत्वागेन सृष्टावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । किञ्च तपसा हीन्द्रियमन एकाग्रतया । मनसश्चैन्द्रियाणाञ्चैकाग्रं परमं तप इति स्मरणात् । तद्वानुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात् परमं साधनं तपो नेतरञ्चान्द्रायणादि । एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः । सर्वत्र सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्यदीपकन्यायेनानुपक्तव्यः । वक्ष्यति च । न येषु जिह्वमनृतं न माया चेति ।

अनेन वचनेन ज्ञानकर्म्मसमुच्चयप्रतिपादनं क्रियत इत्येतदसत्प्रलपितमेवेति योजना ॥ ४ ॥

सम्यग्ज्ञानसहकारीणीत्यत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविषयावगतिफलावसानं वाक्यार्थज्ञानमुच्यते । अवगतिफलस्य स्वकार्योऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षासम्भवात् । अतोऽपरिपक्वज्ञानस्य सत्यादीनाञ्च परिपक्वविद्यालाभाय समुच्चय इत्यत

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्युषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

कोऽसावात्मा य एतैः साधुभिर्लभ्यत इत्युच्यते । अतः शरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धोऽयमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः सत्यासिनः क्षणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः सत्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः । न कदाचित् कैः सत्यादिभिर्लभ्यते सत्यसाधनसुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥ ५ ॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयते जयति नानृतं नानृतवादीत्यर्थः । न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोः सम्भवो जयः पराजयो वा सम्भवति । प्रसिद्धं लोकेऽसत्यवाननृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत् साधनत्वम् । किञ्च । शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम् । कथम् । सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः । येन

एव । नैतावताभास्वराभिमतसिद्धिः । परिपक्वविद्यावहकार्यपेक्षायां मानाभावात् । ततः कर्म्मोऽसंश्लेषश्रवणादेवादीनां कर्म्मविहीनानां सुक्तिश्रवणाच्चेति ॥ ५ ॥

कुहकं परवचनमन्तरन्यथा गृहीत्वा वहिरन्यथा प्रकाशनम् । माया शब्दं विभवानुसारिणाप्रदानम् । अहङ्कारो

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभो यं पशन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

वान् यो ज्ञानध्यानादिक्रियावानसम्भिरार्थमर्थ्यादः संन्यासी । य एवं लक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥ ४ ॥

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि । सत्येनानृतत्वागेन सृष्टावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । किञ्च तपसा हीन्द्रियमन एकाग्रतया । मनसश्चैन्द्रियाणाञ्चैकाग्रं परमं तप इति स्मरणात् । तद्वानुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात् परमं साधनं तपो नेतरञ्चान्द्रायणादि । एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः । सर्वत्र सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्यदीपकन्यायेनानुपक्तव्यः । वक्ष्यति च । न येषु जिह्वमनृतं न माया चेति ।

अनेन वचनेन ज्ञानकर्म्मसमुच्चयप्रतिपादनं क्रियत इत्येतदसत्प्रलपितमेवेति योजना ॥ ४ ॥

सम्यग्ज्ञानसहकारीणीत्यत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविषयावगतिफलावसानं वाक्यार्थज्ञानमुच्यते । अवगतिफलस्य स्वकार्येऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षासम्भवात् । अतोऽपरिपक्वज्ञानस्य सत्यादीनाञ्च परिपक्वविद्यालाभाय समुच्चय इत्यतः

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्युषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

कोऽसावात्मा य एतैः साधुभिर्लभ्यत इत्युच्यते । अतः शरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धोऽयमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः सत्यासिनः क्षणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः सत्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः । न कदाचित् कैः सत्यादिभिर्लभ्यते सत्यसाधनसुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥ ५ ॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयते जयति नानृतं नानृतवादीत्यर्थः । न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोः सम्भवो जयः पराजयो वा सम्भवति । प्रसिद्धं लोकेऽसत्यवाननृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत् साधनत्वम् । किञ्च । शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम् । कथम् । सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः । येन

एव । नैतावताभास्वराभिमतसिद्धिः । परिपक्वविद्यावहकार्यपेक्षायां मानाभावात् । ततः कर्म्मोऽसंश्लेषश्रवणादेवादीनां कर्म्मविहीनानां सुक्तिश्रवणाच्चेति ॥ ५ ॥

कुहकं परवचनमन्तरन्यथा गृहीत्वा वहिरन्यथा प्रकाशनम् । माया शब्दं विभवानुसारिणाप्रदानम् । अहङ्कारो

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञा-
नेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योति-
र्मयो हि शुभो यं पशन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

वान् यो ज्ञानध्यानादिक्रियावानसम्भिन्नार्थमर्थ्यादः संन्यासी ।
य एवं लक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्परतिः क्रियावान्
ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥ ४ ॥

अधुना सत्यादीनि भिन्नोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि
साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि । सत्येनानृतत्या-
गेन सृष्टावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । किञ्च तपसा हीन्द्रि-
यमन एकाग्रतया । मनसश्चेन्द्रियाणाञ्चैकाग्रं परमं तप
इति स्मरणात् । तद्वानुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात् परमं
साधनं तपो नेतरचान्द्रायणादि । एष आत्मा लभ्य इत्यनु-
षङ्गः । सर्वत्र सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण
मैथुनासमाचारेण नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं
सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्यदीपकन्यायेनानुष-
क्तव्यः । वक्ष्यति च । न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।

अनेन वचनेन ज्ञानकर्म्मसमुच्चयप्रतिपादनं क्रियत इत्येतदसत्-
प्रलपितमेवेति योजना ॥ ४ ॥

सम्यग्ज्ञानसहकारीणीत्यत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविष-
यावगतिफलावसानं वाक्यार्थज्ञानमुच्यते । अवगतिफलस्य
स्वकार्योऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षासम्भवात् । अतोऽपरि-
पक्वज्ञानस्य सत्यादीनाञ्च परिपक्वविद्यालाभाय समुच्चय इथत

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो
देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र
तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

कोऽसावात्मा य एतैः साधुभिर्लभ्यत इत्युच्यते । अतः
शरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि
रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धोऽयमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो
यतनशीलाः सत्यासिनः क्षणदोषाः क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः
स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः सत्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः ।
न कदाचित् कैः सत्यादिभिर्लभ्यते सत्यसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थ-
वादः ॥ ५ ॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयते जयति नानृतं नानृतवादी-
त्यर्थः । न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोः
सम्भवो जयः पराजयो वा सम्भवति । प्रसिद्धं लोकेऽसत्य-
वाननृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्
साधनत्वम् । किञ्च । शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधना-
तिशयत्वम् । कथम् । सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था
देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः । येन

एव । नैतावताभास्कराभिमतसिद्धिः । परिपक्वविद्यावहकार्य-
पेक्षायां मानाभावात् । ततः कर्माऽसंश्लेषश्रवणाद्देवादीनां
कर्माविहीनानां मुक्तिश्रवणाच्चेति ॥ ५ ॥

कुहकं परवचनमन्तरन्यथा गृहीत्वा वहिरन्यथा प्रका-
शनम् । माया शाठ्यं विभवानुसारेणाप्रदानम् । अहङ्कारो

वृहच्च तद्विव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्म-
तरं विभाति । दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्चात्-
स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

यथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्ते ऋषयो दर्शनवन्तः कुहकमाया-
शाब्दाहङ्कारदम्भानतवर्जिता ह्याप्तकामा विगतलक्षणाः
सर्वतो यत्र यस्मिन् तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधानस्य
सम्बन्धि साध्यं परमं प्रकष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण निधी-
यते प्रवर्तते । तत्र च येन यथा क्रमन्ति सत्येन वितत
इति पूर्वेण सम्बन्धः । किं तत् किं धर्मिकं तदत्युच्यते ॥ ६ ॥

वृहच्च तन्महच्च तत्प्रकष्टं ब्रह्म सत्यादिसाधनेन सर्वतो
व्याप्तत्वात् । दिव्यं स्वयम्प्रभमनिन्द्रियगोचरम् अतएव न
चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य रूपमित्यचिन्त्यरूपम् । सूक्ष्मा-
दाकाशादेरपि तत् सूक्ष्मतरं निरतिशयं हि सूक्ष्ममस्य
सर्वकारणत्वादिभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेणाभाति
दीप्यते । किञ्च दूराद् विप्रकष्टदेशात् सुदूरे विप्रकष्टतरे
देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वान्तद्ब्रह्म । इह देहेऽन्तिके
समीपे च । विदुषामात्मत्वात् सर्वान्तरत्वाच्चाकाशस्याप्यन्तर-

मिथ्याभिमानः । दम्भो धर्मध्वजित्वम् । अनृतमयथादृष्ट-
भाषणम् । एतैर्दोषैर्वर्जिता इत्यर्थः । सत्यस्य निधानं यदुक्तं
तत् पुनर्विशेष्यत इत्याह । किन्तत् किं धर्मिकं तदिति ॥ ६ ॥

ज्ञानप्रसादेनेत्यत्र ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या बुद्धिरुच्यते ।
ध्यायमानो ज्ञानप्रसादं लभ्यते । ज्ञानप्रसादेनात्मनं पश्यतीति

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै-
स्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

श्रुतेः । इह पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं
दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम् । क । गुहायां
बुद्धिलक्षणायां । तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः ।
तथाप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वद्भिः ॥ ७ ॥

पुनरप्यसाधारणेऽप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते ॥
यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते केनचिदप्यरूपत्वान्नापि गृह्यते वाचा-
ऽनभिधेयत्वान्न चान्यैर्देवैरिन्द्रियैः । तपसः सर्वप्राप्तिसाधनत्वे-
ऽपि न तपसा गृह्यते । तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा
प्रसिद्धमहत्वेनापि न गृह्यते । किं पुनस्तस्य ग्रहणसाधन-
मित्याह । ज्ञानप्रसादेनात्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन
सर्वप्राणिनां ज्ञानं वाह्यविषयरगादिदोषकलुषितमप्रसन्न-
मशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं सन्निहितमप्यात्मत्वं मलावनद्ध-
मिवादृशम् । विलुलितमिव सलिलम् । तद्यदिन्द्रियविषय-
संसर्ग-जनित-रागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिलादिवत्
प्रसादितं स्वच्छं शान्तमवतिष्ठते तदा ज्ञानस्य प्रसादः
स्यात् । तेन विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्

क्रमो द्रष्टव्यः । संशयादिमलरहितस्य प्रमाणज्ञानस्यैव साक्षा-
त्कारहेतुत्वाद्भ्रान्तक्रियायाः प्रमितिसाधनत्वासिद्धेरित्यर्थः ।
बौद्धादेश्चित्तादौ चेतनत्वभ्रमदर्शनाच्चित्तं तस्मिन् स्वसंसर्गिणि

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्
प्राणः पञ्चधा संविवेश । प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं
प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ६ ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः

तस्मात्तमात्मानं पश्यते पश्यति उपलभते निष्कलं सर्वावयव-
भेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनतानुपसंहृतकरण एका-
ग्रेण मनसा ध्यायमानश्चिन्तयन्नयमात्मानमेव पश्यतीति ॥ ८ ॥

एषोऽणुः सूक्ष्मचेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः ।
क्वासौ । यस्मिंश्छरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादि-
भेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्तस्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा
ज्ञेय इत्यर्थः । कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह । प्राणैः
सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं येन
क्षीरमिव स्नेहेन काष्ठमिवाग्निना । सर्वं हि प्रजानामन्तः-
करणं चेतनावत् प्रसिद्धं लोके । यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादि-
मलवियुक्ते शुद्धे विभवत्येष य उक्त आत्मा विशेषेण स्वेना-
त्मना विभवत्यात्मानं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य
सौवर्णत्वादेव सर्वावामिलक्षणं फलमाह । यं यं लोकं

च चैतन्याभिध्यञ्जकत्वे स्वभावत एव योग्यम् । ततश्चित्ते पर-
मात्मनोऽभिध्यक्तिसम्भावनाच्चेतसा ज्ञेयत्वमुच्यत इति सम्भाव-
नार्थमाह । प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तमिति । ओतं चैतन्येन

कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते
तांश्च कामान्स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १० ॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं

पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति सङ्कल्पयति मह्यमन्यस्मै वा
भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविनिर्मुक्तलान्तःकरणः
कामयते यांश्च कामान् प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते
प्राप्नोति तांश्च कामान् सङ्कल्पितान् भोगान् । तस्माद्विदुषः
सत्यसङ्कल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत्
पूजयेत् पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो वि-
भूतिमिच्छुः । ततः पूजार्ह एवासौ ॥ १० ॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमखण्डभाष्यम् ॥ १ ॥

यस्मात् स वेद जानात्यसावेतद्यथोक्तलक्षणं परमं ब्रह्म
प्रकृष्टं धाम सर्वकामानामाश्रयमास्यदं यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि
धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं यच्च स्वेन ज्योतिषा

सर्वस्य तर्हि चित्ते किमिति ब्रह्म स्वत एवापरोक्षं न भवती-
त्यत आह । यस्मिन् चित्त इति । सगुणविद्याफलमपि निर्गुण-
विद्यास्तुतये प्ररोचनार्थमुच्यते । यं यमिति । परमार्थतत्त्व-
ज्ञानादित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमखण्डभाष्यटीका ॥ १ ॥

विषयेषु यथास्थितदोषदर्शनात्पर्याप्तकामः क्षीणरागो

भाति शुभम् । उपायते पुरुषं ये ह्यकामास्ते
शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स काम-
भिर्जायते तत्र तत्र । पर्याप्तकामस्य कृतात्म-
नस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

भाति शुभं शुद्धम् । तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा
विभूतिलक्षणावर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते परमिव देवं ।
ते शुक्रं नृवीजं यदेतत् प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमति-
वर्त्तन्तेऽतिगच्छन्ति धीरा बुद्धिमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति ।
न पुनः क्व रतिं करोतीति श्रुतेः ॥ अतस्तं पूजयेदित्यभि-
प्रायः ॥ १ ॥

मुमुक्षौः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति
कामान् यो दृष्टादृष्टेष्टविषयान् कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चि-
न्तयानः प्रार्थयते स तैः कामभिः कामैर्धर्म्मार्धर्म्मप्रवृत्ति-
हेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र । यत्र यत्र
विषयप्राप्तिनिमित्तकामाः कर्म्मसु पुरुषं नियोजयन्ति तत्र

विरुद्धलक्षणयाऽऽत्मकामस्यात्मबुभुक्षयैव वशीकृतचित्तस्य विष-
येभ्यः कामानिहत्ता भवन्तीत्यर्थः । सामर्थ्यादवगम्यते । स्वहेतु-
विनाशात् पुनः कामा न जायन्त इति । जातानां ज्ञानं
विनापि क्षयसम्भवादित्यर्थः । न बहुना श्रुतेनेति उपनिषद्-
विचारव्यतिरिक्तेनेत्यर्थः । तेन वर्णनेनेति कथं व्याख्यानं यत्

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न
बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥

तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरिव कामैर्वेष्टितो जायते । यस्तु
परमार्थतत्त्वविज्ञानात् पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परि-
समन्तत आत्माः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्म-
नोऽविद्यालक्षणादपररूपादपनीय स्वेन परिण रूपेण कृत
आत्मा विद्यया यस्य तस्य कृतात्मनस्त्वैव तिष्ठत्येव शरीरे ।
सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयमुपयन्ति
नश्यन्तीत्यर्थः । कामास्तज्जन्तुर्विनाशान्न जायन्त इत्य-
भिप्रायः ॥ २ ॥

यद्येवं सर्वलाभात् परमात्मलाभस्तत्त्वाभाय प्रवचनादय
उपाया बाहुल्येन कर्त्तव्या इति प्राप्त इदमुच्यते । योऽय-
मात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नाऽसौ वेद-
शास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः । तथा न मेधया
ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणे-
नेत्यर्थः । केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते । यमेव परमात्मानमेव

तदोर्भिन्नार्थत्वं साधनविवक्षायाः प्रस्तुतत्वादित्यर्थं ब्रूमः ।
परमात्मास्मीत्यभिदानुसन्धानं वर्णनम् । तेन वर्णनेनैव आत्मा
लभ्यो भवति । बहिर्मुखेन तु शतशोऽपि श्रवणादौ क्रियमाणे
न लभ्यते । अतः परमात्माऽस्मीत्यनुसन्धानं परमात्मभजनं
पुरस्कृत्यैव श्रवणादिसम्पादनीयमिति भावः । अथवाऽयमेव

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमा-
दात्तपसो वाप्यलिङ्गात् । एतैरूपायैर्यतते यस्तु
विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

विद्वान् वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वर्णनेनैष परमात्मा लभ्यः
नान्येन साधनान्तरेण । नित्यलब्धस्वभावत्वात् । कीदृशो-
ऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते । तस्यैष आत्माऽविद्या-
सच्छन्नां स्वां परां तनूं स्वात्मतत्त्वस्वरूपां विवृणुते प्रकाशयति
प्रकाश इव घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्यागेनात्मलाभप्रार्थनैवाऽऽत्मलाभसाधनमित्यर्थः ।
आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमाद-
तपांसि लिङ्गयुक्तानि सत्याससहितानि । यस्मादयमात्मा
बलहीनेन बलप्रहीणेनात्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो
नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयासङ्गनिमित्तप्रमादात् । तथा
तपसो वाप्यलिङ्गास्मिङ्गरहितात् । तपोऽत्र ज्ञानम् । लिङ्गं
सत्यासस्तत्त्वस्यासरहितात् ज्ञानान्न लभ्य इत्यर्थः । एतै-
रूपायैर्बलाप्रमादसत्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन् प्रयते । यस्तु

परमात्मानं वृणुते तेन परमात्मना मुमुक्षुरूपव्यवस्थितेन वर्णने-
नाभेदानुसन्धानलक्षणेन प्रार्थनेन कृत्वा लभ्यः परमात्मैव
मुमुक्षुरूपव्यवस्थित इत्यभेदानुसन्धानेनैव लभ्यो न कर्मणेत्यर्थः
॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

वीर्यमिति । मिथ्याज्ञानानभिभाव्यतालक्षणे विशेषः ।
अलिङ्गादिति कथम् । इन्द्रजनकगार्गिप्रभृतीनामप्यात्मलाभ-

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो
वीतरागाः प्रशान्ताः । ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्थाः सद्भासयोगाद्य-

विद्वान् विवेकी आत्मवित् तस्य विदुषः आत्मा एष विशते
सम्प्रविशति ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

कथं ब्रह्मविशत इत्युच्यते । सम्प्राप्य समवगम्यैनमा-
त्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्ति-
साधनेन शरीरोपचयकारणेन । कृतात्मानः परमात्मस्वरूपि-
ण्यैव निष्पन्नात्मनः सन्तः । वीतरागा विगतरागादिदोषाः ।
प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः । त एवभूताः सर्वगं सर्वव्यापिन-
माकाशवत् सर्वतः सर्वत्र प्राप्य नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन ।
किन्तर्हि ब्रह्मैवाद्यमात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवे-
किनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव समस्तं
शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति भिन्नघटाकाशवदविद्याकृतो-
पाधिपरिच्छेदं जहाति । एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम एवं
ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति ॥ ५ ॥

किञ्च वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः

श्रवणात् । सत्यं सद्भासो नाम सर्वत्यागात्मकस्तेषामपि सत्त्वा-
भिमानाभावादस्यैवाऽऽन्तरः सद्भासो बाह्यन्तु लिङ्गमविव-
क्षितम् । न लिङ्गं धर्मकारणमिति स्मरणात् । नैष्कर्म्यसाहि-

तयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

परमात्मा विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञा-
सुनिश्चितार्थाः । ते च सत्यासयोगात् सर्वकर्मपरित्याग-
लक्षणयोगात् केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद् योगाद्यतयो यत्न-
शीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां सत्यासयोगात् ते शुद्ध-
सत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु । संसारिणां ये मरणकालास्ते
परान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्याग-
कालः परान्तकालस्तस्मिन् परान्तकाले साधकानां बहु-
त्वाद् ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकबद् दृश्यवे प्राप्यते
च । अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः । परा-
मृताः परममृतममरणधर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषां ते परामृता
जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि-
समन्तात् प्रदीपनिर्वाणवद् घटाकाशवच्च निर्वृतिमुपयन्ति
परिमुच्यन्ति परिसमन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्य-
मपेक्षन्ते । शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च । पदं
यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः । अनध्वगा अध्वसु
पारयिष्णव इति श्रुति स्मृतिभ्यां देशपरिच्छिन्ना हि गतिः
संसारविषयैव । परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात् । ब्रह्म तु
समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम् । यदि हि देशपरि-
च्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाव्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं

त्यन्तु विवक्षितं प्रदीपस्य वर्तिकाच्छेदध्वंसे यथा तेजः-

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे
प्रतिदेवतासु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परिव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥ ७ ॥

कृतकञ्च स्यात् । न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति । अत-
स्तत्प्राप्तिञ्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता ॥ ६ ॥

अपि चाविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षमिच्छन्ति
ब्रह्मविदो न तु कार्यभूतम् । किञ्च मोक्षकाले या देहा-
रम्भकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वाः प्रतिष्ठाः प्रतिष्ठाङ्गताः
स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः । प्रतिष्ठा इति द्वितीयावहु-
वचनम् । पञ्चदश पञ्चदशसंख्यका या अन्यप्रश्नपरिपठिताः
प्रसिद्धा देवाश्च देहाग्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रतिदेवता
स्वादित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः । यानि च सुसुक्ष्मा
कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि प्रवृत्तफलानामुपभोगिनैव
क्षीणत्वाद् विज्ञानमयश्चात्माऽविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिमात्मत्वेन
मत्वा जलादिषु सूर्यादिप्रतिविम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु

सामान्यतापत्तिस्तद्वदित्याह । प्रदीपानर्वाणवदिति । पदं पाद-
न्यासः । प्रतिविम्बं न दृश्येताभावादेवेत्यर्थः । अध्वस्विति ।
संसारध्वनां पारयिणवः पारयितुं समापयितुमिच्छन्तीति
समाप्तिकामा अनध्वगा भवन्तीत्यर्थः । तर्कतोऽपीहैव मोक्षो
वक्तव्य इत्याह । देशपरिच्छिन्ना हीत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

स्वाः प्रतिष्ठाः प्रतिगता भवन्तीति भूतांशानां भौतिका-
नाञ्च महाभूतेषु लयो दर्शितः । अन्यप्रश्नेति ब्राह्मणग्रन्थे

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति
नामरूपे विहाय । तथा विद्याब्रामरूपादिमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

कर्माणां तत्फलार्थत्वात् सह तेनैव विज्ञानमयेनात्मना ।
अतो विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः । ते एते कर्माणि विज्ञान-
मयश्चात्मोपाध्यपनयनेन सति परेऽव्ययेऽनन्ते अक्षये ब्रह्म-
ण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽवाह्येऽद्वये
शिवे शान्ते सर्वे एकीभवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्यैकत्वमापद्यन्ते
जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बास्तुर्ये घटाद्यपनय-
नाकाशे घटाद्याकाशः ॥ ७ ॥

किञ्च यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः
समुद्रं प्राप्यास्तमदर्शनमविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति
नाम च रूपञ्च नामरूपे विहाय हित्वा तथाऽविद्याकृतनाम-
रूपादिमुक्तः सन् परादक्षरात् पूर्वोक्तात् परं दिव्यं पुरुषं
यथोक्तलक्षणमुपैत्युपगच्छति ॥ ८ ॥

षष्ठप्रश्ने प्राण अद्वाद्या याः कलाः पठिता इत्यर्थः । मायामय-
महाभूतांशावष्टब्धे जीवाविद्यामयभूतसूक्ष्मैः प्रातिस्विकैरष्ट-
सहस्रतैः प्रातिस्विकाः प्राणादय आरभ्यन्ते । ते च कर्मा-
क्षितैर्देवैः सूर्यादिभिरधिष्ठीयन्ते । कर्माणो भोगेनावसाने ते
देवाः स्वस्थानं गच्छन्ति । यच्च प्रातिस्विकं स्वाविद्याकार्यं तच्च
सर्वं ब्रह्मैव सम्पद्यत इत्याह । यानि चेत्यादिना ॥ ७ ॥ ८ ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव
भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति
शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो-
ऽमृतो भवति ॥ ६ ॥

तदेतद्वचाऽभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्म-
निष्ठाः । स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्तस्तेषा-

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धा अतः क्लेशानामन्यत-
मेनान्येन वादे वादिना च विघ्नतो ब्रह्मविदप्यन्यां मृतो
मच्छति न ब्रह्मैव । न विद्ययैव सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात् ।
अविद्याप्रतिबन्धमात्रे हि मोक्षो नान्यप्रतिबन्धः । नित्य-
त्वादात्मभूतत्वाच्च । तस्मात् स यः कश्चिद् वै लोके तत्
परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्याङ्गतिं गच्छति ।
देवैरपि अस्य ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम् ।
आत्मा ह्येषां प्रभवति । तस्माद्ब्रह्मविदु विद्वान् ब्रह्मैव
भवति । किञ्च नास्य विदुषोऽब्रह्मवित् कुले भवति । किञ्च
तरति शोकमनेकेष्टवैकल्पनिमित्तं मानसं सन्तापं जीव-
न्नेवातिक्रान्तो भवति । तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव भिद्यते
हृदयग्रन्थिरित्यादि ॥ ६ ॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासम्प्रदानविध्युपदर्शनेनोपसंहारः

एतदुग्रन्थद्वारकविद्याप्रदानेऽयं विधिरायर्वणिकानामिति ।

मेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु
चीर्णम् ॥ १० ॥

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैत-
दचीर्णव्रतोऽधीते । नमः परम ऋषिभ्यो नमः
परम ऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

मुण्डकोपनिषत् समाप्ता ॥

क्रियते । तदेतद् विद्यासम्प्रदानविधानमृचा सन्त्वेणाभ्युक्त-
मभिप्रकाशितम् । क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः ।
ओत्रिया ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन् ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्म
बुभुक्षवः स्वयमेकर्षिमेकर्षिनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति अद्व-
यन्तः अह्वानाः सन्तो ये तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्र-
भूतानामितां ब्रह्मविद्याम् । वदेत ब्रूयाच्छिरोव्रतं शिरस्यग्नि-
धारणलक्षणम् । यथाऽऽथर्वणानां वेदे व्रतं प्रसिद्धम् । यैस्तु
यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च वदेत ॥ १० ॥

तदेतदक्षरं पुरुषं सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौन-
काय विधिवदुपसन्नाय पृष्टवते उवाच । तद्वदन्योऽपि स्वं
तथैव श्रेयोऽर्थिने मुमुक्षवे श्रोत्रार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूया-
दित्यर्थः । नैतदग्रन्थरूपमचीर्णव्रतोऽचरितवतो नाप्यधीते ।

प्रकृतपरासर्गादेतच्छब्दादवगम्यते ग्रन्थद्वारेण विद्यायाः प्रकृत-

नयवति चीर्णव्रतस्य हि विद्याफलाय संस्कृता भवतीति ।
समाप्ता ब्रह्मविद्या सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण
सम्प्राप्ता तेभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः । परमं ब्रह्म साक्षाद्
दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयोऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयो-
ऽपि नमः । दिवंचनमत्यन्तादरार्थं मुण्डकसमाख्यं ॥११॥

इति तृतीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयखण्डः ॥२॥

इति श्रीगोविन्दभगवत् पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरि-

ब्राजकस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावाथर्वण-

मुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

त्वसम्भवान्न सर्वत्र ब्रह्मविद्यासम्प्रदानमिति सूचयन्नाह । एतां
ब्रह्मविद्यां वदेतेति ॥ ८ ॥ १० ॥ ११ ॥

इति श्रीमत् परमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीमदानन्दज्ञान-
विरचितं मुण्डकभाष्यव्याख्यानं समाप्तम् ।

प्रकाशक—श्रीभुवनचन्द्र वसाक ।

(प्ल० निमतलाघाट झीट)

प्रिण्टर श्रीरामनारायण पाल ।

(१६ नं नूतन पगयापटी)

स गौडपादीयकारिकायर्वेदीयभाण्डूक्योपनिषद्भाष्यम् ।

ओं नमः परमात्मने ॥ प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचर-
निकरव्यापि भिव्याय लोकान् भुक्ता भोगान् स्थविष्ठान्
पुनरपि धिषणोद्गासितान् कामजन्यान् । पीत्वा सर्वान्

स गौडपादीयकारिकायर्वेदीयभाण्डूक्योपनिषद्भाष्यटीका ॥

॥ ओं ॥ परिपूर्णपरिज्ञानपरितृप्तिमते सते ।

विष्णवे जिष्णवे तस्मै कृष्णनाममृतं नमः ॥ १ ॥

शुद्धानन्दपदाम्भोजदन्दुनन्दनदतासदम् ।

नमस्तु वैपुलस्कर्तुं तत्त्वज्ञानमहोदयम् ॥ २ ॥

गौडपादीयभाष्यं हि प्रसन्नमिव लक्ष्यते ।

तदर्थतोऽतिगम्भीरं व्याकरिष्ये स्वशक्तिः ॥ ३ ॥

पूर्वं यद्यपि विद्वांसो व्याख्यानमिह चक्रिरे ।

तथापि मन्दबुद्धीनामुपकाराय यत्नते ॥ ४ ॥

श्रीगौडपादाचार्यस्य नारायणप्रसादतः प्रतिपन्नान्भाण्डूक्यो-
पनिषदर्थविष्करणपरानपि श्लोकानाचार्यप्रणीतान् व्याचिख्या-
सुर्भगवान् भाष्यकारश्चिकीर्षितस्य भाष्यस्याविघ्नपरिसमायादिसिद्धये
परदेवतातत्त्वानुस्मरणपूर्वकं तन्नमस्काररूपं मङ्गलाचरणं शिष्टाचार-
प्रमाणकं सुखतः समाचरन्नधीदपेक्षितमभिधेयाद्यनुबन्धमपि सूचयति ।
प्रज्ञानेत्यादिना ॥ तत्र विधिमुखेन वस्तुप्रतिपादनमिति प्रक्रियां
प्रदर्शयति । यत्परम्ब्रह्म तन्नतोऽस्मीति । अस्मादर्थस्य तदैक्यस्मरण-
रूपं नमनं सूचयतो ब्रह्मणस्तदर्थस्य प्रत्यक्त्वं सूचितमिति तत्त्वम-
र्थयोरैक्यं विप्रयोध्वनितः । यच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थावद्योतकत्वाद्देवान्-
प्रसिद्धं यद्ब्रह्म तन्नतोऽस्मीति सम्बन्धेन मङ्गलाचरणमपि सुत्या-
क्रियते । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वादेव जननमरणकारणाभावादमृतमज-
मिष्युक्तम् । जननमरणप्रवन्धस्य संसारत्वान्तद्विषेधेन खतोऽसंसारित्वं
दर्शयता संसारानर्थनिवृत्तिरिह प्रयोजनमिति द्योतितम् । यद्यदि-

विशेषान् स्वपिति मधुरभृज्मायया भोजयन् नो माया-

गीयं स्वतोऽसंसारि ब्रह्मा वेदान्तप्रमाणकं तर्हि कथमवस्थात्ययवि-
शिष्टाजीवा भोक्तारोऽनुभूयन्ते भोजयिता चेश्वरः श्रूयते भोज्यश्च
विषयजातं पृथगुपलभ्यते । तदेतद्वैते विरुध्येतेत्याशङ्क्य ब्रह्मण्येव
जीवा जगदीश्वरश्चेति सर्वे काल्पनिकं सम्भवतीत्यभिप्रेत्याह । प्रज्ञा-
नेति ॥ प्रकटं जन्मादिविक्रियाविरहितं शूटस्थं ज्ञानं चाप्रिष्टुपं
यस्तु प्रज्ञानं तच्च ब्रह्मा । प्रज्ञानं ब्रह्मेति श्रुतेः । तस्यांशवो रश्मयो
जीवाश्चिदाभासाः सूर्यप्रतिबिम्बकल्पा निरूप्यमाणा बिम्बकल्पा
ब्रह्माणो भेदेनासन्स्तेषां प्रताना विस्तारास्तैरपर्यायमेवाशेषशरीर-
व्यापिभिः ॥ तदेवाह । स्थिरेति ॥ स्थिरा वृक्षादयः । चरा मनुष्या-
दयः । तेषां निकरः समूहस्तं व्याप्तुं शीलमेवामिति तथा तैरिति
यावत् । लोका लोक्यमाना विषयास्तान् व्याप्येति विषयसम्बन्धोक्ति-
स्तत्फलं कथयति । भोगाः सुखदुःखादिसाक्षात्कारास्तेषां स्थविष्ठत्वं
स्थूलतमत्वं देवतानुमृहीतवाह्येन्द्रियद्वारा बुद्धेस्तत्तद्विषयाकारपरि-
त्यागजन्यत्वं तान् भुञ्जता स्वपितीति सम्बन्धः ॥ एतेन जागरितं
ब्रह्मणि कल्पितमुक्तम् तत्रैव स्वप्रकल्पनां दर्शयति । पुनरपीति ॥
जाग्रदुपेतधर्माधर्मजयानन्तर्यं पुनःशब्दार्थः । स्वप्नहेतुकर्माद्भवे च सती-
त्यपि नोच्यते । न च तत्र बाह्यानीन्द्रियाणि स्थूला विषयाश्च सन्ति
किन्तु धिषणाशब्दित बुद्धान्मानो वाचनात्मनो विषयाभासन्ते ताननु-
भूय स्वपितीत्यर्थः ॥ तेषां प्रापकमुपन्यस्यति । कामजन्यानि ॥ काम-
यहणं कर्माधिदयोरुपलक्षणाधीम् ॥ अवस्थाद्वयकल्पनां ब्रह्मणि
दर्शयित्वा तत्रैव सप्तग्निकल्पनां दर्शयति । पीत्वेति ॥ सर्वे विशेषाः
सर्वे विषयाः स्थूलाः सूक्ष्माश्च जागरितस्वप्नरूपास्तान् पीत्वा स्वात्म-
न्यज्ञाते प्रविनाप्य स्वपिति कारणभावेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ तत्रानन्त-
प्राधान्यमभिप्रेत्य विशिनष्टि । मधुरभुगिति । अवस्थात्ययस्य मायाक-
तस्य मिथ्याभूतस्य प्रतिबिम्बकल्पेष्वास्मासु सम्बन्धितामिवापाद्यास्मान्
भोजयद्ब्रह्मा वर्त्तते । अतो ब्रह्मण्येषावस्थात्ययं तद्वन्तो जीवा
मायावि ब्रह्मा च ब्रह्मणि परिच्ये परिक्लृप्तं सर्वं शित्वाह ।

संख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्मतोऽस्मि ॥ १ ॥

यो विश्वात्मा विधिज विषयान् प्राप्य भोगान् स्ववि-
ष्ठान् पञ्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन

माययेति ॥ तस्यैव ब्रह्मणोऽवस्थायातीतत्वेन विर्जिप्रिमात्मत्वं दर्श-
यति । तुरीयमिति ॥ चतुर्णां पुरणं तुरीयमिति व्युत्पत्तेर्ब्रह्मण-
स्तुरीयत्वेन निर्देष्टात्प्राप्तं सद्वितीयत्वमित्यागच्छा कल्पितस्यानवय-
सख्यापेक्षया तुरीयत्वं न सद्वितीयत्वेनेत्याह । मायेति ॥ मायावित्त्वेन
निरुद्धत्वमाशङ्क्योक्तम् । परमिति । मायाद्वारा ब्रह्मणस्तत्त्वन्वये-
ऽपि स्वरूपद्वारा न तत्त्वन्वयोऽस्तीति कुतो निरुद्धत्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

विधिमुखेन वस्तुप्रतिपादनप्रक्रियामवलम्ब्य तदर्थेनोपक्रम्य तस्य
त्वमर्थप्रत्यगात्ममात्रत्वमुक्तम् । अभिधेयफलोक्त्या सम्बन्धाधिकारिणौ च
सूचितौ । सम्प्रति निषेधद्वारा वस्तुप्रतिपादनप्रक्रियामाश्रित्य त्वन-
र्थेनोपक्रम्य तस्य तदार्थाभंगारिब्रह्मात्मत्वं प्रत्याययति । यो विश्वा-
त्मेति । तत् त्वमर्थः स्वतः सिद्धश्चिदात्तः सर्वनाम्ना परामृश्यते ।
तस्मिन्नागरितमारोपितत्नमुदाहरति । विश्वात्मेति ॥ विश्वं 'पञ्चीकृत-
पञ्चमहाभूततत्कार्यात्मकं स्थूलं जगद्देराजं शरीरम् । तस्मिन्नागरिते
चाहं ममेत्यभिमानवानित्यर्थः ॥ तस्यार्थक्रियामुपन्यस्यति । विधिजेति ॥
विधीयत इति विधिर्धर्मो न ज्ञानुबन्धेन ततो व्यतिरिक्तो विधिरधन्व
ज्ञात्वा धर्माधर्माभ्यामविद्याकामप्रसूताभ्यां विषयाः शब्दादवो
जन्त्यन्ते । बान् भोगयोग्यतया भोगशब्दितानादित्याद्यनुष्ठेय-
वाङ्मोन्द्रियद्वारक बुद्धिपरिणामगोचरतया स्थूलतमान् प्राप्य साक्षा-
दनुभूय स्थितोऽयं प्रत्यगात्मेत्यर्थः ॥ तस्यैव स्वप्नावस्थामध्यस्यति ।
पञ्चाङ्गेति । जाग्रद्वैतकर्मक्षयानन्तरं स्वप्नहेतुकर्मोद्भवे च सति
स्थूलेभ्यो विषयेभ्योऽन्यामस्मादेव हेतोः सूक्ष्मान् वाङ्मोन्द्रियास्माणा-
मुपरतत्वादविद्याकामकर्मप्रेरितात्मीयमतिप्रभावादेव प्रसूतानलः
करणात्मनो वासनामवानादित्यादिज्योतिषामस्तमितत्वादात्मभूतेनैव

सूक्ष्मान् । सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थाप-

ज्योतिषा विषयीकृताननुभूयापञ्चीकृतपञ्चमहामूततत्कार्यात्मकं
सूक्ष्मं प्रपञ्चं हैरण्यगर्भं शरीरं सूक्ष्मस्थानञ्चाभिमन्यमानस्तैजसो
भवतीत्यर्थः ॥ तत्रैव सुषुप्तकल्पनां दर्शयति । सर्वानिति ॥ स्थूल-
सूक्ष्मविभागेन स्थानद्वयावच्छिन्नात् प्रकृतानेतानशेषानपि विशेषानुपा-
धिद्वयद्वारकस्थानद्वयसञ्चारप्रयुक्तश्रमोद्भवानन्तरं तस्यापि परिजिही-
र्षायां शनैरनुक्रमेणाक्रमेण वा स्वात्मन्यज्ञाते कारणात्मनि स्थापयि-
त्योपसंहृयाव्याकृतप्रधानः ननु प्राज्ञो भवतीत्यर्थः ॥ तस्यैव प्रत्यगा-
त्मनः स्थानत्वविशिष्टस्य नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेध-
शास्त्रप्रसूतप्रमाणज्ञानसमारूढस्य सर्वानप्यनर्थविशेषान् कार्यकारण-
रूपान् प्रमाणज्ञानप्रभावादेव हित्वा निरुपाधिकपरिपूर्णपरिज्ञान-
परमात्मस्वरूपेण परिनिष्पन्नं तत्त्वं कथयति । हित्वेति । प्रथमश्लोकेन
प्रदर्शितप्रणामस्य प्रत्युहप्रवाहप्रशमनात्मकं प्रयोजनं स्थानत्व-
प्रकल्पानातीतं परवस्तुप्रयुक्तं प्रार्थयते द्वितीयेन । यात्विति । नोऽस्मान्
व्याख्यातृत्वेन श्रोतृत्वेन च व्यवस्थितान् पुरुषार्थपरिपन्थिकत्वाकारण-
निरासपुरःसरं परमात्मा पराकृताशेषकल्पनो नित्यवित्प्रतिस्वभावो
मोक्षप्रदानेन तद्धेतुज्ञानप्रदानेन च परिरक्षतादित्यर्थः ॥ केचित्तु
प्रकरणचतुष्टयात्मनो मन्यस्य वेदान्तैकदेशसम्बद्धज्ञापनार्थं निष्प्र-
पञ्चं वाक्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म प्रथमश्लोकेन सूचितम् । द्वितीयेन माण्डु-
क्यश्रुतिव्याख्यानरूपेणाद्यप्रकरणेन प्रणवमात्राणामात्मपादानाञ्चैकी-
करणेन प्रतिपाद्यं ब्रह्म सूचितमिति मन्यन्ते । न च द्वितीयश्लोके
चतुर्थपादे वृत्तलक्षणाभावादसाङ्गत्वमाशङ्कनीयम् । गायालक्षणास्य
तत्र सुसम्पादत्वादिति द्रष्टव्यम् । अन्ये त्वाद्यश्लोकं मूलश्लोकान्तर्भूत-
मभ्युपगच्छन्तो द्वितीयश्लोकं भाष्यकारप्रणीतमभ्युपगच्छन्ति । तदसत् ।
उत्तरश्लोकेष्विवाद्येऽपि श्लोके भाष्यकृतो व्याख्यानप्रणयनप्रसङ्गात् ।
ओमित्येतद्वरमित्यादिभाष्यविरोधाच्च । अपरे पुनराद्येन श्लोकेन
शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणद्वारेण नमनक्रिया प्रकरण-

श्रीगौडपादीयकारिकासहिताथर्ववेदीयमाण्डूक्योप-
निषदारम्भः ।

॥ हरिः ॐ ॥ ७७मित्येतदक्षरमिदं ७७

यित्वा हित्वा सर्वान् विघ्नेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ
नस्तुरीयः ॥२॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् । वेदा-
न्तार्थं सारसङ्ग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतद-
क्षरमित्याद्यारभ्यते । अत एव न पृथक्संख्यन्वाभिधेय-

प्रारम्भोपयोगित्वेन क्रियते । परदेवताभक्तिवदपरदेवताभक्तेरपि
विद्याप्राप्तावन्तरङ्गत्वस्य शास्त्रीयस्य गिष्यशिष्यायै ज्ञापनार्थमवस्था-
तयातीतान्नित्यसिद्धविज्ञानमूर्तेराचार्यान्मोक्षोपयिकज्ञानप्राप्तिः आचा-
र्यवान् पुरुषो वेदेत्यादिश्रुत्यवष्टम्भेन मुमुक्षुणा प्रार्थित इति द्वितीय
श्लोकेन कल्पयन्तीति ॥२॥

यदुद्दिश्य मङ्गलाचरणं कृतं तन्निर्देष्टुमादौ व्याख्येयस्य प्रतीकं
अप्नुति । ओमित्येतदिति ॥ ओमित्येतदक्षरमित्यादिप्रकरणचतुष्टय-
विशिष्टमिदमारभ्यते । व्याख्यायतेऽस्माभिरित्युद्देशं प्रतिजानीते ।
किमिदं शास्त्रत्वेन वा प्रकरणत्वेन वा व्याचिख्यासितम् । नाद्यः ।
शास्त्रलक्षणाभावादस्याशास्त्रत्वात् । एकप्रयोजनोपनिषद्विशेषार्थ-
प्रतिपादकं हि शास्त्रम् । अत्र च मोक्षलक्षणैकप्रयोजनवत्त्वेऽपि नाशे-
षार्थप्रतिपादकत्वम् । न द्वितीयः । प्रकरणलक्षणाभावादित्याशङ्क्याह ।
वेदान्तेति ॥ शास्त्रं वेदान्तशब्दार्थः । तस्यार्थोऽधिकारिनिर्णयगुरूप-
सदनपदार्थद्वयतदैक्यविरोधपरिहारसाधनफलदायकः । तत्र सारो
जीवपरैक्यं तस्य सम्यग्ग्रहः सङ्ग्रहः संशयविपर्ययादिप्रतिबन्ध
व्युदासेन तदुपायोपदेशो यस्मिन् प्रकरणे तत्तथेति यावत् । तथा च ।
शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् । इदं प्रकरणत्वेन व्याख्यात

सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति
सर्वमोङ्कार एव ।

प्रयोजनानि वक्तव्यानि । यान्येव तु वेदान्ते सस्वन्वाभि-
धेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति । तथापि प्रक-
रणव्याचिख्यासुना सङ्क्षेपतो वक्तव्यानि । तत्र प्रयोजन-
वत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्प-
र्येण विशिष्टसस्वन्वाभिधेयप्रयोजनवद्भवति । किं पुनस्तत्
प्रयोजनमित्युच्यते । रोगार्त्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता ।
तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता ।
अद्वैतभावः प्रयोजनम् । द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया
तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्यारम्भः
क्रियते । यत्र हि द्वैतमिव भवति । यत्र वाऽन्यद्वि-
द्याकृतत्वात्तत्त्वान्योऽन्यतुपश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात् । यत्र त्वस्य
सर्वमात्मैवाभूत्तत्त्वेन कं पश्येत्त्वेन कं तद्विजानीयादि-
त्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः । तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय

मिष्टम् । निर्गुणवस्तुमात्रप्रतिपादकत्वात् । तत्प्रतिपादनसङ्क्षेपस्य च
काथान्तरत्वात्प्रकरणत्वलक्षणस्य चात्र सम्पूर्णत्वादित्यर्थः ॥ प्रकरण-
त्वेऽपि निर्विषयत्वादिप्रयुक्तमव्याख्येयत्वमाणाङ्गग्राह्यं । अत एवेति ॥
प्रकरणत्वादेव प्रकृतशास्त्रीद्वन्द्वेन सस्वन्वादीनामवाच्यत्वेऽपि प्रकरण-
प्रवृत्तप्रवृत्तयातानि त्ववश्यं वक्तव्यानीत्यङ्गग्रं शास्त्रीयसस्वन्वादीनां
तदीये प्रकरणेऽर्थात्प्राप्तत्वाच्चास्ति वक्तव्यत्वमर्थस्य पुनरुक्तेरित्याह ।
यान्येवेति ॥ ओतारो हि शास्त्रीयं प्रकरणं प्रतिपद्यमानाः शास्त्रीया
एव सस्वन्वादीनि अन्यत्र वचनाभावेऽपि बुध्यमानाः प्रवृत्तिं तस्मिन्

प्रथमं प्रकरणभागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्तुप्रपायभूतम् ।
 यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमोऽद्वैतप्रतिपत्तिः रज्ज्वास्मिन् सर्पा-
 दिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः । तस्य द्वैतस्य हेतुतो
 वैतथ्यप्रतिपादनायद्वितीयं प्रकरणम् । तथाऽद्वैतस्यापि
 वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितत्त्वात्त्वदर्शनाय प्रकरणं तृती-
 यम् । अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि
 वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थ-
 त्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम् ।
 कथं पुनरोद्धारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रति-
 पद्यत इत्युच्यते ॥ ओमित्येतत् । एतदाणञ्चनम् । एतद्वै
 सत्यकाम परश्चपरश्च ब्रह्म यदोद्धारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवा-
 यतनेनैकतरमन्वेति । ओमित्यात्मानं युञ्जीत ओमिति ब्रह्म
 ओद्धार एवेदं सर्वमित्यादिश्रुतिभ्यः । रज्ज्वादिवि
 सर्पादिविकल्पस्यास्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थतः सन् प्राणादि
 विकल्पस्यास्पदो यथा तथा सर्वाऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्या

प्रकुर्यन्तीत्यर्थः । तर्हि प्रकरणकर्तृवदेव तद्भाष्यकृतापि विषयादी
 नामत्वावक्तव्यत्वादभाष्यकृतो विषयाद्युपन्यासो वृथा स्यादित्या
 शङ्क्याह । तथापीति ॥ प्रकरणकर्तृवक्तव्यान्यपि तदभाष्यकृता
 तानि सङ्क्षेपतो वक्तव्यानीति व्याख्यातृणां सम्मतम् । हाभ्यामनुक्तत्वे
 तेजनाम्नाशङ्कावकाशादित्यर्थः ॥ भाष्यकृता प्रयोजनादीनां वक्तव्यत्वे
 सिद्धे शास्त्रप्रकरणयोर्मोक्षलक्षणप्रयोजनयत्त्वं प्रतिजानीते । तत्वेति ॥
 प्रयोजनयच्छास्त्रमिति सम्बन्धः । शास्त्रग्रहणं प्रकरणोपलक्षणार्थम् ।
 मोक्षलक्षणं फलं ब्रह्मज्ञानस्येति न शास्त्रप्रकरणयोरित्याशङ्क्याह ।
 साधमेति ॥ सत्यं मोक्षस्य साधनं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानम् तस्य जनकं
 शास्त्रादि तदभावेन ज्ञानव्यवधानेन मोक्षफलवद्भूति शास्त्रादीत्यर्थः ।

त्वविकल्पविषय ओङ्कार एव । स चात्मस्वरूपमेव ।
तदभिधायकत्वात् । ओं ङ्कारविकारशब्दाभिधानाभिधे-
यश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण
नास्ति । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं तदस्येदं वाचा
तन्त्रा नामभिर्दामभिः सर्वं सितम् । सर्वं हीदं नाम-
नीत्यादिश्रुतिभ्यः । अत आह ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व-
मिति । यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यति-
रेकात् । अभिधानस्य ओङ्काराव्यतिरेकात् ओं ङ्कार
एवेदं सर्वम् । परञ्च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वक-
मेव गम्यतइत्योङ्कार एव । तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्या-
क्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम् । ब्रह्मप्रतिपत्तुपायत्वाद्-
ब्रह्मसमीपतयाविस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रसूतं वेदित-
व्यमिति वाक्यशेषः । भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरि-
च्छेदं यत्तदयोङ्कार एवोक्तन्यायतः । मच्चान्यत्रिका
लातीपं कार्यधिगम्य कालपरिच्छेदमव्यकृतादि तद

तथापि ब्रह्मणा विषयेण सम्बन्धो वेदान्ता नामेवेत्यते तत्कथमभि-
धेयत्वसम्बन्धं शास्त्रादीत्याशङ्क्य ब्रह्मविचारमन्तरेण तज्ज्ञानजनक-
त्वायोगान्तज्ज्ञानजननद्वारा विषयसम्बन्धसिद्धिरित्याह । अस्मिन्ने
येति ॥ उक्तं ज्ञानं व्यवहितप्रयोजनादिशास्त्रादेरुपसंहरति । पारम्पर्य-
पर्येणेति । तत्र सम्बन्धो ब्रह्मज्ञानं शास्त्रादिना जन्यमेवेत्ययोगव्य-
वच्छेदादुक्तः । शास्त्रादिनैव जन्यमित्ययोगव्यवच्छेदाद्विषयोऽपि दर्शितः
यदुक्तं प्रयोजनवत्त्वं तदानीपति । किं पुनरिति ॥ साध्यत्वे स्वर्गपद-
नित्यत्वं नित्यत्वे साधनानधीनत्वाच्च तादर्थ्येन शास्त्रादि प्रयोक्तव्य-
मित्यर्थः । मोक्षस्यात्मस्वरूपत्वान्नानित्यत्वं नापि साधनानर्थक्यम् ॥

यच्चान्यत्तिकालातीतं तदप्योङ्कारं एव

॥१॥

प्योङ्कार एव । अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः ॥१॥

स्वरूपभूतमेव प्रतिबन्धनिवर्त्तकत्वेनानर्थवत्त्वादित्युत्तरमाह । उच्यते इति ॥ यथा देवदत्तस्य ज्वरादिना रोगेणाभिभूतस्य स्वस्थता स्वरूपादप्रच्युतिरूपा स्वरूपभूतैव प्रागपि सती रोगप्रतिबद्धासतोव स्थिता चिकित्साशास्त्रीयोपायप्रोगवशात् प्रतिबन्धभूतरोगापगमे सत्यभिव्यज्यते । न हि तत्रोपायवैयर्थ्यं प्रतिबन्धप्रध्वंसार्थत्वात् । न चानित्यत्वं स्वच्छतायाः शङ्कोरत । तस्यास्तदसाध्यत्वादित्युक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह । रोगान्तस्येवेति ॥ यद्योदितदृष्टान्तानुरोधादात्मनः स्वतः समुत्खातनिखिलदुःखस्य निरतिशयानन्दैकतानस्यापि स्वाविद्याप्रसूताहङ्कारादिद्वैतप्रपञ्चसम्बन्धादात्मनि दुःखमारोप्याहं दुःखी सुखमया प्राप्तव्यमिति प्रतिपद्यमानस्य परमकारुणिकाचार्यापदिष्टवाक्योक्त्या द्वैतविद्यातोद्वैतनिवृत्तौ प्रतिबन्धप्रध्वंसे स्वभावभूता परमानन्दता निरस्तसमस्तानार्थता च स्वारस्येनाभिव्यक्ता भवति । सा च स्वस्थता परिपूर्णवस्तुस्वभावान्नातिरिच्यते । तदिदं शास्त्रीयं प्रयोजनं तस्य च स्वरूपत्वेनासाव्यत्वाच्चानित्यत्वं शङ्कितव्यम् । न च साधनवैयर्थ्यप्रदर्शितप्रतिबन्धनिवृत्तिफलत्वादिति दर्ष्टान्तिकमाह । तथेति ॥ ननु द्वैतस्याहङ्काराद्यात्मनो वस्तुत्वादस्तनश्च निद्यानपोह्यत्वाच्चित्त्यनैमित्तिककर्मण्यत्तत्वाच्चित्तरेवं विद्यार्थेन प्रकरणारम्भेणेति तत्राह । द्वैतेति ॥ आत्माविद्याकृतस्य द्वैतस्यात्मविद्यया कारणनिवृत्तगान्निहृत्तेरात्मविद्याभिव्यक्तये शास्त्रारम्भो युज्यते । न च द्वैतस्याविद्याकृतस्य विद्यमानदेहले प्रमाणमस्तीत्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकानुविधाधिनीं श्रुतिमुदाहरति । यत्न हीति ॥ इवशब्दाभ्यामविद्यावस्थायां प्रतिभात-

सर्वं ७ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽय मात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्याद्यभिधानप्राधान्येन
निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेय-
योरेकत्वप्रतिपत्तयेः । इतरथा ह्यभिधानं तत्राभिधेय-
प्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्कास्यात् ।
एकत्वप्रतिपत्तेश्च । प्रयोजनमभिधानाभिधेययोकेनैव प्रय-

द्वैतस्य तत्प्रतिभानस्य चाभासत्वेन विद्यामयत्वमुच्यते । आत्मैवा-
मृतिति । विदुषो विद्यावस्थायां कर्तृकरणादिसर्वमात्ममात्रं नाति-
रिक्तमस्तीत्युक्त्या विद्याद्वारा सर्वस्य द्वैतस्यात्ममात्रत्ववचनाद्विद्यानि-
मित्तकार्यकारणात्मकद्वैतनिवृत्तिरात्मैवेत्यभिप्रेष्यते । तथा च विद्यातो
द्वैतनिवृत्तिर्निर्देशात्तस्याविद्यात्वमवद्योत्यते । आदिशब्दान्नेह नानेव-
धिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं द्वैतस्याभिदधत् वाक्यं वाचारम्भ
णवाक्यञ्च गृहीतम् । अस्यार्थस्येति द्वैतगताविद्याकतत्वस्येत्यर्थः ।
विषयप्रयोजनाद्यनुबन्धोपन्यासमुखेन यन्धारम्भे स्थिते सति आदौ
प्रकरणचतुष्टयस्य प्रत्येकमसङ्कीर्णं प्रमेयं प्रतिपत्तिसौकार्यार्थं सूचयि-
तव्यमित्याहुः । तत्र तावदिति ॥ ओंकारप्रकरणस्यासङ्कीर्णं प्रमेयं
सङ्गृह्णाति । ओंकारेति ॥ तद्विर्णयाय प्रकरणमारब्धमित्युक्तम् ।
तद्विर्णये प्रमाणाभावात्तस्य चानुपयोगित्वात् । आत्मप्रतिपत्तिर्हि पुरु-
षार्थापयोगिनोत्यागद्वारागमेत्यादिविशेषणद्वयम् । तदुपदेशप्रधानं
माण्डूक्योपनिषद्वाराख्यानरूपम् । तेन तत्र प्रामाण्यादुक्तो निर्णयः
सेत्स्यति न त्विदं युक्तिप्रधानं युक्तिशेषस्य सतोऽपि गुणत्वादप्रधान-
त्वात् । न चायसोद्धारनिर्णयो नोपयुज्यते । यदात्मनस्तत्त्वमनारोपितरूपं
तत्प्रतिपत्तावुपायत्वात् । तत्प्रतिपत्तेश्च मुक्तिफलत्वात् । अतश्चाद्यं
प्रकरणसोद्धारनिर्णयायावान्तरफलद्वारेण तत्त्वज्ञाने परमफले पर्यव-

त्वेन युगपत्प्रविलापयन् तद्विलक्षणं ब्रह्मप्रतिपद्येतेति ।
तथा च वक्ष्यति । प्रादा मात्रा मात्राश्च प्रादा इति ।
तदाह । सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति । सर्वं यदुक्तमोङ्कारमात्र-
मिति तदेतद्ब्रह्म तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो

स्थित्युपदेशवशादधिगन्त्यमित्यर्थः ॥ यैतत्प्रकरणस्यावान्तरविषय-
विशेषं दर्शयति । यस्येति ॥ आरोपितनिषेधे सत्यनारोपितप्रतिपत्तिः
स्वाभाविकीत्यत्र दृष्टान्तमाह । रावृच्चा मिवेति । हेतुतो दृश्यत्वाद्यन्तव-
त्त्वदियुक्तिः वशादित्यर्थः । अद्वैतप्रकरणस्यार्थविशेषमुपन्यस्यति ।
तथाहैतस्यापीति ॥ तस्यापिद्वैतवद्वावस्थानुपपत्त्या मिथ्यात्वप्रसङ्गः
शङ्कते । तस्यां सत्यामौपाधिकमेदाद्यवस्थायाः सत्यत्वादव्यभिचारा-
दियुक्तिवशादद्वैतस्यपरमार्थत्वं प्रतिपादयितुं तृतीयं प्रकरणमित्यर्थः ॥
अन्तातशान्तिप्रकरणस्यार्थविशेषं कथयति । अद्वैतस्येति ॥ तस्य
तथात्वमवाधितत्वेन वस्तुत्वं तत्प्रतिपक्षत्वं पञ्चान्तराणामित्यत्र
हेतुमाह । अवैदिकानीति ॥ तेषां निराकार्यत्वे हेतुमाह । अतथार्थ-
त्वेनेति । मिथ्याहैतनिष्ठत्वेनेत्यर्थः ॥ तदुपपत्तिभिरेव निराकरणे
हेतुमाह । अन्योन्येति । पञ्चान्तरप्रतिषेधमुखेनाद्वैतमेव दृढयितु-
मन्तप्रकरणमित्यर्थः । ओंकारनिर्णयद्वारेणात्मप्रतिपत्तुप्रपाद्यभूतमार्गं
प्रकरणमित्युक्तम् । तन्निर्णयस्य तद्दीहेतुत्वायोगात् । न खल्वर्थान्तर-
ज्ञानं अर्थान्तरज्ञाने व्याप्तिमन्तरेणोपयुज्यते । न चात्र धूमाग्नेप्राग्वि-
व्याप्तिरूपलभ्यते । न चात्मकार्यत्वमोङ्कारस्य युक्तम् । आकाशादेर-
विशेषात् । तस्य च सर्वोक्तत्वेनात्मवत्तत्कार्यत्वव्याधातादिति मन्वानः
सन् प्रथमप्रकरणार्थं प्रागुक्तमाक्षिपति । कथमिति ॥ न वयमनुमाना-
वदन्नादोङ्कारनिर्णयनात्मप्रतिपत्तुप्रपाद्यमभ्युपगच्छामो येन व्याख्यभावो
दोषमावहेत् । किन्तु श्रुतिप्रामाण्यात्तन्निर्णयस्तद्दीहेतुरिति परिहरति ।
उच्यते इति ॥ तत्र सत्युना नविकेतसं प्रति ओमित्येतदित्यनेन वाक्येन
ब्रह्मत्वेनोमित्येतदुपदिष्टम् ॥ समाहितेनोङ्कारोङ्कारणे यच्चैतन्यं स्फुर-
वितोङ्कारमोष्यादेव शाखाचद्रयवोङ्कारशब्देन उच्यते । तेन

विशेषेण निर्दिशति । अयमात्मा ब्रह्मेति । अयमिति
चतुष्पात्त्वन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाऽभिनयेन निर्दि-

लक्षणयोङ्कारनिर्णयो ब्रह्मधीहेतुरिति विवक्षित्वा श्रुतिमुदाहरति ।
ओमित्येतदिति ॥ प्रतिमायां विष्णुवद्विषदोङ्कारो ब्रह्मबुद्धोपास्यमानो
ब्रह्मप्रतिपत्तुपायो भवतीत्यभिप्रेत्य वाक्यान्तरं पठति । एतदात्म-
स्मनमिति ॥ किञ्चायमोङ्कारो यदा परापरब्रह्मदृष्ट्या उपास्यते तदा
तज्ज्ञानोपायतामुपास्योहतीति मत्वा पुनःश्रुतिं दर्शयति । एतद्वेति ॥
किञ्च । समाधिनिष्ठोयदोमित्युच्चार्यात्मानमनुसन्धत्ते तदा स्थूलमकार-
मुकारे सूक्ष्मे तच्च कारणे मकारे तमपि कार्यकारणातीते प्रत्यगात्म-
न्युपसंहृत्य तन्निष्ठो भवतीत्यनेन प्रकारेणोङ्कारस्य तत्प्रतिपत्तुपायतेति
विधान्तरेणाह । ओमित्यात्मानमिति ॥ किञ्च योऽयं स्थाणुः स पुमा-
निति वद्यदेतदोमित्युच्यते तद्ब्रह्मेति वाधायां समानाधिकरण्येन
समाहितो ब्रह्म बोध्यते । तथा च युक्तमोङ्कारस्य ब्रह्मज्ञाने हेतुत्व-
मित्याह । ओमिति ब्रह्मेति ॥ किञ्च । सर्वास्पदत्वादोङ्कारस्य
ब्रह्मणश्च तथात्वादकलक्षणत्वादन्यत्वासिद्धेरोङ्कारप्रतिपत्तिर्ब्रह्मप्रति-
पत्तिरेवेत्याह । ओङ्कार एवेति ॥ ओमितोदं सर्वमित्यादिवाक्यान्तर-
सङ्घट्टार्थमादिपदमित्यादि श्रुतिभ्योब्रह्मप्रतिपत्तुपायत्वमोङ्कारस्य
प्रतिपादितमिति शेषः । ननु स्थानुगतप्रतिभासे सन्मात्रे चिदात्मनि
प्राणादिविकल्पस्य कल्पितत्वादात्मनः सर्वास्पदत्वं न पुनरोङ्कारस्य
तदस्ति अगनुगमादिति तत्राह । रजज्वादिरिवेति । यथा रज्जुः
शुक्तिरित्यादिरधिष्ठानविशेषः संपां रजतमित्यादिविकल्पस्यास्पदोऽ-
भ्युपगतस्तथात्माद्वयत्वान्मित्यात्वे हेतुभावात्परमार्थसत्त्वभावे वक्ष्यमाण
स्तस्य प्राणादिविकल्पस्यास्पदोऽभ्युपगम्यते । यथैष वृटान्तस्तथैव
प्राणादिरात्मविकल्पो यस्तद्विषयः सर्वो वाक्प्रपञ्चो यथोक्तोङ्कार
मात्रात्मकस्तदास्पदो गम्यते । न च जगत्पीङ्कारस्याननुगमः । ओङ्का-
रेण सर्वा वाक् सन्तृणोतीति श्रुतेः । अतो युक्तमोङ्कारस्य सर्वास्पद-
त्वमित्यर्थः ॥ नन्वैजातस्यात्मास्पदत्वादोङ्कारास्पदत्वाच्च वाक्प्रपञ्चस्य

श्रुति । अयमात्मैति । सोऽयमात्मा ओङ्काराभिधेयः
परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्पापणवन्न गैरिवेति

प्राप्तमासद्वयमिति नेत्याह । स चेति ॥ आत्मवाचकत्वेऽपि नास्यो-
ङ्कारस्यात्ममात्रत्वं तद्वाचकस्य तन्मात्रत्वमिति व्याख्यभावात् । प्राणा-
देरात्मविकल्पस्याभिधानव्यतिरेक दर्शनादित्याशङ्क्याह । ओङ्कारेति ॥
तस्य विकारः सर्वो वाग्विशेषः । अकारो वै सर्वा वागिति श्रुतेः ।
ओङ्कारस्य च तत्प्रधानत्वात्तेन प्राणादिशब्देन वाच्यः प्राणादिरात्म-
विकल्पः सर्वः स्वाभिधानव्यतिरेकेण नास्ति । तच्चाभिधानं प्राणादि-
शब्दविशेषात्मकमोङ्कारविकारभूतमोङ्कारातिरेकेण न सम्भवतीत्योङ्का-
रमात्रं सर्वमिति निश्चीयते । आत्मनोऽपि तद्वाच्यस्य तन्मात्रत्वाभि-
धानादित्यर्थः । शब्दातिरिक्ताधीभावे शब्दस्यार्थवाचकत्वानुपपत्तेः ।
एकत्वे विषयविषयित्वायीगान्निर्विकल्पं सन्मात्रं वस्तु वाच्यवाचकवि-
भागभूतं पर्यवस्यतीत्यभिप्रेत्य कार्यस्य वस्तुतोऽसत्त्वे प्रमाणमाह ।
वाचारम्भणमिति ॥ कार्यस्य सर्वस्यैव मिथ्यात्वेऽपि कथमोङ्कारनिर्ण-
यस्य ब्रह्मप्रतिपत्तुः प्रायत्सिद्धिरित्याशङ्क्याह । तदस्येति ॥ तदिदं
विकारजातमस्य ब्रह्मणः सम्बन्धि वाचा सामान्यरूपया तन्तु-
प्रसारितरज्जुतुल्यया सितं बद्धं व्याप्तमिव सम्बन्धः ॥ शब्दसामान्ये
नार्थसामान्यस्य व्याप्तवपि कथमर्थविशेषस्य शब्दविशेषव्याप्तिरित्याश-
ङ्क्याह । नामभिरिति ॥ शब्दविशेषैर्दीमभिर्दीमस्थानीयैर्विशेषरूपम-
पीदमर्थजातं व्याप्तं वक्तव्यं न्यायस्य तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ उक्तमर्थं
समर्थयते । सर्वं हीति ॥ इदं हि सर्वं सामान्यविशेषात्मकमर्थजातं
सामान्यविशेषरूपेण नाम्ना नीयते व्यवहारपथं प्राप्यते तेन नामनी-
त्युच्यते । तदेवं वागनुरक्तबुद्धिबोध्यत्वादाङ्गात् सर्वम् । वागजातश्च
सर्वमोङ्कारानुविद्धत्वादोङ्कारमात्रम् । स चोङ्कार उपासनेनात्मधी-
हेतुरित्याद्यप्रकरणारम्भः सम्भवतीत्यर्थः । तद्यथा शङ्कुनेति श्रुतिरुच्य-
हार्थमादिपदं प्रतिज्ञातप्रथमप्रकरणार्थसिद्धिरिति शेषः ॥ अर्थमुपपादय
तस्मिन्नर्थे श्रुतिमवतारयति । अत आहिति ॥ श्रुतिं व्याचष्टे । यदिदं

मयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तु रीयस्य प्रति-

मिति ॥ तदिदं सर्वमोङ्कार एवेति सम्बन्धः ॥ अभिधानस्याभिधेयतया
व्यवस्थितमर्थजातमोङ्कार एवेत्यत्र हेतुमाह । तस्येति ॥ तथापि पृथग-
भिधानभेदः स्यास्यति नेत्याह । अभिधानस्येति ॥ वाच्यं वाचकञ्च
सर्वमोङ्कारमात्रमित्यस्युपगमेऽपि परं ब्रह्मा पृथगेव स्यास्यतीत्याश-
ङ्काह । परञ्चेति ॥ यद्विपरं कारणं ब्रह्मा तच्चेदवगम्यते तदा
किञ्चिदभिधानं तेनेदमभिधेयमित्येवमात्मकोपायपूर्वकमेव तदधिगमो
ऽभिधेयस्य साभिधानाव्यतिरिक्तं तत्पुनरोङ्कारमात्रमित्युक्तत्वादाच्यं
ब्रह्मापि वाचकाभिन्नं तन्मात्रमेव भविष्यति । यत्र तु कार्यकारणा-
तीते चिन्मात्रे वाच्य वाचकविभागो व्यावर्तते तत्र नास्त्योङ्कारमात्र-
त्वमोङ्कारेण लक्षणया तदवगमाङ्गीकारादित्यर्थः ॥ तस्येत्यादिश्रुति-
भवतार्यव्याकरोति । तस्येति ॥ भूतमित्यादिश्रुतिं गृहीत्वा व्याचष्टे ।
कालेति ॥ वाच्यस्य वाचकाभेदान्तस्य वोङ्कारमात्रत्वादित्युक्तो न्यायः ॥
कालवधातीतमोङ्कारातिरिक्तं जडं वस्तु नास्तेष्व प्रमाणाभावादि-
त्याशङ्काह । कार्योधिगम्यमिति ॥ अव्याकृतं साभासमज्ञानमनिर्वाच्यं
तत्र कालेन परिच्छिद्यते कालं प्रत्यपि कारणत्वात्कार्यस्य कारणात्
पश्चाद्भाविनो न प्राग्भाविकारणपरिच्छेदकत्वं सङ्गच्छते । सूत्रमा-
दिपदेन गृह्यते तदपि न कालेन परिच्छेत्तुं शक्यते । स संवत्सरोऽभ-
वन्न ह पुरा ततः संवत्सर आसिति सूत्रात्कालोत्पत्तिश्चतेः । तदपि
सर्वमोङ्कारमात्रं वाच्यस्य वाचकव्यतिरेकन्यायादित्यर्थः । अभिधा-
नाभिधेययोरेकस्मिन्नेव श्रुति कस्मिन्तत्वेन तदेकरूपत्वस्योक्तत्वात्ति-
मिति पुनः सर्वं ह्येतदब्रह्मोक्त्युच्यते । तत्र वृत्तानुवादपर्वकं उत्तरवा-
क्यस्य सफलं तात्पर्यमाह । अभिधानेत्यादिना ॥ १ ॥

वाच्यस्य वाचकलोक्तं त्रयं तयोरेकत्वसिद्धेर्यतिहारनिर्देशो
पृथेत्याशङ्काह । इतरथेति ॥ वाच्येन वाचकस्यैक्यमनुज्ञा वाचके-
नैव वाच्यस्यैक्यवचनेसत्युपायोपेयप्रयुक्तमेकत्वं न मुख्यमैक्यमित्याश-
ङ्कोऽत तन्निवृत्त्यर्थं व्यतिहारवचनमर्थवदित्यर्थः ॥ परस्परभेदोप-

पत्तिरितिकरणसाधनः पादशब्दसुरीयस्य । पद्यत इति
कर्म्मसाधनः पादशब्दः ॥२॥

देशादभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्तिरस्तु सापि विफला ब्रह्मप्रति-
पत्तनुपयो गित्वादित्याशङ्क्याह ॥ एकत्वेति ॥ अभिधानाभिधेययोरेकत्व
प्रतिपत्तेश्चेदं प्रयोजनं यदेकेनैव प्रयत्नेन ह्ययमपि विलापयन्नुभय-
विगच्छणं ब्रह्म प्रतिपद्य निर्दृष्टोतीति योजना ॥ अभिधानाभिधेय
योर्व्यतिहारोपदेशे वाक्यशेषमनुकूलयति । तथा चेति ॥ उक्ते वाच-
कस्य वाच्याभिन्नत्वे वाक्यमवतार्यं योजयति । तदाहेति ॥ सर्वं कार्यं
कारणञ्चेत्यर्थः ॥ ब्रह्माणः श्रुत्युपदिष्टस्य परोक्षत्वं व्यापत्तेयति ।
तच्चेति ॥ यद्ब्रह्म श्रुत्या सर्वात्मकमुक्तं तन्न परोक्षमिति मन्यं
किन्त्वयमात्मेति योजना । चतुष्पात्त्वेन विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयत्वेनेत्यर्थः ।
अभिनयो नाम विवक्षितार्थप्रतिपत्तार्थसाधारणः शरीरो व्यापारस्तेन
हस्तायं हृदयदेशमानीय कथयतोत्यर्थः ॥ सोऽयमित्यादिवाक्यान्तर-
भवतार्यं व्याकरोति । ओङ्कारेति ॥ सर्वाधिष्ठानतया परोक्षरूपेण
परत्वं प्रत्यग्रूपेण चापरत्वं तेन कार्यकारणरूपेण सर्वात्मना व्यव-
स्थितः सन्नात्मा प्रतिपत्तिसौकार्यार्थं चतुष्पात्कल्पयते तत्र इटान्तमाह
कार्पापणवदिति ॥ देशविशेषे कार्पापणशब्दः षोडशपणानां सञ्ज्ञा ।
तत्र यथा व्यवहारप्राचुर्याच्च पादकल्यना क्रियते तथेहापीत्यर्थः ।
यथा गौस्तृष्णादुच्यते न तथा चतुष्पादादेष्टुं शक्यते निष्फलश्रुति-
व्याकोपादित्याह । न गौरिवेति ॥ विश्वादिषु तृथ्यान्तेषु पादशब्दो यदि
करणव्युत्पत्तिकस्तदा विश्वादिषु तूर्यस्यापि करणकोटिनिवेशे
ज्ञेयामिद्धिः । यदि तु पादशब्दः सर्वत्र कर्म्म व्युत्पत्तिकस्तदा साध-
नामिद्धिरित्याशङ्क्य विभज्य पादशब्दप्रवृत्तिं प्रकटयति । त्वयाणामित्या
दिना । करणसाधनः करणव्युत्पत्तिकः कर्म्मसाधनः कर्म्मव्युत्-
पत्तिक इति यावत् । आत्मनो निरवशवस्य पादद्वयमपि नोपपद्यते
॥२॥

जागरितस्थानो वहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोन

कथं चतुष्पात्त्वमित्याह । जागरितं स्थानमस्येति
जागरितस्थानः । वहिः प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा
यस्य स वहिः प्रज्ञो वहिर्विषयेव प्रज्ञाऽविद्याकृताऽवभासत
इत्यर्थः । तथा सप्ताङ्गान्यस्य तस्य ह वै तस्यात्मनो वैश्वानरस्य
मूर्धैव सुतेनाञ्चक्षुर्विष्वरूपः प्राणः पृथग्भर्तात्मा सन्देहो
वज्रलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावग्निहोतकल्पनाशे-
षत्वेनाग्निमुखत्वेनाहवनीय उक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य
स सप्ताङ्गः । तथैकोनविंशति सुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि
कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो
बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति सुखानीव सुखानि तान्युपलब्धि-

पादचतुष्टयं दूरोत्सारितमिति शङ्कते । कथमिति ॥ पर-
मार्थतश्चतुष्पात्त्वाभावेऽपि काल्पनिकमुपायोपेयभूतं पादचतुष्टयमपि
रुद्धमित्यभिप्रेत्याद्यं पादं व्युत्पादयति । आहत्यादिना ॥ स्थानम-
स्येत्यभिमानस्य विषयोभूतमित्यर्थः ॥ प्रज्ञायास्तावदान्तरत्वप्रसिद्धेर-
युक्तमिदं विशेषणमित्याशङ्क्य व्याचष्टे । वहिरिति ॥ चैतन्यलक्षणा
प्रज्ञा स्वरूपभूता न बाह्ये विषये प्रतिभासते तस्या विषयानपेक्षत्वात् ।
बाह्यस्य च विषयस्य वस्तुतोऽभावादित्याशङ्काह । वहिर्विषये चेति ॥
न स्वरूपभूता प्रज्ञा वस्तुतो बाह्यविषयेष्यते बुद्धिर्वृत्तिरूपा तत्साव-
ज्ञानकल्पिता तद्विषया भवति । न च सापि वस्तुतस्तद्विषयतामनु-
भवति । वस्तुतः स्वयमभावाद्बाह्यस्य विषयस्य काल्पनिकत्वादतस्त-
द्विषयत्वं प्रतिभासिकमित्यर्थः । पूर्वेण विशेषणेन विशेषणान्तरं
समुच्चिनोति । तथेति ॥ सप्ताङ्गत्वं श्रुत्यवष्टम्भेन विश्वस्य विशदयति ।

विंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः

पादः ॥३॥

द्वाराणीत्यर्थः । स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः
शब्दादीन् स्थूलान् विषयान् भुङ्क्ते इति स्थूलभुक् ।
विशेषां नराणामनेकधा नवानाद्विश्वानरः । यद्वा विश्व-
श्चासौ नरश्चेति विश्वानरः विश्वानर एव वैश्वानरः ।

तस्येत्यादिना ॥ प्रकृतस्य सन्निहितप्रसिद्धस्यैवात्मनस्तैलोक्यात्मकस्य
वक्ष्यमाणरोत्या वैश्वानरशब्दितस्य द्रुतजखलगुणविशिष्टो द्युलोको
मूर्ध्वेति द्युलोकस्य शिरस्त्वमुपदिश्यते । विश्वरूपो नानाविधः श्वेत-
पीतादिगुणात्मकः सूर्यश्चक्षुर्विवक्ष्यते । पृथङ् नानाविधं वर्त्म सञ्चरण-
मात्मा स्वभावोऽस्यति व्युत्पत्तया वायुस्तथोच्यते । स च प्राणस्तस्येति
सम्बन्धः । ब्रह्मलो विसीर्यगुणवानाकाशः सन्देहो देहस्य मध्यमो
भागो रयिरन्नं तद्वैतरुदकं वस्तिरस्य मूलस्थानं पृथिव्येव प्रतिष्ठात-
गुणा वैश्वानरस्य पादौ तद्यज्ञं प्रथममाच्छेत्तद्धोमीयमित्यग्नि-
होतृकल्पना श्रुता । तस्याः शेषत्वेनाहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त
इति योजना ॥ उक्तं संप्राकृत्यमुपसंहरति । इत्येवमिति ॥ विशेषणा-
न्तरं समुच्चिनोति । तथेति ॥ बुद्धग्रधानीन्द्रियाणि ओतत्वकर्तृजि-
ह्वाघ्राणानि । कर्माधीनीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि ।
तान्येतानि द्विविधानीन्द्रियाणि दश भवन्ति । प्राणादय इत्यादि-
शब्देनापानव्यानोदानसमाना गृह्यन्ते । उपलब्धिद्वाराणीत्युपलब्धि-
पदं कर्मापलक्षणार्थम् । द्वारत्वं करणत्वम् । तत्र बुद्धिन्द्रियाणां
मनसो बुद्धेश्च प्रसिद्धमुपलब्धौ करणत्वम् । कर्मेन्द्रियाणान्तु बद-
नादौ कर्माणि करणत्वम् । प्राणादीनां पुनरुभयत्र पारमपर्येण
करणत्वम् । तेषु सत्स्वेव ज्ञानकर्माणोरुत्पत्तेः । असत्सु चानुत्-

सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्स प्रथमः पादः । एतत्पूर्वकत्वा-
दुत्तपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य । कथमयमात्मा ब्रह्मेति
प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते दुलोकादीनां मूर्धाद्य-
ङ्गत्वमिति । नैष दोषः । सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविक-
स्यानेनात्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् । एवञ्च सति
सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः । सञ्जुभूतस्य चात्मैको दृष्टः
स्यात् । सर्वभूतानि चात्मनि । यस्तु सर्वाणि भूतानीत्या-
दिश्रुत्यर्थे उपसंहृतश्चैवं स्यात् । अन्यथा हि स्वदेहपरि-

पत्तेः । मनोबुद्धौश्च सर्वत्र साधारणं करणत्वमहङ्कारस्यापि
प्राणादिवदेव करणत्वं सन्तव्यम् । चित्तस्यैव चैतन्याभासोदये करण-
त्वमुक्तमिति विवेक्तव्यम् ॥ पूर्वोक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टस्य वैश्वानरस्य
स्थूलभुगिति विशेषणान्तरं तद्विमजते । स एवंविशिष्ट इति ॥ शब्दा-
दिविषयाणां स्थूलत्वं दिगादिदेवतानुगृहीतैः श्रोत्रादिभिर्गृह्यमा-
णत्वम् ॥ इदानीं वैश्वानरशब्दस्य प्रकृतविश्वविषयत्वं विशदयति ।
विश्वेषामिति ॥ कर्माणि षष्ठी । विश्वे च ते नराश्चेति विश्वानराः
नपातात्पूर्वपदस्य दोषता । विश्वान्नरान्भोक्तृत्वेन व्यवस्थितान्
प्रत्यनेकधा धर्माधर्मकर्म्यानुसारेण सुखदुःखादिप्रापणादयं कर्म-
फलदाता वैश्वानरशब्दितो भवतीत्यर्थः । अथवा विश्वश्चासौ नरश्चेति
विश्वानरः स एव वैश्वानरः खार्द्येऽम् तद्वितो राक्षसवायसवदित्याह ।
विश्वेति ॥ कथं विश्वश्चासौ नरश्चेति विगृह्यते जायतां नराणां
मनेकत्वात्तादात्मानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह । सर्वेति ॥ सर्वपिण्डात्मा
समष्टिरूपो विराडुच्यते तेनात्मना विश्वेषामनन्यत्वाद्यथोक्तसमास-
सिद्धिरित्यर्थः । विश्वस्य तेजसादुत्पत्तेस्तस्यैव प्राथम्यं युक्तं कार्यस्य
तु पञ्चाङ्गावित्तमुचितमित्याशङ्क्याह । एतदिति ॥ प्रविलापनामेव
प्राथम्यं नृसृष्ट्रपेक्षयेत्यर्थः । अध्यात्माधिदैवयोर्भेदमादाय प्रागुक्तं
सप्ताङ्गत्वमाक्षिपति । कथमिति ॥ नृक्षणि प्रकृते तस्य प्ररोह

च्छिन्न एव प्रत्यगात्मा साङ्ख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा
च सत्यद्वैतमिति श्रुतिज्ञतो विशेषो न स्यात् । साङ्ख्या-
दिदर्शनेनाविशेषात् । इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वोक्तै-
क्यप्रतिपादकत्वम् । अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डा-
त्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमभि-

शङ्किते तन्निरासार्थं ब्रह्मायमात्मेति प्रत्यगात्मानं प्रकृत्य सोऽयमात्मा
चतुष्पादिति चतुष्पात्त्वे तस्य प्रक्रान्ते द्युलोकादीनां भूतानां ब्रह्मवि-
द्गर्थं यदुक्तं तदयुक्तं प्रक्रमविरोधादित्यर्थः ॥ अध्यात्माधिदैवयोभे-
दाभावाच्च प्रक्रमविरोधोऽस्तीति परिहरति । नैष दोष इति
तत्र हेतुमाह । सर्वस्येति । आध्यात्मिकस्याधिदैविकेन सहितस्य
प्रपञ्चस्य सर्वस्यैव स्थूलस्य पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मकस्या
नेनात्मना विराजा प्रथमपादत्वम् । तस्यैव सूक्ष्मस्यापञ्चीकृतपञ्चमहा-
भूततत्कार्यात्मनो हिरण्यगर्भात्मना द्वितीयपादत्वम् । तस्यैव कार्य-
रूपतां त्यक्त्वा कारणरूपतामापन्नस्याव्यक्तात्मना तृतीयपादत्वम् ।
तस्यैव तु कार्यकारणरूपतां विहाय सर्वकल्पनाधिष्ठानतया स्थितस्य
सत्यज्ञानानन्दानन्दात्मना चतुर्थपादत्वम् । तदेवमध्यात्माधिदैवयोरभेद-
मादायोक्तेन प्रकारेण चतुष्पात्त्वस्य वक्तुमिष्टत्वात्पूर्वपादस्योत्तरो-
त्तरपादात्मना प्रविलापनात् तुरीयनिष्ठायां पर्यवसानं सिध्यतीत्यर्थः
यदैवं तुरीये पर्यवसानं जिज्ञासोर्भुभुजोरिष्यते तदा तत्त्वज्ञानप्रति-
बन्धकस्य प्रातिभासिकद्वैतस्योपरमे सत्यद्वैतपरिपूर्णब्रह्माऽहमस्मीति
वाक्यार्थमाच्चात्कारः सिद्धयतीति फलितमाह । एवञ्चेति ॥ उक्तन्या-
येन तत्त्वमाच्चात्कारे सङ्गृहीते सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्यावरान्नेष्ट्यात्मै-
कोऽद्वितीयो दृष्टः स्यात् । एको देवः सर्वभूतेष्विति तत्र तत्र ब्रह्म-
चैतन्यस्यैव प्रत्यक्त्वेनावस्थानाभ्युपगमात्तानि तानि च सर्वाणि प्राति-
भासिकानि भूतामि तस्मिन्नेवात्मनि कल्पितानि दृष्टानि स्युः । तथा च
पूर्णेत्वात्मनो भूतान्तराणां च तदतिरेकेण सत्तास्फुरणविरहितत्वं

प्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम् । मूर्धा ते व्यपतिष्यदित्यादिलिङ्ग-
दर्शनाच्च । विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृता
त्मनोः । उक्तञ्चैतन्मधुब्राह्मणे । यश्चायमस्यां पृथिव्यां
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्ममित्यादि । सुषु-

सिद्धप्रति । ततश्च । सर्वभूतस्यामात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि ।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वैखाराज्यमधिगच्छतीति स्मृतिरनुष्ठहीता भवती-
त्याह । सर्वभूतस्येति ॥ न चेदं मानवं वचनममानमिति शङ्कनी-
यम् । यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्वेषजमिति श्रुतेरित्यभिप्रेत्य दर्शितस्मृति-
मूलभूतां श्रुतिं सूचयति । यस्त्विति ॥ यो हि पादत्वयं प्रागुक्तया
तत्क्रियया प्रविलाप्य तुरीये नित्ये विज्ञापिमात्वे सदानन्दकताने
परिपूर्णे प्रतिष्ठां प्रतिपद्यते स ब्रह्माहमस्मीत्यात्मानं जानानः
सर्वेषां भूतानामधिष्ठानान्तरमनुपलभमान आत्मन्येव प्रातीतिकानि
तानि प्रत्येति । तेषु सर्वेष्व्मात्मानं सत्तास्फुटिप्रदवगच्छति । ततश्च न
किञ्चिदपि गोपायितुमिच्छतीति श्रुयर्थश्च यथोक्तरीत्या तत्त्वसाक्षात्-
कारे संदृहीते सति स्वीकृतः स्यादित्यर्थः । अध्यात्माधिदैवयोर
भेदाभ्युपगमद्वारेण प्रागुक्तपरिपाद्या तत्त्वज्ञानानभ्युपगमे दोषमाह ।
अन्यथेति ॥ साङ्ख्यग्रादिपक्षस्यापि प्रामाणिकत्वात्तथैव प्रति देहं परि-
च्छिन्नस्य प्रत्यगात्मनो दशनेन प्रामाणिकोऽर्थोऽभ्युपगतो भवति ॥
व्यवस्थानुपपत्तग्रा च प्रति शरीरमात्मभेदः सिद्धप्रतोत्याशङ्कग्राह ।
तथा चेति ॥ साङ्ख्यग्रादीनां द्वैतविषयं दर्शनमिदं तेन त्वदीयदर्शन-
स्याद्वैतविषयस्य विशेषाभावादद्वैतं तत्त्वमिति श्रुतिसिद्धो विशेष-
स्तत्पक्षेन सिद्धेप्रदतः श्रुतिविरोधो भेदवादे प्रसज्येत । व्यवस्था
त्वोपाधिकभेदमधिकृत्य सुस्या भविष्यतीत्यर्थः । ननु भेदवादेऽपि
नाद्वैतश्रुतिर्विरुध्यते । ध्यानार्थमज्ञं ब्रह्मेति वदद्वैतं तत्त्वमित्युप-
देशसिद्धेरित्याशङ्कग्राह । इष्यते चेति ॥ उपक्रमोपसंहारैकख्यादिना
सर्वस्वामुपनिषदां सर्वेषु देहेष्व्मात्मैक्यप्रतिपादनपरत्वमिष्टमतो न
ध्यानार्थत्वमद्वैतश्रुतेरेष्टं गम्यम् । वस्तुपरत्वलिङ्गविरोधादित्यर्थः ।

साध्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव । निर्विशेषत्वात् । एवञ्च
सत्यतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥३॥-

अध्यात्माधिदैवयोरेकत्वमुपेत्याद्वैतपर्यवसाने सिद्धे सत्याध्यात्मिकस्य
व्यवस्थानो विश्वस्य त्रैलोक्यात्मकेनाधिदैविकेन विराजा सहैकत्वं
गृहीत्वा यत्तस्य सप्ताङ्गत्वमुक्तं तदविरुद्धमित्यपवन्दरति ॥ अत इति ॥
अध्यात्माधिदैवयोरैक्ये हेतुत्वरमाह । मूर्द्धवि ॥ दिवाऽऽदित्यादिकं
वैश्वानरावयवं वैश्वानरबुद्ध्या ध्यायतो जिज्ञासया पुनरखण्डपक्ष-
मुपगतस्य सुद्धां ते व्यवतिष्ठद्भ्यां नागमित्य इत्यन्वोऽभविष्यो
अस्माभित्यादिव्यस्तोपासननिन्दा समस्तोपासनविधित्सया दृश्यते । न
च द्युलोकादिकं विपरीतबुद्ध्या गृहीतवतः स्वीकृत्यमूर्द्धादिपरिपत-
नमुचितम् । यद्यध्यात्माधिदैवयोरेकत्वं न भवेत्तस्मात्तयोरेकत्वमत्र
विवक्षितं भवतीत्यर्थः ॥ ननु विराजो विश्वेनैकत्वमेव मूलमस्य
दृश्यते । तत्कथमविशेषेणाध्यात्माधिदैवयोरेकत्वं विवक्षित्वाऽद्वैत-
पर्यवसानं भाष्यकृतोच्यते तत्राह । विराजेति ॥ यन्मुखतो विराजो
विश्वेनैकत्वं प्रदर्शितं तत्तु हिरण्यगर्भस्य तैजसेनान्तर्ध्यामिष्याध्या-
कृतोपहितस्य प्राज्ञेन सहैकत्वस्योपलक्षणार्थमतो मूलमस्येऽप्यविशे-
षेण अध्यात्माधिदैवयोरेकत्वं विवक्षितमित्यद्वैतपर्यवसानसिद्धिरित्यर्थः ।
अध्यात्माधिदैवयोर्यदेकत्वमिहोच्यते तन्मधुवाच्याणोऽपि दर्शितमित्याह
उक्तञ्चति ॥ अधिदैवमध्यात्मञ्चैकरूपं निर्देशं कृत्वा प्रतिपर्यायमयमेव
स इत्यभेदवचनादेकत्वमत्र विवक्षितमित्यर्थः । ननु विश्वविराजोः
स्थूताभिमानित्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोश्च स्मृताभिमानित्वादेकत्वं
युक्तम् । प्राज्ञाव्याकृतयोस्तु केन साधर्म्येणैकत्वं तत्राह । सुषुप्तेति ॥
प्राज्ञो हि सर्वं विशेषमुपसंहृत्य निर्विशेषः सुषुप्ते वर्तते प्रलयदशा
व्यमव्याकृतञ्च निःशेषविशेषं स्वात्मन्युपसंहृत्य निर्विशेषरूपं तिष्ठति
तेनोक्तं साधर्म्यं पुरोधाय तयोरेक्यमविरुद्धमित्यर्थः । अध्यात्माधिदैव-
योरेकत्वे प्रागुक्तन्यायेन प्रसिद्धे सत्युपसंहारप्रक्रियया सिद्धमद्वैतमिति
फलितमाह । एवञ्चेति ॥ तच्चाद्वैतं प्रतिबन्धध्वंसमात्रेण न स्फुरति
किन्तु वाक्यादेवाचार्यापदिष्टादिति वक्तुञ्चशब्दः ॥३॥

स्वप्नस्थानोऽनः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविं-

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य सप्नस्थानो जाग्रत्प्रज्ञानेक-
साधना वहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती
तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते । तन्मनस्तथा संस्कृतं
चित्तिव इव पटो वाह्यसाधनानपेक्षसविद्याकामकर्मभिः
प्रेर्यमाणं जाग्रदवभासते । तथाचोक्तम् । अस्य लोकस्य
सर्वावतो मातामपादायेति । तथा परे देवे मनस्येको-

द्वितीयपादमवतार्य व्याचष्टे । प्रत्यादिना ॥ स्थानं पूर्व-
वत् । द्रष्टुर्ममाभिमानस्य विषयभूतमिति यावत् ॥ स्वप्नपदार्थं निरूप-
यितुं तत्कारणं निरूपयति । जाग्रदित्यादिना ॥ तस्याः स्वप्नाद्वै-
धर्म्यार्थं विशेषणमाह । अनेकेति ॥ अनेकानि विविधानि कारणानि
साधनानि यस्याः सा तथेति यावत् । विषयद्वारकमपि वैषम्यं
दर्शयति । वहिरिति वाह्यस्य शब्दादेर्विषयस्याविद्याविवर्त्तकत्वेन
वस्तुतोऽभावाच्च तद्विषयत्वमपि यथोक्तप्रज्ञाया वास्तवं किन्तु प्रातीति-
कमित्यभिप्रेत्योक्तमिवेति । न च यथोक्ता प्रज्ञा प्रमाणसिद्धा तस्या
अनवस्थानात्तेन साक्षिवेद्या सेति विवक्षित्वाह । अवभासमानेति ॥
इतितत्प्रतिभासयोर्वस्तुतोऽसत्त्वे हेतुः । सूचयति । मनःस्पन्दनेति ॥
यथोक्ता प्रज्ञा स्थानरूपं वासनां स्वसमानाधाराभुत्पादयतीत्याह ।
तथाभूतमिति ॥ जाग्रदासनावासितं मनो जागरितवदवभासते स्वप्न-
द्रष्टुरित्येष्टव्यं मनस एव वासनावतः स्वप्ने विषयत्वादतिरिक्तविषया-
भावादित्याह । तथा संस्कृतमिति ॥ जाग्रदासनावासितं मनो
जागरितवद्भातीत्यत्र दृष्टान्तमाह । चित्तिव इति ॥ यथा पटश्चित्ति-
तश्चित्त्ववद्भाति तथा मनो जागरित संस्कृतं तद्वद्भातीति युक्तमित्यर्थः ॥
स्वप्नस्य जागरितत्वाद्द्वैधर्म्यं सूचयति । वाह्येति । यथोक्तस्य मनसो
जागरितवदनेकधा प्रतिमाने कारणान्तरमाह । अविद्येति ॥ यदुक्तं

शतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः

॥ ४ ॥

भवतीति प्रस्तुत्यात्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवती-
त्यायर्व्वणे । इन्द्रियापेक्षयाऽन्तस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा
च स्वप्ने प्रज्ञायस्येत्यन्तःप्रज्ञः । विषयश्रुत्यायां प्रज्ञायां
केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः ।
विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थलाया भोज्यत्वम् । इह
पुनः केवला वासनाभावा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो

स्वप्नस्य जागरितजनितवासनाजन्यत्वं तत्र दृढदारण्यकश्रुतिं प्रमाण-
यति । तथा चेति ॥ अस्य लोकस्मरि जागरितोक्तिस्तस्य विशेषणं
सर्वावदिति । सर्वा साधमसम्पत्तिरस्मिन्नस्तीति सर्वान् सर्वाने
सर्वावान् तस्य मात्वा लेशो वासना ताममादायापच्छिद्य गृहीत्व
स्वपिति वासनाप्रधानं स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः ॥ यत्तु स्वप्नरूपेण परिणतं
मनः सान्निगो विषयो भवतीति तत्र श्रुत्यन्तरं दर्शयति । तथेति ॥
परत्वं मनसस्तदुपाधित्वाद्वाऽसाधारणकरणत्वाद्वा देवत्वं द्योतनात्मक-
त्वात्तन्मनोज्योतिरिति ज्योतिः शब्दात्तस्मिन्नेकीभवति । स्वप्ने द्रष्टा
तत्प्रधानो भवतीति स्वप्ने प्रकृत्यात्र स्वप्ने स्वप्रकाशो द्रष्टा महिमानं
मनसो विभूतिं ज्ञानक्षेपपरिणामत्वलक्षणां सञ्जात्करोति । तथा
च मनसो विषयत्वान्न तत्वात्ममाहकत्वगृहेत्यर्थः । ननु विश्वस्य वाह्यो
न्द्रियजन्यप्रज्ञायास्तैजसस्य मनोजन्यप्रज्ञायाश्चान्तःस्थत्वाविशेषादनन्तः-
प्रज्ञत्वविशेषणं न व्यावर्त्तकमिति तत्वाह । इन्द्रियेति ॥ उपपादितं
तावद्विश्वस्य वहिःप्रज्ञत्वं तैजसस्तन्तःप्रज्ञो विज्ञायते वाह्यानीन्द्रि-
याण्यपेक्ष्य मनोज्ञोऽन्तःस्थत्वात्तत्परिणामत्वाच्च स्वप्नप्रज्ञापास्तद्वातन्तः-
प्रज्ञो युज्यते । किञ्च मनःस्वभावभूता या जागरितवासना तद्रूपा
स्वप्नप्रज्ञेति युक्तं तैजसस्यान्तःप्रज्ञत्वमित्यर्थः ॥ स्वप्नाभिमानिनस्तोजोवि-

यत्न सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न

भोग इति । ममानमन्यत् । द्वितीयः पादस्तैजसः ॥४॥

दर्शनादर्शनवृत्तयोः स्वापस्य तुल्यत्वात्सुषुप्तिग्रह-
णार्थं यत्न इत्यदिविशेषणम् । अथवा त्रिष्वपि
स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापाऽविशष्ट इति पूर्व्यास्य
सुषुप्तं विभजते । यत्न यस्मिन् स्थाने काले वा सुप्तो
न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति । न

कारत्वाभावात्कुतस्तैजसत्वमित्याशङ्क्याह । विषयेति ॥ स्थूलो विषयो
यस्यां वासनामन्यां प्रज्ञायां न ज्ञायते तस्यां विषयसंस्पर्शमन्तरेण
प्रकाशमात्रतयास्थितायामान्द्रयत्वेन भवतीति खप्रदृष्टा तैजसो विव-
क्षितः । तैजःशब्देन यथोक्तवासनामन्याः प्रज्ञाया निर्देशादित्यर्थः ।
सुषुप्तिवृत्तैजसयोरवशिष्टं प्रविविक्तभूगति विशेषणम् । प्रज्ञायाभो-
ज्यतस्य तुल्यत्वात् । मैवम् । तस्या भोत्वाविशेषेऽपि तस्यामवान्तर-
भेदात्सविषयत्वाद्विश्वस्य भेज्या प्रज्ञा स्थूला लक्ष्यते । तैजसे तु प्रज्ञा
विषयसंस्पर्शशून्या वासनामात्ररूपेति विविक्षितो भोगः सिद्धयतीत्याह ।
विश्वस्येति ॥ सप्ताङ्गेकोनविंशतिमुखत्वमित्येतदन्यदित्युच्यते ॥४॥

पादद्वयमेवं व्याख्याय तृतीयं पादं व्याख्यास्यन् व्याख्याव-
मानश्रुतौ न कञ्चनेत्यादिविशेषणस्य तात्पर्यमाह । दर्शनेति ॥
दर्शनस्य स्थूलविषयस्य वृत्तिरत्वास्तीति जागरितं दर्शनवृत्तिरित्यु-
च्यते । स्थूलविषयदर्शनादन्यद्दर्शनकदर्शनं वासनामात्रं तस्य वृत्ति-
रत्वास्तीत्यदर्शनवृत्तिः खप्रस्तयोः सुषुप्तवदेव रूपस्य तत्त्वाग्रहणस्य
तुल्यत्वात् । यत्न सुप्त इत्युक्ते तयोरपि प्रसक्तौ तद्व्यवच्छेदेन सुषुप्त-
स्यैव ग्रहणार्थम् । यत्न सुप्त इत्यादिवाक्येन कञ्चनेत्यादिविशेषणम् ।
तद्वि स्थानद्वयं व्यवच्छेद्य सुषुप्तमेव ग्राहयतीत्यर्थः । न कञ्चन स्वप्नं
पश्यतीत्यनेनैव विशेषणेन स्थानद्वयव्यवच्छेदसम्भवाद्विशेषणान्तर-
मकिञ्चित्तरमित्याशङ्क्याह । अथ वेति ॥ तत्त्वा

कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान

हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथा ग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कञ्चन विद्यते । तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः । स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातम् । तथारूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहः सप्रपञ्चकमेकीभूतमित्युच्यते । अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाऽविवेकरूपत्वात्प्रज्ञाघन उच्यते । यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञाघन एव । एवम-

प्रतिबोधः स्थापस्तस्य स्थानत्वयेऽपि तुल्यत्वाज्जाग्रत्सुषुप्ताभ्यां विभज्य सुषुप्तं ज्ञापयितुं विशेषणमित्यर्थः ॥ एकस्यैव विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वसम्भवादलं विशेषणाभ्यामित्यस्य कः समाधिरित्याशङ्क्य विशेषणयोर्विकल्पेन व्यवच्छेदकत्वान्नानर्थक्यमिति मत्वाह । न हीति ॥ यत्वेत्यस्यापेक्षितार्थं कथयति । तदेतदिति ॥ अन्यथा ग्रहणशून्यत्वं कामसंस्पर्शविरहितत्वञ्च विशेषणाभ्यां विवक्षितम् । कथमस्य सद्वितीयस्यैकीभूतत्वविशेषणमित्याशङ्क्याह । स्थानद्वयेति ॥ जागरितं स्वप्नद्वयेति स्थानद्वयम् । तेन प्रविभक्तं यद्द्वैतं स्थूलं सूक्ष्मञ्च तत्सर्वं मनःस्पन्दितमात्ममिति वक्ष्यते । तच्च यथा स्वकीयरूपमात्मनो विभक्तं तथैव तस्यात्यागेनाव्याहताख्यं कारणमापन्नं स्वकीयसर्वविस्तारसहितं कारणात्मकं भवति । यथाह नैशेन तमसा यस्तं तमस्त्वनैव व्यवहियते तथेदमपि कार्यजातं कारणभावमापन्नं कारणमित्येव व्यवहियते । तस्याञ्चावस्थायां तदुपाधिरात्मैकीभूतविशेषणभागभावतीत्यर्थः । तथापि कारणोपहितस्य प्रज्ञानघनविशेषणमयुक्तं निरुपाधिकस्यैव तथा विशेषणसम्भवादित्याशङ्क्याह । अत एवेति ॥ सर्वस्य कार्यप्रपञ्चस्य समनस्तस्य सुषुप्ते कारणात्मना

एकीभूतः प्रज्ञाघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्
चेतोमुखः प्राज्ञस्मृतीयः पादः ॥५॥

ब्दान्न जात्यन्तरमज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः । मनसो
विषयविषयकारस्यन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आ-
नन्दप्रायो नानन्द एव । अनात्यन्तिकत्वात् । यथा लोके
निरायासस्थितः सुखानन्दभुगुच्यते । अत्यन्तानायास-
रूपा होयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक् । एषोऽस्य
परम आनन्द इति श्रुतेः । स्वप्नादिप्रतिबोधचेतःप्रतिद्वा-
रीभूतत्वाच्चेतोमुखः । बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुख-

स्थितत्वादेवेत्यर्थः । सुषुप्तावस्थायामुक्तप्रज्ञानानामेकमूर्त्तित्वं न वास्तवं
पुनर्बधा पूर्वविभागयोग्यत्वादिति मत्वोक्तम् । इवेति । सुषुप्त्यव-
स्थायाः कारणात्मकत्वाज्जापत्सप्रज्ञानानां तद्वैकीभावात्प्रज्ञानघन-
शब्दाच्चतेत्युक्तमनुवदति । सेयमिति ॥ उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन बुद्ध्या-
वाविर्भावयति । यथेत्यादिना ॥ एवकारस्य नायोगव्यवच्छित्तिरित्यर्थः ।
किन्तु अन्ययोगव्यवच्छित्तिरित्याह । एवशब्दादिति ॥ प्राज्ञस्यानन्द-
विकारत्वाभावे कथमानन्दमयत्वविशेषणमित्याशङ्क्य स्वरूपसुखाभि-
व्यक्तिप्रतिबन्धकदुःखाभावात्प्राचुर्यार्थित्वं मयटो गृहीत्वा विशेषणो-
पपत्तिं दर्शयति । मनस इति ॥ मयटः स्वरूपार्थत्वादानन्दमयत्वमा-
नन्दत्वमेव किं न स्यादित्याशङ्काह । नेत्यादिना ॥ न हि सुषुप्ते निरु-
पाधिकानन्दत्वं प्राज्ञस्याभ्युपगन्तुं शङ्क्यं तस्य कारणोपहितत्वाद-
न्यथामुक्तत्वात्पुनरुत्थानायोगात्तस्मादानन्दप्राचुर्यमेवास्यस्वीकर्तुं युक्त-
मित्यर्थः ॥ आनन्दभुगिति विशेषणं सदृष्टान्तं व्याचष्टे । यथेति ॥
तथा सुषुप्तोऽपीति शेषः ॥ दाष्टीनिकं विद्वणोति । अत्यन्तेति ॥ इयं
स्थितिरिति सुषुप्तिरुक्ता । अनेनेति प्राज्ञोक्तिः । सुषुप्तस्य पुरुषस्य
तस्यामवस्थायां स्वरूपभूतानतिशयानन्दाभिव्यक्तिरस्तीत्यत्र प्रमाण-
माह । एषोऽस्येति ॥ प्राज्ञस्यैव चेतोमुख इति विशेषणान्तरं तद्व्या-

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तयोऽप्येष

मस्य स्वप्नाद्यगमनं प्रतीति चेतोमुखः । भूतभविष्यज्ञा-
हत्वं सर्वविषयज्ञाहत्त्वमस्यैवेति प्राज्ञः । सुषुप्तोऽपि
हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते । अथवा प्रज्ञप्तिमात्रम-
स्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः । इतरयोर्विशिष्टमपि
विज्ञानमस्ति सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेद
जातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव ।

चष्टे । स्वप्नादीति ॥ स्वप्नो जागरितश्चेति प्रतियोधशब्दितं चेतस्तत्
प्रतिहारभूतत्वं द्वारभावेन स्थितत्वम् । न हि स्वप्नस्य जागरितस्य
वा सुषुप्तद्वारमन्तरेण सम्भवोऽस्ति तयोस्तत्कार्यत्वात् । अतः
सुषुप्ताभिमानी प्राज्ञः स्थानद्वयकारणत्वाच्चेतोमुखव्यपदेशभागित्यर्थः ।
अथ वा प्राज्ञस्य सुषुप्ताभिमानीनः स्वप्नं जागरितं वा प्रतिक्रमाक्र-
माभ्यां यदागमनं तत्प्रति चैतन्यमेव द्वारम् । न हि तद्व्यतिरेकेण
कापि चेष्टा सिद्धप्रतीत्यभिप्रेत्य पञ्चान्तरमाह । बोधेत्यादिना ॥
भूते भविष्यति च विषये ज्ञाहत्वं तथा सर्वस्मिन्नपि वर्त्तमाने विषये
ज्ञाहत्त्वमस्यैवेति प्रकर्षेण जानातीति प्राज्ञः प्राज्ञ एव प्राज्ञः ॥ तदेव
प्राज्ञपदं व्युत्पादयति । भूतेति ॥ सुषुप्ते समस्तविशेषविज्ञानोपर-
मात्कृतो ज्ञाहत्वमित्याशङ्क्याह । सुषुप्तोऽपीति ॥ यद्यपि सुषुप्तस्त-
स्यामयस्यायां समस्तविशेषविज्ञानविरहितो भवति तथापि भूता
निष्पन्ना या जागरिते स्वप्ने च सर्वविषयज्ञाहत्त्वलक्षणा गतिस्तया
प्रकर्षेण सर्वमासमन्ताज्जानातीति प्राज्ञशब्दाच्चो भवतीत्यर्थः ॥
तर्हि प्राज्ञशब्दस्य मुख्यार्थत्वं न सिद्धप्रतीत्याशङ्क्याह । अथवेति ॥
असाधारणमिति विशेषणद्व्योतितमर्थं स्फुटयति । इतरयोरिति ॥
आध्यात्मिकस्य तृतीयपादस्य व्याख्यामुपसंहरति । सोऽयमिति

योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति श्रुतेः । अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्यन्तर-
नुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताऽप्येष एव यथोक्तं सभेदं
जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य यत एवं प्रभवश्चाप्य-
यश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥६॥

प्राज्ञस्याधिदैविकेनान्तर्यामिणा सहभेदं गृहीत्वा विशेषणा-
न्तरं दर्शयति । एष हीति ॥ स्वरूपावस्थात्वनुपाधिप्राधान्यमवधूय
चैतन्यप्राधान्यम् । अन्यथा स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः । नैयायिकादयस्तु
ताटस्थमीश्वरस्यातीष्ठन्ते तदयुक्तं पत्युरसामञ्जसादिति न्यायविरो-
दित्याह । नैतस्मादिति ॥ श्रुतिविरोधादपि न तस्य ताटस्थ्यमा-
प्रमित्याह । प्राणेति ॥ प्रकृतमज्ञातं परं ब्रह्म सदाख्यं प्राण-
इतं तद्वन्धनं बध्यतेऽस्मिन् पर्यवस्यतीति व्युत्पत्तेः । न हि
जीवस्य परमात्मातिरेकेण पर्यवसानमस्ति । मनस्तदुपहितं जीवचैत-
न्यमत्र प्राणशब्दस्याध्यात्मिककार्यस्य परस्मिन् प्रयोगान्ननः शब्दितस्य
च जीवस्य तस्मिन् पर्यवसानाभिधानादस्तुतो भेदो नास्तीति द्योति-
तमित्यर्थः ॥ प्राज्ञस्यैव विशेषणान्तरं साधयति ॥ अयमेवेति । नन्वव-
धारणं नोपपद्यते । व्यासपराशरप्रभृतीनामन्येषामपि सर्वज्ञत्वप्रसि-
द्धेरित्याशङ्क्य विशिनष्टि । सर्वेति ॥ अन्तर्यामित्वं विशेषणान्तरं
विशदयति । अन्तरिति ॥ अन्यस्य कस्यचिदन्तरनुपवेशे नियमने च
सामर्थ्याभावादवधारणमुक्तं विशेषणत्वयं हेतुं कृत्वा प्रकृतस्य प्राज्ञस्य
सर्वजागृत्कारणत्वं विशेषणान्तरमाह । अत एवेति ॥ यथोक्तं स्वप्न-
जागरितस्थानद्वयप्रविभक्तमित्यर्थः । सभेदमध्यात्माधिदैवाधिभूतभेद-
सहितमिति यावत् । निमित्तकारणत्वानियमेऽपि प्राचीनानि विशेष-
णानि निर्वहन्तीत्यशङ्क्य प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाहृष्टान्तानुपरोधादिति न्याया-
न्निमित्तोपादानयोजगति न भिन्नत्वमित्येवं नियमतस्माद्वमतो विशे-

अथ गौडपादाचार्य्येनैतदुपनिषदर्थविष्करणरूप-
श्लोकावतारणम् ॥

॥ अत्रैते श्लोकाः ॥

वह्निःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥१॥

अत्रैतस्मिन्व्योक्तेऽर्थे एते श्लोका भवन्ति । वह्निःप्रज्ञ इति । पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या प्रति-
सन्धानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गतत्वं
सिद्धमित्यभिप्रायः । महाभूतस्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥१॥

पणान्तरमित्याह । यत इति ॥ प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः । अथेत्यस्मि
न्नित्यस्यः । न चैतौ भूतानामेकलोपादानादते सम्भावितावित्यर्थः
॥६॥

आचार्य्येर्माण्डूक्योपनिषदं पठित्वा तद्व्याख्यानश्लोकावतारण-
मत्रेत्यादिना कृतं तदलेखनूद्य भाष्यकारो व्याकरोति । एतस्मिन्निति ॥
विश्वस्य विभुत्वं प्रागुक्ताधिदैविकाभेदादवधेयम् । अध्यात्माधिदैवाभेदे
पूर्वादाहृतां श्रुतिं सूचयितुं हि शब्दः ॥ स्थूलसूक्ष्मकारणोपाधि-
भेदाज्जीवभेदमाशङ्क्य स्वरूपैक्येऽपि स्वतन्त्रोपाधिभेदमन्तरेण विशेष-
णमात्रभेदादवान्तरभेदोक्तिरित्याह । एक एवेति ॥ पदार्थानामेव
पूर्वाक्तमेवोक्तत्वात्तात्पर्यं श्लोकस्य वक्तव्यमवशिष्यते तदाह । पर्या-
येणेति ॥ यद्यात्मनश्चैतन्यमिव स्वाभाविकं स्थानत्रयं न तर्हि तद्वदेव
तं व्यभिचरितुमर्हति व्यभिचरति चात्मानं स्थानत्रयं क्रमाक्रमाभ्यां
तस्य त्रिस्थानत्वादतस्तद्व्यतिरिक्तत्वमात्मनः सिद्धम् । यः सुप्तः सोऽहं
जागर्भीत्यनुसन्धानादकत्वं तस्यावगतम् । एकत्वेन हि स्मृत्या घटा-
दावेकत्वमिष्यते । धर्माधर्मा रागद्वेषादिमलस्यावस्थाधर्मात्तात्तदति-
रेकं शुद्धत्वमपि सिद्धमिति । सङ्गस्यापि वेद्यत्वेनावस्थाधर्मात्तात्त-
द्वि-

योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति श्रुतेः । अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्यन्तर-
नुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताऽप्येष एव यथोक्तं सभेदं
जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य यत एवं प्रभवश्चाप्य-
यश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥६॥

प्राज्ञस्याधिदैविकेनान्तर्यामिणा सहामेदं गृहीत्वा विशेषणा-
न्तरं दर्शयति । एष हीति ॥ स्वरूपावस्थात्पुनराधिप्राधान्यमवधूय
चैतन्यप्राधान्यम् । अन्यथा स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः । नैयायिकादयस्तु
ताटस्थमीश्वरस्यातीष्ठन्ते तदयुक्तं पत्युरसामञ्जस्यादिति न्यायविरो-
दित्याह । नैतस्मादिति ॥ श्रुतिविरोधादपि न तस्य ताटस्थप्रमा-
यमित्याह । प्राणेति ॥ प्रकृतमज्ञातं परं ब्रह्म सदाख्यं प्राण-
वद्वतं तद्वन्धनं बध्यतेऽस्मिन् पर्यवस्यतीति व्युत्पत्तेः । न हि
जीवस्य परमात्मातिरेकेण पर्यवसानमस्ति । मनस्तदुपहितं जीवचैत-
न्यमत्र प्राणशब्दस्याध्यात्मिकार्यस्य परस्मिन् प्रयोगान्ननः शब्दितस्य
च जीवस्य तस्मिन् पर्यवसानाभिधानाद्वस्तुतो भेदो नास्तीति द्योति-
तमित्यर्थः ॥ प्राज्ञस्यैव विशेषणान्तरं साधयति ॥ अयमेवेति । नन्वव-
धारणं नोपपद्यते । व्यासपराशरप्रभृतीनामन्येषामपि सर्वज्ञत्वप्रसि-
द्धेरित्याशङ्क्य विशिनष्टि । सर्वेति ॥ अन्तर्यामित्वं विशेषणान्तरं
विशदयति । अन्तरिति ॥ अन्यस्य कस्यचिदन्तरनुप्रवेशे नियमने च
सामर्थ्याभावादवधारणमुक्तं विशेषणत्वयं हेतुं कृत्वा प्रकृतस्य प्राज्ञस्य
सर्वजागृत्कारणत्वं विशेषणान्तरमाह । अत एवेति ॥ यथोक्तं स्वप्न-
जागरितस्थानद्वयप्रविभक्तमित्यर्थः । सभेदमध्यात्माधिदैवाधिभूतभेद
सहितमिति यावत् । निमित्तकारणत्वानियमेऽपि प्राचीनानि विशेष-
णानि निर्वहन्तीत्यशङ्क्य प्रकृतिस्य प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति न्याया-
न्निमित्तोपादानयोजगति न भिन्नत्वमित्येवं नियमतस्मिन्नमतो विशे-

अथ गौडपादाचार्यकृतैतदुपनिषदर्थविष्करणरूप-
श्लोकावतारणम् ॥

॥ अतैते श्लोकाः ॥

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव लिधा स्मृतः ॥१॥

अतैतस्मिन्व्योक्तेऽर्थे एते श्लोका भवन्ति । बहिःप्रज्ञ इति । पर्यायेण विस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या प्रति-
सन्धानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वञ्च
सिद्धमित्यभिप्रायः । महाभूतस्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥१॥

पणान्तरमित्याह । यत इति ॥ प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः । अध्येत्यस्मि
न्नित्यप्रयः । न चैतौ भूतानामेकत्वापादानादते सम्भावितवित्यर्थः
॥१॥

आचार्यैर्माण्डूक्योपनिषदं पठित्वा तद्व्याख्यानश्लोकावतारण-
मत्वेत्यादिना कृतं तदत्वेत्यनूद्य भाष्यकारो व्याकरोति । एतस्मिन्निति ॥
विश्वस्य विभुत्वं प्रागुक्ताधिदैविकाभेदादवधेयम् । अध्यात्माधिदैवाभेदे
पूर्वादाहूतां श्रुतिं सूचयितुं हि शब्दः ॥ स्थूलसूक्ष्मकारणोपाधि-
भेदाज्जीवभेदमाशङ्क्य स्वरूपैक्येऽपि स्वतन्त्रोपाधिभेदमन्तरेण विवे-
क्षणमात्रभेदादवान्तरभेदोक्तिरित्याह । एक एवेति ॥ पदार्थानामेव
पूर्वाक्तमेवोक्तत्वात्तात्पर्यं श्लोकस्य वक्तव्यमवशिष्यते तदाह । पर्या-
येणेति ॥ यद्यात्मनश्चैतन्यमिव स्वाभाविकं स्थानत्रयं न तर्हि तद्वदेव
तं व्यभिचरितमर्हति व्यभिचरति चात्मानं स्थानत्रयं क्रमाक्रममाभ्यां
तस्य विस्थानत्वादतस्तद्व्यतिरिक्तत्वमात्मनः सिद्धम् । यः स्रष्टाः सोऽहं
जागमीत्यनुसन्धानादकत्वं तस्यावगतम् । एकत्वेन हि स्मृत्या घटा-
दावेकत्वमिष्यते । धर्माधर्मरागद्वेषादिमलस्यावस्थाधर्मात्तात्तदति-
रेकं शुद्धत्वमपि सिद्धमिति । सङ्गस्यापि वेद्यत्वेनावस्थाधर्मात्तात्त-
दतिरेकं शुद्धत्वमपि सिद्धमिति । सङ्गस्यापि वेद्यत्वेनावस्थाधर्मात्तात्त-

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो भनस्यन्तश्च तैजसः ।

जगारितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभव-
प्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः । दक्षिणाक्षीति ॥ दक्षिणमर्ध्यं व
सुरं तस्मिन् प्रधानेन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते ।
इन्द्रो ह वै नामैष योऽयं दक्षणेक्षन् पुरुष इति श्रुतेः ।
इन्द्रो दीप्तिगुणो वैश्वानर आदित्यान्तर्गतो वैराज
आत्मा चक्षुषि च द्रष्टा एकः । नन्वन्यो हिरण्यगर्भः
क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षिणक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देह-
स्वामी न स्वतो भेदानभ्युपगमात् । एको देवः सर्वभूतेषु
गूढ इति श्रुतेः । क्षेत्रज्ञश्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु
॥ रत । अविभक्तश्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितमिति
श्रुतेः । सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षिण्युपलब्धि-
पाटवदर्शनान्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य । दक्षिणा-
क्षिगता रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन् मनस्यन्तः

कारान्तदतिरेकिणस्तद्द्रष्टु रसङ्गतमपि सङ्गतमेवेत्यर्थः ॥ युक्तिमिदं -
२र्थे श्रुतिमुदाहरति । महामत्स्यादीति ॥ महान् नादेयेन स्त्रोतसा
प्रकम्पगतिरतिबलीयांस्तिमिरुभे कूले नद्याः सञ्चरन् क्रमसञ्चरणान्ता-
भ्यामतिरिच्यते । न च तस्य कूलद्वयगतदोषगुणवत्त्वम् । न चासौ
कचिदपि सज्जने । न च श्वेनो वा सुपर्णो वा नभसि परिपतन्
कचिदपि प्रतिहृत्यते तथैवायमात्मा क्रमेण, स्थानत्रये सञ्चरन्नुक्तवच-
नोपयुक्तोऽङ्गीकर्तुं मित्यर्थः ॥ १ ॥

विश्वतैजसप्राज्ञानां स्थानत्रयं क्रमेण सञ्चरतामात्मैक्यमेव वस्तुतो
भवतीत्यत्र हेतुत्तरं विवक्षन्नाह । दक्षिणेति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यं
संगृह्णाति । जागरितेति ॥ न चैकस्यामवस्थायामेकस्मिन्नेव देहे
भिन्नत्वमात्मनस्तद्वादिभिरपीयते जाग्रदवस्थायामिति तु देहे व्यव-

आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः
॥२॥

स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति । यथाऽत
तथा स्वप्ने । अतो मनस्यन्तस्तु तैजसाऽपि विश्व एव ।
आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकी-
भूतो घनप्रज्ञ एव भवति । मनोव्यापाराभावात् । दर्शन-
स्मरण एव हि मनःस्पन्दिते तदभावे हृद्येवाविशेषेण
प्राणात्मनावस्थानम् । प्राणो ह्यवैतान् सर्वान् संवृङ्क-
इति श्रुतः । तैजसो हरण्यगर्भा मनःस्थत्वात् । लिङ्ग-
मनः । मनोमयोऽयं पुरुष इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु व्याकृतः
प्राणः सुषुप्ते तदात्मकानि करणानि भवन्ति कथम-
व्याकृतता । नैष दोषः । अव्याकृतस्य देशकालविशेषा-
भावात् । यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य

स्थितत्वोक्त्या विशेषणम् । 'तद्वि तत् व्यवस्थितत्वं यदात्मनः सर्व-
गतस्य तदभिमानितम् । देहाभिमानश्च जागरिते परं सम्भवति ।
तेन तस्यामेवावस्थायामेकस्मिन्नेव देहे त्वयाणामनुभवति तेषां मिथो
भेदो नास्तीति सिद्धप्रतीत्यर्थः । सुखं द्वारमुपलब्धिस्थानं शरीरमात्रे
दृश्यमानस्य । कथमिदमुपलब्धौ विशेषायत नमुपदिश्यते स्थानान्तरा-
पेक्षयाऽस्य प्राधान्यादित्याह । प्राधान्येनेति ॥ अनुभूयते ध्याननिष्ठै-
रिति शेषः ॥ उक्तेऽर्थे श्रुतिं संवादयति । इन्व इति ॥ बृहदारण्यक
श्रुतेरुदाहृतायास्तात्पर्यार्थमाह । इन्व इत्यादिना ॥ वैराजस्यात्मनो
यथोक्तगुणवत्त्वेऽपि दृष्टानुपस्य किमायातमित्याशङ्क्याह । चक्षुषि
चेति ॥ अध्यात्माधिदैवयोरिकत्वादाधिदैविको गुणश्चाक्षुषेऽप्यध्यात्मिके
सम्भवतीत्यर्थः ॥ उक्तमेकत्वमाक्षिपति । नन्विति ॥ हिरण्यगर्भः

तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भव-
तीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानव-
ताम् । यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणो
व्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापन्तावव्याकृतता

प्रव

मु

इ

इ

सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानो सूर्यमण्डलान्तर्गतः सूक्ष्मसमष्टिदेहो लिङ्गात्मा
चक्षुर्गोलकानुगतेन्द्रियानुयाहकः संसारिणोऽर्थान्तरम् । विराडात्मापि
सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानो सूर्यमण्डलात्मकः समष्टिदेहश्चक्षुर्गोलकद्वयानु-
याहकस्ततोऽर्थान्तरमेव । जेतज्ञस्त व्यष्टिदेहो दक्षिणे चक्षुषि व्यव-
स्थितो द्रष्टा चक्षुषोः करणानां नियन्ता कार्यकरणस्वामी ताभ्यां
समष्टिदेहाभ्यामन्योऽभ्युपगम्यते । तदेवं समष्टिव्यष्टित्वेन व्यवस्थितजीव-
भेदादुक्तमेकत्वमुक्तमित्यर्थः ॥ काल्पनिको जीवभेदो वास्तवो वेति
विकल्पप्राद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति । नेत्यादिना ॥ एको हि परो
ऽयः सर्वेषु भूतेषु समष्टित्वेन व्यष्टित्वेन च समाकृतस्तिष्ठतीति श्रव-
णाद्व्यस्तुतो भेदो नास्तीत्युक्तं हेतुं साधयति । एक इति । सर्वेषु
क्षेत्रेषु व्यवस्थितक्षेत्रज्ञं मामीश्वरं विद्मीति भगवतो वचनाच्च तात्त्विक-
भेदासिद्धिरित्याह । क्षेत्रज्ञश्चेति । सर्वेषु भूतेषु क्षेत्रज्ञेदात्मकः कथं
तर्हि प्रति भूतं भेदप्रयेत्याशङ्क्याह । अपिभक्तश्चेति ॥ तत्त्वतो विभा-
गेऽपि देहकल्पनया भेदधीरित्यर्थः । मनु करणेषु सर्वेषु विश्वस्या-
विशेषाच्च दक्षिणे चक्षुषि विशेषनिर्देशो युज्यते । यद्यपि करणान्तरेभ्य-
श्चक्षुषि प्राधान्यमुक्तं तथापि नार्थो दक्षिणविशेषणेनेति तत्राह । सर्वे-
श्वर इति ॥ श्रुत्यनुभवाभ्यां निर्देशविशेषसिद्धिरित्यर्थः । यद्यपि देहदेश-
भेदे विश्वोऽनुभूयते तथापि कथं जागरिते तैजसोऽनुभूयते इत्याशङ्क्य
द्वितीयं पादं व्याचष्टे । दक्षिणेति ॥ यथा स्वप्नजागरितवासनारूपे
णाभिव्यक्तमर्थजातं द्रष्टानुभवति तथैव जागरिते दक्षिण चक्षुषि
द्रष्टृत्वेन व्यवस्थितः सन्निकटं रूपं दृष्ट्वा पुनर्निमीलिताक्षो दृष्टमेव
रूपं रूपोपलब्धिजनितसमुद्बुद्धवासनात्मना मनस्यन्तरभिव्यक्तं
स्मरन् विश्वस्तैजसो भवति । तथा च तयोर्भेदाशङ्का नावतरतीत्यर्थः ॥

समाना प्रसववीजात्मकत्वञ्च तदध्यक्षस्यैकोऽव्याकृतावस्थः ।
परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणाञ्च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं
विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्ने-
तस्मिन्नुक्तहेतुत्वाच्च कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य । प्राण-

स्वप्नजागरितयोर्विलक्षणत्वान्तद्द्रष्टोर्विश्वतैजसयोरपि वैलक्षण्यमुचि-
तमित्याशङ्क्याह । येयेति ॥ जागरिते यथार्थजातं द्रष्टा पश्यति
तथैव स्वप्नेऽपि तदुपलब्धत्वात् ततो न तयोर्वैलक्षण्यमिद्विरत्यर्थः ।
द्वितीयपादस्य व्याख्यामुपसंहरति । अत इति ॥ स्थानद्वये द्रष्टुर्भेदा-
शङ्का निरवकाशेति दर्शयितुमेवकारः ॥ तृतीयं पादं व्याकुर्वन्
जाग्रत्वेव सुषुप्तिं दर्शयति । आकाशे चेति ॥ यो विश्वसैजसत्वमुप-
गतः स पुनः स्मरणाख्यस्य व्यापारस्य व्याप्तौ हृदयावच्छिन्नाकाशे
स्थितः सन् प्राज्ञो भूत्वा तल्लक्षणलक्षितो भवति । न हि तस्य रूप-
विषयदर्शनस्मरणे परिहृत्य विशिष्टाकाशनिविष्टस्य प्राज्ञादर्धान्तर-
त्वम् । अतश्च स एकीभूतो विषयविषयकाररहितः । यतो घनप्रज्ञो
विशेषविज्ञानविरही रूपान्तररहितस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ उक्तमर्थं प्रपञ्च-
यन्ननोव्यापाराभावादिति हेतुमुक्त्वा व्याचष्टे । दर्शनेत्यादिना ॥
अविशेषेणाव्याकृतरूपेणेत्यर्थः । अवस्थानं जागरिते सुषुप्तिमिति शेषः ॥
यदुक्तमध्याकृतेन प्राणात्मना हृदयेऽवस्थानमिति तत्र प्रमाणमाह ।
प्राणो हीति ॥ यो हि प्राणोऽध्यात्मं प्रसिद्धः स वागादीन् प्राणात्मनि
संहृष्टो संहरतीति प्राणस्याध्यात्मं वागादिसंहर्तृत्वमुक्तम् । अधिदै-
वञ्च यो वायुः सूत्रात्मा सोऽग्न्यादीनात्मनि संहरतीत्यग्न्यादिसंह-
र्तृत्वं वायोक्तम् । अध्यात्माधिदैवयोश्चैकत्वात्प्राणस्य वायोश्च वागादि-
ष्वग्न्यादिषु संहर्तृत्वेनाव्याकृतत्वस्य संवर्गविद्यायां सूचितत्वादध्या-
कृतेन प्राणात्मना सुषुप्ते प्राज्ञस्यावस्थानमिति युक्तमेवोक्तमित्यर्थः ।
पूर्वमेव विश्वविराजोरैक्यस्थानन्तरञ्च सुषुप्ताव्याकृतयोरेकत्वस्य दर्शि-
तत्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोरनुक्तमभेदं वक्तव्यमिदानीमुपन्यस्यति । तैजस
इति ॥ तत्र हतुमाह । मनःस्यत्वादिति ॥ हिरण्यगर्भस्य समष्टिमनो-

बन्धनं हि सोम्य मन इति श्रुतेः । ननु तत्र सदेव
सोमेति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम् । नैष दोषः ।
बीजात्मकत्वाद्युपगमात्सतः । यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्द-
वाच्यं तत्र तथापि जीवप्रसवं बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव

निष्ठत्वात्तैजसस्य अष्टिमनोगतत्वात्तयोश्च समष्टिव्यष्टिमनसोरेकत्वात्त-
द्गतयोरपि तैजसहिरण्यगर्भयोरेकत्वमुचितमित्यर्थः । किञ्च हिरण्य-
गर्भस्य क्रियागक्तुप्राप्तौ लिङ्गात्मतया प्रसिद्धत्वात्तस्य च सामाना-
धिकारण्यश्रुत्या मनसा सहाभेदावगमान्मनीनिष्ठस्य तैजसस्य युक्तं
हिरण्यमर्भत्वमित्याह । लिङ्गमिति ॥ किञ्च पुरुषस्य मनोमयत्वव्यवणात्-
पुरुषविशेषत्वाच्च हिरण्यगर्भस्य तत्प्रधानत्वाधिगमात्तन्निष्ठस्यैजसो-
हिरण्यगर्भा भवितुमर्हतीत्याह । मनोमय इति ॥ प्राणस्य प्राणुक्त-
मव्याकृतत्वमाक्षिपति । नन्विति ॥ सुषुप्ते हि प्राणो नामरूपाभ्यां
व्यक्तो युक्तस्तद्व्यापारस्य पार्श्वस्थैरिति स्पष्टं दृष्टत्वादित्यर्थः । किञ्च
तस्यामवस्थायां वागादीनि करणानि प्राणात्मकानि भवन्ति । त एत-
स्यैव सर्वे रूपमभवन्निति श्रुतः । अतोऽपि प्राणस्याव्याकृतत्वं युक्त-
मित्याह । तदात्मकानीति ॥ उक्तन्यायेन प्राणस्याव्याकृतत्वायोगाद-
व्याकृतेन प्राणात्मना सुषुप्तस्यावस्थानमयुक्तमिति निगमयति । कथमिति ॥
एकलक्षणत्वादव्याकृतप्राणयोरेकत्वोपपत्तिरित्युत्तरमाह । नैष दोष
इति ॥ अव्याकृतं हि देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यम् । प्राणोऽपि सौषु-
प्तद्रष्टृस्तथा । न हि सौषुप्तद्रष्टा तत्कालीनस्य प्राणस्य देशादिपरिच्छे-
दोऽवगम्यते । तथा च लक्षणाविशेषादव्याकृतप्राणयोरेकत्वमविरुद्ध-
मित्यर्थः । तस्यायं प्राणो ममायमिति देशपरिच्छेदप्रतिभानादेकलक्ष-
णत्वाभावाच्च प्राणस्याव्याकृतत्वमित्याशङ्क्याह । यद्यपीति ॥ परि-
च्छिन्नाभिमानयतां मध्ये प्रत्येकं ममायमिति प्राणाभिमाने सति
प्राणस्य यद्यपि व्याकृततैव भवति तथापि सुषुप्तवस्थायां पिण्डेन
परिच्छिन्नो यो विशेषस्तद्विषयो योऽयं ममेत्वभिमानस्तस्य निरोध-

प्राणशब्दत्वं मतः सच्छब्दवाच्यता च । यदि निर्वीजरूपं
विवक्षितं ब्रह्माऽभविष्यत् नेति नेति यतो वाचो निवर्त्तन्ते
अन्यदेव तद्विदितादयो अविदितादित्यवध्यत् । न सत्तन्ना-

स्तस्मिन् भवतीति प्राणोऽव्याकृत एवेति योजना । प्रतिबुद्धदृष्ट्या
विशेषाभिमानविषयत्वेन व्याकृतत्वेऽपि सुषुप्तादृष्ट्या तदुपसंहार-
दव्याकृतत्वं प्राणस्याविरुद्धमिति भावः । विशेषाभिमाननिरोधे प्राण-
स्याव्याकृतत्वं क दृष्टमित्याशङ्क्याह । यथेति ॥ परिच्छिन्नाभिमानिनां
प्राणलक्षणे मरणं तत्राभिमाननिरोधे प्राणो नामरूपाभ्यामव्याकृतो
यथेत्येते तथैव प्राणाभिमानिनोऽपि तदभिमाननिरोधेनाविशेषापत्तिः
सुषुप्तिः । तत्राव्याकृतता प्राणस्य प्रागुक्तदृष्टान्तेनाविशिष्टा । ततो
विशेषाभिमाननिरोधे प्राणस्याव्याकृतत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः । किञ्च यथा-
धिदैविकमव्याकृतं जगत्प्रसवबीजम् । तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्त-
न्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत इति श्रुतेः । तथा प्राणस्य सुषुप्तं जाग-
रितस्त्वप्रयोर्भवति बीजम् । तथा च कार्यं प्रतिप्रसरूपत्वप्रविशिष्ट
सुभयोरिति लक्षणाविशेषादव्याकृतप्राणयोरेकत्वस्य प्रसिद्धिरित्याह ।
प्रसवेति ॥ समानमित्यनुकर्षार्थश्चकारः । उपाधिसुभावलोचनया
सुषुप्ताव्याकृतयोरभेदमभिधायोपहितस्वभावलोचनयापि तयारभे-
दमाह । तदध्यक्षश्चेति ॥ अव्याकृतावस्थः सुषुप्तावस्थश्च तयो-
रुपहितस्वभावयोराध्यात्मिकाधिदैविकयोरेकोऽधिष्ठाता चिद्वातः ।
अतोऽपि तयोरेकत्वं सिद्धप्रतीत्यर्थः । सुषुप्ताव्याकृतयोरेवमेकत्वं
प्रसाध्य तस्मिन्नव्याकृते सुषुप्ते प्रागुक्तं विशेषणं युक्तमित्याह । परि-
च्छिन्नेति । यद्यपि विशेषानभिव्यक्तिभावेणैकीभूतत्वादिति विशेषण-
सुपपादितं तथापि परिच्छिन्नाभिमानिनामुपाधिप्रधानानां तत्र
तत्राध्यक्षाणाञ्चोपहितानामव्याकृतैर्नैकत्वम् । अतोऽपि प्रागुक्तविशे-
षणोपपत्तिरित्यर्थः । किञ्चाध्यात्माधिदैवयोरेकत्वमिति प्रागुक्तहेतु-
सङ्गावाच्च युक्तं सुषुप्ते प्राप्ते प्राणान्यव्याकृते यथोक्तं विशेषण-
मित्याह । पूर्वोक्तमिति ॥ अन्यगतादिशब्देन सर्वेश्वरत्वादिविशेषणं

सदुच्यत इति स्मृतेः । निर्वीजतयैव चेत् सति लीनानां
सम्पन्नानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात् ।
मुक्तानाञ्च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः । बीजाभावाविशेषात् ।
ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः । तस्मात्स-

प्र

मु

द

द

१

१

गच्छते । प्राणशब्दस्य पञ्चदशौ वायुविकारे रूढत्वादव्याकृतविषयत्वं
रूढिविरोधादिति शङ्कते । कथमिति ॥ अन्यत्र रूढत्वेऽपि औतप्र-
योगवशादव्याकृतविषयत्वं प्राणशब्दस्य युक्तमिति परिहरति । प्राण-
वन्धनमिति ॥ प्रकरणस्य ब्रह्मविषयत्वादब्रह्मण्येव प्रकृते वाक्ये
प्राणशब्दस्य प्रयोगाच्चाव्याकृतविषयत्वं तस्य युक्तं प्रकरणविरोधादिति
शङ्कते । नन्विति । प्रकरणस्य ब्रह्मविषयत्वेऽपि ब्रह्माणः सत्त्वगुणस्य
शबलत्वाङ्गीकारादस्मिन्नपि वाक्ये तत्रैव प्राणशब्दप्रयोगाद्युक्तं तस्या-
व्याकृतविषयत्वमित्युत्तरमाह । नैष दोष इति ॥ संयुक्तवाक्यं प्रपञ्चयति ।
यद्यपीति ॥ तत्रेति प्राणवन्धनवाक्यं परास्म्यते । जीवशब्दः सर्व-
स्यैव कार्यजातसोपलक्षणम् । प्रकरणवाक्ययोरपि परिशुद्धब्रह्म-
विषयत्वे का च्छतिरित्याशङ्क्य परिशुद्धस्य ब्रह्माणः शब्दप्रवृत्तिनिमित्ता-
गोचरत्वात्तत्र शब्दवाच्यत्वानुपपत्तैर्भवमित्याह । यदि हीति ॥ न
केवलं निरुपाधिकं निर्विशेषं ब्रह्म बाह्यमनशयोरगोचरमिति श्रुते-
रेव निर्द्धार्यते किन्तु स्मृतेरपीत्याह । न सदति ॥ किञ्च कार्यजातं
प्रतिबीजमूताज्ञानरहिततया शुद्धत्वेनैवास्मिन् प्रकरण ब्रह्म विवक्षितं
चेत्तर्हि सता साम्यं तदा सम्पन्नो भवतीति जीवानां सत्प्राप्तिश्रवणाद्-
ब्रह्माणः सच्छब्दितस्य शुद्धत्वे सुषुप्त्यादौ तत्र लीनानामेकीभूतानां जी-
वानां पुनरुत्थानं नापपद्यते दृश्यते च पुनरुत्थानम् । तेन शबल-
मेव ब्रह्मात्र विवक्षितमित्याह । निर्वीजतयेति ॥ सुषुप्त्यादौ शुद्धे
ब्रह्मणि सम्पन्नानामपि पुनरुत्थाने भोक्तृत्वानुपपत्तिर्दोषमाह । मुक्ता-
नाञ्चेति ॥ न तेषां पुनरुत्थानं हेतुभावादित्याशङ्क्य सुषुप्तानां प्रली-
नानाञ्च न तर्हि पुनरुत्थानं हेतुभावस्य तल्लत्वादित्याह । बीजाभा-
वेति ॥ नन्वनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं संसारस्य बीजभूतं नास्तेव । यद्-

बीजत्वाभ्युपगमननैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च
कारणत्वव्यपदेशः । अत एवाक्षरात्परतः परः । सवा-
ह्याभ्यन्तरो ह्यजः । यतो वाचो निवर्त्तन्ते । नेती नेती-
त्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेशः । तामबीजावस्थां
तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसम्बन्धरहितां
पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति । बीजावस्थापि न किञ्चिद-

ब्रह्मणो विशेषणमग्रहणम् । मिथ्याज्ञानतत्संस्काराणामज्ञानशब्दा-
प्यत्वात्तदाह । ज्ञानेति ॥ अजोऽहमित्यज्ञानमपरोक्षमग्रहणस्य च
ग्रहणप्रागभावस्य नापरोक्षत्वमिन्द्रियसन्निकर्षाभावादनुपलब्धिगम्य-
त्वाच्च भ्रान्तितत्संस्कारयोश्चाभावेतरकार्यत्वादुपादानतापेक्षणादात्मनश्च
केवलस्यातद्वेतत्वात्तदुपादानत्वेनानाद्यज्ञानसिद्धिः । किञ्च देवदत्तप्रमा
तद्विषयप्रमाप्रागभावातिरिक्तादनादिप्रध्वंसिनी प्रमात्वाद्यज्ञदत्तप्रमावत् ।
न च तदभावे सम्यग्ज्ञानार्थवत्त्वम् क्षणिकत्वेन भ्रान्तेस्तदनिवर्त्तन-
त्वात्संस्कारस्य च सत्यपि सम्यग्ज्ञाने क्वचिदनुवृत्तिदर्शनाच्च चाग्र-
हणस्य तद्विवर्त्तत्वम् । ज्ञानस्य तद्विवृत्तित्वात् । अतो ज्ञानदाह्यं
संसारबीजभूतमनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं ज्ञानस्यार्थवत्त्वायास्यैवम् । अन्यथा
तदानर्थक्यप्रसङ्गादित्यर्थः । शुद्धस्य ब्रह्मणो याक्यप्रकरणाभ्यां विव-
क्षितत्वाभावे फलितमाह । तस्मादिति ॥ ब्रह्मणः शबलस्यैव प्राकर-
णित्वाद्वाक्येऽपि तस्मिन् प्राणशब्दाद्युक्तं प्राणशब्दस्याव्याकृतविषयत्व-
मिति भावः । यतोऽनाद्यनिर्वाच्याज्ञानशबलस्यैव कारणत्वं ब्राह्मणो
विवक्ष्यते अत एव कारणत्वनिषेधेन परिशुद्धं ब्रह्म श्रुतिषूपदिश्यते
तदेतदाह । अत एवेति ॥ अक्षरमव्याकृतं तच्च कार्यमेव या परम् ।
तस्मात्परोऽयं परमात्मा । सहि कार्यकारणाभ्यामसृष्टो वर्त्तते ।
वाह्यं कार्यमभ्यन्तरं कारणमिति । ताभ्यां सह तत्काल्यनाधिष्ठान-
त्वेन वर्त्तमानश्चिदातुः । तथा च स चिदातुस्तज्जन्मादिसमस्तविक्र-
यान्मन्यत्वेन कूटस्थः श्रुतिस्मृत्योर्व्यपदिश्यते । यतो ब्रह्मणः सका-

५०

विश्वो हि स्थूलभुङ्क्षित्यं तेजसः प्रविविक्त
भुक् । आनन्दभुक्त्या प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबो-
धत ॥३॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तन्तु तेजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत
॥४॥

वेदिषमित्युच्यतस्य प्रलयदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति
त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ॥२॥

उक्तार्थो श्लोकौ ॥३॥४॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं
भोज्यमेकं त्रिधाभूतम् । यस्य विश्वतेजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः
सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसन्धानात् द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकी-
र्तितः । यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयाऽनेकधा भिन्नं

शाब्दाच्चः सर्वा मनसा सहावकाशमप्राप्य निवर्त्तन्ते । तदब्रह्मानन्द-
रूपं विद्वान्न विभेति नेति नेतीति वीप्सया सर्वमारोपितमपाक्रि-
यते । आदिशब्देनास्थूलादिवाक्यं गृह्यते । वीजत्वनिरासेन शुद्धं
ब्रह्म व्यपदिश्यते चेद्बीजत्वं शबलस्येवेति सिद्धप्रतीत्यर्थः । आचार्ये-
णानुक्तत्वाच्च कारणातिरिक्तं शुद्धं ब्रह्मास्तीत्याशङ्क्य नान्तःप्रज्ञमित्या-
दिवाक्यशेषाच्चैवमित्याह । तामिति ॥ उक्तन्यायेन वस्तुव्यवस्थायाम-
व्याकृतस्य देहेऽनुभवाभावात्त्रिधा देहे व्यवस्थित इति कथमुक्तमित्या-
शङ्क्याह । वीजेति ॥२॥

विश्वादीनां तयाणां त्रिधा देहे व्यवस्थितं प्रतिपाद्य तेषामेव
त्रिधा भोगं निगमयति । विश्वो होति ॥३॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकी-
र्तितः । वेदैतदुभयं यस्तु समुज्जानो न लि-
प्यते ॥५॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।

समुज्जानो न लिप्यते । भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तृभोज्य-
त्वात् । न हि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्द्धते
वा । न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत् ॥५॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्व-
रूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्-
पत्तिः । वक्ष्यति च । बन्धप्राप्तो न तत्त्वेन मायया वापि

भोगप्रयुक्तां तन्निमग्नानां तेषां विभजते । स्थूलमिति ॥ उदाहृत-
श्लोकयोर्व्याख्यानापेक्षां वारयति । उक्ताधीविति ॥४॥

प्रकृतभोक्तृभोग्यपदार्थद्वयपरिज्ञानस्यावरान्तरफलमाह । त्रिष्विति ॥
पूर्वाङ्गं व्याचष्टे । जायदादिष्विति ॥ भोग्यत्वेनैकत्वेऽपि त्रैविध्यम-
वान्तरभेदादुन्नेयम् । भोक्तृरेकत्वे हेतुमाह । सोऽहमिति ॥ योऽहं सुषुप्तः
सोऽहं स्वप्नं प्राप्नोति । यश्च स्वप्नमद्राक्षं सोऽहमिदानीं जागर्भीत्ये-
कत्वं प्रतिसन्धीयते । न च तत्र बाधकमस्ति । तद्युक्तं भोक्तृरेक-
त्वमित्यर्थः । किञ्चाज्ञानं तत्कार्यञ्च प्रति प्राज्ञादिषु द्रष्टृत्वस्याविशिष्ट-
त्वात् । द्रष्टृभेदे च प्रमाणाभावाद्युक्तं तदेकत्वमित्याह । द्रष्टृत्वेति ॥
द्वितीयाङ्गं विभजते । यो वेदैतः कथमेतावता भोगप्रयुक्तदोषराहिं
तत्वाह । भोज्यस्येति ॥ यद्यपि भोक्तृरेकस्यैव सर्वं भोग्यमित्यवगतं
तथापि कथं सर्वं समुज्जानो भोगप्रयुक्तदोषवान्न भवतीत्याशङ्क्याह ।
न हीति ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । न ह्यग्निरिति ॥ स्ववि-
षयान् काष्ठादीन् दग्ध्वा न हीयते वर्द्धते वाग्निरिति सम्बन्धः ॥५॥

सर्वं जनयति प्राणश्चेतोऽशूनं पुरुषः
पृथक् ॥ ६ ॥

जायत इति । यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद्वत्क्षणो व्यव-
हार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः । दृष्टञ्च रज्जुसर्पा-
दीनामविद्याकृतमायावीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मनासत्त्वम् ।
न हि निरास्यदा रज्जुसर्पस्य गट्टिकादयः क्वचिदुप-
लभ्यन्ते केनचित् । यथा रज्ज्वां प्राक् सर्पोत्पत्तेः
रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवासीत् । एवं सर्वभावानामुत्-
पत्तेः प्राक् प्राणविजात्मनैव सत्त्वमिति । अतः श्रुति-
रपि वक्ति ब्रह्मैवेदमात्मैवेदमग्र आसीदिति । सर्वं जन-
यति प्राणश्चेतोऽशूनंशब्द इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य
चेतोरूपा जलार्कसभाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देव-
तिर्य्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोऽश्वोये तान्

एष योनिरित्यत्र प्राज्ञस्य प्रापञ्चकारणत्वं प्रतिज्ञातं तत्र सत्-
कार्यमसत्कार्यं प्रति वा कारणत्वमिति सन्देहे निर्द्धारयितुमारभते ।
प्रभव इति ॥ तत्त्वावान्तरभेदमाह । सर्वमिति ॥ पुरुषो हि सर्व-
मचेतनं जगदुपाधिभूतं तमःप्रधानं गृहीत्वा जनयति । अत एव
पुरुषे कारणवाचि प्राणपदं प्रयुज्यते । एवं स च चैतन्यप्रधानश्चेत-
सश्चैतन्यस्यांशुवदवस्थिताश्च प्रतिविम्बकल्पान् जीवानामासम्भूतानुत्पा-
दयति । एषश्चेतनाचेतनात्मकमशेषं जगदसङ्कीर्णं सम्पादयतीत्यर्थः ।
ननु सतां भावानां सत्त्वादेव प्रभवो न सम्भवति अतिप्रसङ्गादित्या-
शङ्क्य पूर्वार्द्धं व्याचष्टे । सतामिति ॥ स्वेनाधिष्ठानात्मना विद्यमाना-
मेव विद्याकृतं मायामयमारोपितस्वरूपं तेन प्रभव संसारी भव

पुरुषः पृथग्विप्रश्चभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत्सत्त्व-
क्षणान् जलार्कवच्च जीवत्क्षणान्स्वितरान् सर्वभावान्
प्राणवीजात्मा जनयति ययोर्णनाभिः । यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा
इत्यादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

तीत्यर्थः । असज्जन्निनिरसनमन्तरेण कथं सज्जन्स निद्रोरयितुं
शक्यमित्याशङ्क्याह । वक्ष्यतीति ॥ जन्मतः पूर्वं सर्वस्य सत्त्वे च
कारणव्यापारसाध्यत्वासिद्धेर्मिथ्यात्वे कथं सतामेव प्रभवो भावाना
मित्याशङ्क्याह । यदीति ॥ कार्यप्रपञ्चस्यासत्त्वे कारणस्य ब्रह्मणः
स्वार्थेन व्यवहार्यत्वाभावान्तस्य ग्रहणे द्वारभूतस्य लिङ्गस्याभावाद्-
सत्त्वमेव सिद्धेयम् । कार्येण हि लिङ्गेन कारणं ब्रह्मादृष्टमपि सदित्य-
वगम्यते । तच्चेदसङ्गवेन तस्य कारणेन सत्त्वबधिरित्यसदेव कारणमपि
स्यादित्यर्थः । कार्यकारणयोरुभयोरपि भवत्वसत्त्वमित्याशङ्क्याह ।
दृष्टञ्चेति ॥ अविद्ययाटनाद्यनिर्वाच्यया कृताश्च ते मायावीजादुत्प-
न्नाश्च तेषामविद्यैव मायेत्यङ्गीकारात्तेषु रज्ज्वादौ कल्पितसर्पादीना-
मधिष्ठानभूतरज्ज्वादिरूपेण सत्त्वं दृष्टमिति योजना । विमतं सदुपा-
दानं कल्पितत्वा दृज्जुसर्पवदित्यर्थः । दृष्टान्तस्य साध्यविकल्पत्वं
शङ्कित्वा परिहरति । न हीति ॥ विवर्जितं दृष्टान्तमनूय दाष्टान्तिक-
माह । यथेत्यादिना ॥ प्राणशब्दितं बीजमज्ञातं ब्रह्म सत्त्वक्षणं तदा
त्मनेति यावत् । तदेवमचेतनं सर्वं जगत्प्रागुत्पत्तेर्वीजात्मनास्थितं
प्राणो बीजात्मव्यवहारयोग्यतया जनयतीत्युपसंहरति । इत्यत इति
चतुर्थपादप्रतीकशब्दाद्य व्याकरोति चेतेऽंशूनित्यादिना ॥ रवेरंशवो
यथा वर्ज्यते तथा पुरुषस्य स्वयं चैतन्यात्मकस्य चेतोरूपाश्चैतन्याभावा
श्चेतेऽंशवो निर्दिश्यन्ते । तान् पुरुषो जनयतीत्युत्तरत्वं सस्वन्तः ।
तेषां चिदात्मकात्पुरुषात्पुरुषतत्त्वो भेदाभावं विवक्षित्वा विगिरिर्दृष्टः ।
जलार्केति ॥ भेदधीस्तु तेषानुपाधिभेदादित्याह । प्राज्ञेति ॥ पृथ-
गिति सूचितम् । पुरुषस्य जीवसर्जने हेतुं कथयति । विषयेति ॥ यथा-
ग्निना समानरूपा विस्फुलिङ्गा जन्यन्ते तथा चिदात्मना समान-

३०

विभूतिं प्रसवन्तान्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका
मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावाद्दर इत्यर्थः ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुषरूप ईयत इत्यादिश्रुतेः । न हि
मायाविनः सूत्रमाकाशे निःक्षिप्यते न तदायुधमाख्य
चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशच्छन्नं पतितं पुनर-
खितञ्च पश्यतां तत्कृतमायादिस्तत्त्वचिन्तायामादरो
भविष्यति । तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्त-

स्वभावा जीवान्तेनोत्पाद्यन्ते । विषयविलक्षणत्वात् । न प्राणेन बीजा-
त्मना तेषामुत्पादनम् । न चोत्पाद्यानां जीवानामुत्पादकाच्चिदा-
त्मनस्ततो भिन्नत्वम् । जलपात्रप्रतिबिम्बितादित्यादीनां बिम्बभूतात्त-
त्त्वतो भेदाभावात्तान् विद्यादीन् पुरुषश्चित्तप्रधानो जनयतीत्यर्थः ॥
विषयभावेन व्यवस्थितान् पुनर्भावान् प्राणो जनयतीति तृतीयपादार्थ-
रुपसंहरति । इतरानिति ॥ ६ ॥

चेतनाचेतनालकस्य जगतः सर्गे प्रसृते स्वमतयिवेचनार्थं मता-
नरमुपन्यस्यति । विभूतिप्रसवमिति ॥ ईश्वरस्य विभूतिर्विस्तारः स्वकी-
यैश्वर्यख्यापनं सृष्टिरिति पक्षे सृष्टेर्वस्तुत्वज्ञायां पक्षान्तरमाह ।
स्वप्नेति ॥ कुतः सृष्टिचिन्तकानामेतत्कृतं तत्त्वविदामेव किं न ख्यात्त-
त्वाह । न त्विति ॥ सृष्टेरपि वस्तुत्वास्तु चिन्तकानामपि तत्त्वादरो
भविष्यतीत्यागङ्गाह । इन्द्र इति ॥ मायामयी सृष्टिरादरविषया न
भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह । न हीति ॥ मायादीत्यादिगद्देन तत्कार्थ्यं
अस्यते ॥ दृष्टान्तनिषिद्धमर्थं दर्शनिके योजयति । तथैवेति ॥ तर्हि
परमार्थचिन्तकानां कुत्वादर इत्यागङ्गा सदृशानमुत्तरमाह ।
सूत्रेत्यादिना ॥ मायाच्छत्रत्वमदृश्यमानत्वे हेतुः । तुरीयाख्यं जायत-
स्वप्नसुषुप्तेभ्यो विश्वतैजसप्राज्ञेभ्यश्चातिरिक्तं तदस्पृष्टमिति शेषः ।
एतत्तत्त्वमिहाह रस्यगीद्वारा फलवतो न सृष्टेः । ताः सृष्टा-

स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥७॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः । कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥८॥

स्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च । तत्स्थप्राज्ञतैजसादिः सूततदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी । स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायां मेवादरो सुमुच्छ्रयामार्थानां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इति । अतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह स्वप्नमायास्वरूपेति । स्वप्नस्वरूपा मायास्वरूपा चेति ॥७॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसङ्कल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिः । सङ्कल्पनामात्रं न सङ्कल्पनातिरिक्तं कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥८॥

घनादरस्तत्त्वनिष्ठानामित्याह । नेति ॥ परमार्थचिन्तकानां सृष्टावनादरादपरमार्थनिष्ठानामेव सृष्टौ विशेषचिन्तेत्युक्त्यर्थे द्वितीयार्द्धमवतारयति । इत्यत इति ॥ जायद्गतानामर्थानामेव स्वप्ने प्रथनान्तस्य सत्यत्वं मायायाश्च माण्यादिलक्षणायाः सत्यत्वाङ्गीकरादनयोर्विकल्पयोः सिद्धान्तादौपम्यमुन्नेयम् ॥७॥

सृष्टिचिन्तकानामेव सृष्टिविषये विकल्पान्तरमुत्पापयति । इच्छामात्रमिति ॥ ज्योतिर्विदां कल्पनाप्रकारमाह । कालादिति ॥ परमेश्वरस्येच्छामात्रं सृष्टीरित्यस्य हेतुमाह । सत्येति ॥ यथा लोके कुलादिः सङ्कल्पनामात्रं घटादिकार्यं सृष्टिरिष्टा नामरूपाभ्यामनन्तरेव कार्यं सङ्कल्प्य वह्निस्तन्निष्पन्नाभ्युपगमात् । तथा भगवतः सृष्टिः

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति
मिति चापरे । देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य
का सृष्टिर्हा ॥ ६ ॥

॥ उपनिषद् ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते । अन्ययोः
पक्षयोर्दूषणं देवस्यैव स्वभावोऽयमिति । देवस्य स्वभाव-
पक्षमाश्रित्य सर्वेषां वा पक्षाणां माप्तकामस्य का सृष्टिर्हेति
॥ १ ॥

सङ्कल्पनाभावात् न तदतिरिक्ता काचिदस्तीति केषाञ्चिदीश्वरवादिना-
मित्यर्थः ॥ ८ ॥

यथा तथा वा अस्तु सृष्टिस्तस्यास्तु किं प्रयोजनमित्यत्र
विकल्पद्वयमाह । भोगार्थमिति ॥ सिद्धान्तमाह । देवस्येति ॥ कः
स्वभावो नासेत्युक्ते नैसर्गिकोऽपरोक्षो मायाशब्दार्थस्तस्येत्याह । अय-
मिति ॥ पूर्वपक्षाणामपवादं सूचयति । अस्येति ॥ देवस्य परमेश्वरस्य
स्वभावः सृष्टिरिति स्वभावपक्षं नैसर्गिकमायाविनिर्णिता सृष्टिरिति
मतं सिद्धान्तत्वेनाश्रित्य चतुर्थपादेन दूषणमुच्यते । पक्षयोरनयोरिति
योज्यम् । ईश्वरस्येश्वरत्वख्यापनं सृष्टिरित्येकः पक्षः । स्वप्नस्वरूपा
मायास्वरूपा वा सृष्टिरिति पक्षद्वयमीश्वरस्य सत्यसङ्कल्पस्य सृष्टि-
रिति पक्षान्तरम् । कालादेव जगतः सृष्टिर्नैश्वरात् । ईश्वरस्तूदासीनः
तत्र विकल्पान्तरं भोगार्थं क्रीडार्थं वा सृष्टिरिति फलगतञ्च विकल्प-
द्वयम् ॥ तेषामेतेषां सर्वेषामेव पक्षाणां दूषणं चतुर्थपादेनोक्त-
मिति पक्षान्तरमाह । सर्वेषामिति ॥ नो स्वप्नाप्तकामस्यापरस्या-
त्मनो मायां विना विभूतिख्यापनमुपयुज्यते । न च स्वप्नमायाभ्यां
साहचर्यमन्तरेण स्वप्नमायासृष्टिरेषु शक्यते ॥ वस्तुनोरेव तयोस्तच्छब्द-
प्रयोगात् । न च परमानन्दस्वभावस्य परस्य विना मायाभिच्छा सञ्ज्ञ-

नान्तः प्रज्ञं न वहिः प्रज्ञं नोभयतः

न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्या-
भासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् । चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो
वक्तव्य इत्याह । नान्तः प्रज्ञमित्यादि । सर्वशब्दप्रवृत्ति-
निमित्तशून्यत्वान्तस्य शब्दानामाधेयत्वमिति विधेयप्रति-
षेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिच्छति । शून्यमेव तर्हि तन्न ।
मित्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः । न हि रजतसर्प
पुरुषस्रगटष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादि-
व्यतिरेकेणावस्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम् । एवं तर्हि

च्छते । न हि तस्य स्वतोऽविक्रियस्येच्छादिभाक्त्वं युक्तम् । न च माया-
मन्त्रेण भोगक्रीडे तस्योपपद्यते । ततो मायामयी भगवतः सृष्टि-
रित्यर्थः ॥ ६ ॥

यदुक्तं कालात्प्रवृत्तिं भूतानामिति तत्राह । न हीति । अधि-
ष्ठानभूतरज्ज्वादीनां स्वभावशब्दितस्वज्ञानादेव सर्पाद्याभासत्वं तथा
परस्य स्वमायाशक्तिवशादाकाशाद्याभासत्वम् । आत्मन आकाशः
सम्भूत इति श्रुतेः । न तु कालस्य भूतकारणत्वं प्रमाणाभावादित्यर्थः ।
पादत्रये व्याख्याते व्याख्येयत्वेन क्रमवशात्प्राप्तं चतुर्थं पादं व्याख्या-
तमुत्तरमन्यप्रवृत्तिरित्याह । चतुर्थः इति ॥ ननु पादत्रयविधिमखेनैव
चतुर्थः पादोऽपि व्याख्यायतां किमिति निषेधमुखेन व्याख्यायते
तत्राह । सर्वेति ॥ सर्वाणि शब्दप्रवृत्तौ निमित्तानि षष्ठीगुणादीनि
तैः शून्यत्वान्तुरीयस्य वाच्यत्वायोगान्निषेधद्वारैव तन्निर्देशः सम्भव-
तीत्यर्थः । साक्षाद्वाच्यत्वाभावं द्योतयितुं निर्दिदिच्छतीत्युक्तम् । यदि
चतुर्थं विधिसुखेन न निर्दिष्टं शक्यं तर्हि शून्यमेव तदापद्येत तन्नि-
षेधेनैव निर्दिश्यमानत्वात् ॥ तथाविधं नास्तरर्थवदिति शङ्कते ।
शून्यमेवेति ॥ न तुरीयस्य शून्यत्वमनुमातुं युक्तम् । विमतं सदधिष्ठानं
कल्पितत्वात् । तथाविधरजतादिवदित्यनुमानात्तुरीयस्य सत्वसिद्धेरित्यु-

३०

प्रज्ञं न प्रज्ञानत्वं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृ-
ष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्तमव्यपदे

प्र

सु

ह

व

प्राणादिसर्वविकल्पास्यदत्वान्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वमिति
न प्रतिषेधैः प्रत्याख्यत्वमुदकाधारादेरिव घटादेः । न
प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकाश्चिव रजतादेः । न हि
सदसतोः सम्बन्धः । शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभागवत्सुत्वात् ।
नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत् । नापि
क्रियावत्त्वं पाचकादिवत् । नापि गणवत्त्वं नीलादिवत् ।
अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति । शशविषाणादिसम-
त्वान्निरर्थकत्वं तर्हि न । आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्म-
तृणाद्यावृत्तिहेतुत्वात् शुक्तिकावगमे इव रजततृणयाः ।
न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सत्यविद्यातृणादिदोषाणां

त्तरमाह । तत्रेति ॥ दृष्टान्तं साधयति । न हीति ॥ राजतादीनां
सदनुविद्धवु द्विविध्यत्वादवस्थास्यदत्वायोगात् । तद्वदेव प्रादि विक-
ल्पानामपि नावस्थास्यदत्वं सिद्धयतीत्यर्थः । यद्यधिष्ठानत्वं तुरीयस्येष्टं
तर्हि वाच्यत्वमधिष्ठानत्वाद्घटादिवदिति प्रक्रमभङ्गः स्यादिति चोद-
यति । एवं तर्हीति ॥ किं प्रातिभासिकमधिष्ठानत्वं हेतूक्तम् । किं वा
तात्त्विकम् । नादाः । तस्य तात्त्विकवाच्यत्वासाधकत्वात् । अतात्त्विके
तु वाच्यत्वे प्रक्रमो न विरुद्धेति । न द्वितीयः । शुक्त्यादिषु कल्पितरज-
तादेरवस्तुत्ववत् तुरीयेऽपि कल्पितप्राणादेरवस्तुत्वान्तत्प्रतियोगिका-
धिष्ठानत्वस्य तात्त्विकत्वायोगादिति दूषयति । न प्राणादीति ॥ किञ्च
वाच्यत्वे तुरीयस्य निरुच्यमाने तत्र शब्दप्रवृत्तौ निमित्तं वक्तव्यम् ।
तच्च पृष्ठी वा रूढिर्वा जातिर्वा क्रिया वा सुणो वेति विकल्प प्रथमं
प्रत्याह । न हीति ॥ तुरीयतिरिक्तस्यावस्तुत्वान्तस्य तुरीयस्य च
वस्तुभूतसम्बन्धासिद्धेर्विषयाभावे कुतः पृष्ठीत्यर्थः ॥ द्वितीयं दूषयति ।

इयमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं
शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स
विज्ञेयः ॥ ७ ॥

सम्भवोऽस्ति । न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति ।
सर्वोपनिषदान्तादर्थ्येनोपक्षयात् । तत्त्वमसि । अयमात्मा
ब्रह्म । तत्सत्यम् । स आत्मा यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म ।
स वाङ्मयान्तरो ह्यजः । आत्मैवेदं सर्वमित्यादिना
सोऽयमात्मा परमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तः तस्यापर-
मार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसमसुक्तं पादत्रयल-
क्षणां बीजाङ्गरस्थानीयम् । अयेदानीमबीजात्मकं पर-
मार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानतय-
निराकारणेनाह । नान्तःप्रज्ञमित्यादि । नन्वत्मनश्च-
तुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्थान्तःप्रा-
ज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः ।
न सर्पादि विकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत् ।
तत्रवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषिततत्वात् ।

नापीति । शिष्टरूपेण विषयत्वेऽपि स्वरूपेण निरुपाधिकात्मना
तदविषयत्वं न नात्र गवादायिव रूढिरवतरतीत्यर्थः ॥ न तृतीयः ।
गवादायिकः । तीये तुरीये सामान्यविशेषभावस्याभिधातुमयोग्यत्वा-
दिति मत्वाह । गवादिवदिति ॥ न चतुर्थः । पाचकादाविवाक्रिये
तुरीये विक्रियावत्त्वस्य शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य यत्तुमयुक्तत्वादित्याह ।
नापि क्रियावत्त्वमिति ॥ न पञ्चमः । उत्पन्नदो नीलादिशब्दविनिर्गणे
तुरीये गुणवत्त्वस्य शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य यत्तुमयुक्तत्वादित्याह ।
नापीति ॥ तदेवं तुरीयस्य वाच्यत्वानुमानं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानु-

तत्त्वमसीति वत् । यदि हि त्रयवस्थात्मविलक्षणं तुरीयं
 मन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्य-
 ताप्रपत्तिर्गो रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्पप्रमाना स्थानतये-
 ऽपि आत्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्पप्रते यदा तदा-
 न्तःप्रज्ञादित्वप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्थ-
 प्रपञ्चनिवृत्तिजन्यफलं परिसमाप्तमिति तुरीयाधिगमे
 प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न सृज्यम् । रज्जुसर्पविवेक-
 समकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य
 येषां पुनस्तमोऽपनयव्यतिरेकेण घटादिगमे प्रमाणं व्याप्ति-
 यते तेषां केद्यावयवसम्बन्धवियोगव्यतिरेकेणान्यतरावय-
 वेऽपि छिदित्वाप्रियत इत्युक्तं स्यात् । यदा पुनर्घटतम-
 सोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमसो निवृ-
 त्तिफलावसानं छिदिरिव केद्यावयवसम्बन्धविवेककरणे

पक्षमिवाधितमिति फलितमाह । अत इति ॥ यदि तुरीयस्य नास्ति
 विशिष्टं जात्यादिमत्त्वं तर्हि नरविषाणादिदृष्टेरिव तद्दृष्टेरपि
 निष्कलवत्त्वम् । विशिष्टजात्यादिमतो राजर्जादेरुपासनस्य फलवत्त्वोप-
 लब्धादिति शङ्कते । शशविषाणादीति ॥ यथा क्षतिरियमित्यवगमे
 रजतादिविषयतृष्णा व्यावर्त्तयते तथा तुरीयं ब्रह्माहमित्यात्मत्वेन
 तुरीयस्य साक्षात्कारे सत्यनात्मविषया तृष्णाव्यभिच्छिद्यते । तदेवमा-
 त्मत्वेन तुरीयावगमस्य सर्वोपाह्वानिवर्त्तकत्वादनर्थकत्वाशङ्का न युक्तेति
 परिहरति । नेत्यादिना ॥ तुरीयस्यात्मत्वावगमे सति सर्वानर्थहेतु-
 तृष्णादिदोषनिवृत्तिजन्यं फलमुक्तं विद्वदनुभवेन साधयति । न हीति ॥
 ननु तुरीयमणेषविशेष्यं नामत्वेनावगन्तुं शक्यते तद्धेतुभावादिति
 तत्राह । न चेति ॥ सर्वोपनिषदामित्युक्तमेवोदाहरणलेशेन दर्शयति ।
 तत्त्वमसीति ॥ निषेधमुखेनैव तुरीयस्य प्रतिपादनं न विधिमुखेनेत्युप-

प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसानान्तदा नान्तरीयकं
वटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम् । न च तद्वदध्यात्मन्यध्या-
होपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणं प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञा-
नप्रमाणस्यानुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण
तुरीये व्यापारोपपत्तिः । अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसम-

पाद्यवृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरस्य भवतारयति । सोऽयमीत्यादिना ॥
बीजाङ्कुरस्थानीयं मिथो हेतुमद्भावेन व्यवस्थितमित्यर्थः । अबीजा-
त्मकं कार्यकारणविनिर्मुक्तमिति यावत् ॥ तत्र हेतुं सूचयति । पर-
मार्थेति ॥ तस्य विधिसुखेन निर्देशानुपपत्तिं प्रागुक्तमभिप्रेत्याह ।
सर्पादीति ॥ किमुत्तरेण अन्येन तुरीयं प्रतिपाद्यते किंवा तस्य
स्थानत्ववैलक्षण्यं विवक्षते । प्रथमे प्रतिपादकस्य विधानाव्यतिरेका-
दन्यनिषेधानार्थक्यम् । द्वितीयेऽपि तद्वानर्थक्यमापद्यते । अनुक्त्यैवो-
क्तादन्यत्वसिद्धेरिति मन्वानः शङ्कते । नन्विति ॥ न तावत्तुरीयं विधि-
सुखेन बोध्यम् । तस्य स्वप्रकाशत्वात् । तस्मिन् प्रकाशाद्यनुदयात् ।
तथापि समारोपितविश्वारूपेण प्रतिपन्नं तन्निषेधेन बोध्यते ।
तदनिषेधे तस्य यथावदप्रयत्नात् । अतो न निषेधानर्थक्यमिति परि-
हरति । न सर्पादीति ॥ तुरीयस्य पादत्वविलक्षणस्यार्थादेव
सिद्धावपि जीवात्मनः स्थानत्वविशिष्टस्य तुरीयं ब्रह्मस्वरूपमिति
गोपदेशमन्त्रेण सिद्धप्रतीति तुरीयस्योऽर्थवानित्यर्थः । यथा विधि-
सुखेन प्रवृत्तेन तत्त्वमसीतिवाक्येन स्थानत्वसाक्षिणस्तत्पदलक्ष्यस्य
तत्पदलक्ष्यब्रह्मता लक्षणया बोध्यते । तथा च निषेधशस्त्रेणापि
तात्पर्यवृत्तप्राजीवस्य तुरीयब्रह्मत्वं प्रतिपादयितुं वृष्टान्तमाह ।
तत्त्वमसीति ॥ ननु स्थानत्वविशिष्टस्यात्मनो नैव तुरीयात्मत्वं तुरीय
अन्येन प्रतिपाद्यते । तुरीयस्य विशिष्टाद्विलक्षणत्वेनात्यन्तभिन्नत्वा-
न्तवाह । यदि हीति ॥ प्रतिभासिकवैलक्षण्येऽपि विशिष्टोपलक्ष्ययो-
रात्यन्तिकवैलक्षण्यभावात् तात्त्विकं तुरीयस्य विशिष्टादन्यत्वम् ।

कालमेव प्रमाणात्वादिभेदनिवृत्तेः । तथा च वक्ष्यति ।
ज्ञातेऽद्वैतं न विद्यत इति । ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिल-
क्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात् । अवस्थाने चान-
वस्थाप्रसङ्गाद्द्वैतानिवृत्तिः । तस्यात्प्रतिषेधविज्ञान-
प्रमाणव्यापाररुक्काल एवात्मन्ध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वा-
द्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम् । नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रति-
षेधः । न वह्निःप्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः । नोभयतःप्रज्ञ-

अन्यथाऽत्यन्तभिन्नयोर्मिथः संस्पर्शविरहिणोरुपायोपेवभावायोगात्तुरी-
यप्रतिपत्तौ विशिष्टस्य द्वारत्वाभावादन्यस्य च तत्प्रतिपत्तिद्वारस्या
दर्शनात्तुरीयाप्रतिपत्तिरेव स्यादित्यर्थः ॥ शास्त्रान्तत्प्रतिपत्तिः
स्यादिति चेन्नेत्याह । शास्त्रेति ॥ तद्विशिष्टरूपमनृत्य विशेषांशा-
पोहेन तस्य तुरीयत्वमुपादिशति । भेदे चात्यन्तिके तदानर्थक्यान्न
शास्त्रान्तत्प्रतिपत्तिरित्यर्थः ॥ मातर्हि तुरीयप्रतिपत्तिर्भूयादिति
चेत्तत्राह । शून्येति ॥ विशिष्टस्यैव प्रतिपत्त्या तुरीयस्याप्रतिपत्तौ
प्रतिपन्नस्य विश्वादेर्विशिष्टस्य प्रत्यक्षत्वादित्यस्य चाप्रतिपन्नत्वान्नैव-
राज्याधीरेवापद्येतेत्यर्थः । भेदप्रज्ञस्येद्यथोक्तदोषवशान्न सत्त्ववति
तर्हि माभ्दभेदपक्षोऽपि कथं निर्वहतीति चेत्तत्र किं फलं पर्यनुयु-
ज्यते किंवा प्रमाणान्तरमथ वा साधनान्तरमिति विकल्पाद्यं दूष-
यति । रञ्जुरिवेति ॥ यथा रञ्जुरधिष्ठानभूता सर्पाधारादिभिर्वि-
कल्यते तथैक एवात्मा स्थानत्वयेऽपि यदान्तःप्रज्ञत्वादिना विकल्प-
मानो बहुधा भासते तदा तदनुवादेनान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधजनितं
यत्प्रमाणरूपविज्ञानं तदुत्पत्तिसमानकालमेवात्मन्यनर्थनिवृत्तिरूपं
फलं सिद्धमिति न फलपर्यनुयोगोऽवकाशवानित्यर्थः । शब्दस्य संख-
टपरोक्षज्ञानहेतोरसंखटपरोक्षज्ञानहेतुत्वायोगात्तुरीयज्ञाने प्रमाणा-
न्तरमेष्टव्यमिति पक्षं प्रत्याह । तुरीयेति । तस्य हि साक्षात्कारे
न शब्दतिरिक्तप्रमाणमन्वेष्टव्यम् । शब्दस्य विषयानुसारेण प्रमाणहेतु-

मिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्याप्रतिषेधः । न प्रज्ञा-
नघनमिति सुषुप्तावस्याप्रतिषेधः । वीजाभावाविवेकरूप-
त्वात् । न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयज्ञातृत्वप्रतिषेधः ।
नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः । कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीना-
मात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं
गम्यत इत्युच्यते । ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपीतरेतरव्यभिचा-
रात् रज्ज्वादाविव । रज्ज्वादाविव सर्पाधारादिविकल्पित-
तभेदवत्सर्वत्राव्यभिचारान्नस्वरूपस्य सत्यत्वं सुषुप्ते

त्वात् । विषयस्य तृतीयस्यासंश्लेषात्परोक्षत्वादित्यर्थः । तृतीयसाक्षात्-
कारे प्रसङ्गज्ञानाख्यं स धनान्तरमेष्टव्यमिति पक्षं प्रतिक्षिपति । साध-
नान्तरं चेति ॥ प्रसङ्गज्ञानस्याप्रमाणत्वाच्च प्रमाखण्डं प्रति हेतुतेति
भावः । यथा रज्जुरियं सर्पानेति विवेकधीसमुदयसाक्षात्कारं यादृशा
यानेव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले शिङ्गे रज्जुसाक्षात्कारस्य फलान्तरं
प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न गम्यते क्लृप्त्वात् तथेहापीत्याह ।
रज्ज्विति ॥ विषयगतं प्राकट्यं प्रमाणफलं नाध्यस्तनिवृत्तिरित्या-
शङ्क्याह । येषामिति ॥ स्वविषयाज्ञानापनयनाय प्रवृत्ता प्रमाणक्रिया
स्वविषये भावरूपमतिशयमाधत्ते चेदपनयार्थक्रियात्वाविशेषाच्छिदि-
रपि क्लेशसयोगापनयनातिरिक्तमतिशयमादध्यात् । न च संयोगवि-
नाशातिरिक्ते विभागे सम्प्रतिपत्तिरस्ति । प्राकट्यस्य च प्राकाशत्वे
ज्ञानवद्भार्थनिष्ठात्वप्रकाशत्वे स्यात् । तेनार्थेन विना नाऽर्थोऽस्तीति
भावः ॥ अज्ञाननिवर्त्तकमेव प्रमाणमिति पक्षे विषयस्फुरणे कार-
णाभावाद्द्विषयसंवेदनं न स्यादित्याशङ्क्याह । यदेति ॥ घटो हि तमसा
समावृतो व्यवहारयोग्यस्तिष्ठति तस्य तमसो निष्क्रम्य व्यवहारयोग्य-
त्वापादने प्रत्यक्षादिप्रमाणं प्रवर्त्तते । तच्चानुपादितमित्यानिष्टस्याप्र-
मेयस्य तमसो निवृत्तिलक्षणे यदा पर्यावस्यति तदा घटसंवेदनमा-
र्थिकं प्रमाणफलं न भवति । यथा क्षिदिक्रिया क्लेशस्य तरोरवयव-

व्यभिचरतीति चेन्न । सूषुप्तस्थानुभूयमानत्वात् । न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यत इति च श्रुतेः । अत एवाहृष्टम् । यस्मादहृष्टं तस्मादव्यवहार्यम् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैरलक्षणसलिङ्गमित्येतदनुमेयमित्यर्थः । अत एवाचिन्तयम् । अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः । एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मैत्यव्यभिचारो यः प्रत्य-

योर्मयःसंवोगनिरसने प्रवृत्ता सती तयोरेव क्लेशावयवयोर्द्वेधीभावे फलेपर्यवस्यति न त्वन्यतरावयवेऽपि हिदिर्याप्रियते तयेहापि तमो-
निवृत्ता प्रमाणां निवृत्ताति । घटस्फुरणं त्वार्थिकम् । न च तस्य स्थायित्वमभिव्यञ्जकप्रमातृव्यापारस्यास्थिरत्वादित्यर्थः । किञ्च घटादे-
र्जडस्य संविदपेक्षलान्तत्वं संविदो मानफलत्वेऽपि नात्मन्यलङ्घे
संविदेकताने [मनस्यारोपितधर्म्म] निवर्त्तकत्वमन्तरेण संविज्जनकत्व-
व्यापारः सम्भवतीत्याह । न चेति ॥ तुरीयात्मनि संवेदजनव्यापारो
न प्रमाणस्यप्रकल्पते । तस्य संविदात्मकत्वादारोपितनिवृत्तिव्यतिरेकेण
मानजन्य फलसंविदनपेक्षलादित्युक्तम् ॥ तत्रैव हेतुन्तरमाह । अन्तः
प्रज्ञत्वादीति ॥ आश्रयाभावेनाश्रितप्रमाणाभावादनन्तरक्षणे तस्य
व्यापारानुपपत्तिरित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति । यथा चेति ॥ किञ्च
ज्ञानाधीनद्वैतनिवृत्तप्रवृत्तिवृत्तत्वातिरेकेण न क्षणान्तरे ज्ञानं स्यात्
पारयति । न चास्थिरं ज्ञानं व्यापाराय पर्याप्तम् । तथा च ज्ञानस्य
द्वैतनिवृत्तिव्यतिरेकेण नात्मनि व्यापारोऽस्तीत्याह । ज्ञानस्येति ॥ ननु
ज्ञानं द्वैतनिवर्त्तकमपि न स्वात्मानं निवर्त्तयति । निवर्त्त्य निवर्त्यकभाव
स्यैकत्वं विरोधात् । अतो यावन्निवर्त्तकं स्थास्यति तत्राह । अव-
स्थाने चेति ॥ निवर्त्तकस्य ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तरनन्तरमपि निवर्त्त-
कान्तरमपेक्ष्यावस्थाने च तस्य तस्य निवर्त्तकान्तरव्यपेक्षलादाद्यस्यापि
विज्ञानस्य निवर्त्तकत्वासिद्धिः । न च ज्ञानस्य स्वनिवर्त्तकत्वानुपपत्तिः
स्वपरविरोधिनां भावानां बहुलमुपलम्भादित्यर्थः ॥ ज्ञानस्य जन्मा-

यस्तेनानुसरणीयम् । अथैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं
यस्य तुरीयस्याधिगमे तत् तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम् ।
आत्मेत्येवोपासीत इति श्रुतेः । अन्तःप्रज्ञत्वादि स्थानि-
धर्मप्रतिषेधः कृतः ॥ प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थान-
धर्माभाव उच्यते ॥ अत एव शान्तमविक्रियं शिवं

तिरिक्तव्यापाराभावात्तज्जन्मनश्च द्वैतनिषेधेनैवोपचयात्क्षणान्तरे
विषयस्फुरणजननायानवस्थानादारोपितातद्वर्त्मनिष्ठस्यैव ज्ञानं पर्थ
वसितमित्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ प्रतिषेधजनितं विज्ञानमेव प्रमा-
णम् । तस्य व्यापारो जन्मैव । तेन समानकालेनैवानर्धनिष्ठत्तिरिति
योजना । तत्र हेतुमाह । बीजभावेति ॥ सुषुप्तं हि स्वप्नजागरिते
प्रतिबीजभावस्तस्याशेषविशेषविज्ञानाभावरूपत्वाद्विशेषविज्ञानानां सर्व-
ेषां घनमेकं साधारणमभिभक्तं सुषुप्तमिति तत्प्रतिषेधो नेत्यादिना
सम्भवतीत्यर्थः । युक्तं सर्पादीनां रजज्वादौ भ्रान्तिप्रतिपन्नानां प्रतिषे-
धाद् सत्त्वम् । आत्मनि तु प्रमाणेन गम्यमानानामन्तःप्रज्ञत्वादीनां न
प्रतिषेधो युज्यते मानविरोधादिति शङ्कते । कथमिति ॥ प्रमाणिकत्वं
स्माच्चिद्वत्वाद्युक्तमन्तःप्रज्ञत्वादीनामसत्यत्वमिति परिहरति । उच्यते
इति ॥ विमतमसत्यं व्यभिचारित्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्याह । तत्रस्वरू-
पेति ॥ तस्याविशेषोऽव्यभिचारस्तत्र रज्जादाविवेत्युदाहरणम् । अन्तः
प्रज्ञत्वादीनामितरेतरव्याभिचारे निदर्शनं सर्पाधारादिति । विमतं
सत्यमव्यभिचारित्वाद् रज्जादिवदित्याह । सर्वत्वेति ॥ तस्य च सत्यत्वे
कर्त्तृकल्पनाधिष्ठानत्वसिद्धिरिति भावः । अव्याभिचारित्वहेतोरसिद्धिं
शङ्कते । सुषुप्त इति ॥ न तत्र चैतन्यस्य व्यभिचारः सुषुप्तस्य स्फुरण
व्याप्ततया साधकस्फुरणस्यावश्यकत्वादित्याह । न सुषुप्तेति ॥
सुषुप्ते साधकस्फुरणस्य सत्त्वे प्रमाणमाह । न हीति ॥ निषेधशास्त्रा
लोचनया निर्विशेषत्वं तुरीयस्योक्तं तदेव हेतुतत्त्वं ज्ञानेन्द्रियाविषय
त्वमाह । अत एवेति ॥ दृष्टस्यैवार्थक्रियादर्शनाददृष्टत्वादर्थक्रियाराहित्य

यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते ।
प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात् । स आत्मा स विज्ञेय
इति प्रतीयमानसर्पभूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा
ऋज्वस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थः । आत्माऽदृष्टो दृष्टा ।

गिति विशेषणान्तरमाह । यस्मादिति ॥ अदृष्टमित्यनेनाप्याद्यमित्यस्य
पौनरुक्त्यं परिहरति । कर्मेन्द्रियैरिति ॥ अलक्षणमित्युक्तम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिनक्षणोपलम्भादित्याशङ्क्याह । अलिङ्गमिति ॥
को ह्येवान्यातुकः प्राण्यादित्यादिलिङ्गोपन्यासाविरुद्धमेतदित्याश-
ङ्क्याह । अननुमेयमिति ॥ प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वप्रयत्नं विशेषणान्तर-
माह । अत एवेति । मनोविषयत्वप्रभावादेव शब्दाविषयत्वम् ॥ शब्द-
प्रवृत्तेस्तत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वादित्याह । अत एवेति ॥ तर्हि यथोक्तं वस्तु
नास्त्येव प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह । एकात्मेति ॥ परोक्षार्थविषयतया
विशेषणं व्याख्यापरोक्षार्थतया व्याकरोति अथ वेति ॥ अपरो-
क्षात्मपत्ययस्यात्मनि प्रमाणत्वे दृष्टदारण्यकश्रुतिमुदाहरति । आत्मे-
त्येति ॥ यच्चाप्रोतोत्यादिना परिपूर्णत्वादिलक्षणस्तावदात्मोक्तः । स
च बाङ्मनसातीतः श्रुतिभ्योऽवगतस्तमेकैकरसं परमात्मानं प्रत्यक्तेन
गृहीत्वा तन्निष्ठस्तिष्ठतीत्यात्मनो वस्थात्वातीतस्य तुरीयस्यापरोक्ष
नित्यदृष्टित्वं श्रुतितो दृष्टमित्यर्थः ॥ विशेषणान्तरस्य पुनरुक्तिं परि-
हरन्नर्थभेदमाह । अन्तरिति ॥ स्थानिधर्मस्य स्थानधर्मस्य च प्रति
पेधोऽन्तःशब्देन परान्तर्यते । शान्तं रागद्वेषादिरहितम् । अविक्रियं
कूटस्थमित्यर्थः । शिवं परिशुद्धं परमानन्दबोधरूपमिति यावत् ॥
यस्माद्द्वैताभावोपलब्धितं तस्माच्चतुर्थमित्याह । यत इति ॥ अद्वैत
मित्येतद्व्याचष्टे । भेदेति ॥ सङ्ख्याविशेषविषयत्वाभावे कथं चतुर्थत्व-
मित्याशङ्क्याह । प्रतीयमानेति ॥ चतुर्थतुरीययोर्व्याख्यानव्याख्येयत्वे
नापौनरुक्त्यं तस्योक्तविशेषणत्वेऽपि भमं कियामातमित्याशङ्क्याह ।
स विज्ञेय इति ॥ तदेव व्याचष्टे । प्रतीयमानेति ॥ न हि द्रष्टृर्दृष्टेर्विप-
रिणोपो विद्यते अविनाशित्वादित्यादिवाक्यानि प्रतीकोपादानेन दर्श-

गौडपादोयोपनिषदाविष्करणम् ॥

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।

अद्वैतः सर्वभावनां देवस्तुर्या विभुः स्मृतः ॥१०॥

न हि द्रष्टुर्दृष्टिर्विपरिलोपो विद्यत इत्यादिभिरुक्तो यः स
विज्ञेय इति सूतपूर्वगत्या ज्ञाते द्वैताभावः ॥३॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥ प्रज्ञतैजसविश्वलक्षणानां
सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा ॥ ईशान इत्यस्य
पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति । दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभूर्भवती-
त्यर्थः । तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद्दुःखनिवृत्तेः । अव्ययो न
व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत् । एतत्कुतः ।

यति । न हि द्रष्टुरिति ॥ आत्मन्यव्यवहार्यं क्रतोर्विज्ञेयत्वमित्याशङ्क्य
भूतपूर्वमविद्यावस्थायां या ज्ञेयत्वाख्यावगतिस्तयेदानीमपि विज्ञेयत्व
मित्याह । भूतेति ॥ विद्यावस्थायामेष किमिति ज्ञातज्ञानज्ञेयवि-
भागो न भवति तत्राह । ज्ञात इति ॥ ज्ञानेन तत्कारणस्याज्ञानस्या-
पनीतत्वादित्यर्थः ॥७॥

नान्तःप्रज्ञात्वादिति अत्युक्तोऽर्थे तद्विवरणरूपान् श्लोकानवतार-
यति । अत्रेति ॥ विविधं स्थानत्रयमस्माद्भवतीति व्युत्पत्तया तुरीयो
विभुश्च्यते । न हि तुरीयातिरेकेण स्थानत्रयमात्मान धारयति ।
सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादिभेदभिन्नानां तद्धेतूनां तदाधाराणामिति
यावत् । ईशानपदं प्रयुज्य प्रभुपदं प्रयुज्ज्ञानस्य पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याह ।
ईशान इति ॥ तुरीयस्य दुःखनिवृत्तिं प्रतिसामर्थ्यस्य नित्यत्वान्न
कदाचिदपि दुःखं स्यादित्याशङ्क्याह । तद्विज्ञानेति ॥ संखटरूपेण
व्ययोऽस्तीत्याशङ्क्य विशिनष्टि । स्वरूपादिति ॥ तत्र प्रश्नपूर्वकमद्विती-
यत्वं हेतुमाह । एतत्कुत इति ॥ अतो द्वितीयस्य व्ययहेतोरभावा-
दिति शेषः । विश्वादीनां दृश्यमानत्वात्तुरीयस्याद्वितीयत्वमिद्विरित्या-

कार्यकारणबद्धौ ताविध्यते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः
॥११॥

नात्मानं नापराञ्चैव न सत्यं नापि चाऽ

यस्मादद्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्स एष
देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्यापो स्मृतः ॥१०॥

विश्वादीना सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्यया-
यात्मप्रावधारणार्थम् । कार्यं क्रियत इति फलभावः ।
कारणं करोतीति बीजभावः । तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रह-
णाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ
संगृहीताविध्यते प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः । तत्त्वात्-
प्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम् । ततो द्वौ
तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न
निवृत्तौ न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः ॥११॥

शङ्काह सर्वभावानामिति ॥ अवस्थात्वातीतस्य तुरीयस्योक्तलक्षणत्वं
विद्वदनुभवसिद्धमिति सूचयति । स्मृत इति ॥१०॥

विश्वादिश्ववान्तरविशेषनिरूपणद्वारेण तुरीयमेव निर्द्धारयति
कार्यमिति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । विश्वादीनामिति ॥ विश्वतैजस
योरुभयवद्धत्वं सामान्यं प्राज्ञस्य कारणमात्रवद्धत्वं विशेषः ॥ अथेदं
निरूपणं कुत्रोपयुज्यते तत्राह । तुर्येति ॥ प्राज्ञस्य कारणमात्र-
वद्धत्वं साधयति । तत्त्वाप्रतिबोधेति ॥ त्रयाणामवान्तरविशेषे स्थिते
प्रकृते तुरीये किमायातमित्याशङ्काह । तत इति ॥ तयोस्तस्मिन्नविद्य-
मानत्वं चिदेकताने तयोर्निरूपयितुमशक्यत्वादित्याह । सम्भवत
इति ॥

नृतम् । प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्
सदा ॥१२॥

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्र-
हणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति । यस्मादा-
त्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किञ्चन
संवेत्ति यथा विद्यते जसौ ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसा
अन्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति । यस्मात्तुरीयं तत्स-
र्वदृक् सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति ।
सर्वञ्च तदृक्चेति सर्वदृक् तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजम् ।
तत् तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो न हि
सवितरि सदां प्रकाशात्मके तद्विशुद्धमप्रकाशनं अन्यथा
प्रकाशनं वा सम्भवति । नहि द्रष्टुर्दृष्टिर्विपरिणोपो

प्राज्ञस्य कारणबद्धत्वं नाधयति । नात्मनमिति ॥ तुरीयस्य
कार्यकारणाभ्यामसद्वत्त्वं स्पष्टयति तुर्यमिति ॥ श्लोकव्यावर्त्याभा-
शङ्कोमाह । कथमिति ॥ बाण्ड्यात्कथामित्यस्यानुवृत्तिः सूच्यते ।
प्रथमचोद्योत्तरत्वेन पादत्रयं व्याचष्टे । यस्मादात्म ॥ विलक्षणमना-
त्मानमिति यावत् । अष्टममित्यस्य व्याख्यानमविद्याबीजप्रसूतमिति
द्वैतं द्वितीयमसत्यमित्यर्थः । वधस्योदाहरणम् । यवेति ॥ प्राज्ञस्य
विभानविज्ञानाभावे फलमाह । ततश्चेति ॥ यथाक्ते तमसि कार्यलिङ्ग-
मनुमानं सूचयति । अन्यथेति ॥ द्वितीयं चोद्यं चतुर्थपादव्याख्या-
नेन प्रत्याख्याति । यस्मादित्यादिना ॥ सदैव तुरीयादन्यस्याभावात्तु-
रीयमेव सर्वं तच्च सदा दृश्यमिति यस्मात्तस्मादिति योजना ।
तत्वेति परिपूर्णद्विदेकतानं तुरीयं परावृणोते । अत एवेति कारणा-

द्वैतस्याग्रहस्य तुल्यसुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
 बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्येन विद्यते
 ॥१३॥

विद्यत इति श्रुतेः । अथवा जाग्रत्स्वप्रयोः सर्वभूतावस्थः
 सर्ववस्तुदृग्भाससुरीय एवेति सर्ववद्वत्सदा नान्यदतो-
 ऽस्ति द्रष्टृ इत्यादिश्रुतेः ॥ १२ ॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः । कथं
 द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणवद्भवं प्राज्ञस्यैव न तुरीय-
 स्येति प्राप्ता शङ्का निवर्त्यते । यस्याद्बीजनिद्रायुतसत्त्वा-
 प्रतिबोधो निद्रा । सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम् ।
 सा बीजनिद्रा । तत्रा युतः प्राज्ञः सदा दृक्स्वभावत्वात्त-

भावे कार्यानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ तुरीये तत्त्वग्रहणान्यथाग्रहणयोर
 सम्यक् दृष्टान्तेन साधयति । न हीति ॥ यत्तु तुरीयस्य सदा दृग्भास-
 त्वमुक्तं तत्र प्रमाणमाह । न हि द्रष्टुरिति ॥ चतुर्थपादं प्रकारान्त-
 रेण योजयति । अथवेति ॥ तत्रापि श्रुतिमनुकूलवति । नान्यदिति
 ॥१२॥

अनुमानप्रयुक्तां तुरीयेऽपि कारणवद्भवाशङ्कां परिहरति ।
 द्वैतस्येति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यं गृह्णाति । निमित्तान्तरेति ॥ विमतं
 कारणवद्भवं द्वैताग्रहणात्प्राज्ञवदित्यनुमानमेव दर्शयन्निमित्तान्तर-
 मेव स्फोरयति । कथमिति ॥ अनुमानकताशङ्कातिवर्त्तकत्वेन श्लोकमथ-
 तारयति । प्राप्तेति ॥ प्राज्ञस्योत्तरमाविप्रबोधादिकाकार्यपेक्षया निय-
 तपञ्च भावित्वं कारणवद्भवे प्रयोजकम् । न च तुरीयस्य तदस्तीत्य-
 प्रयोजको हेतुरित्याह । यस्यादिति ॥ किञ्च तुरीयस्य विशुद्धिचिदा-
 त्वप्रसाधनप्रमाणवाधात् कानात्तयापदिष्टो हेतुरित्याह । सदेति ॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्तु स्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः

॥१४॥

त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते । अतो न
कारणवन्वस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥१३॥

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम् । निद्रोक्तातत्त्वा-
प्रतिबोधलक्षणं तम इति । ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ-
विश्वतेजसौ । अतस्तौ कार्यकारणवद्भावितुक्तौ । प्राज्ञस्तु
स्वप्नवर्जितः केवल्यैव निद्रया युत इति कारणवद्

न च पूर्वोक्तोपाधेः साधनस्याप्रिसुरीयस्योत्तरभावि कार्योपेत्यया
नियतप्राग्भावित्वाभावादिति नत्वाह । तत्त्वेति ॥ दोषद्वयवत्त्वेना
नुमानस्यामानत्वे फलितमाह । अतोनेति ॥१३॥

कार्यकारणवद्भौ तावित्यादिश्लोकोक्तमर्थमनुभवदृष्टेन प्रपञ्चयति ।
स्वप्नेति ॥ ननु तेजसस्यैव स्वप्नप्रयुक्तत्वं न तु विश्वस्य प्रबुद्धमानस्य
तदोगो युज्यते प्रबुध्यमानत्वव्याघातात् । कथमविशेषेण विश्वतेजसौ
स्वप्ननिद्रायुताविति ॥ तत्र स्वप्नशब्दाद्यैमाह । स्वप्नइति ॥ यथा रज्ज्वां
सर्पेण गृह्यमाणोऽन्यथा गृह्यते तथाऽऽत्मनि देहादिग्रहणमन्यथाग्रह-
णम् । आत्मनो देहादिवैलक्षण्यस्य श्रुतिशक्तिसिद्धत्वात्तेन स्वप्नशब्द-
तेनान्यथाग्रहणेन संसृष्टत्वं विश्वतेजसयोरविशिष्टमित्यर्थः । तथा
निद्राणस्यैव निद्रा युक्ता न तु प्रबोधवतो विश्वस्येत्याशङ्क्याह ।
निद्रेति ॥ उक्ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां विश्वतेजसयोर्वैशिष्ट्यं निगमयति ।
वाभ्यामिति ॥ तयोरन्यथाग्रहणेनाग्रहणेन च वैशिष्ट्यमुपेत्य प्रागपि
सूचितमित्याशङ्क्याह । अत इति । द्वितीयं पादं विभजते । प्राज्ञ-

अन्यथा गृह्यतः स्वप्नो निद्रातत्त्वमजान-
तः । विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदम-
श्रुते ॥१५॥

इत्युक्तम् । नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदे-
विरुद्धत्वात्स्ववितरीव तमः । अतो न कार्यकारणबद्ध-
इत्युक्तस्तुरीयः ॥१४॥

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते । स्वप्नजागरित-
योरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्यतस्त्वत्वं स्वप्नो भवति ।
निद्रातत्त्वमजानतस्तिष्ठेष्ववस्थासु तुल्या । स्वप्ननिद्रयोस्तु-
ल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम् । अन्यथाग्रहणात् प्राधा-
न्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन् विपर्यासः स्वप्नः ।
तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला विप-
र्यासः । अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणा-
ग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्व-
प्रतिबोधतः क्षीणे तुरीये षट्मश्रुते तदोभयलक्षणं बन्ध-
रूपं तत्रापश्यन् तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥१५॥

स्ति ॥ द्वितीयार्थं व्याचष्टे । नोभयमिति ॥ तुरीये निद्रास्वप्नयोर-
दर्शने हेतुमाह । विरुद्धत्वादिति ॥ अज्ञानतत्त्वकार्ययोर्निर्विविक्त-
मिदमे तुरीये विरुद्धत्वादनुपलब्धिरित्यत्र दृष्टान्तमाह । स्ववितरी-
वेति ॥ तुरीये वस्तुतो नाविद्यातत्कार्ययोः सङ्गतिरस्तीत्यङ्गीकृत्य प्राग-
पि सूचितमित्याह । अतो नेति ॥१४॥

कदा तर्हि स्वप्नो भवतीत्यपेक्षायामाह । अन्यथेति ॥ निद्रातर्हि
कदेति सन्दिहानं प्रत्याह । निद्रेति ॥ तुरीयप्रतिपत्तिसमयं सङ्गि-

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबु

योऽयं संसारो जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबिम्ब-
रूपेण बीजात्मना अन्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकाल-
प्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं
नप्ता चेतं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽह-
मनेन वर्द्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान् स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि
पश्यन् सुप्तो यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन
गुरुणा नास्त्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किन्तु तत्त्वमसीति
प्रतिबोध्यमानो यदा तदैवं प्रतिबुध्यते । कथं नास्मिन्
वाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सवा-
ह्याभ्यन्तरसर्व्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः । यस्माज्जन्मादि
कारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्य-

रते । विपर्यास इति ॥ श्लोकव्यावृत्तग्रांमाकाङ्क्षां दर्शयति । कदेति ॥
कदा स्वप्ननिष्ठो भवति कदा निद्रानिष्ठः स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् ॥ प्रश्न-
त्रयस्योत्तरं श्लोकेन दर्शयति । उच्यते इति ॥ तत्र कदा स्वप्नो भव-
तीति प्रश्नं परिहरति । स्वप्नेति ॥ अवस्थाद्वये स्वप्नद्रूपित्वर्थः ।
द्वितीयं प्रश्नं समाधत्ते । निद्रेति ॥ विश्वादिषु त्रिषु तयोरिति
द्विवचनं कथमित्याशङ्क्याह । स्वप्ननिद्रयोरिति ॥ विश्वतैजसावेको-
राशिः । प्राज्ञो द्वितीयः ततः श्लोके द्विवचनमविरुद्धमित्यर्थः ।
प्रथमे राशौ विपर्यासस्वरूपं कथयति । अन्यथेति ॥ द्वितीये राशौ
विपर्यासविशेषं दर्शयति । तृतीये त्विति ॥ द्वितीयावर्द्धगतान्यचराणि
व्याकरोति । अत इति ॥ द्विवचनस्योपपन्नत्वाद्विपर्यासस्य च विभा-
गेन निर्व्वारितत्वादित्यर्थः । तृतीयं प्रश्नं प्रतिविधत्ते । तदेति ॥ तत्त्व-
प्रमोधाद्विपर्यासस्य व्यावस्थायामित्यर्थः ॥ १५ ॥

ध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा
॥१६॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निर्जेत न संशयः ॥

निद्रम् । अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम् । तन्निमित्त-
त्वादित्या ग्रहणस्य । यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादज-
मद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा ॥ १६॥

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथम-
द्वैतमिति । उच्यते । सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत
रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वात् न तु स विद्यते विद्यमान-
स्येन्न निर्जेत न संशयः । न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्याक-
ल्पितः सर्पो विद्यमानः सन् विवेकतो निवृत्तः । नैव
माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दिशिनां चक्षुर्वन्धापगमे
विद्यमाना सती निवृत्ता । तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायाभावं

कदा तत्त्वप्रतिबोधो विपर्ययस्य हेतुर्भवतीत्यपेक्षायामाह ।
अनादीति ॥ प्रतिबुध्यमानं तत्त्वमेव विशिनष्टि । अजमिति ॥
जीवगन्धवाच्यमर्थं निर्दिशति । योऽयमिति । परमात्मैव जीव-
भावमापन्नः संसरतीत्यर्थः । तस्य कथं जीवमावापन्निरित्याशङ्क्य
कार्यकरणवद्वत्त्वादित्याह । स इति परमात्मोभयलक्षणोऽन-
सृतेजा भवतीत्यन्वयः । स्वापस्योभयलक्षणत्वमेव प्रकटयति ।
तत्त्वेत्यादिना ॥ मायालक्षणेनेत्युभयत्र सम्बध्यते ॥ सुषुप्तमेव व्यनक्ति ।
ममेत्यादिना ॥ स्वापपरिगृहीतस्यैव प्रतिबोधनावकाशो भवती-
त्याह । यदेति ॥ यद् सुषुप्तस्तदा बुध्यते इति शेषः । प्रति-
बोधकं विशिनष्टि । वेदान्तार्थेति । कथं प्रतिबोधनं तदाह । नास्तीति

भायामात्मिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्र-
पञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वा स्वीत्यभिप्रायः ॥१७॥

अनुभूयमानत्वमेवमित्युच्यते । यथोक्तविशेषणेन गुरुणा प्रतिबुध्यमानः
शिष्यस्तदाऽसावेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रतिबुद्धो भवतीत्युक्तम् ॥ तमेव
प्रकारं प्रश्नपूर्वकं द्वितीयाद्भ्याख्यानेन विशदयति । कथमित्यादिना
अस्तिन्निति सप्रस्या बोध्यात्मरूपं परावृत्त्यते । बाह्यं कार्यमान्तरं
कारणं तच्चोभयमिह नास्ति । ततो जन्मादेर्भावविकारस्य नात्मावकाशः
सम्भवतीत्यर्थः । अवतारितं विशेषणं सप्रमाणं योजयति । स्या-
द्येति ॥ अजत्वादेवानिद्रं कार्याभावे कारणस्य प्रमाणाभावेन वक्तुं
मग्न्यत्वादिति मत्वाह । यस्मादिति ॥ अनिद्रत्वं हेतुं कृत्वा विशे-
षणान्तरं दर्शयति । अत एवेति ॥ अग्रहणान्यथाग्रहणमन्वयवैधुर्थ्यं
हेतुं कृत्वा विशेषणद्वयमित्याशङ्क्याह । तुरीयमिति । तदा विशि-
ष्टाचार्येण विशिष्टं शिष्यं प्रति प्रतिबोधनाय स्थायामित्यर्थः १६

तुरीयमद्वैतमित्युक्तं तदयत्तं प्रपञ्चस्य द्वितीयस्य सत्त्वादित्याश-
ङ्क्याह । प्रपञ्च इति ॥ प्रपञ्चनिवृत्त्या तुरीयप्रतिबोधान्तद्वितीयत्व
मविरुद्धमिति मैदान्तिकीमाशङ्कां पूर्ववाद्यनुवदति । प्रपञ्चेति ॥
तर्हि पूर्वप्रपञ्चनिवृत्तेरनिवृत्तस्य तस्य सत्त्वादाद्वैतं सेदुमर्हतीति
पूर्ववाद्येन ब्रवीति । अनिद्रत्त इति । सिद्धान्तोऽग्नौ केनोत्तरमाह ।
उच्यत इति । किं प्रपञ्चस्य वस्तुत्वमुपेत्याह तानुपपत्तिरुच्यते किंवा २व-
स्तुत्वमिति विकल्पादयो हेतानुपपत्तिमङ्गीकरोति । सत्यमिति अद्वैतं
तर्हि कथमुपपद्येत्याशङ्क्य प्रपञ्चस्यावस्तुत्वपक्षे तदुपपत्तिरित्याह ।
रज्ज्वामिति यथा सर्पो रज्ज्वां कल्पितवस्तुतो नास्त तथा प्रपञ्चोऽपि
कल्पितत्वान्न वस्तुतो विद्यते । तथाच तात्त्विकमद्वैतमविरुद्धमित्यर्थः ॥
उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन साधयति । विद्यमानश्चेति । यद्यात्मनि
कारणाधीनः सन् प्रपञ्चो विद्येत तदा कृतकस्यानित्यत्वनियमात्तन्नि

विकल्पो विनिवर्त्तत कल्पितो यदि केन
चित् । उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न
विद्यते ॥१८॥

ननु शास्त्रा शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवृत्त
इत्युच्यते । विकल्पो विनिवर्त्तत यदि केनचित्कल्पितः
स्यात् । यथाऽयं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथाऽयं शिष्यादि
भेदविकल्पोऽपि प्राक् प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽत
उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्त्रा शास्त्रमित्युपदेशकार्ये
तु ज्ञाने निवृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते
॥ १८ ॥

वृत्तिरवश्यम्भाविनी । कार्यस्य च निवृत्तिर्नाम कारणसंसर्गस्ततः
सति कारणे प्रपञ्चनिवृत्तेरनात्मनिकलाद्वैतानुपपत्तिराशङ्केयत । न
च कारणाधीनः सन् प्रपञ्चोऽस्ति । तस्य कल्पितत्वेनावस्तुत्वादित्यर्थः ॥
प्रपञ्चस्य मयया विद्यमानत्वं न तु वस्तुत्वादित्युदाहरणाभ्यामुपपाद-
यति । न हीत्यादिना ॥ सर्पो हि रज्ज्वां भ्रान्तप्राकल्पितो नायं सर्पो
रज्जुरेवेति विवेकधिया निवृत्तो नैव वस्तुतो विद्यते । बाधितस्य
कालत्रयेऽपि सत्त्वाभावात् । माया चेन्द्रजालशब्दाभ्यां मायाविना
प्रदर्शिता पाञ्च स्थानां मायादर्शनवतां चक्षुर्गतस्य यथार्थदर्शनप्रतिब-
न्धकस्यापगमे सति समुत्पन्नस्यार्थदर्शनतो निवृत्ता सती नैव वस्तुतो
विद्यमाना भवितुमुत्सहते । यद्येदमुदाहरणद्वयं तथेदं द्वैतं प्रपञ्चा-
ख्यं मायामात्रं न परमार्थतोऽस्त्यर्थः । प्रपञ्चस्यासत्त्वे शून्यवादः
स्यादित्याशङ्क्याह । रज्जुर्वादिति ॥ प्रपञ्चस्य कालत्रयेऽपि सत्त्वाभावे
सात्त्विकमद्वैतमविरुद्धमित्यपसंहरति । तस्मादिति ॥ १७ ॥

प्रकारान्तरेणाद्वैतानुपपत्तिमाशङ्क्य परिहरति । विकल्प इति ॥
यदि केनचिद्द्वैतना ज्ञत्वज्ञानेन कार्येण शास्त्रादिविकल्पो हेतुतय

॥ उपनिषद् ॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोक्षारोऽधिमात्रं पादा-

अभिधेयप्रधान ओङ्कारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो
यः सोऽयमात्माऽध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्रधात्येव व
र्यमानोऽध्यक्षरम् । किं पुनस्तदक्षरमित्याह । ओङ्कारः ।
सोऽयमोङ्कारः पादशः प्रविभज्यमानोऽधिमात्रं माता-

विकल्पतस्तथाप्यसौ वाधितो निवर्त्तेत न तु तात्त्विकमद्वैतं विरोद्धम-
र्हति । तस्य ज्ञानात्प्रागवस्थायास्य तत्त्वोपदेशं निमित्ती यतः ।
शास्त्रादिभेदोऽनूद्यते । उपदेशप्रयुक्ते तु ज्ञाने निर्द्वैतेन किञ्चिदपि
द्वैतमस्तीत्यद्वैतमविरुद्धमित्यर्थः । श्लोकव्यावृत्त्यामाशङ्कामाह । नन्विति
तदनिवृत्तौ नाद्वैतमिद्विर्न च शास्त्रादिभेदस्य कल्पितत्वादविरोधः ।
तथा सति धूमाभासयत्तत्त्वज्ञानहेतुत्वानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ धूमाभासस्या-
व्याप्रस्यातद्वैतत्वेऽपि कल्पितस्य शास्त्रादेस्तत्त्वज्ञानहेतुत्वं प्रतिविम्बा-
दिवदुपपन्नमित्युत्तरमाह । उच्यते इति ॥ शिष्यः शास्त्रा शास्त्रमित्ययं
विकल्पो विभागः स्वीऽपि निवृत्तिप्रतियोगित्वादवस्तत्वाज्ञानबाध्यत्वाद-
द्वैताविरोधीत्यर्थः ॥ शिष्यादिविभागस्य कल्पितत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ।
यथेति मायाविना प्रयुक्ता माया यथा कल्पितेभ्यते यथा च सर्पधा-
रादिविकल्पितस्तथाऽयं प्रपञ्चः सर्वोऽपि कल्पितो यस्तु न भवतीति
प्रपञ्चितं तथैव प्रपञ्चैकदेशः शिष्यादिरपि ज्ञानात्प्राक्कल्पितः सर्व-
ज्ञानकतो मिथ्येत्यर्थः ॥ किमिति ज्ञानात्पूर्वमसौ कल्पते तत्राह ।
उपदेशेति ॥ उपदेशमुद्दिश्य यथोक्तविभागवचनमित्युक्तमुपसंहरति ।
अत इति ॥ उपदेशात्प्रागिव तस्मादूर्ध्वमपि भेदोऽनुवर्त्ततामित्या-
शङ्क्य विरोधसद्भावात्कैवमित्याह । उपदेशेति ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानसमर्थानां मध्यमानामुत्तमानाञ्चाधिकारिणामध्यारो-
पापवादाभ्यां पारमार्थिकं तत्त्वमुपदिष्टमिदानीं तत्त्वग्रहणसमर्था-

३०

माता माताश्च पादा अकार उकारो मकार
इति ॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा

प्र
सु
ह
ह

मधिकृत्य वर्त्तत इत्यभिमातम् । कथमात्मनो ये पादास्त-
ओङ्कारस्य माताः । कास्ताः । अकार उकारो मकार
इति ॥ ८ ॥

तत्र विशेषनियमः क्रियते । जागरितस्थानो वैश्व-
नरो यः स ओङ्कारस्याकारः प्रथमा माता । केन सामा-
न्येनेत्याह । आक्षेराक्षिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता ।
अकारो वै सर्वा वागिति श्रुतेः । तथा वैश्वानरेण जगत् ।
तस्य ह वै तस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्नि व सुतेज इत्यादि
श्रुतेः । अभिधानाभिधेययोरेकत्वज्ञावोचाम । आदिरस्य
विद्यत इत्यादिमद्यैवादिसदकाराख्यमक्षरं त्रयैव वैश्व-

नामधमाधिकारिणामात्मध्यानविधानायारोपदृष्टिमेवावष्टभ्य व्याचष्टे
अभिधेयेत्यादिना ॥ अध्यक्षरमित्येतद्वाकरोति । अक्षरमिति ॥ अध्य-
क्षरमित्यत्र किं पुनस्तदक्षरमिति प्रश्नपूर्वकं व्युत्पादयति किं पुनरि-
त्यादिना ॥ तस्य विशेषणान्तरं दर्शयति । मोक्ष्यमिति ॥ आत्मा हि
पादशो विभज्यते मातामधिकृत्य पुनरोङ्कारो व्यवतिष्ठते इत्यर्थं
पादशो विभज्यमानस्याधिमातृत्वमिति पृच्छति । कथमिति ॥ पादानां
माताणाञ्चैकत्वादेतदविरुद्धमित्याह । आत्मन इति ॥ ८ ॥

पादानां माताणाञ्च मध्ये विश्वाख्यविशेषस्याकारविशेषत्वं निग-
मयति । तत्रेति ॥ विश्वाकारय रेकत्वं सादृश्यं सत्त्वारोपयितुं शक्य-
मन्यत्र सत्येव वक्षिन्नारोपसन्दर्शनात्तथा च किं तदारोपप्रयोजकं

मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामा
नादिश्च भवति य एवं वेद ॥६॥

स्वप्नस्थानस्त्रैजस उकारो द्वितीया मात्रो-
त्कर्षादुभयत्वाद्वात्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं

नरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य । तदेकत्वविदः
फलमाह । आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिः प्रथमश्च
भवति मङ्गतां य एवं वेद यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥८॥

स्वप्नस्थानस्त्रैजसो यः स ओङ्कारस्योकारो द्वितीया-
मात्रा । केन सामान्येनेत्याह । उत्कर्षात् । अकारादुत्

सादृश्यमिति पृच्छति । केनेति ॥ सामान्योपन्यासपरां श्रुतिमवतार-
यति । आह्वेति ॥ व्याप्तिमेषाकारस्य श्रुत्युपन्यासेन व्यनक्ति । अका-
रेणेति ॥ अध्यात्माधिदैविकयोरेकत्वं पूर्वमुक्तमुपेत्य विश्वस्य वैश्वानरस्य
जगद्व्याप्तिं अत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति । तथेति ॥ किञ्च सामान्यद्वारा
वाच्यवाचकयोरेकत्वमारोप्यं न भवति तयोरेकत्वस्य प्रागेवोक्तत्वादित्याह ।
अभिधानेति ॥ सामान्यान्तरमाह । आदिरिति ॥ तदेव स्फुट-
यति । यथैवेति ॥ उकारो मकारश्चेत्युभयमपेक्ष्य प्रथमपाठादिमत्त्व-
मकारस्य द्रष्टव्यम् । विश्वस्य पुनरादिमत्त्वम् । तैजसप्राज्ञावपेक्ष्या-
दास्थाने वर्त्तमानत्वादित्यर्थः ॥ उक्तस्य सामान्यान्तरस्य फलं दर्शयति ।
तस्मादिति ॥ किमर्थमित्यं सामान्यद्वारा तयोरेकत्वमुच्यते तद्विज्ञानस्य
फलवत्त्वादित्याह । तदेकत्वेति ॥९॥

सादृश्यविकल्पादेव फलविकल्पः ॥ द्वितीयपादस्य द्वितीयमा-
त्रायाश्चैकत्वं व्यपदिशति । स्वप्नेत्यादिना ॥ यथा प्रथमपादस्य
प्रथममात्रायाश्चैकत्वं सामान्यं पुरस्कृत्योक्तं तथा द्वितीयपादस्य

समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य
एवं वेद ॥१०॥

कष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वाद्युभयत्वाद्वा अकार
मकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत
उभयभाक्कसामान्याद्विद्वत्फलमुच्यते । उत्कर्षति ह वै
ज्ञानसन्ततिम् । विज्ञानसन्ततिं वर्द्धयतीत्यर्थः । समान-
स्तुल्यश्च मितपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रहेष्यो भवति ।
अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥११॥

द्वितीयमावायाश्चैकत्वं सत्येव सामान्ये वक्तव्यं तदभावे तदारोपा
योगादिति वृत्तिरिति । केनेति ॥ सामान्योपन्यासपूर्वकमेकत्वारोपं
साधयति । अहिति । अकारस्य सर्ववागव्यापकत्वेनोत्कृष्टत्वस्य
स्पष्टत्वात्कथं तस्मादुकारस्योत्कर्षो वर्ण्यते तत्राह । अकारादिति ॥
अकारस्योत्कर्षो वास्तवेऽपि पाठक्रमादुकारस्योत्कर्षवत्त्वमौपचारि-
कमिवकारश्चाभुमर्थमुपोहयति । यथा अकारादुकारोत्कर्षो दर्शि-
तस्तथा विश्वान्तैजस्योत्कर्षो वक्तव्यः ॥ सूक्ष्माभिमानिनः स्थूला-
भिमानिनः सकाशादुत्कर्षस्य युक्तत्वादित्याह । तथेति ॥ उकारतै-
जसयोर्न प्रत्येकमुभयत्वं एकत्वस्योभयत्वव्याघातादित्याशङ्क्य व्याक-
रोति । अकारेति ॥ मध्यस्थत्वादुकारतैजसयोरुभयभाक्त्वं नामान्यं
तस्मात्तयोरेकत्वं शक्यमारोपयितुमित्याह । अत इति ॥ यथोक्तैकत्व-
विज्ञानं फलवत्त्वादुपादेयमिति सूचयति । विद्वदिति ॥ ज्ञानसन्तते
रुत्कर्षो नाम कुनश्चित्तस्याभेदावेदं तस्येष्टत्वाभावे कथं फलवत्त्वं
मित्याशङ्क्य व्याचष्टे । विज्ञानेति ॥ पक्षद्वयतुल्यत्वमेवप्रकटयति ।
अप्रहेष्य इति ॥ सादृश्यभेदेन फलभेदभावेऽपि द्विविधसादृश्यप्रसक्तैकत्व-
विज्ञानफलमाह । अब्रह्मविदिति ॥१०॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्वा
मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं ७ सर्वम-
पीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओङ्कारस्य मकारस्तृतीया मात्वा ।
केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमतः । मितेर्मितिर्मानं
मीयेत इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्तयोः प्रवे-
शनिर्गमाभ्याम् । प्रस्थेनेव यवाः । तथा ओङ्कारसमाप्तौ
पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे ।
अपीतेर्वाऽपीतिरप्यय एकीभावः । ओङ्कारोच्चारणेऽन्ये-
ऽक्षरे एकीभूताविवाकारोकारौ । तथा विश्वतैजसौ
सुषुप्तकाले प्राज्ञे । अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमका-
रयोः । विद्वत्फलमाह । मिनोति ह वेदं सर्वं जगद्वो-
यात्मन् जानातीत्यर्थः । अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवती-
त्यर्थः ॥ अतावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम् ॥११॥

इतीवंपादस्य तृतीयमात्वायाश्चैकत्वमुपन्यस्यति । सुषुप्तेति ॥
पूर्ववदेकत्वप्रयोजकमत्वापि मन्त्रपूर्वकमुपवर्णयति । केनेत्यादिना ॥
मानमेव विद्वणोति ॥ मीयेत इति ॥ ओमित्योङ्कारस्य नैरनर्थ्यणो-
च्चारणे सत्यकारोकारौ प्रथमं मकारे प्रविश्य पुनस्तस्मान्निर्गच्छन्नावि-
बोपलभ्येते तेन मकारेऽपि मानसामान्यमिति वक्तव्यमित्यर्थः । एकी-
भावमेव स्फोरयति । ओङ्कारेति ॥ मकारवत्प्राज्ञेऽपि तदस्ति
सामान्यमित्याह । तथेति ॥ उक्तस्यापि सामान्यस्य फलमाह ।
अतो वेति ॥ सामान्यद्वयद्वारेण प्राज्ञमकारयोरेकत्वज्ञानं नाविवक्षितं
फलवत्त्वादित्याह । विद्वदिति ॥ अविदुषोऽपि जगद्विषयज्ञानमस्ती-

॥ गौडपादीयश्लोकाः ॥

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्क-
टम् । मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव
च ॥१६॥

अत्रैते श्लोका मन्त्रा भवन्ति । विश्वस्यात्वमकारमा-
त्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदादित्वसामान्यमुक्तन्यायेनोत्कट-
मुद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः । अत्रविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं
मात्रासम्प्रतिपत्ताविति । विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा सम्प्र-
तिपद्यत इत्यर्थः । आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते
चशब्दात् ॥१६॥

त्याशङ्क्य विशिनष्टि । जगदायात्मप्रमिति ॥ तद्यायात्मप्रज्ञाव्याकृतत्वं
प्रलयभवनमनिष्टत्वाच्च फलमित्याशङ्क्याह । जगदिति ॥ तत्र तत्त्वैकत्व-
ज्ञाने फलभेदकथनादुपासनाभेदमाशङ्क्याह । फलभेदश्रुतेरधीवाटत्व-
मुपेत्याह । अत्रेति ॥ पादानां मात्राणाञ्च क्रमादेकत्वविज्ञाने फलकथनं
सर्वान् पादान्मात्राञ्च सर्वाः स्वात्मन्यन्तर्भाष्य प्रधानस्य ब्रह्मध्यानस्य
साधनं यदोङ्काराख्यामन्तरं तस्य स्मृत्युपयुज्यते तेन च तदेवैकमुपा-
सनमितरस्यातदङ्गत्वाच्चोपास्तिभेदकत्वमित्यर्थः ॥११॥

पादानां मात्रायाञ्च यदेकत्वं सनिमित्तं श्रुत्योपपन्नत्वं तत्र श्रुत्यर्थ-
विवर्णरूपान् पूर्ववदेव श्लोकानवतारयति । अत्रेति ॥ प्रथमपादस्य
प्रथममात्रायाश्चाभेदारोपार्षमुक्तं सामान्यद्वयं विशदयति । विश्वस्येति ॥
उक्तन्यायेनादिरस्येत्यादाविति शेषः । पुनरुक्तिपरिहारद्वारा विव-
क्षावर्धनाह अत्रेति ॥ अनुवर्तित्योक्तं दर्शयति चशब्दादिति ॥१६॥

तैजसस्योत्वविज्ञाने उत्कर्षा दृश्यते स्फुटम् ।
 सात्वासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥
 मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कर्षं ।
 सात्वासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यं मेव च ॥२१॥
 त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति

तैजसस्योत्वविज्ञाने उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षा दृश्यते
 स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः । उभयत्वं च स्फुटमेवेति । पूर्ववत्-
 सर्वम् ॥२०॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कर्षे सामान्य इत्यर्थः
 ॥२१॥

यथोक्तस्यानवये तुल्यमुक्तं सामान्यं वैत्येवमेवैत-
 दिति निश्चितो यः सम्पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविज्ञोके
 भवति ॥२२॥

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्वाभिः सहैकत्वं

प्रथमपादस्य द्वितीयमात्वायाश्चैकत्वारोपप्रयोजकद्वयं व्युत्पन्नं
 व्यनक्ति । तैजसस्येति ॥ स्फुटमेवेति ॥ उक्तविज्ञान इत्यस्य व्याख्यानं
 सात्वासम्प्रतिपत्ताविति तद्व्याख्यानं सर्वं मित्युच्यते तत्पूर्वनददृष्टव्यमि-
 त्युच्यते । पूर्ववदिति ॥२॥

तृतीयपादस्य तृतीयमात्वायाश्चैकत्वाध्यासे सामान्यद्वयं व्युत्पा-
 दयितं विशदयति । मकारेति अक्षराद्यस्य पूर्ववदेव सुज्ञानत्वान्तात्-
 पर्याधीमाह । मकारत्व इति ॥२१॥

विज्ञादीनामकारादीनाञ्च यत्तुल्यं सामान्यमुक्तं तद्विज्ञानं सौत्ति

निश्चितः । सम्पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्याश्चैष
महामुनिः ॥२२॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैज-
सम् । मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामान्ते विद्यते
गतिः ॥२३॥

कृत्वा यथोक्तोङ्कारं प्रतिपद्य यो ध्यायीत तमकारो
नयते विश्वं प्रापयति अकारालम्बनोङ्कारं विद्वान् वैश्वान-
नरो भवतीत्यर्थः । तथोकारस्तैजसम् । मकारश्चापि पुनः
प्राज्ञश्च शब्दान्नयत इत्यनुवर्त्तते । क्षीणे तु मकारे वीज-
भावक्षयादमात्रे ओङ्कारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः
॥२३॥

विवक्षितं ॥ यथोक्तस्नानत्रयं जागरितं स्वप्नं सुषुप्तश्चेति । वितथं
तुल्यं पादानां मात्राणाञ्चेति शेषः ॥ उक्तं सामान्यमाप्तिरुक्तयो-
मितिरित्यादिना ॥ महामुनिरित्यस्यार्थमाह । प्रज्ञाविदिति ॥२२॥
पूर्वोक्तसामान्यज्ञानवतो ध्याननिष्ठस्य फलविभागं दर्शयति ।
अकार इति ॥ यत्र तु पादानां मात्राणाञ्च विभागो नास्ति तस्मिन्नो-
ङ्कारे तुरीयात्मनि व्यवस्थितस्य प्राप्तृप्राप्तव्यप्राप्तिविभागो नास्ती-
त्याह । नामात्र इति ॥ ओङ्कारव्यायिनमकारो विश्वं प्रापयतीत्युक्त-
मयुक्तम् । विश्वप्राप्तेर्ध्यानमन्त्रेण सिद्धत्वात् । अकारस्य चाध्येयस्योक्त-
फलप्रापकत्वायोगादित्यशङ्क्याह । अकारेति ॥ तदा लम्बनं तत्प्र-
धानमिति यावत् । अकारप्रधानमोङ्कारं ध्यायतो यथा वैश्वानर-
प्राप्तिस्तथोकारप्रधानं तमेव ध्यायतस्तैजसस्य हिरण्यगर्भप्राप्तिर्भव-
तीत्याह । तथेति ॥ यश्च मकारप्रधानमोङ्कारं ध्यायति तस्य प्राज्ञा-
व्याकृतप्राप्तिर्युक्तेत्याह । मकारश्चेति ॥ क्रियापदानुष्ठितिरुभयत्र
विषक्षिता ॥ चतुर्थपादं व्याचष्टे । क्षीणे त्विति सूत्रप्रपञ्चो जागरितं

॥ उपनिषद् ॥

अमातश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः
शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्म-

अमातो मात्रा वस्य नास्ति सोऽमात्र ओङ्कारश्चतुर्थ-
स्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः
क्षीणत्वादव्यवहार्यः । प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत
एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओङ्कारस्त्रिमात्रस्त्रिपादः ।
आत्मैव संविशत्यात्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मानं
य एवं वेद । परमार्थदर्शिनं ब्रह्मविदां तृतीयं बीजभावं
दग्ध्याऽऽत्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबी-
जत्वात् । न हि रज्जु सर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः

विश्वेत्वेतत्त्रितयमकारमात्रं सूक्ष्मप्रपञ्चः सूक्ष्मसौजनश्चैतत्त्रितयमुकार-
मात्रं प्रपञ्चद्वयकारणं सुषुप्तं प्राज्ञश्चेत्वेतत् त्रितयं मकारमात्रं तत्रापि
पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरभावमापाद्यते । तदेवं सर्वमोङ्कारमात्रमिति
ध्यात्वा स्थितस्य यदेतावन्तं कालमोमिति रूपेण प्रतिपन्नं तत्परि-
शुद्धं ब्रह्मैवेत्याचार्योपदेशसमुत्पत्तस्य गङ्गानेन पूर्योक्तसर्वविभागनिमित्ता-
ज्ञानस्य मकारत्वेन गृहीतस्य चोद्ये ब्रह्मण्येव शुद्धे पर्यवसितस्य न
कचिद्भूतिरुपपद्यते परिच्छेदाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रत्यक्चैतन्यमोङ्कारसंवेदनं त्रिमात्रेणोङ्कारेणाध्यक्षेन तादात्म्य-
दोङ्कारो निरुच्यते । तस्य परेण ब्रह्मणैक्यममात्वादित्युक्त्या विवक्ष्यते
तामवतार्य व्याकरोति । अमात इत्यादिना ॥ केवलत्वमद्वितीयत्वम् ।
विशेषणान्तरमुपपादयति । अभिधानेति ॥ अभिधानं वागभिधेयं मन-
श्चित्तातिरिक्ताधीभावस्याभिधानात्मानत्वात्तयोर्मूलाज्ञानक्षयेण क्षीण-
त्वादिति हेत्वर्थः ॥ अथव्यवहार्यश्चेदामा नास्मैवेत्याशङ्क्य विकार

नाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

सर्पोऽबुद्धिसंस्कारात् पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति ।
सन्दनध्यगधिवान्तु प्रातिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगाभिनां
सन्त्यासिनां सात्वाद्यां पादानाञ्च क्लृप्तसामान्यविदां यथा
बहुपास्यमान ओङ्कारो ब्रह्मप्रतिपत्तये आलम्बनीभवति ।
तथा च वक्ष्यति । आश्रमास्त्रिविधा हीना इत्यादि
॥१२॥

जातविनाशावधिलेनात्मनो ऽविशेषाच्चैवमित्याह । प्रपञ्चेति ॥ तस्य च
सर्वानर्थाभावोपलक्षितस्य परमानन्दत्वेन पर्यवसानं सूचयति ।
शिव इति ॥ तस्यैव सर्वं द्वैतकल्पनाधिष्ठानत्वेनावस्थानमभिप्रेत्याह
अद्वैत इति ॥ ओङ्काररूपीयः सन्नात्मैवेति यदुक्तं तदुपसंहरति
एवमिति ॥ यद्योक्तं विज्ञानं पादानां सात्वाद्याद्यैकत्वम् । न च पादा-
मात्वाच्च तुरीयात्स्योङ्कारे सन्ति । पूर्वपूर्वविभागश्चोत्तरोत्तरान्त-
र्भावेन क्रमादात्मनि पर्यवस्यतीत्येवंलक्षणसद्वता प्रयुक्तः सन्तोङ्कारो
सात्वाः पादाश्च स्वस्मिन्नलर्भाव्यावस्थितस्यात्मनो भेदमसहनानन्त-
रूपो भवतीत्यर्थः ॥ उक्तैक्यज्ञानस्य फलमाह । संविशतीति ॥ सुषुप्ते
यद्वाप्राप्तस्य पुनरुत्थानवत् सुप्तस्यापि पुनर्जन्तु स्यादित्याशङ्क्याह ।
परमार्थेति ॥ सुषुप्तस्य पुनरुत्थानं बीजभूताज्ञानस्य सत्त्वादुपपद्यते ।
इह तु बीजभूतमज्ञानं तृतीयं सुषुप्ताख्यं दग्ध्वैव तेषामात्मानं तुरीयं
प्रविष्टो विद्वां इति नाहौ पुनरुत्थानमर्हति । कारणमन्तरेण तदङ्गो-
पादित्यर्थः ॥ तुरीयमेव पुनरुत्थानबीजभूतं भविष्यतीत्याशङ्क्य कार्य-
कारणानिर्मुक्तस्य तस्य तदेयोगान्मैवमित्याह । तुरीयस्येति ॥ सुप्त-
स्यापि पूर्वसंस्कारात् पुनरुत्थानमाशङ्क्य दृष्टान्तेन निराचष्टे न हीति ॥
पूर्ववदित्यपि वेकावस्थायासित्वेत्यर्थः । तद्विवेकिनां रज्ज्वुसर्पविवेक-
विज्ञानवतामिति यावत् । बुद्धिसंस्कारदीत्यत्र बुद्धिशब्देन सर्प-

इति भाण्डूक्योपनिषन्मूलमन्त्राः समाप्ति-
कृताः ॥ ओं तत्सत् हरिः ओं ॥

॥ गौडपादीयश्लोकाः ॥

ओंङ्कारं पादशो विद्यात् पादा माता
न संशयः । ओंङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न कि-
ञ्चिदपिचिन्तयेत् ॥२४॥

इति भाण्डूक्यमूलमन्त्रभाष्यम् ॥ ओं ॥

पूर्ववद्वैते श्लोका भवन्ति । यद्योक्तैः सामान्यैः
पादा एव माता माताश्च पादास्तस्मादोङ्कारं पादशो
विद्यादित्यर्थः । एवमोङ्कारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा
न किञ्चित्प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥२४॥

स्नान्तिर्ह्युच्यते । उक्तमाधिकारिणामोङ्कारहारेण परिशुद्धब्रह्मात्मैक्य
विदामपुनरावृत्तिजननमुक्तं फलम् । इदानीं मन्दानां नव्यमानाश्च
कथं ब्रह्मप्रतिपत्त्या फलप्राप्तिरित्याहङ्काराह । मन्देति ॥ तेषामपि क्रम
सुक्तिरविरुद्धेत्यर्थः ॥ तत्रैव वाक्येष्वनुकूल्यं कथयति । तथा चेति
॥१२॥

इति भाण्डूक्यमूलमन्त्रभाष्यटीका समाप्ता ॥ ओं ॥

यथा पूर्वमाचार्येण श्रुत्यर्थप्रकाशकाः श्लोकाः प्रणीतास्तथोत्तरे
ऽपि श्लोकाः श्रुत्युक्ते र्थे एवं सम्भवन्तीत्याह । पूर्ववदिति ॥ ओङ्का-
रस्य पादशो विद्या कीदृशीत्याहङ्काराह । पादा इति ॥ पादानां माता
णाञ्चान्योन्यमेकत्वं कृत्वा तद्विभागविधुरमोङ्कारं ब्रह्मबुद्ध्याध्यायतो-
भयति कृतार्थतेति दर्शयति । ओंङ्कारमिति । तस्मात्पादानां माता-
णाञ्चान्योन्यमेकत्वादित्यर्थः । तदेकत्वं पुरश्चर्योङ्कारमुभवविभागशून्यं

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
 प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥
 प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।

युञ्जीत समादध्यात् यथा व्याख्याते परमार्थरूपे
 प्रणवे चेतो मनो यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् । न हि
 तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचिद्विद्वान्न विभेति कुत-
 श्चनेति श्रुतेः ॥ २५ ॥

परापरे ब्रह्मणि प्रणवः परमार्थतः क्षीणेषु आता-
 पादिषु पर एवात्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत
 इत्यपूर्वः । नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्य-

ब्रह्मबुद्ध्या जानीयादित्याह । ओङ्कारमिति ॥ उत्तरार्द्धस्य तात्पर्य-
 माह । एवमिति ॥ २४ ॥

प्रणवानुसन्धानकुशलस्य प्रणवज्ञानेनैव सर्वद्वैतापवादकेन
 सतार्थता भवतीत्युक्तम् । इदानीं तदनभिज्ञस्य परोपदेशमात्रशरणस्य
 ध्यानकर्त्तव्यतां कथयति । युञ्जीतेति । ननु मनसः समाधानं ब्रह्मणि
 कर्त्तव्यं किमिति प्रणवे तत्कर्त्तव्यतोच्यते तत्राह । प्रणव इति ॥
 सम्प्रति प्रणवे समाहितचित्तस्य फलं दर्शयति । प्रणवे नित्ये इति ॥
 समाधान विषयमाह । यद्येति ॥ तुरीयरूपं वयोच्यते तत्र हेतुमाह ।
 यस्मादिति ॥ तदेव साधयति । न हीति ॥ तत्र तैत्तिरीयकमुत्थाप्य २२-
 ब्रूयमाह । विद्वानिति ॥ २५ ॥

कीदृशस्तर्हि प्रणवो मन्धानां मध्यमानाञ्चाधिकाणि ध्येयो
 भवतीत्याशङ्क्याह । प्रणवे हीति ॥ उत्तमाधिकाणि कीदृशस्तर्हि
 प्रणवः सर्वगज्ञानगोचरो भवति तत्राह । पूर्वं इति ॥ परापरब्रह्मा-

अपूर्वोऽनन्तरो वाह्यो न परः प्रणवोऽ-
व्ययः ॥२६॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमान्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्रुते तदनन्तरम्
॥२७॥

नन्तरः । तथा वाह्यमन्यत्र विद्यत इत्यवाह्यः । अपरं
कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः । स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः
सैन्धवघनवदित्यर्थः ॥२६॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः । सर्वस्यैव मा-
याहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवदुत्पद्यमानस्य विय-
दादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः एवं हि प्रणवमात्मानं
मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव
व्यश्रुत इत्यर्थः ॥२७॥

त्मना प्रणवो मन्दमध्यमाधिकारिणोर्ध्वेयतामुपगच्छतीति पूर्वाङ्गं
व्याचष्टे । परेति । उत्तमाधिकारिणस्तु सर्वविशेषगून्यमेकर सं प्रत्यगभूतं
सद्व्रक्ष्य तद्रूपेण प्रणवः सम्यग्ज्ञानाधिगम्यो भवतीत्युत्तराङ्गं विभज्यते
परमाद्यत इत्यादिना ॥ उक्तोऽर्थे प्रमाणं सूचयति । सवाह्येति ॥२६॥

यथोक्तास्य प्रत्यगाकृतमापन्नस्य तुरीयस्यापूर्वत्वमनन्तरत्व
मित्यादिविशेषणमुक्तं तत्र हेतुमाह । सर्वस्येति ॥ यथोक्तविशेषणं
प्रणवं प्रत्यञ्चं प्रतिपद्य कृतकृत्यो भवतीत्याह । एवं हीति ॥ पूर्वाङ्गं
व्याकरोति । आदीति ॥ सर्वस्यैवोत्पद्यमानस्योत्पत्तिस्थितिश्च वा
यथोक्तप्रणवाधीना भवन्ति । अतस्तस्योक्तं विशेषणं युक्तमित्यर्थः ॥ तत्र
परिणामवादं व्यावर्त्य विवर्त्तवादं द्योतयितुमुदाहरति । मायेति ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् । सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोङ्कारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान् मत्वा न शोचति । शोकनिमित्तानुपपत्तेः । तरति शोकनात्मविदितिश्रुतिभ्यः ॥२८॥

अनेकोदाहरणमुत्पद्यमानस्यानेकविधत्वबोधनार्थं प्रणवस्य प्रत्यगात्मत्वप्राप्तिरस्यैव स्वमायाशक्तिवशाज्जगद्वैतत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ यथा मायावी स्वगतविकारमन्तरेण मायाहृतस्यादेरिन्द्रजालस्य स्वमायावशादेव हेतुः । यथा वा रज्ज्वादयः स्वगतविकारविरहिणः स्वाज्ञानादेव सर्पादिहेतवस्तथाऽयमात्मा प्रणवभूतो व्यवहारदशायां स्वाविद्यया सर्वस्य हेतुर्भवति । अतो युक्तं तस्य परमार्थावस्थायां पूर्वोक्तविशेषणवत्त्वमित्यर्थः ॥ द्वितीयाहं विभजते । एवं हीति ॥ पूर्वोक्तविशेषणसम्पन्नमिति यावत् । ज्ञानस्य मुक्तिहेतोः महायान्तरापेक्षा नास्तीति सूचयति । तत्त्वज्ञानादेवेति ॥ तदात्मभावमित्यत्र तच्छब्देनापूर्वादिविशेषणं परमार्थवस्तु परान्वश्यते ॥२७॥

ब्रह्मबुद्ध्या प्रणवमिति ध्यायतो हृदयाख्यं देशमुपदिशति । प्रणवमिति ॥ परमार्थदर्शिनस्तु देशाद्यनवच्छिन्नवस्तुदर्शनादाधिकशोकभावं तत्र को मोहः कः शोक इत्यादिश्रुति सिद्धमनुवदति । सर्वव्यापिनमिति ॥ हृदयदेशे प्रणवभूतस्य ब्रह्मणो ध्येयत्वे हेतुं सूचयति स्मृतिप्रत्ययेति ॥ बुद्धिमानिति विवेकित्वमुच्यते । मतेति साक्षात्कारसम्पत्तिर्विबध्यते ॥ विवेकद्वारा तत्त्वसाक्षात्कारे सति शोकनिवृत्तौ

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः
॥२६॥

अमात्रसुरीय ओङ्कारो मीयतेऽनयेति मात्रापरि-
च्छिन्तिः सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः । नैतावत्त्व-
मस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वादेव
शिवः । ओङ्कारो यथा व्याख्यातो विदितो येन स पर-
मार्थतत्त्वस्य मज्जनान्मुनिः । नेतरो जनः शास्त्रविदपी-
त्यर्थः ॥ २६ ॥

हेतुमाह । शोकेति ॥ तस्य हि निमित्तमात्राज्ञानम् । तस्यासमाक्षात्-
कारतो निवृत्तौ शोकानुपपत्तिरित्यत्र प्रमाणमाह । तरतीति ॥ आदि-
शब्देन भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादिश्रुतिर्गृह्यते ॥ २८ ॥

ओङ्कारं तुरीयभावमापन्नो यः प्रतिपन्नस्तं स्तौति ॥ अमात्र
इति ॥ यथोक्तप्रणवप्रतिपत्तिविहीनस्तु जननमरणमात्रभागी न पुरु-
षार्थभागभवतीति विद्यारहितं निन्दति । नेतर इति । यावदवि-
भागस्य मात्रा विभागस्य चाभावादोङ्कारस्तुरीयः सन्न मात्रो भवती-
त्याह । अमात्र इति ॥ ननु कथमनन्तापरिच्छिन्तिरोङ्कारस्य तुरीय-
स्योच्यते । न हि तत्र परिच्छिन्तिरेषास्तीत्याशङ्क्याह ॥ नैतावत्त्वमिति ॥
अनर्थात्कद्वैतसंस्पर्शाभावात्प्रतिबन्धेन परमानन्दत्वं तस्मिन्नावि-
भवतीत्यभिप्रेत्याह । सर्वेति ॥ यथा व्याख्यातः पूर्वाङ्गेनोक्तविशेषण-
मित्यर्थः । ननु यथोक्तप्रणवपरिज्ञानरहितस्यापि शास्त्रपरिज्ञानवत्त्वात्
जन्मोपचक्षितसंसारभाक्त्वेन पुरुषार्थसिद्धिः । भवम् शास्त्रविदोऽपि
तत्त्वज्ञानाभावे मुख्यपुरुषार्थसिद्धेरित्याभिप्रेत्याह । नेतर इति ॥
तदेवं प्रणवद्वारेण निरूप्याधिकमात्मानमनुसन्धानस्य पुरुषार्थपरि-
शमाप्तिर्नेतरेषां बहिर्मुखानामिति स्थितम् ॥ २६ ॥

इति माण्डूक्योपनिषदर्थविष्करणपरायां
गौडपादीयकारिकायां प्रथमभागमप्रकरणम्
॥ ओं तत्सत् ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंस
परिव्राजकाचार्यस्य शङ्करभगवतः कृतावागमशास्त्रविव-
रणे गौडपादीयकारिकासहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्ये
प्रथमभागमप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥ ओं तत्सत् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीशुद्धानन्दपादपूज्य-
शिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचितायां माण्डूक्योपनिषदविष्करणपरा-
गौडपादीयकारिकाभाष्यटीकायां प्रथमभागमप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥
ओं तत्सत् ॥ १ ॥

अथ गौडपादीयकारिकाया वैतथ्याख्यं
द्वितीयं प्रकरणम् ॥

हरिः ओं ॥

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आऊर्मनी-

ओं ॥ ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम् । एकमेवा-
द्वितीयमित्यादिसुतिभ्यः । आगममात्रं तत्तत्त्वोपपत्त्यापि-
द्वैतस्य वैतथ्यं भूयतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरण-
मारभ्यते । वैतथ्यमित्यादिना । वितथस्य भावो वैतथ्यं
असत्यत्वमित्यर्थः । कस्य । सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां
भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलब्धमानानामाऊः कथयन्ति
मनीषिणः प्रमाणकुशलाः । वैतथ्ये हेतुमाह । अन्तःस्या-
नात् । अन्तःशरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम् । तत्र हि
भावा उपलब्ध्यन्ते प्रवृत्तहत्यादयो न बहिः शरीरात् ।

ओं ॥ आगमप्राधान्येनाद्वैतं प्रतिपादयता तत्प्रत्यनीकस्य
द्वैतस्य निश्चालनार्थादुक्तं इदानीं तन्निश्चालनमुपपत्तिप्राधान्येनापि
प्रतिपत्तुं शुभ्रकमिति दर्शयितुं प्रकरणान्तरमवतारयन्नादौ दृष्टा-
न्तमिध्यर्थं तस्मिन् दृढमस्त्वितिमाह । वैतथ्यमिति ॥ न केवलमाप्नोक्ति-
यशा हो स्वप्नमिथ्यात्वं किन्तु युक्तितोषीत्याह । अन्तःस्यानादिति ॥
पूर्वोक्तप्रकरणयोः सम्बन्धमिध्यर्थं पञ्चमोऽङ्गो दत्तं सङ्क्षिप्तानुव-
दति । ज्ञात इति ॥ आदिशब्देन यत्र हि द्वैतमिव भवतीत्यादिसुति-
भ्यः ज्ञाते । तर्हि द्वैतनिश्चालनस्य प्रागेव सिद्धत्वादुत्तरं प्रकरणमनर्थ-
कमित्याशङ्क्याह । आगमेति ॥ यद् द्वैतनिश्चालनं पूर्वमुक्तं तदागममात्रं ।

पिणः । अन्तःस्थानान्तु भावानां संवृतत्वेन
हेतुना ॥ १ ॥

तस्यात्ते वितथा सवितुमर्हन्ति । ननु अपवरकाद्यन्तरूप-
लभ्यमानै घंटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याह ।
संवृतत्वेन हेतुनेति । अन्तः संवृतस्थानादित्यर्थः न ह्यन्तः
संवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्तप्रदीनां भावोऽस्ति । नहि
देहे पर्वतोऽस्ति ॥ १ ॥

आगमप्राधान्येनानुगतं न युक्तिः सिद्धम् । तस्मिन्नागमतोऽवगते
युक्तिप्राधान्येनापि तन्निश्चयात्सबगन्तव्यमिति प्रकरणान्तरं प्रारब्ध-
मित्यर्थः । प्रसादानुग्राहकत्वात्तर्कस्यानुग्राह्यप्रमाणस्य प्रधानत्वात्त-
दधीनविचारानन्तरं तर्काधीनविचारस्य सावकाशत्वादयुक्तं पौर्वा-
पर्यं पूर्वोत्तरप्रकरणयोरित्युक्तम् ॥ समुपति श्लोकाचरणि योजयति ।
वितथस्वयदिना ॥ बाह्या घटादयः । सुखादयस्वाध्यात्मिका भावाः ॥
शरीरान्तरस्थानं स्वप्नानां भावानामित्यात्वानुभवं प्रमाणयति ।
तत्र हीति ॥ तेषामन्तरूपलभ्यमानत्वेऽपि न वैतथ्यं व्यभिचारादित्या-
शङ्कामनूद्य परिहरति । नन्वित्यादिना ॥ हेतुन्तरशङ्कां वारयति ।
अन्तरिति । यद्यपि देहान्तःसङ्घचिते देहे स्वप्ना भावा भवन्ति तथापि
कथं तेषां नृपात्ममित्यत आह । न हीति ॥ अन्तरित्युक्तं स्फुटयति ।
संवृत इति ॥ तत्रैव सङ्घचितं देशविशेषं आन्तरं स्फुटयति । देह-
ान्तर्नाडीष्विति ॥ उक्तमर्थं बौमुतिकन्यायेन स्फुटयति । न हीति यदा
देहेऽपि पर्वतादयो न सम्भाव्यन्ते तदा तदन्तर्वर्तिनीषु नाडीषु अति
सूक्ष्मास्तु तेषां सम्भावना नास्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । स्वप्नाभावाः
सत्या न भवन्ति । उचितदेहगुणव्यापकतमं जडादियदिति भावः
॥ १ ॥

अदीर्घत्वान्न कालस्य गत्वा देशान्न

स्वप्नदृष्टानां भावानामन्तः संवृतस्थानमित्येतदक्षि-
 ष्णम् । यस्मात्प्राच्यां सुप्तं च दक्षु स्वप्नान् पश्यन्निव
 दृश्यते इत्येतदाशङ्क्याह । न देहाद्वहिर्देशान्तरं गत्वा
 स्वप्नान् पश्यति । यस्मात्सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजन-
 भूतान्तरिते भासभावप्राप्ये देशे स्वप्नान् पश्यन्निव
 दृश्यते । न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति
 अतो दीर्घत्वाच्च कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति ।
 किञ्च प्रतिबुद्धश्च वै सर्व्वः स्वप्नदृक् स्वप्नदर्शनदेशे न
 विद्यते । यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेत् यस्मिन् देशे
 स्वप्नान् पश्येत् तत्रैव प्रतिबुध्येत । नचैतदस्ति । रात्रौ

देहाद्वहिरेव देशान्तरं गत्वा स्वप्नानाभ्यासानुपपन्नभ्रातृत्वां
 देहान्तः संवृते नाडीप्रदेशे दर्शनमसम्प्रतिपन्नमित्याशङ्क्य परिहरति ।
 अदीर्घत्वाच्चेति ॥ बहिः स्वप्नोपलब्धिपक्षे दोषान्तरमाह । प्रतिबुद्ध-
 येति ॥ व्यावर्त्त्यामाशङ्कासमुपवदति । स्वप्नेति । तेषां देहान्तःसङ्कु-
 चिते नाडीदेशे स्थितिदर्शनान्निष्पत्त्यात्मित्ये तदपि असम्प्रतिपन्नमि-
 त्यत्र हेतुमाह । यस्मादिति । पश्यन्निवेति स्वप्नदर्शनस्य निरूपणं सत्या-
 भासत्वमिवशब्देन द्योत्यते । एतच्छब्देन चोद्यं परावृत्त्यते । स्वप्नद्रष्टा
 गत्वा स्वप्नान् पश्यतीत्यत्र हेतुमाह । यस्मादिति ॥ इवशब्दस्तु पूर्व्व-
 वत् । तथापि कथं बहिः स्वप्नोपलब्धो न भवतीति निर्द्धारितमित्या-
 शङ्क्याह । नचेति ॥ स्वप्नः सत्यो न भवति उचितकालविकलत्वात्
 सम्प्रतिपन्नवदित्यभिप्रेत्य फलितमाह । अत इति ॥ इत्यत्र न देहाद्व-
 हिर्देशान्तरे स्वप्नदर्शनमित्याह । किञ्चेति सर्व्वेऽपि स्वप्नद्रष्टा देशान्तरे
 स्वप्नान् पश्यन्नुपलब्धादेव प्रतिबुद्धे न तत्वास्ति किन्तु शयनदेशे वर्त्तते

पश्यति । प्रतिबुद्धञ्च वै सर्वस्वस्मिन् देशे न
विद्यते ॥ २ ॥

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।

सुप्तोऽहनि इव भावान् पश्यति वज्रभिः सङ्गतो यैश्च
सङ्गतो भवति तैर्गृह्यते ॥ न च गृह्यते । गृहीतश्चेत्
त्वासद्य तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः । न चैतदस्ति ।
तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥ २ ॥

इतश्च स्वप्नदृष्ट्या भावा विवर्तयः । चतोऽभावावश्चै-
वरथादीनां स्वप्नदृष्ट्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ

तथापि गत्वा स्वप्नदर्शने कानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह । यदि चेति ॥
अन्तरेव स्वप्नदर्शनमिति स्थिते स्वप्नमिथ्यात्वमुचितकालमन्यत्वादित्युक्तं
प्रपञ्चयति । रात्राविति ॥ यद्यपि रात्रौ निद्रासुपगतस्तथापि भावा-
नहनि पश्यन्निव तिष्ठति सुप्तः संहृतचक्षुरादिकरणोऽपि पश्यति ।
शयानोऽपि पर्यटनं प्रतिपद्यते । यद्यपि महायविहीनः सुप्तस्तथापि
वज्रभिः महायः स्वप्नानुपलभ्यते । तस्मादुचितस्य कालस्य करणस्य
सहकारिणश्चाभावेऽपि स्वप्नदर्शनात्तस्मिन्निथ्यात्वं सिद्धमित्यर्थः । स्वप्न-
मिथ्यात्वे हेत्वन्तरमाह । येष्वेति ॥ सहदर्शिभिरगृह्यमाणत्वं स्वप्न-
द्रुष्टुमसम्पत्तिरिति तस्मिन्निथ्याशङ्क्याह । गृहीतश्चेदिति ॥ पुनरान्तरसंवादा
दर्शनान्तर्देशान्तरप्राप्तिद्वारा स्वप्नदर्शनमिति वक्तुमशक्यत्वादन्तरेव
स्वप्नदर्शनमिथ्युचितदेशकालाद्यभावात्तस्मिन्निथ्यात्वं सिद्धमित्युपसंहरति ।
तस्मान्नेति ॥ २ ॥

स्वप्नदृष्ट्यानां भावानां मिथ्यात्वे हेत्वन्तरमाह । अभावश्चेति ॥
न तत्र रथा न रथयोगा न पश्यान्तो भवन्तीत्यादिश्रुत्या स्वप्ने स्वयं
ज्योतिर्नान्तर्गतो दर्शयन्त्या तत्र दृष्ट्यानां रथादीनामभावो योग्यदे-

वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रका-
शितम् ॥ ३ ॥

न तत्र रथा इत्यत्र तेनान्तःस्थानसंहतत्वादिहेतुना प्राप्तं
वैतथ्यं तदनुवादिन्या अतः स्वप्ने स्वयं ज्योतिष्प्रतिपाद-
नपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः ॥ ३ ॥

शाब्दभावद्योतकन्यायपुरःसरं श्रूयते । अतस्तेन न्यायेन प्राप्तमेव स्वप्न-
दृश्यभावानामस्ति मिथ्यात्वमन्यपरया अतः प्रकाशितमिति ब्रह्मविदो
वदन्ति । तथा च स्वप्ने भावानां मिथ्यात्वं श्रुतियुक्तिभ्यां सिद्धमित्यर्थः ॥
हेतुन्तरपरत्वं श्लोक्तस्य दर्शयति । इतश्चेति ॥ इतः शब्दार्थमेव
स्फुटयति । यत इति ॥ ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावादधीज्ज्ञानस्यापि
श्रुतमसत्त्वमिति वक्तुमशब्दः । श्रूयते न तत्वेत्याद्यायां श्रुताविति
सम्बन्धः ॥ न्यायपूर्वकमिति व्याचष्टे । युक्तिरिति ॥ योग्यदेशाद्यभावो
युक्तिः ॥ तर्हि न्यायसिद्धेर्धे किमन्यपरया अतः क्रियते तत्राह ।
तेनेति ॥ अन्तःशरीरमध्यस्थानं नाड्योलक्षणम् । तत्रातिरूढ्ये संहतत्वेन
सङ्कुचितत्वेनावस्थानं पर्वतादीनामुपसृज्यते । ततश्चोचितदेशाभावो
योग्यकालाभावश्चेत्यादिना प्रागुक्तेन हेतुना प्राप्तं स्वप्नदृश्यानां भावानां
वैतथ्यं तदेव तदनुवादिन्या अतः अपि प्रकाशितमित्वाहुर्ब्रह्मविदः ।
जाग्रदवस्थायामादित्यादिप्रकाशानां वागादिज्योतिषां च विद्यमान-
त्वादासनादिव्यवहारस्य तन्निमित्तत्वसम्भवादात्मचैतन्यनिबन्धनो
व्यवहारो न निर्वारयितुं शक्यते स्वप्ने पुनः सूर्याद्यभावेऽपि व्यव-
हारदर्शनात्तस्य च निमित्तामेव्यत्वादात्मचैतन्यस्य तन्निमित्तत्वनिर्णया-
त्तत्वात्मनः स्वयं ज्योतिष्प्रतिपादयितुं न तत्वेत्याद्या श्रुतिः । तथा
तत्परया न्यायसिद्धं स्वप्नमिथ्यात्वमनुवदन्त्या तदप्रतिपादितमपि प्रका-
शितमिष्यते । तथा च श्रुतियुक्तिभ्यां प्रतिपन्नं स्वप्नमिथ्यात्वमिति
दृष्टान्तसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्तस्थानात् भेदानां तस्माज्जागरिते
स्मृतम् । यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते
॥ ४ ॥

प्र
मु
द
र

जाग्रदृष्ट्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञादृश्यत्वा-
दिति हेतुः स्वप्नदृश्यभाववदिदृष्टान्तः । यथा तत्र स्वप्ने
दृष्ट्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमव-
शिष्टमिति हेतुपनयः । तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृत-
मिति निगमनम् । अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन स्वप्नदृष्ट्यानां
भावानां जाग्रदृष्ट्येभ्यो भेदः । दृश्यत्वमतत्त्वत्वावशिष्टसुभ-
यत् ॥ ४ ॥

उक्तन्यायेन दृष्टान्ते सिद्धेफलितमनुमानमाह । अन्तःस्थाना-
दिति भेदानामित्यत्र सूचितमनुमानमारचयति । जाग्रदिति
तृतीयेन पादेन पञ्चधर्मात्वं व्याप्तस्य हेतोरुच्यते तद्दर्शयति यथेति ॥
द्वितीयेन पादेन प्रतिकूलप्रमाणाभावसूचकं प्रतिज्ञोपसंहारवचनं
निगमनं सूचितमित्याह । तस्मादिति ॥ सर्व्वद्वैतवैतथ्यवादिनां केन
विशेषेण पञ्चसपञ्चविभागसिद्धिरित्याशङ्क्याह । अन्तःस्थानात् संवृतत्वेन
मिथ्यत इत्यत्र विवक्षितमर्थमाह । अन्तःस्थानादिति ॥ स्वप्नदृष्ट्यानाम-
न्तःस्थानं संवृतत्वञ्च न तथा जाग्रददृष्ट्यानां तेनाचितदेशाद्यभावा-
त्तेषां तेभ्यो वैषम्यं स्फुटम् । सिद्धं हि योग्यदेशाद्यभावेन स्वप्नस्य
मिथ्यात्वमिति सपक्षत्वम् । जागरितस्य पुनरुचितदेशादिसङ्गावाद्-
स्फुटमिथ्यात्वमिति पक्षत्वमित्यर्थः । तर्हि सर्व्वथा वैषम्याद्दृष्टान्त-
दाष्टान्तिकभावासिद्धिरित्याशङ्क्याह । दृश्यत्वमिति ॥ ४ ॥

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥५॥
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्रथा ।

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन
स्वप्नजागरितस्थानयोरेक्यत्वमाह । विवेकिन इति । पूर्व-
प्रमाणसिद्धस्यैव फलम् ॥५॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रदृष्ट्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावात्
यदादावन्ते च नास्ति वस्तु नृगदृष्टिकादि तन्मध्येऽपि
नास्तीति निश्चितं लोके । तद्येमे जाग्रदृष्ट्या भेदाः ।

स्वप्नजागरितस्य मिथ्यात्वे स्वप्ननिद्रायुतावित्यादौ जागरिते
स्वप्नशब्दप्रयोगो युक्तो भवतीत्याह । स्वप्नेति ॥ उभयत्रैकत्वं विद्वदभि-
मतमित्यत्र हेतुमाह । भेदानामिति ॥ भेदा मिद्यमाना भावास्तेषां
मयस्याद्वयवर्त्तिनां ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वमविशिष्टम् । तेन दृश्यत्वेन हेतुना
प्रसिद्धमेव तेषां मिथ्यात्वेन समत्वं तेन स्थानयोरेकरूपत्वं विवेकिना
मभिप्रेतमिति यत्पूर्वमनुमानाख्यं प्रमाणं सिद्धं तस्यैव फलं साध-
नस्थानद्वयाविशेषरूपमनेन श्लोकेनोक्तमिति श्लोकयोजनया दर्शयति ।
प्रसिद्धेनैवेति ॥५॥

जाग्रदृष्ट्यानां भावानां मिथ्यात्वमित्यत्रानुमानान्तरमाह ।
आदाविति ॥ यदि जाग्रदृष्ट्या भावा मिथ्यात्वेन प्रसिद्धस्वप्नादिभिः
समत्वान्निष्ठः कथं तर्हि तेषां घटः सन् पटः सन्नित्यस्यपा-
त्वेन प्रतीतिरित्याशङ्क्याह । वितयेरिति ॥ प्रकृते जाग्रन्निष्ठ्यात्वे
हेतुनरपरत्वं श्लोकस्योपन्यस्यति । इतश्चेति ॥ विमतं मिथ्या आदि-
मत्त्वादन्तवत्त्वात् स्वप्नादिवैदित्यर्थः । उक्तानुमानजडिम्ने व्याप्तिं कथ-
यति ॥ यदादाविति ॥ यदादिमदन्तवत्त्वं तन्निष्ठ्या यथा नृगदृष्टिका-

वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः
॥६॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतीपद्यते ।

आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगदृष्टिकादिभिः सदृशत्वा-
द्वितथा एव तथाऽप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्म-
विद्भिः ॥६॥

स्वप्नदृश्यवज्जागरितं दृष्ट्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तं
तदुक्तम् । यस्याज्जाग्रदृष्ट्या अन्नपानवाहनादयः
क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तः गमनागमनादिकार्येष्व-
सप्रयोजना दृष्टाः नतु स्वप्नदृष्ट्यानां तदस्ति तस्मात्स्वप्न-
दृश्यवज्जाग्रदृष्ट्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति । तत्तदस्मा-

दीर्घार्थः । व्याप्तिमतः साधनस्य पञ्चधर्म्मो तोपन्यासेन प्रतिज्ञोपसंहार-
वचनं निगमनं दर्शयति । तथेति ॥ अनुमानस्य घटादिषु सत्त्वसा-
धकप्रत्यक्षविरोधभाशङ्कया सद्बन्धव्यनगरमिति वस्तुस्थापानिकसत्त्ववि-
षयत्वान्मन्त्रमित्याह । तथापीति ॥६॥

स्वप्नस्य मिथ्यात्वमाद्यन्तवत्त्वाद्भवति किन्तु फलपर्यन्तत्वाभावा-
ज्जागरितस्य फलपर्यन्तत्वान्न मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याह । सप्रयोजन-
तेति ॥ फलपपर्यन्तत्वात्ताराहित्योपाधेः साधनव्यापकत्वे फलितमाह ।
तस्मादिति ॥ जाग्रदृष्ट्याभावा वज्जत्या मृच्छान्ते । श्लोकस्य व्याव-
र्त्तामुपाध्याशङ्कामुत्थापयति । स्वप्नेति ॥ जाग्रदृष्ट्यानामिव स्वप्नदृ-
ष्ट्यानामपि तुल्यं सप्रयोजनत्वमित्युपाधेरसम्भेदत्वमित्याशङ्क्याह ।
नत्विति ॥ अनुमानस्य सोपाधिकत्वेनासाधकत्वे फलितमाह । तस्मा-

तस्मादाद्यन्ततत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः

॥ ७ ॥

अपूर्वं स्थानिधर्मा हि यत्रास्वर्गनिवासिनाम्

कस्मादाद्यात्सप्रयोजनता दृष्टा या अन्नपानादीनां या स्वप्ने विप्रतिपद्यते । जागरिते हि भुक्ता पीत्वा चाहृतो विनिवर्त्तितदृष्टं सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्त्तनहोरात्रोपितमभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते । यथा स्वप्ने भुक्ता पीत्वा चाहृतोत्थितस्तथा । तस्माज्जाग्रदृष्ट्यानां स्वप्नेऽपि विप्रतिपत्तिर्दृष्ट ॥ अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्कनीयमिति । तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

स्वप्नजाग्रद्वेदयोः समत्वाज्जाग्रद्वेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत् । कस्मात् । दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात् । कथं

दिति ॥ हेतोः सोपाधिकत्वं दूषयति । तत्वेति ॥ साधनव्याप्तिप्रादिदोषादृते नोपाधिनिरसनं सुशक्तमित्याशङ्क्याह । कस्मादिति ॥ फलपर्यन्तताविरहिसोपाधेः साधनव्याप्तिमाह । यस्मादित्यादिना ॥ तासैव विप्रतिपत्तिं प्रकटयति । जागरिते हीति ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटयति । यथेत्यादिना ॥ उपाधेः साधनव्याप्तिं निगमयति । तस्मादिति ॥ हेतोः सोपाधिकत्वाभावे फलितमाह । अत इति ॥ हेतुद्वयमुपसंहरति तस्मादिति ॥ ७ ॥

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं गङ्गित्वा परिहरति । अपूर्वमिति ॥ यथा स्वर्गनिवसनशीलानामिन्द्रादीनां सहस्राजत्वादिवर्णस्तथा यदिदमपूर्वं स्वप्नदर्शनं मन्यसे तदपि स्थानिनः स्वप्नस्थानवतो दृष्टरेव धर्मः ।

तेन दृष्टान्तस्य मिथ्यात्वसिद्धिरित्यर्थः । कथं तेनैव दृष्टत्वं तत्राह ।

तानयं प्रेक्षते गत्वा यदैवेह सुशिक्षितः ॥ ८ ॥

नहि जाग्रदृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते किन्तर्हि अपूर्वं
स्वप्ने पश्यति चतुर्हन्तगजनाहूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते ।
अन्यदेष्वेवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने । तन्नान्येना सतास-
ममिति सदेवतो दृष्टान्तोऽसिद्धस्तस्यात्स्वप्नवज्जागरित-
स्यासत्त्वमित्युक्तम् । तत्र स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्नान्यसे न
तत्तु स्वतः सिद्धम् । किन्तर्हि अपूर्वं स्थानिधर्मो हि
स्थानिनो द्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो धर्मः । यथा स्वर्गनि-
वासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्नहृशोऽपूर्वोऽयं
धर्मः । न स्वतः सिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत् । तानेवं प्रकाशन
पूर्वान् स्वचित्तविकल्पानयं स्थानो स्वप्नदृक् स्वप्नस्थानं
गत्वा प्रेक्षते । यदैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्ग-
ज्ञेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान् पदार्थान् पश्यति
तद्वत् । तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगवृक्षिका-
दीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृष्टानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमे-
वेत्यसत्त्वम् । अतो न स्वप्नदृष्टान्तस्यासिद्धत्वम् ॥ ८ ॥

तानयमिति ॥ यदैवेह व्यवहारभूमौ सुशिक्षितो देशान्तरप्राप्तिमार्ग-
ज्ञेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तत्रतान् पदार्थान् बोधते तथाऽयं
स्वप्नगतान् पदार्थान् यथोक्तप्रकारान् प्रतिपद्यते । ततश्च स्वप्नस्य
स्थानिधर्मत्वादृज्जुसर्पमृगवृक्षिकात्वमित्यर्थः ॥ श्लोकव्यावृत्तीमाशङ्का-
मुपन्यस्यति । स्वप्नंति ॥ समत्वमाद्यन्तवत्त्वादि । अनुमानसिद्धस्यार्थ-
स्यानुमानदोषोक्तिमन्तरेणासत्त्वमयुक्तमिति पृच्छति । कस्मादिति ॥
व्याप्तिभूमिं दूषयन् व्याप्तिमङ्गं दोषनाह । दृष्टान्तस्येति ॥ असिद्धत्वं
प्रत्यपूर्वकं विवक्षयति । कथमित्यादिना । अपूर्वं दर्शनमेव विवक्षोति ।

स्वप्नदृष्टावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितन्तु सत् ।
वहिश्वेतो गृहीतं सदृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥६॥

अपूर्वत्वाशङ्कां निराकृत्य स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्न-
तुल्यतां जाग्रद्वेदानां प्रपञ्चयन्नाह । स्वप्नदृष्टावपि स्वप्न-
स्थानेऽप्यन्तश्चेतसा मनोरथसङ्कल्पितमसत् सङ्कल्पानन्तर-
समकालमेवाददर्शनान्तत्वेव स्वप्ने वहिश्वेतसा गृहीतं चक्षु-
रादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सदित्वेवमसत्त्वमिति निश्चि-
तेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः । उभयोरप्यन्तर्वहिश्वेतः
कल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम् ॥६॥

चतुर्हन्तमिति ॥ अन्यदपि त्रिनेत्रत्वादिदृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वे सिद्धे
प्रागुक्तानुमानानुपपत्तिरिति फलितमाह । तस्मादिति ॥ दृष्टान्ता-
सिद्धिं दूषयन्ननुमानं बाधयति । तच्चेति ॥ तत्किं स्वभावतः सिद्धं प-
रतो वा । नाद्यः । जडस्य तदयोगादित्याह । न तदिति ॥ द्वितीये
तन्निष्ठत्वात्त्वमित्यभिप्रेत्य प्रश्नपूर्वकमाद्यपादनवतारयति । किन्तु हीति ॥
तद्वतान्यक्षराणि व्याकरोति । स्थानिन इति ॥ अपूर्व स्वप्नदर्शनस्य
स्थानिधर्मत्वं दृष्टान्तेन साधयति । यथेत्यादिना ॥ अपूर्वदर्शनं स्वप्न-
द्रष्टृधर्मोऽपि चैतन्यवत् किं न स्यादित्याशङ्क्य बाधोपलब्धेर्भेदमित्याह ।
न सत इति ॥ उत्तरार्द्धं विभजते । तानित्यादिना ॥ अपूर्वाणां स्वप्न-
दृष्टानां स्थानिधर्मत्वेऽपि किमायातमित्याशङ्क्याह । तस्मादिति ॥
स्वप्नदृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाभावं निगमयति । अतो नेति ॥ अपूर्वस्था-
नपूर्वस्य वा स्वप्नद्रष्टृधर्मत्वेन तदविद्याविलसित्वाद्दृष्टान्ते साध्यसम्प्र-
तिपत्तस्तथैव जाग्रद्वेदानां मिथ्यात्वं युक्तिमित्यर्थः ॥८॥

जाग्रद्दृष्टानां मिथ्यात्वं तेषु सदसद्विभागप्रतिभागविरुद्धमित्या-
शङ्क्य दृष्टान्तेन समाधत्ते । स्वप्नदृष्टाविति ॥ श्लोकस्य तात्पर्याधीमाह ।
अपूर्वत्वेति ॥ स्वप्नदृष्टान्तस्यापूर्वदर्शनत्वप्रयुक्तां साध्यविकलत्वशङ्कां

६०

जाग्रदन्तावपित्वन्तश्चेतसा कल्पितन्तुसत् ।
 वहिश्चेतो गृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयो ॥१०॥
 उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
 क एतान् बुध्यते भेदान् को वै तेषां विक-
 ल्यकः ॥ ११ ॥

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम् । अन्तर्वहिश्चेतःकल्पितत्वा-
 विशेषादिति व्याख्यातमन्यत् ॥१०॥

चोदकश्चाह । स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं
 क एतानन्तर्वहिश्चेतःकल्पितान् बुध्यते । को वै तेषां
 विकल्पकः । स्मृतिज्ञानयोः क आलम्ब्य इत्यभिप्रायः ।
 न चेन्निरालम्बाददृष्टः ॥११॥

परिहृत्येति यावत् । स्वप्नस्थाने सर्वस्य मिथ्यात्वाविशेषेऽपीत्यर्थः ।
 असत्त्वं परमार्थतद्विलक्षणत्वेन मिथ्यात्वम् । तत्रापि तद्विभागप्रति-
 भासविरोधात्कुतो मिथ्यात्वमित्याशङ्क्य बाधाविशेषादित्याह । उभयो-
 रिति ॥८॥

दार्ष्टान्तिकमाह । जाग्रदिति ॥ युक्तत्वे हेतुमाह । अन्तरिति ॥
 श्लोकस्थानामचराणां व्याख्यानमनोपेक्षितं व्याख्यातप्रायत्वादित्याह
 व्याख्यातमिति ॥१०॥

सर्वमिथ्यात्वे प्रमादप्रमाणादिव्यवहारानुपपत्त्या विशेषमाश-
 ङ्कते । उभयोरिति ॥ कर्तृकरणव्यवस्थानुपपत्त्या विरोधोऽस्ती-
 त्याह । को वा इति ॥ विकल्पको निर्मातेति यावत् । श्लोकस्य
 चोदपरत्वं प्रतिजानीते । चोदकइति ॥ अक्षरयोजनया प्रथमा-

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मदेहः स्वमा यया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव
वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादोन् ।
स्वयमेव च तान् बुध्यते भेदान् तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनि-
श्चयः ॥ नाऽन्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः । नच निरास्पदे
एव ज्ञानस्मृतौ वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

धीपत्तिविरोधं स्फोरयति । स्वप्नेति ॥ चतुर्थपादमवतार्यार्थापत्त-
न्तरविरोधं स्फुटयति । को वै तेषामिति ॥ कर्त्ता हि पूर्वानुष्ठन्तं
स्मृत्वा तज्जातीयान् निर्मिमीतेऽमुस्मृत्यनुभवाश्रयाच्चेपेण कर्त्ताच्चेपो
विवक्षितस्तथा च कर्त्तादिव्यवहारानुपपत्तिः सर्वमिथ्यात्वे दुर्वारेत्यर्थः ॥
योऽध्यात्मं प्रमाता यश्चाधिदैवं कर्त्तेश्वरस्तावुभावपि मिथ्येत्यङ्गीकारात्-
प्रमातादेरसत्त्वमित्याशङ्क्याह । न चेदिति ॥ यदि प्रमाता कर्त्ता वा
नेष्यते तर्हि नैरात्मप्रमिष्टमेवापद्यते । न च तद्दृष्टं शक्यते आत्मनि
करणस्य दुष्करत्वान्निराकर्तृदेवात्मत्वादित्यर्थः ॥ ११ ॥

कर्त्तृकार्यादिव्यवस्थानुपपत्तिं परिहरति । कल्पयतीति ॥ कर-
णान्तरं व्यवच्छिन्नति । आत्मनेति ॥ कर्मान्तरं व्यावर्त्तयति । आत्मान-
मिति ॥ कर्त्तृन्तरं निवारयति । आत्मेति ॥ तस्य द्योतकान्तरापेक्षां
प्रतिक्षिपति । देव इति ॥ विवर्त्तवादं द्योतयति । स्वमाययेति ॥
सर्वस्य मिथ्यात्वेऽपि मायया विकल्पितभेदानुरोधेन कर्त्तृत्वादिव्यवहा-
रस्य सिद्धयतीति भावः । प्रमातृप्रमाणादिव्यवहारानुपपत्तिं प्रत्याह ।
स एवेति ॥ एकस्मिन्नेवादितीये प्रतीचि वस्तुनि काल्पनिकभेदनिव-
न्धना सर्वे व्यवस्थेत्यत्र प्रमाणमाह । इति वेदान्तेति ॥ यथा घटस्तथा
कुलालोऽधिष्ठाता मृदोऽन्यो हृष्टो न तद्येहान्योऽधिष्ठातास्तीत्याह ।

अथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत् ।

विकरोत्यपरान् भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् । नियतांश्च वहिश्चित्त एवं कल्पयते-
प्रभुः ॥१३॥

सङ्कल्पयन् केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते । विक-
रोति नाना करोत्यपरान् लौकिकान् भावान् पदार्थान्
शब्दादीनन्यान्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्या-
कृतान्नियतांश्च पृथ्वादीन् अनियतांश्च कल्पनाकालान्
वहिश्चित्तैः सन् । तथाऽन्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणा-
नित्येवं कल्पयति प्रभुरीश्वर आत्मैत्यर्थः ॥१३॥

त्वान्यदुपादानमस्तीत्याह । स्वमात्मानमिति ॥ तत्र च घटं कुवतो
भूभागो भवत्याधारस्तथेहाधारोऽन्योऽस्तीत्याह । आत्मन्येवेति ॥ परि-
णामवादं व्यावर्त्तय विवर्त्तवादं प्रकटयितुं स्वमाययेत्युक्तं तत्र दृष्टान्त-
माह । रज्ज्वादाविति ॥ मायाद्वारेण चिदात्मनो जगन्निर्मातृत्वमुक्त्वा
तस्यैव बुद्धिप्रतिबिम्बितस्य प्रमातृत्वमित्याह । स्वयमेव चेति ॥ न च
प्रमातृत्वस्य तात्त्विकं रज्ज्वादौ सर्पादिदर्शनवदेव मिथ्यात्वनिर्द्धारणा-
दित्याह । तद्वदिति ॥ कर्त्तादिभेदस्य प्रमाणादिभेदस्य च मिथ्यात्वे
नेह नाना स्तीत्यादिभ्रुतिं प्रमाणयति । इत्येवमिति ॥ स एवेत्येवका-
रार्थमाह । नान्योऽस्तीति ॥ यो जगत्स्वप्ना यश्च प्रमाता ततोऽन्य-
ज्ञानस्य स्मृतेश्चाश्रयो नास्ति । चेतनभेदेमानष्टामावादानुभवस्मृत्योश्चै-
काग्र्यत्वस्य प्रसिद्धत्वादित्यर्थः । ज्ञानस्मृत्योराश्रयामेक्षा विषयापेक्षा
वा नास्तीत्याशङ्क्याबाधितप्रसिद्धिविरोधान्नैवमित्याह । न चेति ॥१२॥

प्रकृतायां कल्पनायां विवर्त्तितं क्रममुपन्यस्यति । विकरोतीति ॥
नियतांश्चेति चकारादनियतांश्चेति विवर्त्तते । प्रतिपिपितृमितं क्रम-
प्रतिपत्तार्थं पृच्छति । कः सङ्कल्पयन्निति ॥ श्लोकाक्षरयोजनया
बुभुक्षितं क्रमं प्रत्याययति । उच्यत इत्यादिना ॥ अन्यांश्चेति शास्त्री-

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्कते । यस्या-
च्चित्तपरिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेदैर्वैलक्ष-
णाणां बाह्यानामन्योऽन्यपरिच्छेद्यत्वमिति सा ननुक्ताऽऽश-

यानिति यावत् । चित्तमध्ये वासनारूपेण व्यवस्थितानभिव्यक्तानामरूप-
त्वेन व्यवहारयोग्यत्वमाह । अथाकृतानिति स कल्पनाकालान्
विद्यदादीन् स्थिरानित्यर्थः । वहिश्चित्तो वहिर्मुखान् बाह्यान् व्यव-
हारयोग्यान् पदार्थान् कल्पयति । अन्तश्चित्तस्तु तेभ्यो व्यावर्त्तबुद्धि-
र्मनोरथादिलक्षणानामव्यवस्थितान् भावान् व्यवहारयोग्यान् कल्प-
यित्वा पुनर्व्यवहारयोग्यतायै कल्पयतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । यथा
लोके कुसालो वा तनुवायो वा घटं पटं वा कार्यं चित्तिर्पुरादौ
व्यवहारयोग्याव्यक्तिं बुद्ध्या वाऽविर्भाव्य पश्चात्तान्मेव वहिर्निर्मरूपा-
भ्यां सम्पादयति । तथैवायमादिकर्त्तापि मायालक्षणे स्वचित्ते नामरूपा
भ्यामव्यक्तरूपेण स्थितान् प्रष्टव्यपदार्थान् प्रथमं सिद्धचिन्ताकारेणा-
न्तर्विभाव्य पश्चाद्वहिः सर्वप्रतिपत्तिसाधारणरूपेण सम्पादयतीति
कल्पनायां क्रमाधिगतिरिति ॥ १३ ॥

कल्पितानां कल्पनाकालादन्यस्मिन् काले सत्त्वाभावाज्जाग्रद-
वानाञ्च कल्पनाकालात्कालान्तरेऽपि प्रत्यभिज्ञया सत्त्वावगमादनुप-
पन्ने तेषां मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याह । चित्तेति ॥ ये कल्पना कालभाविनो
भावा मनस्यन्तर्वर्त्तन्ते । ये च प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन पूर्वापरकालभा-
विनेवहिरेव व्यवहारयोग्या इत्यन्ते ते सर्वे कल्पिताः सन्तो मिथ्यैव
भवितुमर्हन्ति । प्रत्यभिज्ञायमानत्वलक्षणो विशेषवस्तुना कल्पितत्वप्र-
युक्तः कल्पितेऽपि तद्दर्शनादित्यर्थः । श्लोकव्यावर्त्तग्रामाशङ्कां दर्शयति ।
स्वप्नवदिति ॥ यथा स्वप्ने इत्यमानं सर्वं कल्पितं मिथ्यैवेत्यते । तथा

वहिः । कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहे-
तुकः ॥१४॥

चित्तकला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः नान्यचित्तकाल-
व्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः ।
कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः । द्वयकालाश्च भेदका-
ला अन्योन्यपरिच्छेद्याः । यथा गोदोहनमास्ते यावदा-
स्ते तावद्वां दोग्धियावद्वां दोग्धि तावदास्ते तावान्
यमेतावान् स इति परस्परपरिच्छेदकत्वं वाच्यानां
भेदानां ते द्वयकालाश्चर्त्तचित्तकाला वाच्याश्च द्वयकालाः

निर्द्धारितमित्यत्र हेतुमाह । यस्मादिति ॥ आत्माविद्याविवर्त्तेन चित्तेन
तावदलविनिर्म्मिता मनोरथरूपाननस्य लयवर्त्तमाना वही रज्जु सर्पा-
दयश्च ते चित्तेनैव परिच्छिद्यन्ते । ते हि कल्पनाकालमात्रभायितो न प्र-
सीयन्ते । तेः सह वैलक्षण्यं मनसो वहिर्जाग्रदृश्यमानानां भावा-
नामन्योऽन्यपरिच्छेद्यत्वं कालद्वयावच्छिन्नत्वेन प्रत्यभिज्ञानगोचरत्व-
मिति यस्मादुपलभ्यते तस्मादयुक्तं जागरितस्य स्वप्नवन्मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥
श्लोकाच्चरैरुत्तरमाह । सानेति ॥ येन मनस्यन्तर्मनोरथरूपाभावास्ते
चित्तकाला भवन्तीत्यचित्तकालत्वे विशदयति । चित्तेत्यादिना ॥
वाच्यार्थमुक्त्वा विवक्षितार्थमाह । कल्पनेति ॥ द्वितीयपादमवतार्य
व्याकरोति । द्वयेति ॥ ये मनसो वहिरुपलभ्यन्ते भेदकालाः कालस्य
भेदो भेदकालः स येषां ते तथेति व्युत्पत्तेः । ततश्चान्येन पूर्वना-
न्येन चापरेण परिच्छेद्याभिन्नकालावच्छिन्नत्वेन प्रत्यभिज्ञायमान-
त्वमुदाहरणनिष्ठतया स्फुटयति ॥ यथेति ॥ आगोदोहनं गोदोहन-
पर्यन्त मास्ते देवदत्तलिष्ठतीति प्रत्यभिज्ञाशेषत्वेनाभिज्ञोदाहरणीया
यावता कालेनावच्छिन्नो वर्त्तते तावता कालेनावच्छिन्नो गोदोहनं

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये वह्निः ।

कल्पिता एव ते सर्वे न वाह्यो कालद्वयत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः । अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव ॥ १४ ॥

यद्यप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा वह्निश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरे विशेषः । नासौ

निवर्त्तयतीत्यनेककालावस्थायित्वेन प्रत्यभिज्ञाविषयत्वं तस्य दर्शयति । यावदिति ॥ यावता कालेनायं घटोऽर्थक्रियां निवर्त्तयितुं शक्नोति तावता कालेनावच्छिन्नः सन्नेष तिष्ठतीत्युदाहरणान्तरमाह । तावानिति ॥ परोक्षतया स्थितो यावता कालेनावच्छिन्नः स्वकार्यं निर्वर्त्य निवृत्तौ लोप्यतावता कालेनावच्छिन्नः संतिष्ठतीत्यपरमुदाहरणमाह । एतावानिति ॥ उक्तेन न्यायेन परेणापरेण च कालेन परिच्छेद्यत्वं जाग्रद्दृश्यानां भावानामुपलभ्यते कालद्वयस्य च परिच्छेदकत्वम् । तथा ते सर्वे भावा वह्निर्दृश्यमानाद्वयकालेन कालद्वयेन परिच्छेद्या भवन्तीत्यर्थः । तृतीयपादं व्याचष्टे । अन्तरिति ॥ चतुर्थपादार्थमाह । अनेनेत्यादिना ॥ वाह्यो जाग्रद्दृश्येषु वाह्यपदार्थेषु व्यवस्थितो कालद्वयत्वेन कालद्वयावच्छेदेन कृतः प्रत्यभिज्ञायमानत्वरूपो विशेषोऽन्यहेतुको न भवति ॥ कल्पितेऽपि तथाविधविशेषसम्भवादित्यत्र दृष्टान्तमाह । अत्रापि हीति ॥ यद्यपि सर्वं जाग्रद्भेदजातं कल्पितं तथापि तत्र यथोक्तो विशेषः स्फुटः सिद्धति । तत्रैव सर्वस्य भेदजातस्य कल्पितत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञायमानत्वाज्जागरितेऽपि तदुपपत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

स्वप्नजागरितयोरुभयोरपि मिथ्यात्वे स्फुटास्फुटावभासविभागानुपपन्नेनाविशेषेण मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याह । अव्यक्ता इति ये मनस्यन्तर्भावमात्रपत्वादस्फुटा ये च मनसो वह्निरुपलभ्यमानाः स्फुटा भवन्ति ते सर्वे मनःस्वप्नमात्रत्वेन कल्पिता मिथ्यान्तर्हिरिन्द्रियभेदानिमित्तः

३०

कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥ १५ ॥

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्वि-

भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात् । किन्तु ही-
न्द्रियान्तरकृत एवान्तः कल्पिता एव । जाग्रद्भावा अपि-
स्वप्नभाववदिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

वाच्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तमैमिनि
कतया कल्पनायाः किं मूलमिति । उच्यते । जीवं हेतु-

स्फुटत्वात् स्फुटत्वविशेषो न मिथ्यात्वमिमिथ्यात्वं वा तत्रोपयुज्यते ।
मिथ्याभूतेष्वपि तद्दर्शनादित्यर्थः ॥ श्लोकस्याक्षराणि व्याकरोति । यद्य-
पीत्यादिना ॥ मनस्यन्तर्मनोरथरूपाणां भावानामव्यक्तत्वमस्फुटत्वं तत्र
हेतुमाह । मन इति ॥ चक्षुरादियद्वाद्यत्वेन मनसो बहिर्भावानां स्फुट-
त्वं दृष्टं तदेवामिमिथ्यात्वकृतमिति शङ्कां वारयति । नासाविति सर्व-
सम्प्रतिपन्नमिथ्यात्वेऽपि स्वप्ने स्फुटत्वविशेषप्रतिभानान्नासौ विशेषो
मिथ्यात्वमिमिथ्यात्वे वा प्रयोजयितुं प्रभवतीत्याह । स्वप्नेऽपीति । अयं
विशेषस्तर्हि केन सिद्धप्रतीत्याशङ्क्य चतुर्थपादार्थमाह । किं तर्हीति ।
मनोमात्रसम्बन्धादन्तर्भावानां वासनामात्ररूपाणामस्फुटत्वम् । बहि-
र्भावानान् चक्षुरादियद्विरिन्द्रियसम्बन्धात् यत्तं स्फुटत्वं तदेष विशेषो
मिथ्यात्वाविशेषेऽपि सिध्यतीत्यर्थः । स्फुटत्वास्फुटत्वप्रतिभासभेदस्य मि-
थ्यात्वमपि सत्त्वात्प्रागुक्तमनुमानमविरुद्धमित्युपसंहरति । अन्त इति ॥
॥ १५ ॥

भवतु सवस्य कल्पितत्वम् । सा पुनः सर्वकल्पना केन द्वारेणेत्या-
शङ्काह । जीवमिति । आत्मा हि सर्वं स्वमायावशेन कल्पयन्नादौ
विशिष्टरूपेण जीवं कल्पयति । तत्र इति ॥ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश-
दिति श्रुतेः स्वयमेव जीवमापद्यते । तद्द्वारेण पुनर्नानाविधान

धान् । वाच्यानाध्मात्मिकांश्चैव यथाविद्य-
स्तथास्मृतिः ॥१६॥

फलालकमहं करोमि ममसुखदुःखे इत्येवं लक्षणम् ।
अनेनैवंलक्षण एव शुद्धे आत्मनि रज्ज्वाभिन्न सर्प कल्प-
यते पूर्वम् । ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणा-
दीन्मानाविधान् मायान् वाच्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पयते ।
तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते । योऽसौ स्वयं कल्पितो
जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः स यथाविद्यो यादृशी विद्या
विज्ञानमस्येति यथाविद्यस्तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तत्रा-
स्मृतिर्भवति स इति । अतो हेतुकल्पनाविज्ञानात्फल-

भावान् निर्मिमीते । ज्ञानस्मृतिवैषम्यात्तत्कल्पेषु भावेषु वैषम्योपपत्ति-
रित्यर्थः । श्लोकव्यावर्त्तः प्रश्नमुत्थापयति । वाच्येति ॥ पदार्थाः
साध्यसाधनतया स्थितावाच्याः सुखदुःखं ज्ञानं रागद्वेषत्वमादय-
स्ताध्यात्मिकास्तेषां परस्परं निमित्तनैमित्तिकताऽस्ति । वाच्यान्निमि-
त्तीकत्वाध्यात्मिका भवन्ति । तानपि निमित्तीकत्वेतरे जायन्ते । तदेव-
मितरेतरनिमित्ततया नैमित्तिकतया च कल्पनायां मूलं वक्तव्यं ।
निर्मूलकल्पनायामतिप्रसङ्गादित्यर्थः । श्लोकाच्चरयोजनया परिहरति ।
उच्यत इति ॥ हेतुफलालकमित्युक्तमेव व्यनक्ति । अहमिति । हेतुफल
भावविकलं परिशुद्धात्मारूपं जीवकल्पनाधिष्ठानं दर्शयति । अनेनैव
मिति ॥ आरोपस्याधिष्ठानापेक्षास्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह । रज्ज्वाभिषेति-
द्वितीयतृतीयपादौ विभजते । तत इति ॥ तादर्थ्येन प्रथमं कल्पितस्य
भोक्तृजीवस्य शेषत्वेनेत्यर्थः । यद्यपि जीवः सर्वकल्पनायां मूलभूतो
हेतुस्तथापि तस्य कल्पनाविशेषो विशेषहेतुयतिरेकेण न सम्भव-

अनिश्चिता यथा रज्ज्वरन्धकारे विक-

विज्ञानं ततो हेतुफलस्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानतदर्थक्रियाका-
रकतत्फलभेदविज्ञानानि । तेभ्यस्तस्मृतिस्तस्मृतेषु पुनस्तद्विज्ञानानि तेभ्यस्तस्मृतिस्तस्मृतेषु पुनस्तज्ज्ञा-
नानोऽत्येवं वाच्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतदनिमित्तनैमित्ति-
कभावेनानेकधा कल्पयते ॥ १६ ॥

तत्र जीवकल्पना सर्व्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव
जीवकल्पना किं निमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपाद-
यति । यथा लोके स्वेन रूपेणानिश्चिताऽनवधारिता
एवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा-
दण्ड इति वानेकधाविकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानि-

तीति शङ्कते । तत्रेति ॥ चतुर्थपादेनोत्तरमाह । उच्यते इति ॥
कल्पितो विशिष्टरूपेणेति शेषः । अधिकृतः स्वामित्वेन सम्बन्धेन
सम्बद्ध इत्यर्थः । इति शब्दः श्लोकाक्षरपरयोजनासमाप्तिद्योतनार्थः ॥
प्रकृतकल्पनामेव प्रपञ्चयति । अत इत्यादिना ॥ सत्यन्नपानाद्युपयोगे
हृत्प्रगादि भवति । अस्मति न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकरूपान्नप्रायात् भोज-
नादिकं हेतुरिति कल्पनाविज्ञानमुत्पद्यते । ततस्तुष्ट्यादिकं फलमिति
कल्पनाविज्ञानं जायते । ततोऽपरेद्युरुक्तयोरुभयोरपि हेतुफलयोः
स्मृतिरुद्भवति । ततश्च फलसाधनासम्मानजातीये कर्त्तव्यताविज्ञानम् ।
तत्रश्चाभिलषितहृत्प्रगादिफलार्थत्वे पाकादिक्रियातत्कारकतण्डुलादि
तत्फलान्ननिष्पत्तग्रादीनि विशेषविज्ञानादीनि भवन्ति । ततो हेत्वा-
दिस्मृतिः । ततस्तदनुष्ठानम् । ततश्च फलमित्यनेन क्रमेण मियो हेतु-
हेतुसत्तया कल्पना भवतीत्यर्थः । प्रकृतां कल्पनामुपसंहरति । एव-
मिति ॥ १६ ॥

ल्लिता। सर्पधारादिभिर्भावेस्तद्वदात्मा विकल्प-
ल्लितः॥१७॥

अयनिमित्तम् । यदि हि पूर्वमेव रज्जुः सर्पेण निश्चिता
स्यात् न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यत् । स यथा स्वहस्ताङ्गु-
ल्यादिषु एव दृष्टान्तस्वहेतुफलादिसंसारधर्मानर्थविल-
क्षणतया स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चि-
तत्वाज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष
सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥१७॥

इदानीं जीवकल्पनानिमित्तं निरूपयति । अनिश्चितेति । श्लोकस्य
तात्पर्यं दर्शयितुं दृष्टं कीर्तयति । तत्रेति ॥ पूर्वश्लोकः सप्तम्यर्थः ।
जीवकल्पनाया नित्यतायोगात् सनिमित्तत्वस्य वक्तव्यत्वात् तस्य च
यस्तत्वे निवृत्तानुपपत्तेः । स यस्तत्वे च निमित्तत्वासिद्धेर्जीवकल्पनाया
दुर्घटत्वान्तत्कार्यभूतापि कल्पना नावकल्पत इत्याशङ्कते । सैवेति ॥
उत्तरत्वेन श्लोकाञ्चराख्यवतार्य व्याचष्टे । दृष्टान्तेनेति ॥ स्वप्ना-
धारणं रूपं रज्जुत्वं तेनेति यावत् । अनवधारितत्वमेव स्फोरयति ।
एवमेवेति ॥ रज्जुरेवेयमित्यनेन प्रकारेणेत्यर्थः ॥ सर्पादिकल्पनायामन्वय-
व्यतिरेकसिद्धमुपादानमुपन्यस्यति । स्वरूपेति ॥ उक्तावधारणाराहित्ये
कारणं सूचयति । मन्देति ॥ पूर्वं रज्जुस्वरूपनिश्चितयात्प्रागवस्था-
यामित्यर्थः एतदेव व्यतिरेकद्वारा विद्योति । यदि हीति ॥ देवद-
त्तस्य हस्ताद्यवयवेषु तद्रूपेणैव निश्चितेषु सर्पादिविकल्पो यथा औप-
लब्ध्यते तथा पुरोवर्त्तिन्यपि रज्जुस्वरूपेण निश्चितेनासौ युक्तस्तथा च
रज्जुज्ञानादेव भवतीत्यर्थः उपपादितं दृष्टान्तमनूद्यदार्ष्टान्तिकमभि-
सन्धानश्चतुर्थपाठार्थमाह । एव इति । हेतुफलादित्यादिशब्देन
कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादि नष्टयते । विकल्पणत्वमेव स्फुटयति ।

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनि-
वर्त्तते । रज्ज्वबूरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मवि-
निश्चयः ॥ १८ ॥

रज्ज्वरेवेति निश्चये सर्वविकल्पनिवृत्तौ रज्ज्वरेवेति
चाद्वैतं यथा तथा नेति नेतीति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रति-
पादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककतात्मविनिश्चयः ।
आत्मैवेदं सर्वं अपूर्वोऽनपरोऽन्तरोऽवाह्यः सवाह्याभ्यन्तरो
ह्यजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽमय एवाह्वय इति ॥ १८ ॥

स्तेनेति ॥ अनारोपितेनेति यावत् । विज्ञप्तेर्विशुद्धत्वं जन्मादिराहि-
त्समाकारान्तरशून्यत्वं तन्मात्रत्वञ्चेत्यर्थः । तन्मात्रत्वमयुक्तं सामान्य
विशेषाभावादित्याशङ्क्याह । सत्तेति ॥ न च तत्रान्यदस्ति सुखमिति
मत्वा विशिनष्टि । अद्वयेति ॥ सच्चिदानन्दाहयात्मा विद्याविलसितं
हैतमित्यत्र प्रमाणं सूचयति । इत्येष इति ॥ अद्वैतश्रुतयस्तावन्तत्रो-
पलभ्यन्ते यत्र हि हैतमिव भवतीत्याद्याश्च हैतवत्प्रतिभासमानयो-
र्दृष्टात्वमावेदयन्तः श्रुतयः श्रूयन्ते ॥ तेनाद्वैतं तत्त्वं हैतमविद्यावि-
जृम्भितमिति प्रमाणसिद्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥

अविद्याकृता जीवकल्पनेत्यन्वयमुखेनोक्तं तदेवेतानो व्यति-
रेकमुखेन दर्शयति । निश्चितायामिति ॥ रज्ज्वरेवेति रज्ज्वां
निश्चितायां तदज्ञाननिवृत्तेस्तदुत्थसर्पादिविकल्पः सर्वथा निव-
र्त्तते रज्जुमात्रज्ञावशिष्यते तद्वदात्मनि श्रौतो निश्चयो यदा
सम्पद्यते तदा सर्वस्यात्माऽपिदाकाशितस्य जीवादिविकल्पस्य
व्यावृत्तेरद्वैतमेवात्मतत्त्वं परिशिष्यते । तस्मादात्माऽपिदाविजृम्भितं
जीवकल्पनेत्यर्थः । दृष्टान्तभागं व्याचष्टे । रज्जुरिति ॥ तद्वदित्यादि
व्याकरोति । तथेति ॥ सर्पस्यापि संसारात्मनो धर्मस्यात्मन्यारो-

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पतः ।

मायेषा तस्य देवस्य यथा सम्मोहितः स्वयम्

॥१६॥

यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तै-
र्भावैरेतैः संसारलक्षणं विकल्पित इति । उच्यते । ५
मायेषा तस्मात्मानो देवस्य । यथा मायां विना विहितमा
यागगनमतिविमलं कुसुमितैः सपत्ताशैस्तारुभिराकीर्णमिव

पितृस्यासत्त्वानेदकं यन्निषेधशालं तेन जनितं विज्ञानमेव सूर्यालोक
स्तत्कृतो योऽयमात्मविनिश्चयः स एषा द्वितीयः शिष्यते । द्वैत पुनः
सर्वमेव व्यावृत्तं भवतीत्यर्थः । आत्मविनिश्चयमेव विशिनष्टि । आत्म-
वेति ॥ सर्वमिदमात्मैवेत्युक्तेः पूर्णत्वं तस्योच्यते । पूर्वभाविना कारणेन
संस्पर्शगून्योऽपूर्वः पञ्चाङ्गाविना कार्येण सम्बन्धविधुरोऽनपरमनन्तरं
छिद्रं तस्यून्योऽनन्तरश्चिदेकरसस्तस्यैव प्रत्यक्षमवाप्तत्वं कार्यकारण-
स्य ह्युभयकल्पनाधिष्ठानत्वेन ततोऽर्थान्तरत्वादित्याह । सवाह्येति ॥
विशेषणत्वं कौटस्थप्रव्यवस्थापनार्थम् ॥ जन्मादिसम्बन्धाभावे कारण-
मविद्यासम्बन्धरहित्यं दर्शयति । अभय इति ॥ न खल्वविद्यातत्त्व
कारणत्वेन सम्बन्धमनुभवति । तस्य पूर्णत्वेन कारणानपेक्षत्वादित्याह ।
एक इति ॥ द्वैताद्वैतस्याद्वैतार्थमवधारणं न विद्यायाः । निराश्रय-
त्वोपपत्तेः ॥ आश्रयान्तरस्य चासत्त्वात् । तत्रैव सा प्रविशतीति चेत्
सत्यम् । अविद्वद्दृष्ट्या तस्यान्तत्वं प्रवेशोऽपि वस्तुदृष्ट्या नास्तीति तस्मिन्
प्रवेष्टुं प्रभवतीत्याह । अद्वय इति ॥ १५ ॥

आत्मनो द्वितीयत्वे कथमनेकैर्भावैस्तस्य विकल्पितत्वमित्यभिप्राया
प्रतिपत्तया प्रत्यवतिष्ठते । प्राणादिभिरिति ॥ सिद्धान्ती स्वाभिसन्धि-
सुहाटवद्भुत्तरमाह । मायेति ॥ चोद्यभागं विभजते । यदीति ॥ उक्त-

प्राण इति प्राण विदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः॥२०

करोति तथेयमपि देवस्य माया ययाऽयं स्वयमपि मोहि-
तो भवति । मम माया दुरत्ययेत्युक्तम् ॥१८॥

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा तत् कार्यभेदा हीतरे स्थि

राईमुत्तरत्वेन व्याकरोति । उच्यते इति ॥ मायामेव दृष्टान्तेन स्पष्ट-
यति । यथैति ॥ तामेव मायां कार्यद्वारा स्फोरयति । यथैति ॥ यथा
लौकिको मोहितो मोहपरवशो दृश्यते तथा ८यमात्मा स्वप्नमेव माया
सम्बन्धामोहितो भवति ॥ अतो मोहद्वाराऽऽत्मन्येव मायाधिगतिरि-
त्यर्थः । मायाया मोहहेतुत्वं भगवतापि सूचितमित्याह । ममेति ॥१८॥

के ते प्राणादयोऽनन्ता भावा यैरात्मा विकल्पते माययेत्यमेचायां
प्राणादिविकल्पनामुदाहरति । प्राण इति ॥ प्राणो हिरण्यगर्भस्तस्ये-
श्वरी वा स जगतो हेतुरिति प्राणविदो हिरण्यगर्भाद्या वैशेषिका-
दयश्च कल्पयन्ति । तद्विदं कल्पनामात्रम् ॥ स्वतन्त्रस्य हिरण्यगर्भस्य
सर्वजगद्धेतुत्वे मानाभावात् । पौरुषेयागमस्यापौरुषेयश्रुतिविरोधे
स्वार्थे मानत्वायोगान्तस्येश्वरवादस्य च प्रमाणयुक्तिविहीनस्य प्रति-
पत्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । कल्पनान्तरं दर्शयति । भूतानीति चेति ॥
एयिष्यन्नेजोवायवस्तत्त्वानि तानि च चत्वारि भूतानि जगत्कारणा-
नीति लोकायतिकालादपि कल्पनामात्रम् । न हि भूतानि स्वतः सिद्धानि
जडत्वविरोधात् । नापि परतः सिद्धानि । स्वगुणस्य चैतन्यस्य स्वप्ना-
हकत्वायोगाद्वह्निगतोष्णस्य वह्निविषयत्वाददर्शनात् । अतो भूतानि
जगत्कर्तृणीति कल्पनैवेत्यर्थः । सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः साम्ये
नावस्थिता जगतो महदादिलक्षणस्य कारणमिति माण्डूक्याः । तदपि
कल्पनामात्रम् । साम्येन स्थितानां कारणत्वे प्रलयाभावप्रसङ्गात् ।

पादा इति पादविदो विषया इति च तद्विदः ।

त्यन्ताः । अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता

वैषम्यमञ्जनस्य च निर्हेतुकत्वे सदा तदापातात् । सहेतुकत्वे हेतोर्नि-
त्यत्वे प्राचीनदोषानुपपन्नादनित्यत्वे हेतुन्तरापेक्षायामनवस्थानादित्याह ।
गुणा इतीति ॥ कल्पनान्तरमाह । तत्त्वानीति चेति ॥ २० ॥

आत्मविद्या शिवेति सङ्क्षेपतस्त्रीणि तत्त्वानि सर्वजगत्प्रवर्त्त-
कानीति शैवा मन्यन्ते तदपि कल्पनामात्रम् । आत्मनो-भिन्नत्वे शिवस्य
घटादितुल्यत्वप्रसङ्गादभिन्नत्वे तत्त्वानां त्वित्वव्याघातादित्यर्थः । एक-
स्यात्मनो विश्वाद्यः सर्वव्यवहारहेतवो भवन्तीत्यपि कल्पनामात्रम् ।
निरंशस्यात्मनोऽंशभेदानुपपत्तेरित्याह । पादा इतीति ॥ वात्स्यायन-
प्रश्नटीकां कल्पनां कथयति । विषया इतीति ॥ शब्दादयो विषया भूयो
भूयोभुज्यमानास्तत्त्वमिति विश्वममात्रम् ॥ विषय विषयाणाञ्च दूरमत्य-
न्तमन्तरं । उपभुक्तं विषं हन्तिविषयाः स्मरणादपीति ॥ विषयानुसन्धा-
नस्य निन्दितत्वात्तेषां पारमार्थिकतत्त्वभावानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ भूर्भुवः
स्वरिति त्रयो लोका वस्तुभूताः सन्तीति पौराणिकाः । तदपि कल्पना-
मात्रम् । स्थानभेदेन त्वित्वे तदानन्तस्य दुरुत्तरत्वात्स्वातन्त्र्यस्य
चासिद्धत्वादित्याह । लोका इतीति ॥ अग्नीन्द्रादयो देवास्तत्फल-
दातारो नेश्वरस्तथेति देवताकाण्डीयाः । तदपि कल्पनामात्रम् ।
अस्मादादिप्रयत्नमपेक्ष्य फलदातृत्वे तेषां श्रद्धेभ्यो विशेषभावप्रसङ्गात् ।
स्वातन्त्र्येणोपकारकत्वे तदाराधनवैयर्थ्यात् । तद्भक्तानामपि विप्रतिप-
त्तिदर्शनात् तत्प्रसादस्या किञ्चित्करत्वादित्याह । देवा इति चेति
॥ २१ ॥

ऋग्वेदादयो वेदाश्चत्वारस्तत्त्वानीति पाठका यदन्ति । तदपि
कल्पनामात्रम् । न हि वेदा लौकिकवर्णव्यतिरिक्ता दृश्यन्ते । क्रमवता-
मेव वर्णानां वेदशब्दाव्यवहारीकारात् । क्रमश्चोच्चारणोपलब्धगोरन्य-

लोका इति लोकविदो देवा इति चतद्वितः ॥ २१ ॥

वेदा इति च वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः । भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥ २२ ॥

भेदा रज्ज्वाभिव सर्पादयः । तच्छून्ये आत्मनालस्वरूपा

तरगतो वर्णाभ्यारोप्यते । तथा च तयाविधक्रमवतां वर्णानामारोपित
रूपेण वेदश्चत्वात्कृतो वेदानां परमार्थतयाह । वेदा इति ॥
ज्योतिहोमादयो यज्ञा वस्तुभूता भवन्तीति बोधायनप्रश्नतयो याज्ञिका
सन्त्यन्ते तदपि भ्रान्तिमात्रम् । यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यं देवता त्वाम
इत्यलैकैकस्मिन् यज्ञविज्ञानाभावात्समुदायस्य चावस्तुत्वादित्याह ।
यज्ञा इति चेति ॥ भोक्तृवाक्ता न कर्त्तन्ति साङ्ख्याः । तत्र भागो यदि
श्रिक्रिया स्वीक्रियते तर्हि कथं नानित्यत्वादिसङ्कः, स्वभावत्वे यदा
स्यादिति विषयसन्निधौ भोक्तृत्वं भ्रान्तिरेवेत्याह । भोक्तेति चेति ॥
रूपकारास्तु भोज्यं यस्मिन् प्रतिजानते । तदपि न । मधुरादिरसव्य-
ञ्जनास्ते देवास्तथावद्दर्शनादैकरूप्यास्तन्मादित्याह । भोज्यमिति चेति
॥ २२ ॥

आत्मा सूक्ष्मोऽणुपरिमाणः स्यादिति केचित् । तत्र । पुनपदशेष-
शरीरस्यापि वेदानुसन्धानासिद्धेरित्याह । सूक्ष्म इतीति । सूक्ष्मो
देहोऽणुप्रमाणत्वादात्तेति लोकायतभेदः । तच्च न । स्तसुपुष्टयोरपि सङ्ग-
ताविशेषाश्चेत्यप्रसङ्गात् । एकैकस्य च भूतस्य चैतन्यादर्शनात्तद्व्या-
पस्य चावस्तुत्वादित्याह । सूक्ष्म इति चेति ॥ मूर्त्तस्त्रिशूनादिधारी
नदेवखक्रादिधारी वा परमार्थो भवतीत्याग्निकाः । तदपि भ्रान्ति-
मात्रम् । अस्मादिशरीरवत्तस्यापि शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वाद्धी-
माविशेषकत्वनञ्च । विश्रुताभावे लोलाभावादनुक्तमित्याह । मूर्त्त इति ॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ॥
मूर्त्त इति मूर्त्तविदो अमूर्त्त इति च तद्विदः
॥ २३ ॥

काल इति कालविदो दिग् इति च तद्विदः
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥ २४ ॥
मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ॥

निश्चयहेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डोक्तोऽर्थः ।

अमूर्त्तः सर्वाकारगूणो निःस्वभावः परमार्थ इति गूण्यवादिनः तदपि
कल्पनामात्रम् । परमार्थो निःस्वभावश्चेति व्याघातादित्याह । अमूर्त्त
इति चेति ॥ २३ ॥

कालः परमार्थ इति ज्योतिर्विदः । तच्च न । कालैक्ये
सुहृत्तादिव्यहारायोगात् । तन्नानात्वमपि न स्मृतम् । अन्य-
विषयत्वेन प्रतीतेः । उदयकाल इत्यादिना क्रियाधर्मात्वेन स्मृ-
त्वात् । न च क्रियाधर्मात्वं कालेऽपि तदुत्पत्तिदर्शनादन्यथा-
कालानवच्छिन्नत्वेन क्रियानित्यत्वात्पातादित्याह । काल इतीति ॥
खरोदयविदस्तु दिग्ः परमार्थ इत्याहुः । तदपि भ्रान्तिमात्रम् ।
तद्विदामपि पराजयदर्शनादित्याह । दिग् इति चेति ॥ धातुवा-
मन्त्रवादश्चेत्यादयो वादा वस्तुभूता भवन्तीति केचित् । तदपि कल्पना-
मात्रम् । तास्मादिस्वभावे स्थिते नष्टे च कनकादिस्वभावासम्भवात् ।
मन्त्रवादेऽपि कालदृष्टो न वर्तते । अकालदृष्टः स्वयमेवोत्थास्यतीत्यभ्यु-
पगमादप्राप्तोहमात्रमित्याह । वादा इतीति ॥ भुवनानि चतुर्दश वस्तु-
नीति भुवनकोषविदः । तदपि कल्पनामात्रम् । तेषामदृष्टत्वात् । न च
तेभ्यस्तद्दर्शनम् । तेषां निथो विप्रतिपत्तिदर्शनादित्याह । भुवनानीति
॥ २४ ॥

मन एवास्तेति लोकायतभेदः । तदपि भ्रान्तिमात्रम् । तस्य

चिन्तमिति चिन्तदिदे। धर्माधर्मौ चतविदः

॥२५॥

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।

एकविंशक इत्याह्नरनन्त इति चापरे ॥२६॥

प्राणादिश्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने फलश्रुप्रयोजन-

स्वातन्त्र्ये लोशप्राप्तनुपपत्तेः । अस्वातन्त्र्ये च घटवदनात्मत्वात्करण-
त्वाच्च दीपवदात्मत्वायोगादित्याह । मन इति ॥ बुद्धिरेवात्मेति बौद्धाः ।
तेषामपि भ्रान्तिमात्रमेव । तत्सुषुप्ते व्यभिचारादेत्यस्य च घटवदति-
रिक्तवेद्यत्वादित्याह । बुद्धिरिति ॥ चिन्तमेव वाच्याकारण्यं विज्ञा-
नम् । तदेवात्मेत्यपरे । तत्रापि प्राशक्तन्यायाविशेषात्तुल्यं, भ्रान्तित्व-
मित्याह । चिन्तमिति ॥ धर्माधर्मौ विधिनिशेधचोदनागम्यौ परमा-
र्थाविति मीमांसकाः । तदपि कल्पनामात्रम् । देशकालादिषु धर्मा-
धर्मयोर्विप्रतिपत्तिदर्शनादित्याह । धर्मेति ॥२५॥

प्रधानं मूलप्रकृतिः । महदहङ्कारतन्मात्राणीति सप्त प्रकृतिवि-
कृतयः । पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । पञ्च विषयाः ।
मनश्चैकमिति षोडश विकाराः । पुरुषस्तु दृशिस्वभाव इति पञ्चविं-
शतिसङ्ख्याकः प्रपञ्चो वस्त्विति साङ्ख्याः । तच्च कल्पनामात्रम् । पञ्चविं-
शतिविशेषणस्याव्यावर्तकत्वे नैयर्थ्यात् व्यावर्तकत्वे च व्यावर्त्तप्रमि-
त्यप्रमित्योरनुपपत्तेरित्याह । पञ्चविंशक इति ॥ पातञ्जलाः पुनरीश्वर-
मधिकं पश्यन्तः षड्विंशतिपदार्था इति विकल्पयन्ति । तदयुक्तम् ।
इश्वरस्य पुरुषान्तर्भावादधिकत्वानुपपत्तेः । अनन्तभावे च घटवदनोश्वर-
त्वप्रसङ्गादित्याह । षड्विंश इति चेति ॥ पाशुपतास्तु रागाविद्यानिय-
तिकालकालामायाधिकास्त एवैकविंशत्पदार्था इति ब्रुवते । तन्न । लेश-
त्वेऽपि रागाविद्ययोरेवान्तरभेदवदस्मदादेरपि तद्विचित्रत्वेन सङ्ख्याति
रेकात् तस्य रागोपलब्धित्वेन तस्याप्यविद्योपलब्धित्वेन च श्रम्यता-

लोकान् लोकविदः प्राञ्जराश्रमा इति
तद्विदः । स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथा-
परे ॥२७॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।

त्वाद्यलो न कृतः ॥२०॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥
२६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

किं वज्जना प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वाऽन्यं यं

पातादविद्यामाययोश्चैकत्वादवान्तरभेदे च नियतावपि तदुपपत्तेः स
ङ्घातिरेकतादवस्थग्रम् ॥ कालकलासु च तत्प्रसिद्धेरित्याह । एकत्वं-
शक इति ॥ अनन्तः पदार्थभेदो न नियतोऽस्तीति केचित् तदपि न ।
वादिनां विवाददर्शनात् । विवादस्य चाज्ञानमूलकत्वादित्याह । अनन्त
इतीति ॥२६॥

लोकानुरञ्जनमेव तत्त्वमिति लौकिकाः । तदपि विश्वममात्रम् ।
लोकस्य भिन्नरुचित्वात्तदनुरञ्जनस्येश्वरेणापि कर्तुंमशक्यत्वादित्याह ।
लोकानिति ॥ दक्षप्रभृतयस्त्राश्रमाः परमार्था इति समर्थयन्ते तदसत् ॥
वेपस्याश्रमशब्दार्थत्वे शूद्रादेरपि प्रसङ्गाज्जातेश्च दुर्विवेचनत्वात्तन्मू-
लस्याश्रमस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्संस्कारस्य च देहसमवायित्वे पार-
लौकिककत्वायोगादसङ्गे चालानि तदसमवायादित्याह ॥ आश्रमा-
इतीति ॥ वैयाकरणास्तु स्त्रीपुंनपुंसकंशब्दजातं तत्त्वमिति वर्णयन्ति ।
तदस्यपुक्तम् । स्त्रादेः शब्दस्वभावत्वे सर्वादीनां त्रिलिङ्गत्वायोगा-
देकस्यानेकस्वभावत्वासम्भवादीपाधिकधर्मत्वे च तस्यावस्तुत्वप्रसङ्गादि-
त्याह । स्त्रीपुंनपुंसकमिति ॥ द्वे ब्राह्मणोवेदितव्येपरं चापरञ्चेति
केचित् । तच्च न । परिच्छेदे कचिदपि ब्रह्मत्वायोगात् वस्तुतोऽपरि-
च्छिन्नस्य तद्भावादित्याह । परावरमिति ॥२७॥

सृष्टिर्वा लयो वा स्थितिर्वा तत्त्वमिति पौराणिकाः । तदपि

स्थितिरिति स्थितिर्विदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति
तज्ज्ञावति स भूत्वा सौ तद्ग्रहः समुपैति तं ॥ २९

एतैरेषोऽष्टयग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।

भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याचार्योऽन्यो वाऽसुप्त इदमेव तत्त्व-
मिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्यमहमिति वा ममेति
वा तच्च दृष्टारं सभावोऽवति यो दर्शितो भावो स भूत्वा
रक्षति । स्वेनोत्तना सर्वतो निरुणद्धि । तस्मिन् ग्रहसाह-
ग्रहसादिभिनिवेशः । इदमेव तत्त्वमिति स तं गृहीतार-
मुपैति । तस्यात्मभावं निगच्छतीत्यर्थः । ॥ २९ ॥

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽष्टयग्भूतैरष्टयग्भावैरेष

कल्पनामात्मम् । सतोऽसतश्चोत्पत्तप्राद्यभावस्य वक्ष्यमाणत्वादिति
मत्वाह । सृष्टिरित्यादिना । यथोक्तकल्पनाधिष्ठानं सूचयति । सर्वं चेति ॥
उदाहृतानुदाहृताश्च कल्पनाभेदा यावन्तो विद्यन्ते ते सर्वेऽपि प्रकृता
त्मन्येव कल्पनावस्थायां कल्पन्ते नात्मनः कल्पितत्वम् । सर्वस्य क-
ल्पितत्वेनाधिष्ठानत्वायोगादित्यर्थः ॥ प्राणादिश्लोकेषु प्राणशब्दार्थमाह ।
इति ॥ तस्यैव बीजात्मनो विकारविशेषत्वादितरेषां न ततोऽन्तर्निश्च-
तेत्याह । तत्कार्येति ॥ अन्तिमपदार्थं स्फुटयति । अन्य इति ॥ कुल-
धर्मा सामधर्मा देशधर्मा स्वेत्येते सर्वशब्देन गृह्यन्ते । तेषामात्मनि
तद्दर्शनादेव कल्पितत्वं सदृष्टानं स्पष्टयति । रज्ज्वा मिति ॥ आत्मनोऽधि-
ष्ठानयोग्यातार्थं कल्पनाशून्यत्वमाह । तच्छून्य इति किमिति समुदा-
यार्थः श्लोकानामुच्यते । श्लोकान्तरेष्वियं प्रत्येकं पदार्थव्याख्यानमेतेषु
किं न स्यादित्याशङ्क्याह । प्रत्येकमिति ॥ २८ ॥

लौकिकाणां परीक्षकाणाञ्च कतिपयकल्पनाभेदानुदाहृत्यानन्त-

एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्साऽविशङ्कितः ॥३०

आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितो
ऽप्यलक्षितो मूढैरित्यर्थः । विवेकिनान्तु रज्ज्वाभिव कल्पिता
सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्याभिप्रायः ।
इदं सर्वं परमात्मेति श्रुतेः । एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं
रज्जुसर्पवदात्मानं कल्पितानामात्मानश्च केवलं निर्विकल्पं
यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं
विभासतः कल्पयेत् कल्पयतीत्यर्थः । इदमेवं परं वाक्य-
मदोऽन्यपरमिति । नह्यनध्यात्मविद्वेदान् ज्ञातुं शक्नोति
तत्त्वतः । नह्यनात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्रुत इति
हि मानवं वचनम् । ३० ।

त्वादशेषतस्तेषामिहाहर्तुं शक्यत्वं ब्रह्मा मङ्गलं पमात्रमाचष्टे । यं भाव-
मिति ॥ पादत्रयं विभजते ॥ किं वहुनेत्यादिना ॥ तमेव भाव विशि-
नष्टि । यो दर्शित इति ॥ स कथं दूष्टारं रक्षतीत्यपेक्षायामाह ।
अभाविति ॥ साधकपुरुषपतादात्म्यनापद्येत्यर्थः ॥ रक्षणप्रकारं प्रकटयति
स्तेनेति ॥ साक्षादसाधारणरूपत्वेन तत्रैव निष्ठाभापाद्य ततोऽन्यत्र
प्रवृत्तिमुपासकस्य निवारयतीत्यर्थः । चतुर्थपादं व्याचष्टे । तस्मिन्निति ॥
एतेनान्यत्र प्रवृत्तिनिरोधहेतुरुक्तस्तर्हि प्राणादीनामात्मवत्त्वं प्राप्तिमि-
त्याशङ्क्य कल्पितानामधिष्ठानातिरेकेणाशङ्क्यत्वात्तत्रैवमित्याह ॥ एतै-
रिति ॥ २८ ॥

उक्तज्ञानस्तुत्यर्थमाह । एवमिति । पूर्वार्धं व्याकरोति । एतै-
रिति ॥ कल्पितानामधिष्ठानातिरेकेण सत्वास्फुरणयोरभावात्तद्वहारेण
स्मिन्निभेददर्शनमविवेकिनानस्तु । तदव्येषां कथमुपलब्धिरित्याशङ्क्याह ।
विवेकिनानिति ॥ प्राणादीनामात्मातिरेकेणान्त्ये प्रमाणमाह ।
CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।

यथा वज्रदिं दिष्टं वेदान्तेषु विच क्षणौ ॥ ३१ ॥

यदेतद्वै तस्याः सत्त्वमुक्तं यत्कितस्तद्देवान्तप्रमाणावग-
तमित्याह । स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके
ऽसत्यौ सद्वस्त्वात्मिके इव लक्ष्ये ते अविवेकिभिः । यथा
च प्रसारितपण्यापण्यहप्रासादस्त्रीषुं जनपदव्यवहारा-
कीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सदकस्मादभावतां
गतं दृष्टम् । यथा च स्वप्नमाये दृष्टेऽसद्रूपे तथाविश्वमिदं
द्वैतं समस्तमसदृष्टं क्लेशाह । वेदान्तेषु । नेह नानास्ति
किञ्चन । इदो मायाभिः ॥ आत्मैवेदमग्र आसीत् ।
ब्रह्मैवेदमग्र आसीत् द्वितीयाहै भयं भवति । नतु तद्-

इदमिति ॥ उत्तरार्द्धं योजयति । एवमिति ॥ तत्त्वेनात्मवेदनोपायं
सूचयति । तत्त्वेनेति ॥ स्वप्नदृश्यवज्जायद्दृश्यानां मिथ्यात्वसाधको
दृश्यत्वादिहेतुरत्र यत्किनित्युच्यते । यथोक्तविज्ञानवान् वेद किङ्करो न
भवति किन्तु स यं वेदार्थं ब्रूते स एव वेदार्थो भवतीत्यर्थः । विभागतो
वेदार्थव्याख्यानमभिनयति । इदमिति ॥ ज्ञानकाण्डं साक्षाद्वैतवस्तु-
परम् । कर्माकाण्डं तु साध्यसाधनसम्बन्धबोधनद्वारा परस्परया
तस्मिन् पर्यवसितम् । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति श्रुतेरित्यर्थः ।
आत्मविदो वेदार्थवित्त्वमुक्तं व्यनक्ति । न हीति ॥ तदेव हि वेदार्थतत्त्वं
यत्प्रत्यागात्मस्वरूपमतस्याध्यात्मविदेव यथात्मज्ञेन तत्त्वज्ञाने प्रभवती-
त्यर्थः । उक्तेऽर्थे स्मृतिमुदाहरति । न हीति ॥ क्रियाशब्देन प्रमाण-
मुच्यते । तत्फलं तत्त्वज्ञानमग्निहोत्रादिक्रियायाश्च शुद्धिद्वारा तस्मिन्
पर्यवसानादित्यर्थः ॥ ३० ॥

याभिर्यत्किमिदं तस्मिन् प्रकरणे द्वैतस्य मिथ्यात्वं कथ्यते तासां
प्रमाणानुग्राहकत्वाद्नाभासत्वमवसेयमित्याह । स्वप्नेति ॥ श्लोकस्य

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च सा-

द्वितीयमस्ति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदित्यादिषु विच-
क्षणैर्निपुणतरवस्तु दर्शिभिरेभिः पण्डितैरित्यर्थः । तसः
श्रुत्वा निभं दृष्टं वर्षवद्बुद्धसन्निभम् ॥ नाशप्रायं सुखाद्दीनं
नाशोत्तरमभावगमिति हि व्यासस्मृतेः ॥३१॥

प्रकारणार्थोपसंहारार्थाऽयं श्लोकः । यदा वितथं
द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः सन् तदेवं निष्पन्नं भवति
सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति ।
तदा न निरोधः । निरोधनं निरोधः प्रलय उत्पत्ति-
र्जननं बद्धः संसारी जीवः साधकः साधनान्मोक्षस्य

तात्पर्यार्थमाह । यदेतद्वैतस्येति ॥ अमत्त्वे सत्त्ववत् प्रतिभान कय-
मित्याशङ्क्य श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे । स्वप्नश्चेति । प्रसारितानि तत्र
तत्र प्रकटतां प्रापितानि । पण्यानि क्रयविक्रयद्रव्याणि वेषामापणेषु
हृष्टेषु ते प्रसारितपण्यापणास्ते च गृहाश्च प्रासादाश्च स्त्रीपुञ्जनपदा
श्वेतेषां व्यवहारास्तेराकीर्णमिति योजना ॥ दृष्टान्तवचननूद्य दार्ष्टान्ति-
कमाह । यथा चेति ॥ गन्धर्व्यनगराकारं चकारार्थः । नेह नानास्ति
किञ्चनेति वेदान्ताः । द्वैतस्य वस्तुतोऽसत्त्वे स्मृतिमपि दर्शयति । तस्य
इति ॥ तमसि सन्धान्वक्तारे रज्ज्वामधिष्ठाने भूच्छिद्रमिति यद्भान्तरा
भाति तद्विभं तत्तुल्यं विवेकिभिर्विश्वं दृष्टं बद्धातीव चञ्चलमानसितं
नाशप्रायं वर्त्तमानकालेऽपि तद्योग्यतासत्त्वात् । न च द्वैतं कदाचिदपि
सुखकरमुपलभ्यते दुःखाक्रान्तं तु दृश्यते । तच्च नाशमस्तम् । नाशदूर्ध्वं
असत्त्वमेवापगच्छति न तर्हि तस्य परमार्थत्वं प्रमाणाभावादित्यर्थः

॥ ३१ ॥

धकः । न मुमुक्षुर्नचै मुक्त इत्येषा परमार्थता
॥ ३२ ॥

मुमुक्षुर्नोचिनायी मुक्तो विमुक्तबन्धः । उत्पत्तिप्रलययोर
भावाद्द्वयादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता । कथमुत्पत्ति
प्रलययोरभाव इत्युच्यते । द्वैतस्यास्यासत्त्वात् । यत्र हि
द्वैतमिव भवति । य इह नानेव पश्यति । आत्मैवेदं
सर्वम् । ब्रह्मैवेदं सर्वम् । एकमेवाद्वितीयमिदं सर्वम् ।
यद्यमात्मेत्यादिना श्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम् । सतो
क्षुत्पत्तिः प्रलयो वा स्थान्नासतः प्रशविषाणादेः । नाप्य
द्वैतमुत्पद्यते लीयते वा । अद्वयश्चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति
विप्रतिषिद्धम् । यस्तु पुनर्द्वैतसंन्यवहारः स रज्जुसर्पवदा-
त्मनि प्राणादिलक्षणाः कल्पित इत्युक्तम् । न हि मनोवि-
कल्पोनायाः रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्ति-

प्रमाणयुक्तिभ्यां द्वैतमिथ्यात्वप्रसाधनेनाद्वैतमेव पारमार्थिक-
मिति स्थिते निर्वीरितमर्थं तं सङ्गच्छाति । नेत्यादिना ॥ श्लोकस्य
तात्पर्यार्थमाह । प्रकरणेति ॥ कोट्यौ प्रकरणार्थस्तस्य संग्रहे किं
सिद्धयति तदाह । यदेति ॥ व्यवहारमात्रस्याविद्याविषयत्वेऽपि किं
स्यादिति चेत्तदाह । तदेति ॥ चतुर्थपादार्थमाह । उत्पत्तीति ॥ उक्त-
मेवार्थं प्रश्रुतिवचनाभ्यां प्रपञ्चयति । कथमित्यादिना ॥ द्वैतासत्त्वं
श्रुत्यष्टम्भेन स्पष्टयति । यत्र हीति ॥ द्वैतस्यासत्त्वे कथमुत्पत्तिप्रलयौ
न स्यातामित्याशङ्क्य किं द्वैतस्य तौ किंवा तद्वैतस्येति आद्यं विकल्पं
दूषयति । सतो हीति ॥ द्वितीयं प्रत्याह । नापीति ॥ व्यावहारिक-
द्वैताङ्गीकारात्तस्योत्पत्तिप्रलयावित्याशङ्क्याह । यस्त्विति । विमत

वी । न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा न चोभ-
यतो वा । तथा मानसत्वा विशेषाद्द्वैतस्य । न हि
नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते । अतो मनोविकल्प
नाभातं द्वैतमिति सिद्धम् । तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वा-
निरोधाद्यभावः परमार्थेति । यद्येवं द्वैताभावे शास्त्र
व्यापारो नाद्वैते विरोधात् तथा च सत्त्वद्वैतस्य वस्तुत्वे
प्रमाणाभावात् शून्यवादप्रसङ्गः । द्वैतस्य चाभावात् न
रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्यदत्वानुपपत्तिरिति
प्रत्युक्तमेतत् कथमुज्जीवसीत्याह । रज्जुरपि सर्वविकल्प
स्यास्यदभूता विकल्पितैवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः । न ।
विकल्पनाच्चयेऽविकल्पितस्यावकल्पितत्वादेव सत्त्वोप-

सत्त्वतो नोत्पत्तिप्रलयवान् कल्पितत्वादृज्जुसर्पवदित्यत्र दृष्टान्तासि-
द्धिमाशङ्क्य रज्जुसर्पस्य रज्ज्वामुत्पत्तिप्रलयौ मनसि वा द्वयोरेति
विकल्पा प्रथमं प्रत्याह । न हीति ॥ रज्जुं पश्यतां सर्वेषामुपलब्धि
प्रसङ्गादित्यर्थः ॥ द्वितीयं दूषयति । न चेति ॥ वह्निरुपलब्धिविरोधा-
दित्यर्थः ॥ तृतीयं निरस्यति । न चेति ॥ उभयतो मनोरज्जुलक्षणो
रज्जुसर्पस्योत्पत्तिप्रलयौ युक्तौ द्वयाधारत्वोपलब्ध्यादित्यर्थः । रज्जु-
सर्पवद्वैतस्य मानसत्वाविशेषान्न तत्त्वतो जन्मविनाशौ दर्शयितु-
शक्याविति दाष्टान्तिकमाह । तथेति ॥ द्वैतस्य न कुतश्चित्तात्त्विकौ
जन्मविनाशाविति शेषः । मानसत्वासिद्धिमाशङ्क्याह । न हीति ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वैतं मनोविकल्पनाभात्मिति निगमयति । अत
इति ॥ न च मनो द्वैतस्य दर्शनभावे निमित्तमिति युक्तम् । स्वमसि
द्वयस्याज्ञातसत्तायां प्रमाणाभावादित्यभिप्रेत्य प्रकृतनुपसंहरति । तस्मा-
दिति ॥ निरोधाद्यभावस्य परमार्थत्वे तत्रैव शास्त्रव्यापाराद्द्वैते तद-

पत्तेः । रज्जु सर्पवदसत्त्वमिति चेत् । न एकान्तेन विकल्पितत्वादविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक्सर्पाभावविज्ञानात् ॥ विकल्पयितुश्च प्राक्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादेव सत्त्वानुपपत्तिः । कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्त्तकत्वम् । नैष दोषः । रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात् कथं सुख्यह दुःखी सूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान्, पश्यामि व्यक्ताव्यक्तः कर्त्ता फली संयुक्तो विद्युक्तः क्षीणो दृढोऽहं समेतदित्येवमादयः सर्वे आत्मन्यध्यारोप्यन्ते । आत्मैषेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात् यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः ।

व्यापारादभावबोधने व्याप्तस्य भावबोधने व्यापारविरोधाद्द्वैतमप्रामाणिकं प्राप्नोति शङ्कते । यद्येवमिति ॥ अद्वैतस्य प्रामाणिकत्वाभावे किं स्यादित्याशङ्क्याह । तथा चेति ॥ अद्वैतस्याप्रामाणिकत्वेऽपि कुतः शून्यवादो द्वैतस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याह । द्वैतस्येति ॥ नाप्रामाणिकशून्यवादो युक्तो यथा रज्ज्वाभारोपितसर्पादेरज्ज्वरधिष्ठानम् । न हि निरधिष्ठानो भ्रमोऽस्ति । तथा द्वैतकल्पनाया निरधिष्ठानत्वायोगान्तदधिष्ठानत्वेनाद्वैतमाख्येयमित्योद्धारप्रकरणे परिहृतमेतच्चोक्तं कथमुद्भावयसीति सिद्धान्तवाक्याह । जेत्यादिना ॥ तत्र शून्यवादी स्वमतानुसारेण दृष्टान्ता समप्रतिपत्त्या चोदयति । आह्वेति ॥ स्वमतसम्मतस्यैव दृष्टान्ततेत्यनियमात् । प्रसिद्धिमात्रेण परप्रतिबोधनसम्भवात् । स्वमवाभे परिशिष्यजाणस्यावधेः सत्यताया रज्जादौ दृष्टत्वात् द्वैतममवाधसाक्षितया स्मरणं तच्चैतन्यस्याकल्पितत्वादेव सत्त्वान्नशून्यताप्रसक्तिरित्युत्तरमाह । जेत्यादिना ॥ अद्वैतमसदप्रामाणिकत्वाद्रज्जुसर्पवदिति तदकल्पितत्वासिद्धिं शङ्कते । रज्ज्विति ॥ रज्जुसर्पस्यासत्त्वे भ्रान्तिविषयत्वं प्रयोजकं आत्मनस्तु भ्रनसाक्षित्वान्नियमेन

यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्त्तव्यत्वं
शास्त्रेण । अकृतकर्त्तुं च शास्त्रं कृतानुकारित्वेऽप्रमा-
णम् । यतोऽविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धा-
देरात्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानञ्च श्रेय इति
सुखित्वादिनिवर्त्तकं शास्त्रमात्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन
नेति नेत्यस्यूलादिवाच्यैरात्मस्वरूपवदसुखित्वादपि सुखि-
त्वादिभेदेषु नावुत्ततोऽस्ति धर्मः । यद्यवुत्तस्यान्ध्यारो-

भ्रमाविषयत्वान्नासत्त्वमित्युत्तरमाह । नैकान्तेनेति ॥ अप्रामाणिकत्व-
हेतोरनैकान्तिकत्वं दोषान्तरमाह । अविकल्पितेति ॥ नाऽयं सर्पो
रज्जुरेवेति सर्पाभावज्ञानपूर्वकपुरोवर्त्तिरज्ज्वत्तन्निश्चयात्प्रागवस्थायां
प्रामाणिकत्वाभावेऽपि सन्नेवाज्ञातो रज्ज्वंशोऽभ्युपगम्यते । तथा सदैव
प्रामाणिकत्वाभावेऽपि सन्नेवात्मा अविव्यतीत्यर्थः ॥ आत्मनोऽसत्त्वाभावे
हेत्वन्तरमाह । विकल्पयितुश्चेति ॥ आत्मनो द्वैतभ्रमाधिष्ठानत्वेन
सम्भावितत्वाद्वाधसान्त्वित्वेन परिशिष्टत्वात्पूर्वं भ्रमोत्पत्तेः स्वतः सिद्ध-
त्वाच्च प्रमाणविषयत्वेऽपि नास्ति शून्यतेत्युक्तम् । इदानीं प्रमिते धर्मिणि
प्रतिषेधदर्शनात्मनाऽप्रमितत्वे तत्र द्वैताभावप्रमापकं शास्त्रमयुक्तमिति
शङ्कते । कथमिति ॥ प्रतिपन्ने धर्मिणि प्रतिषेधात्प्रमिते प्रतिषेधस्य
विशेषणवैफल्यादेवानभ्युपगमादात्मनश्च सर्वकल्पनास्वधिष्ठानाकारेण
स्फुरणाङ्गीकरणात् तस्मिन् प्रतिपन्ने द्वैतस्य प्रतिषेधः सम्भवतीति
परिहरति । नैष दोष इति ॥ भ्रमाविषयस्यात्मनोऽध्यासानुगततया
स्फुरणमघटमानमित्याक्षिपति । कथमिति ॥ स्वप्रकाशत्वेन स्वतो
निर्विकल्पकस्फुरणेऽपि सविकल्पकव्यवहारे समारोपितसंस्पृष्टाका-
रेण भ्रमविषयत्वमविरुद्धमित्याह । सुख्यहमित्यादिना ॥ उक्तन्याये
नात्मप्रतीतेः सिद्धत्वात्प्रतिपन्ने तस्मिन् द्वैतप्रतिषेधस्य सुकरतेति

भावैरसङ्गिरेवायमद्वयेन च कल्पितः॥

प्रितसुखित्वादिलक्षणो विशेषः । यथोष्णत्वगुणविशेषव-
त्यग्नौ शीतता तस्मिन्निर्विशेष एवात्मनि सुखित्वादयो
विशेषाः कल्पिताः । यच्च सुखित्वादिशास्त्रमात्र नस्तत्सु-
खित्वादिविशेषनिवृत्तार्थमेवेति सिद्धम् । सिद्धन्त निवर्त्त-
कत्वादित्यागमविदां सूत्रम् ॥३२॥

फलितमाह । यदा चेति ॥ न केवलमात्रोपितविशेषणैर्विशेष्यस्यात्मनः
स्वरूपस्फुरणस्य सिद्धत्वादेव न शास्त्रेण कर्त्तव्यत्वमनुवादत्वेनात्रा-
माण्यप्रसङ्गाच्चैवमित्याह । अक्षतेति ॥ स्फुरत्यात्मनि द्वैतानिषेधकत्वे-
ऽपि शास्त्रस्य फलाभावादप्रामाण्यं तदवस्थमित्याशङ्क्याह । अविद्येति ॥
प्रतिषेधशस्त्रादपनीते प्रतिबन्धे स्वरूपावस्थानं फलतीत्यर्थः ॥
निःशेषदुःखनिवृत्तिर्निरतिषयानन्दावाप्तिश्च परं श्रेयो न स्वरूपाव-
स्थानमित्याशङ्क्याह स्वरूपेति ॥ इति प्रसिद्धं मोक्षशास्त्रेष्विति शेषः ॥
द्वैतनिवर्त्तकत्वे शास्त्रस्य कारकत्वं स्यादित्याशङ्क्याह । आत्मनीति
असुखित्वादेः स्वभाविकत्वादात्मनि स्फुरत्यस्फुरणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य
अनविषयगुतीदमंशादेश्च स्वाभाविकोऽपि रजतादिर्भेदो दोषमाहा-
त्म्यादयान प्रतिभाति तथाऽचिन्तप्रशक्त्यविद्याप्रभादात्मनि स्फुरत्यपि
सुखित्वाद्यध्यासविरोध्यसुखित्वादिरूपेण स्फुरणमविरुद्धमित्याह ।
आत्मेति ॥ विपक्षे अमानुपपत्तिरित्याह । यदीति ॥ उक्तमर्थं सङ्क्षिप्य
निगमयति । तस्मिन्निति ॥ असुखित्वादेरकल्पितत्वमसिद्धमाशङ्क्य
निरस्यति । यत्त्विति ॥ अस्थूलमशोकान्तरमित्यादि वाक्यं शास्त्रशब्देन
गृह्यते ॥ उक्तेऽर्थे द्रविडाचार्यसम्मतमाह । सिद्धं त्विति । ब्रह्मणि

भावा अथद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ॥३३॥

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह । यथा रज्ज्वामर्साद्भिः सर्प-
धारादिभिरद्वयेन रज्जुद्वयेण सताऽयं सर्प इयं धारा
दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्वयमेव कल्प्यते । एवं प्राणादि-
भिरनन्तरसङ्घिरेवाविद्यमानैः परमार्थतः न ह्यप्रचलिते
मनसि कश्चिद्भाव उपलक्षयितुं शक्यते केनचित् । न चात्मनः
प्रचलनमस्ति । प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न पर-
मार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः । अतोऽसङ्घिरेव प्राणा-

पादानां व्युत्पन्नभावेऽपि सिद्धमेव शास्त्रप्रामाण्यमावो न
व्युत्पन्नज-पदसंख्यैः स्यूतादिव्युत्पन्नपदैः स्वभावाविकर्तृत्वोभाव-
बोधनेनाध्यस्तनिवर्त्तकत्वादिति सूत्रार्थः । ३२ ।

यदुक्तं निरोधाद्यभावस्य परमार्थेति तदयुक्तम् । सामान्यवि-
शेषात्मकं वस्तु नानारूपमिति मते निरोधादेः सुसाध्यत्वादित्याश-
ङ्क्याह । भावैरिति ॥ भावा व्यावृत्ता विशेषास्ते च व्यभिचारित्वादसन्तो
रज्जु सर्पवदद्वयमनुवृत्तं सामान्यं विशेषाकारैरवभस्तभूतैः सामान्या
कारेण च तादृशेनायमव्यावृत्ताननुगतपूर्णसत्ताचिदेकतानः सूत्रात्मैव
सूदृशैर्माहात्म्यात् कल्प्यते । न वस्तुतः सामान्यविशेषभावोऽस्ति
परस्परान्वयत्वादित्यर्थः ॥ विशेषाणामसत्त्वे कथं सत्त्वेन व्यवहारः
स्यादित्याशङ्क्य सत्तादात्म्येन कल्पितत्वात् तेषां सत्त्वेन व्यवहारोपपत्ति-
रित्याह । भावा इति । अनुगतसत्ताकारेण कल्पिताः सत्त्व्यवहारा
भवन्तीति शेषः । सामान्यविशेषभावस्य कल्पितत्वादखण्डैकरसत्त्वे
वस्तुनः सिद्धे निरोधादेर्दुःसाधनत्वमुचितमिति फलितमाह । तस्मा-
दिति ॥ श्लोकात्तात्पर्यं दर्शयति । पूर्वैति ॥ निरोधादिसर्व विशेषाभावो-
पलक्षितं वस्तु वस्तुभूतमिति पूर्वश्लोकार्थस्य सामान्यविशेषात्मके

नात्मभावेन नानेदं न खेनापि कथञ्चन ।

दिमावैरद्वयेन च परमार्थसताऽऽत्मना रज्जुवत्सर्वविक-
ल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवात्मा कल्पितः । सदैकस्वभावा-
ऽपि संखे च प्राणादिभावा अद्वयेनेव सताऽऽत्मना विक-
ल्पिताः । न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते । अतः
सर्वकल्पस्पदत्वात्स्वेनात्मनाऽद्वयस्याव्यभिचारात् । कल्प-
नावस्थायामप्यद्वयता शिवा । कल्पना एव त्वशिवाः ।
रज्जु सर्पादिवत्तासादिकारिणो हि ताः । अद्वयता
अभया अतः सैव शिवा ॥३३॥

वस्तुनि विशेषेणाश्रित्य निरोधादेः सुसाधनत्वादसत्त्वमाशङ्कते । तेन
तस्य साधनापेक्षायां तत्प्रदर्शनपरोक्षं श्लोक इत्यर्थः ॥ तत्र पूर्वाङ्ग-
गतान्यक्षराणि दृष्टान्तावष्टम्भेन व्याचष्टे । यथेत्यादिना ॥ संसृष्टरूपेण
कल्पितत्वेऽपि स्वरूपेणानारोपितत्वादृज्जुद्रव्यस्य व्यवहारिकसत्यत्व-
मुद्वेयम् अविद्यामानैरयमात्मा कल्प्यते न परमार्थदस्तेषां सत्त्वमिति
शेषः । कथं प्राणादीनां परमा र्थतोऽसत्त्वमित्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां
तेषां मनः स्पन्दितःमात्रत्वप्रतीतेर्दृष्टात्वं स्वप्नवदित्याह । न हीति ॥
आत्मपरिणामत्वान्नमन्तुलनमन्तरेणापि प्राणादिभावानां परमार्थतः
सत्त्वमित्याशङ्क्याह । न चेति ॥ न हि विमोरात्मनो नभोवञ्चलनं वास्त-
वमयकल्पते । न च तदभावनिर्वयवस्य परिणामसम्भवेनेत्यर्थः । प्राणा-
दीनामात्मपरिणामत्वासम्भवे फलितमाह । प्रचलितस्येति ॥ प्रगतं
चलितं यस्य स तथा कूटस्थस्यैवात्मनोः भासमाना भावा न परमा-
र्थतः सन्तो भवितुमुत्सहन्ते । दृश्यत्वजडत्वादिना स्वप्नवन्निथ्यात्ववि-
द्वेरित्यर्थः । एवं प्राणादिभावानां मिथ्यात्वं प्रसाध्यफलितं दर्शयन्
पूर्वाङ्गक्षराणां व्याख्यानमुपसंहरति । अत इति ॥ अद्वयस्य परमार्थ-
त्वात् तदात्मना कथमात्मकल्पितः स्यादित्याशङ्क्य स्वरूपेणाकल्पितस्य

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।

श्रोत्रनिर्णये उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मे-
ति प्रतिज्ञासात्वेण । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च । तत्
द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृ-
ष्टान्तैर्दृष्टत्वाद्यन्तवत्त्वादि हेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादितः ।
अद्वैतं किमगममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहो स्वतर्केणापी-
त्यत आह । शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम् । तत्कथमित्यद्वै-
त प्रकरणमारभ्यते । उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं
वितथं केवचन्यात्माऽद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीतप्रक-
रणे । यत उपासनाश्रित उपासनामात्मनो मोक्षसाधन-

तर्कावच्छेदेन द्वैतवैतथ्यनिरूपणं परिशमायाद्वैतं परमा-
र्थिकमपि तर्कतः संस्माद्वयितुं प्रकरणान्तरं प्रारिप्सु रूपास्योपासक-
भेददृष्टिं तावदपवदति । उपासनेति ॥ देहस्य धारणाद्धर्मा जीवो
भूतसङ्घाताकारेण जाते ब्रह्मणि तदभिनानित्वेन वर्तते । स प्रागुत्-
पत्तेरजः सर्वमित्येवं कालावच्छिन्नं वस्तु मन्यते । स पुनरुपासनां
पुरुषार्थसाधनत्वेनाश्रितस्तदेव ब्रह्म प्रतिपत्स्ये शरीरपातादूर्ध्वमि-
त्येवम् । अतो लिख्याज्ञानवानवतिष्ठते तेनासौ क्षपणोऽप्यको ब्रह्मविद्भिः
क्षुतश्चिन्तित इत्यर्थः ॥ प्रकरणान्तरमवतारयन् वृत्तमनुद्ववति । ओङ्का-
रेति ॥ तस्य हि निर्णये प्रथमे प्रकरणे प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत इति
विशेषगौरवात् प्रतिज्ञासात्वेनाद्वितीयो व्याख्यात इत्यर्थः । द्वितीय-
प्रकरणार्थं सङ्क्षिप्यानुवदति । ज्ञात इति ॥ तत्रैवाद्ये प्रकरणे ज्ञाते
द्वैतं न विद्यत इत्यत्र प्रतिज्ञासात्वेण द्वैताभाव उक्तः । स तु द्विती-
येन प्रकरणेन हेतुदृष्टान्तात्मकेन तर्केण च प्रतिपादितो नात्र प्रतिपाद-
यितव्यामश्रितव्यत्वोक्त्यर्थः । तृतीयं प्रकरणमाकाङ्क्षापूर्वकमवतारयति ।

प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥१॥

त्वेन गत उपासकोऽहं समोपास्यं ब्रह्म । तदुपासनं कृत्वा
जाते ब्रह्मणि इदानीं वर्त्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं
प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहश्च । यदात्मको-
ऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्त्तमान
उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो
धर्म्मः । साधकी येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित् तेनासौ कारणेन
कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्याजब्रह्मदर्शिभिर्महात्मभि-
प्रायः ॥ यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं
विद्धि नेदं यदिदमुपासत इत्यादि श्रुतेस्तत्त्वकाराणाम्
॥ १ ॥

अद्वैतमिति ॥ नैपा तर्केण मतिरापनयेति श्रुतेरद्वैतं कथं तर्केण
ज्ञातुं शक्यमित्याजिपति । तत्कथमिति ॥ स्वतन्त्रतर्कप्रवेशेऽपि
तस्मिन्नागमिकतर्कस्य सहकारितया सम्भावनाहेतुत्वात्तर्केणापि ज्ञातुं
शक्यमिति व्यवहारोपपत्तिरिति मत्वाह । अद्वैतेति ॥ यदि तर्केणा-
द्वैतं सम्भावयितुं प्रकरणमारभ्यते तर्हि किमित्युपासकनिन्दा प्रथमं
प्रसूयते तत्वाह । उपास्येति ॥ उक्तवक्ष्यमाणविरोधित्वादुपासकस्य
तन्निन्दा प्रकृतोपयोगिनीत्यर्थः । कथं तर्हि तत्वाजत्वमात्मनो दर्शयन्तो
श्रुतिर्घटिष्यते तत्वाह । प्रागिति ॥ प्रागवस्थायां सर्वमिदमजमहश्च
तथेल्लुपासको यतो मन्यतेऽतश्च प्रागवस्थ ब्रह्मविषया भविष्यत्वजत्व-
श्रुतिरित्यर्थः । काव्यस्थित्यवस्थायां यदि ब्रह्म तन्मात्ममिष्टं तर्हि
किमुपासनया प्राप्तं यमित्याशङ्क्याह । यदात्मक इति ॥ इदानीमुत्पत्त-
वस्थायां जातो जाते ब्रह्मणि स्थित्यवस्थायां वर्त्तमानोऽहं प्रागुत्पत्ते-
र्यदात्मकः सन्नासं तदेव पुनः प्रलयावस्थायामुपासनया प्रतिपत्स्येतत्-

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समताङ्गतम् ।

सवाच्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया
दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्त्ते
तदुपासनाश्रितः सन् ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः
क्षणो भवति यस्मादतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमक्षणभाव-
मजं ब्रह्म ॥ तद्वि कार्पण्यास्यदं यत्रान्योऽन्यत् पश्यत्यन्य-
च्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यं सदाचारस्मरणं
विकारो नामधेयमित्यादियुतिभ्यः । तद्वीपरितं सवाच्या-
भ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म ॥ यत्प्राप्याविद्या-
जतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः । तद्
जाति अविद्यमाना जातिरस्य । समताङ्गतं सर्वसास्यं
गतम् । कस्मात् । अवयववैषम्याभावात् । यद्वि सावयवं
वस्तु तदवयववैषम्यं जायत इत्युच्यते । इदन्तु निरवयव
त्वात्समताङ्गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुट्यतोऽजात्य

क्रतुयायादिति सख्यः । तत्रवकाराणां शाखायामुपास्यस्य ब्रह्मा-
त्यनिषेधदर्शनाच्चोपासकनिन्दा युक्तेत्याह । यद्वाचेति ॥ अतश्च्युदितमन
भिप्रकाशितमभ्युद्यतेऽभिप्रकाश्यते उपास्यते वाचाविषयोऽकुर्वन्तीत्यर्थः ।
आदिशब्देन यन्मनसेत्यादि गृह्यते ॥ १ ॥

भेददर्शनमुपासकमद्वैतविरोधिनं निन्दित्वा सम्प्रत्यद्वैतप्रतिज्ञां
करोति । अत इति ॥ जातिर्जन्म तद्रहितमजाति ॥ तत्र हेतुमाह ।
समतामिति ॥ जन्मराहित्यं साधयति । तथेति ॥ अतः शब्दार्थमाह ।
सवाच्याेति ॥ प्रतिज्ञाभागं विभजते । अक्षपणेति ॥ तदेव व्यतिरेक-
मुखेन स्फोरयति । तद्वीति ॥ दर्शनादि विशेषव्यवहारगोचरीभूतं

यथा न जायते किञ्चिज्जायमानं समं ततः॥२॥

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्धटाकाशैरिवोदितः ।

कार्पण्यम् । समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किञ्चिद-
त्यमपि न स्फुटति रज्जु सर्पवद्विद्याकृतदृष्ट्या जायमानं
येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽनभेवं ब्रह्म भवति तथा तं
प्रकारं शृण्वत्यर्थः ॥२॥

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातं तत्-
सिद्धप्रथं हेतु दृष्टान्तं वक्ष्यामीत्याह । आत्मा परो हि

कार्यजातं परिच्छिन्नं नाशोच्यते । तदेव क्षपणत्वालम्बनमित्यर्थः ।
तच्च सिध्याभूतमित्यत्र प्रमाणमाह । वाचार्दम्बणमिति ॥ कार्पण्य-
मुक्त्वा तदभावरूपसकार्पण्यं प्रकटयति । तद्विपरितमिति ॥ प्राप्स्य-
ज्ञात्वेति यावत् । द्वितीयपादं व्याचष्टे । तदजानीत्यादिना ॥ सर्व्या-
त्मना साध्यं निर्विशेषत्वं गतमित्यत्र हेतुं पृच्छति । कात्यादिदिति ॥
निर्विशेषत्वे हेतुमाह । अवयवेति ॥ हेतुमेव प्रकटयन् व्यतिरेक-
मुखेनाजत्वं प्रपञ्चयति । यद्वाद्यादिना । समन्तत इति पूर्णत्वसङ्की-
र्तनम् ॥ द्वितीयाहं व्याचष्टे । यथेत्यादिना ॥ यथा रज्ज्वां सर्पा-
भान्ना जायते तथा सर्वं भ्रान्तिदृष्ट्या जायमानत्वेन भासमानमपि
यथा येन प्रकारेण वस्तुतो न जायते तथा किन्तु सर्वतो देशतः
कालतो वस्तुतश्च पूर्वं कूटस्थमेव वस्तु भवति तथा तं प्रकारमिति
सम्बन्धः ॥२॥

प्रतिज्ञावाक्ये ब्रह्मशब्देन परमात्मना प्रकृतः स कीदृगित्यपे-
क्षायामाह । आत्मा हीति ॥ जीवभेदप्रतीतिस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याह ।
जीवैरिति ॥ यथा२२काशो विभुत्वादिधर्मः स्वगततात्त्विकभेदवाक्य-
भवति तथा परमात्मना विशेषाभावात् । यथा च महाकाशो घटा-

घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥३॥

यस्मादाकाशवत् सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशव-
दुक्तो जीवैः क्षेत्रक्षेत्राकाशैरिव घटाकाशतुल्य उदित
उक्तः । स एवाकाशसमः पर आत्मा । अथवा घटाका-
शैर्यथोदित उत्पन्नस्तथा परो जीवात्मभिरुत्पन्नो जीवा-
त्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या अयते वेदान्तेषु सा
महाकाशाद्वटाकाशोत्पत्तिसमानं परमार्थत इत्यभिप्रायः-
तस्मादेवाकाशाद्वटादयः सङ्घाता यथोत्पद्यन्ते एवमाकाश
स्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसङ्घाता आध्यात्मि-
काश्च कार्यकारणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते ।

काशाकारेण प्रतीयते तथा परमात्मना नानाविधजीवाकारेण प्रतीति-
गोचरो भवतीत्यर्थः । कथं सङ्घातानां परस्मादुत्पत्तिरित्याशङ्क्याह ।
घटादिवदिति ॥ यथा मृदः सकाशाद्वटादयो जायन्ते तथा परमा-
त्मैव पृथिव्यादिसङ्घाताकारेण जायत इत्यर्थः । यदाऽऽत्मनो जीवादी
नामुत्पत्तिरिष्टा तदा तस्यामुत्पत्तौ दृष्टान्तवचनमेतदित्याह ।
जाताविति ॥ श्लोकस्य वृत्तानुवादपूर्वकं तात्पर्यमाह । जातीत्या-
दिना प्रथमपादस्याचरार्थमाह । आत्मेत्यादिना ॥ विमतस्वगततात्त्वि-
कभेदशून्यः सूक्ष्मत्वान्निरवयवत्वाद्भिभूत्वादाकाशवत् । न च परमा-
त्मादौ सूक्ष्मत्वादेर्व्यभिचारः । तस्यैवासम्मतत्वात् । क्वचिदपि तात्त्वि-
कभेदसम्प्रतिपत्तेश्चेत्यर्थः ॥ जीवैरित्यादिना व्याचष्टे । जीवैरिति ॥
जीवाकारेण परमात्मैवोक्तः । क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्वीतिस्मृतेरित्यर्थः ।
उदितशब्दश्चेदुक्तार्थं नहि परस्मादात्मनः सङ्घातरूपेणोक्तत्वे सप्र-
पञ्चत्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह । अथवेति ॥ तर्हि नात्मन्युत्तेरिति न्याय-
विरोधः स्यादित्याशङ्क्याह । जीवात्मानमिति ॥ तृतीयपादं व्याचष्टे ।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
 आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीव इहात्मनि ॥४॥
 यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।

अत उच्यते घटादिवच्च सङ्घातैरुदिति इति । यदा मन्द-
 बुद्धिप्रतिपिपादयिषया श्रुत्यात्मनो जातिरुच्यते जीवा-
 दीनां तद् जातावुपगम्यमानायासेतन्निर्दर्शनं दृष्टान्तो
 यथोदिताकाशवदित्यादिः ॥३॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकशाद्युत्पत्तिः । यथा
 च घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वदेहादिसङ्घातो
 त्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि
 प्रलयो न स्वत इत्यर्थः ॥४॥

सर्वदेहेष्वात्मैकत्वे एकस्मिन् जननमरणसुखादिम-
 त्यात्मनि सर्वात्मनां तत्सम्बन्धः क्रियाफलसाङ्ग्यञ्च

तस्मादेवेति ॥ उक्तोर्ध्वे वाक्यमवतारयति । अत इति ॥ आकाशस्याव-
 काशप्रदाने च घटाद्युत्पत्तौ कारणत्वं निर्विकारस्यैव दृष्टमिति द्रष्ट-
 व्यम् ॥ जातावित्यादेरर्थमाह । यदेति ॥३॥

अद्वैतस्य जीववृष्टिश्रुतिविरोधं परिहृत्य तस्यैव जीवप्रलय-
 श्रुत्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति । घटादिज्जिति ॥ औपाधिकौ जीवा
 नासुत्पत्तिप्रलयौ न स्वभाविकौ । तथा चोत्पत्तिश्रुत्या विरोधाभाव-
 वदद्वैतस्य प्रलयश्रुत्यापि न विरोधोऽस्तीति श्लोकाच्चरव्याख्यानेन
 प्रकटयति । यथेत्यादिना ॥ ४ ॥

इदानीमद्वैतस्य व्यवस्थानुपपत्त्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति ।
 यथैकस्मिन्निति ॥ उक्तदृष्टान्तवशादेकस्मिन् जीवे सुखादिसंयुक्ते सत्य-

न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवा सुखादिभिः । ५ ।

स्यादिति य आहुर्द्वैतिनस्तान् प्रतीदमुच्यते । यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्बुते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः । नन्वेक एवात्मा । वाढम् ननु अतं त्वया आकाशवत्सर्वसङ्घातेष्वेक एवात्मेति यदि एक एवात्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी च स्यात् । न चेदं साङ्ख्यचोद्यं सम्भवति । न हि साङ्ख्य आत्मनः सुखदुःखादीनाम् । न चोपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति । भेदाभावे प्रधानस्य परार्थानुपपत्तिरिति चेत् । न । प्रधानकृतस्यार्थस्यात्मन्यसमवायात् । यदि हि प्रधानकृतो बन्धो

परे जीवास्तैरेव सुखादिभिर्न युज्यन्ते औपाधिकभेदादित्याह । तद्वदिति ॥ श्लोकव्यावृत्तग्रीभाशङ्कां दर्शयति । सर्वदेहेष्विति ॥ एकात्म्यकर्त्तर्यैकस्मिन् कर्त्तारः सर्वे भोक्तारि चैकस्मिन् भोक्तारः सर्वे भवेयुरित्यवस्थान्तरमाह । क्रियेति ॥ व्यवस्थानुपपत्त्याद्वैतमेष्टव्यमिति वदन्तं प्रत्युत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति । तान् प्रतीति ॥ किमिदमैकात्म्यं साङ्ख्यं किमेकस्मिन् जीवे व्यवस्थितेन सुखादिना जीवान्तराणां तद्वत्त्वं स्यादित्युच्यते किंवा सर्वोपाधिष्ठात्मैक्यान्तस्य स्वरूपेण सर्वसुखादिमत्त्वं स्यादित्यापाद्यते तत्वाद्यं प्रत्याह । तद्वदिति ॥ आत्मनः सर्वत्रैकत्वान्तस्य स्वरूपेण सर्वसुखादिमत्त्वमिति द्वितीयं पक्षं विवक्षन्नाशङ्कते । नन्विति ॥ सर्वत्वात्मैकत्वमुक्तमङ्गीकरोति । वाढमिति ॥ तदेकत्वमुपपत्तिमूयं कथमङ्गीकृतमित्याशङ्क्याह । ननुनेति ॥ यदि सर्वत्रैकत्वं नियतमिष्यते तर्हि तत्र तत्र सुखित्वं दुःखित्वं च तस्य

मोक्षोवायः पुरुषेषु भेदेन समवेति ततः प्रधानस्य पारार्थ्य
 आत्मैकत्वेनोपपद्यत इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना न च ।
 सांख्यैर्वन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते ।
 निर्विषेष्टाश्च चेतनमात्रा आत्मनोऽभ्युपगम्यन्ते । अतः
 पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु
 पुरुषभेदप्रयुक्तमिति । अतः पुरुषभेदकल्पनायां प्रधा
 नस्य पारार्थ्यं हेतुः । न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां
 प्रमाणमस्ति सांख्यानाम् । परसत्तामात्रमेव चैतन्निजि
 त्तीकृत्य स्वयं बध्यते मुच्यते च प्रधानम् । परश्चोपलब्धि
 मातसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषे
 ष्येति । केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पनावेदार्थपरित्यागश्च ।

चैकस्य प्राप्तमिति व्यवस्थाऽसिद्धिरिति द्योतयति । यद्येक एवेति ॥
 आत्मस्वरूपस्य सर्वत्रैकत्वेऽपि कल्पित भेदाद्व्यवस्थासिद्धिरित्यभिप्रेत्य
 किमिदं साङ्ख्यस्य चोद्यं किं वा वैशेषिकादेरिति विकल्पाद्यं प्रत्याह ।
 न चेदमिति ॥ किञ्चैकात्म्यं दूषयता साङ्ख्येन तद्भेदोऽभ्युपगम्यते ।
 स च नाभ्युपगन्तुं शक्यते तन्मानाभावादित्याह । न चेति ॥ प्रधानं हि
 कस्यचिद्भोगमपवर्गश्च कस्यचिदादधत् पुरुषशेषमिष्यते । तच्च पुरुष-
 भेदाभावेनोपपद्यते । तेनार्थापत्तया पुरुषभेदः सिद्धप्रतीति शङ्कते ।
 भेदेति ॥ अर्थापत्तेरनुदयं वदन् उत्तरमाह । नेत्यादिना । सिद्धिप्रमेयोक्तं
 विवृणोति । यदि हीति ॥ प्रधानस्य पारार्थ्यसामर्थ्यादेव पुरुषे कश्चि-
 दतिशयो भविष्यतीत्याशङ्क्यापसिद्धान्तप्रसङ्गान्मैवमित्याह । निर्विशेषा
 इति ॥ किञ्च प्रधानस्य पारार्थ्यं परं शेषिणमपेक्षते । न तस्मिन्
 भेदमपि काङ्क्षते । अतोऽन्यथाप्यपत्तिरित्याह । अत इति ॥ जन्ममर-
 णव्यवस्थानुपपत्तया पुरुषभेदकल्पनमपि न युक्तं व्यधिकरणत्वादिति

ये त्वाह्वीर्षेणिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति ।
तदप्यसत् । स्मृतिहेतूनां संस्काराणामप्रदेशवत्यात्मन्य-
समवायात् । आत्ममनःसंयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनि-
यमानुपपत्तिः । युगप्रज्ञा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः । न च
भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानात्मनां मन आदिभिः
सम्बन्धो युक्तः । न च द्रव्याद्वरूपादयो गुणाः कश्चिसामा-
न्यविशेषसमवाया भिन्नाः सन्ति । परेषां यदि ह्यत्यन्त-
भिन्ना एव द्रव्यात् स्वरिच्छादयश्चात्मनस्तथासति द्रव्येण
तेषां सम्बन्धानुपपत्तिः । अयुतसिद्धानां समवायनक्षणः
सम्बन्धो न विरुध्यत इति चेत् । न । इच्छादिभ्योऽनि-

मत्वाह । न चेति ॥ न केवलं प्रमाणशून्या पुरुषभेदकल्पना किन्तु प्रयो-
जनशून्या चेत्याह । परेति ॥ ननु न पुरुषसत्तामात्रं निमित्तीकृत्य
प्रधानं प्रवर्त्तते । किन्तोच्चराधिष्ठितमिति सेश्वरादिमतमाशङ्क्य
तस्यापि पुरुषत्वाविशेषादुपलब्धिमात्रत्वमप्युपेत्याह । परश्चेति ॥ वेदार्थो
वेदप्रतिपाद्यमद्वैतं द्वितीयमुत्थापयति । ये त्विति ॥ बुद्धिचुखुदः खेच्छा-
द्वेपप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा नव विशेषगुणाः । ते च प्रत्येकमात्मसु व्यव-
स्थया समवेताः स्वीक्रियन्ते । तेषां व्यवस्थानुपपत्त्या प्रतिदेहमात्मभेद-
निश्चिरित्यर्थः । किं बुद्ध्यादयो रूपादिवदात्मव्यापिनः किंवा संयोगा-
दिवदेकदेशवृत्तयः । नाद्यः । ज्ञानादिगुणानामाश्रयव्यापिनामाश्रय-
संयुक्ते सर्वे स्मिन्नपर्यायेण ज्ञातत्वादिव्यवहारजनकत्वप्रसङ्गादित्याह ।
तदप्यसदिति ॥ द्वितीये त्वेकदेशः सत्योऽसत्यो वा । प्रथमे घटादिवदा-
त्मनः सत्यैकदेशत्वात् कार्यत्वादिप्रसङ्गः । द्वितीये कल्पतैकदेशानामेव
ज्ञानादिगुणवत्त्वम् आत्मनस्तु न तद्वत्त्वं सिद्धप्रतीत्याह । स्मृतीति ॥

त्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वेऽसिद्धत्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः ।
 आत्मना युतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतसहत्त्ववन्नित्यत्व-
 प्रसङ्गः । स चानिष्टः । आत्मनोऽनिर्माद्यप्रसङ्गात् । सम-
 वायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण सस्वन्धान्तरं वाच्यम् ।
 यथा द्रव्यगुणयोः समवायो नित्यसस्वन्त्व एवेति न वाच्य-
 मिति चेत् । तथा च समवायसस्वन्त्ववतां नित्यसस्वन्त्वप्रस-
 ङ्गात्पृथक्कानुपपत्तिः । अत्यन्तपृथक् च द्रव्यादीनां स्पर्श-
 वदस्पर्शद्रव्ययोरिव पृथग्यनुपपत्तिः । इच्छाद्युपजनापाय-
 वदगुणवत्त्वे चात्मनो नित्यत्वप्रसङ्गः । देहफलादिवत्सा-
 वयवत्वं विक्रियावत्त्वञ्च देहादिवदेवेति दोषावपरि-

स्मृतिहेतवः संस्कारा भावानाख्यास्तेषां ग्रहणमितरेषामुपलक्षणाधि-
 तेषामात्मनि समवायाभावात् परस्य सिद्धान्तसिद्धिरिति श्रेयः ।
 किञ्चात्मनःसंयोगासमवायिकारणाज्ज्ञानानामुत्पत्तिरिष्टा । तथा च
 सति ग्रहणसमये स्मृतिर्न सम्भवत्येवेति नियमो नोपपद्यते । ग्रहण-
 कारणसंयोगेनैव स्मृत्युपपत्तिसम्भवादित्याह । चात्मेति ॥ किञ्चा-
 त्मनसोः संयोगादेकस्मादेकस्याः स्मृतेः समुत्पत्तिसमये स्मृत्यन्तरा-
 र्थापि समुत्पद्येरन् । असमवायिकारणस्य तुल्यत्वात् । न च समुत्-
 पत्तिश्च द्विसंस्काराद्यौगपत्याद्युगपदनुत्पत्तिः । तेषां तदुद्बोधस्य चात्मनि
 विप्रतिपन्नत्वेन स्मृतिनामग्रन्तर्भाषासम्भवादित्यभिप्रात्याह । युगप-
 दिति ॥ किञ्च समानजातीवानां स्पर्शादिसताञ्च परस्परं सम्बन्धो दृष्टः ।
 यथा सङ्गानां संपाणां रज्जुघटादीनाञ्च तदुभयाम्बादात्मनां मन-
 आदिभिः सम्बन्धसिद्धेर्नोक्तादसमवायिकारणाद्भ्रूयादिगुणोत्पत्तिः
 सिद्धप्रतीत्याह । न चति ॥ गुणादीनां साजात्यस्य स्पर्शादिसत्त्वस्य
 चाभावेऽपि द्रव्येण सम्बन्धवदात्मना मनआदिभिः सम्बन्धः सिद्धप्रति

हाय्यै । यथा त्वाकाशस्याऽविद्याधारोपितरजोभूमसक्तत्वा
दिदोषवत्त्वं तथात्मनोऽविद्याधारोपितबुद्धप्राप्त्युपाधिकृत-
मुखदुःखादिदोषवत्त्वेन न्यमोक्षादयोव्यवहारिका न विक-
स्यन्ते । सर्व्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात् पर-

चेन्नेत्याह । न चेति ॥ स्वतन्त्रं सन्नात्वं द्रव्यगर्भेनात्र विवक्षितं न
ततो भेदेन गुणादयो वेदान्तिमते विद्यन्ते । गुक्तः पटः खण्डो गौरि-
त्यादि सामानाधिकरण्यदर्शनात् । द्रव्यमेव तु कल्पनया तत्तदाकारेण
सातीत्यभ्युपगमात् अतो दृष्टान्तानामुपपत्तिरित्यर्थः ॥ विपक्षोदोष-
माह । यदि हीति ॥ गुणादयो द्रव्यादव्यन्तभिन्ना हिमवद्विश्वप्रयोरिव
यदि स्युर्वादि चात्मनः सकाशादिच्छादयोऽव्यन्तं भिन्ना भवेयुस्तदा गुणा-
दीनां द्रव्येण तद्वदेव सम्वन्धानुपपत्तेः । इच्छादीनाञ्चात्मना तदयो-
गात्पारतन्त्र्यमिद्विरित्यर्थः । अव्यन्तभिन्नानानपि समवायसम्बन्धात्-
पारतन्त्र्योपपत्तिरिति शङ्कते । अयुतेति ॥ किमिदमयुतसिद्धत्वम-
ष्टयकालत्वं किं वा षष्ठ्यग्रेण त्वमुताष्टयकस्वभावत्वमाहोस्वित्संयोगवि-
भागायोग्यत्वम् । नाद्यः । विकल्पासङ्गत्वात् । किमिच्छाद्यपेक्षयाऽष्टय-
कालत्वं किं वात्मापेक्षया इच्छादीनामिति विकल्पप्राप्तं दूषयति ।
नेत्यादिना ॥ यद्यात्मना सङ्गाऽष्टयकालत्वमिच्छादीनां तदात्मनोऽनादि-
त्वात्तद्भूतमहत्त्ववन्नित्यत्वं तेषामापततीत्याह । आत्मनेति ॥ प्रसङ्गस्येष्ट-
त्वमागङ्गु निराचष्टे । न चेति ॥ न चाष्टयग्रेण त्वमयुतसिद्धत्वम् ।
तन्नुपदादीनां षष्ठ्यग्रेणानामयुतसिद्धप्रभावप्रसङ्गात् । न चाष्टयक-
स्वभावत्वमयुतसिद्धत्वम् । भेदपक्षपरिचयात् । न च संयोगविभागायो-
ग्यत्वमयुतसिद्धत्वम् । देयदत्तस्य हस्तादीनां चायुतसिद्धप्रभावापा-
तादित्यभिप्रेत्य समवायस्य द्रव्यादनध्यवे तावन्मात्रत्वेन तत्-
सम्बन्धत्वयाघातात्ततोऽन्यत्वेन सम्बन्धान्तरमस्ति न वेति विकल्पप्राप्त्ये
स्यादनवस्थेति ॥ द्वितीयं शङ्कते । समवाय इति ॥ न वाच्यं सम्बन्धा-
न्तरमिति शेषः । समवायस्य नित्यसम्बन्धत्वे समवायवतां द्रव्यगुणा-

सार्धानभ्युपगमाच्च । तस्मादात्मभेदपरिकल्पना दृष्टैव
तार्किकैः क्रियत इति ॥ ५ ॥

कथं पुनरात्मभेदनिमित्तव्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यवि-
द्याकृत उपपद्यत इति । उच्यते । यथेहाकाश एकस्मिन्
घटकरकापवरकाद्याकाशनामल्पत्वसहत्वादिरूपाणि भि-
द्यन्ते तथा कार्यसुदकाहरणधारणशयनादिसमाख्याच्च

दीनामपि तद्वत्त्वात् । भेदस्य कदाचिदप्यनुपलभ्यात् दृष्टान्तप्रयानु-
पपत्तिरिति दूषयति । तथा चेति ॥ संयोगस्यापि समवायसाध्यं
चकारेण सूच्यते । समवायस्य समवायिभिर्गुणादीनाञ्च द्रव्येणात्य-
न्तभेदेहिमविश्वयोरिव सत्त्वभ्यानुपपत्तेः । तेषु परतन्त्रताव्यवहारा-
सिद्धिरित्याह । अत्यन्तेति ॥ किञ्चेच्छादयो नात्मगुणाः उपजनापाय-
वत्त्वादृपादिवत् । यद्वाऽऽत्मा नानित्यगुणवान्नित्यत्वाद्वृत्तिरेकेण देहादि
दित्याह । इच्छादीति । न केवलमात्मनोऽनित्यगुणत्वेऽनित्यत्वप्रस-
ङ्गेव दोषः किञ्चन्यदपि दोषद्वयं दुष्परिहरमिति बाधकान्तरमाह ।
सावयवत्वमिति ॥ यद्यात्मनो नेच्छादिगुणवत्त्वं तदा तस्य बन्धाभावा-
न्मोक्षो न स्यादती वस्त्वमोक्षव्यवस्थानुपपत्त्या प्रति देहं सुखदुःखादि
विशिष्टात्मभेदसिद्धिरित्याशङ्क्याह । यथा त्विति ॥ अवस्तुत्यादविद्या-
यास्तत्कृतव्यवहारायोगाद्भ्रष्टहारिकवन्धाद्यभ्युपगमासिद्धिरित्याशङ्क्या-
ह । सर्ववादिभिरिति ॥ अविद्याकृतजन्यत्वाध्यारोपेण त्रैलोक्यवैदि-
कव्यवहारः सर्ववादिभिरिष्यते तत्कृता च व्यवस्था स्वीयते ॥ तस्मा-
दस्माकमपि तथैव सर्वमविरुद्धमित्यर्थः । परमार्थे च मोक्षे केनापि
वादिना व्यवहारो नाभ्युपगम्यते । तथा च मोक्षे परेषां व्यवहारस्यैवा-
भावात्तन्निर्वाहकपारमार्थिकभेदाभ्युपगमो दृष्टेत्याह । परमार्थेति ॥
कल्पितभेदवशादपि पूर्वाक्तसर्वव्यवस्थासौख्यत्वात् पारमार्थिकात्मभेद-
कल्पनाप्रमाणप्रयोजनञ्च न्यत्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ ५ ॥

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।

आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥ ६ ॥

घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्नाश्च दृश्यन्ते ।
तत्र तत्र वै व्यवहारविषय इत्यर्थः । सर्वोऽय-
माकाशरूपादिभेदकतो व्यवहारो न परमार्थ एव ।
परमार्थतत्त्वाकाशस्य भेदोऽस्ति । न चाकाशभेदनिमित्तो
व्यवहारोऽस्त्वन्तरेण परोपाधिकृतं द्वारं यथैतत् । तद्वदे-
होपाधिभेदकतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसु निरू-
पणात्कृतो बुद्धिभिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अद्वैतस्य श्रुत्यादिविरोधाभावेऽप्यनुमानविरोधमाशङ्कानैका-
निकत्वेनानुमानं दूषयति । रूपेति ॥ श्लोकव्यावृत्तीमाशङ्कामाह ।
कथमिति ॥ यथात्मभेदवादे तद्वेदनिमित्तो रूपादिव्यवहारस्तथैकस्त्रि-
न्नेवात्मन्यात्मैक्यपक्षे रूपादिव्यवहारो नोपपद्यते । तथा च विमता
जीवास्तत्त्वतो भिद्यन्ते भिन्ननामकत्वात् । भिन्नकार्यकरत्वाद्भिन्न
रूपत्वाद्घटपटादिवदित्यनुमानविरुद्धमद्वैतमित्यर्थः । घटाकाशादि-
ष्वनैकान्तिकत्वं विवक्षितत्वात् ॥ श्लोकाच्चराणि व्युत्पादयति ॥
उच्यते इत्यादिना ॥ शयनादिसमाख्याश्च भिद्यन्त इति संस्रवः ॥
तत्कृताश्चेत्यत्र तच्छब्देन विकल्पितो घटाकाशभेदोऽप्युच्यते । चकारोऽव-
धारणार्थः । घटाकाशादीनामुक्तहेतुत्वेऽपि विप्रचत्वाभावे कथमनैका-
निकत्वमित्याशङ्क्याह । सर्वोऽयमिति ॥ उक्तेऽर्थे तृतीयं पादं विभजते ।
न चेति ॥ परोपाधिष्वनेन घटकरकादिरुच्यते । दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टी-
निकं व्याचष्टे । तथैतदित्यादिना ॥ ६ ॥

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।

नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ ७ ॥

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्या-
दिभेदव्यवहार इति । नैतदस्ति । यस्मात्परमार्थाका-
शस्य घटाकाशो न विकारः । यथा सुवर्णस्य रुचकादि-
र्यथा वाऽपां फेनबुद्बुदहिमादिर्नाप्यवयवः । यथा च वृक्षस्य
शाखादिः । न तथाऽऽकाशस्य घटाकाशः । विकारावयवौ
यथा तथा नैवात्मनः परस्य परमार्थसतो महाकाश-
स्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यद्योक्त-
दृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः । अत आत्मभेदकृतव्यव-
हारो मृषैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

घटाकाशादीनां विपक्षत्वाभावमाशङ्क्य परिहरति । नेत्यादिना ॥
घटाकाशादिराकाशस्य विकारोऽवयवौ वेत्यङ्गीकारात्तत्वापि भेदस्य
तात्त्विकत्वान्न विपक्षतेति । श्लोकस्य व्यावर्त्तनं चोद्यमुत्थापयति ।
नन्विति ॥ आकाशस्य त्रिविकारत्वं निरवयवत्वञ्च लोकसिद्धं गृहीत्वा
परिहरति । नैतदस्तीति ॥ तत्र वैधर्म्यादाहरणद्वयमाह । यथेति ॥
घटाकाशादिराकाशस्य महाकाशस्यावयवो न भवतीत्यत्र अतिरेक-
दृष्टान्तमाह । यथा वृक्षस्येति ॥ उक्त दृष्टान्तानां दाष्टीनिकमाह ।
न तथेति ॥ घटाकाशस्य महाकाशं प्रति विकारत्वमवयवत्वञ्च नास्ती-
त्युक्तम् ॥ दृष्टान्तेनानूद्य दाष्टीनिकं दर्शयन्नुत्तरार्द्धं व्याकरोति ॥
यथेत्यादिना ॥ अनेकान्तिकत्वेनानुमानस्यामानन्त्यस्थितं फलितमाह ।
अत इति ॥ ७ ॥

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।

तथा भवत्यवुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदवद्विनिवन्धनो रूपका-
र्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकतो जन्ममर-
णादिव्यवहारः तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्व-
मात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपाद-
यिषन्नाह । यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां गगन-
माकाशं घनरजोधूमादिमलैर्मलिनं मलवन् गगनं मल-
वत् तद्याथात्म्यविवेकिनाम् । तथा भवत्यात्मा परोऽपि यो
विज्ञाता प्रत्यक् क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽवुद्धानां प्रत्य-
गात्मविवेकरहितानां नात्मविवेकवताम् । न ह्युपरदेश-
स्तु त्वत्प्राणधारोपितोदकफेनतरङ्गादिमान् । तथा

जीवो ब्रह्मणो नाशो न विकारोऽपि तु ब्रह्मैवोपाध्यनुप्रविष्टं
जीवगद्वितमित्युक्तं ब्रह्मणः शुद्धत्वाज्जीवस्य रागादिमलवत्त्वादनेक-
त्वदेकत्वायोगादित्याशङ्क्य परमार्थतो जीवस्यापि नास्ति मलत्व-
मित्याह । तथेति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । यस्मादिति ॥ घटाकाशो
मटाकाशः सूचीपाशाकाशश्चेति उपाधिनिमित्तो भेदस्तद्विषया व द्वि-
स्तत्प्रयुक्तो रूपभेदोऽर्थक्रियाभेदो नामभेदश्चेति व्यवहारो न भवि-
त्योपलभ्यते तथा देहाद्युपाधिभेदप्रयुक्तो जीवभेदस्तत्कृतो जन्मम-
रणसुखदुःखादिव्यवहारो व्यवस्थितो यस्मादासीयते तस्मात्तेना-
विद्यमानेन कृतमेवात्मनो रागादिमलत्वं न वस्तुतोऽस्तीत्येतमर्थं दृष्टा-
न्तद्वारा प्रतिपिपादयिषन्नादौ दृष्टान्तमाहेति योजना । दृष्टान्त-
भागनिविष्टान्यवराणि व्याचष्टे । यद्येत्यादिना ॥ दाष्टीति कभागता

३०

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि ।

स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥६॥

सङ्घाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः ।

नात्मा अबुधारोपितक्ते शादिसलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति घटाकाशजन्मनाशगमना-
गमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्व्वात्मनो जन्ममरणादिराकाशे
नाविलक्षणः प्रत्येतद्व्य इत्यर्थः ॥९॥

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसङ्घाताः स्वप्नदृश्यदेहादि-
वन्मायाविकृतदेहादिवच्चात्मयाविवर्जिता आत्मनो माया

नामक्षराणामर्थमाह । तथेति ॥ यो हि प्रत्यगात्मा विज्ञाता सोऽप्य-
बुद्धानां मलिनो भवतीति सम्बन्धः ॥ अबुद्धानामित्येतद्व्याचष्टे ॥
प्रत्यगात्मेति ॥ अविवेकिभिरध्यारोपितेऽपि प्रत्यगात्मनो मलवत्त्वं
मलप्रयुक्तं फलं तत्र वास्तवं भविष्यतीत्याशङ्क्याह । न हीति ॥८॥

ननु जीवो मरणानन्तरं धर्मानुरोधेन स्वर्गं मच्छति । अधर्म-
वशाच्च नरकं प्रतिपद्यते । धर्माधर्मयोश्च भोगेन क्षये पुनरागत्य
योनिविशेषे सम्भवति । तत्र यावद्भोगं स्थित्वा पुनरपि परलोकाय
प्रतिष्ठते । एवमिहलोकपरलोकसञ्चरणव्यवहारविरुद्धमद्वैतमिति
तदाह । मरण इति ॥ लोकस्य तात्पर्यमाह । पुनरपीति ॥ आत्मनि
सर्वो व्यवहारोऽविद्याकृतो वास्तवो नेत्युक्तोऽर्थः । आत्मनो हि
गगतोपमस्य गत्यादेर्वस्तुतोऽसम्भवादविद्याकृतस्तस्मिन् गत्यादिरि-
त्यर्थः ॥९॥

ननु सङ्घातशब्दितानामुपाधीनां सत्यत्वात्तत्प्रयुक्तभेदस्यापि तथा-
त्वादात्तदानुपपत्तितादवस्थप्रमिति चेत्यत्राह । सङ्घाता इति ॥ देवा-

आधिक्ये सर्वसाध्ये वानोपपत्तिर्हिविद्यते ॥१०॥
रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके।

ऽविद्या तया प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ।
यद्याधिक्यमधिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षाया देवादिका-
र्थकरणसङ्घातानां यदि वा सर्वेषां समतैव नैवासुपपत्ति-
सम्भवः सङ्गावप्रतिपादको हेतुविद्यते । नास्ति हि यस्मा-
त्तस्मादविद्याकृता एव परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ॥१०॥

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्यास्यात्मतत्त्वस्य श्रुतिप्रमाण-
कत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान् उपन्यस्यन्ते । रसादयोऽन्तरसमयः
प्राणसमय इत्येवमादयः कोशा इव कोशा अस्यादेरिवो-
त्तरोत्तरस्यापेक्षया वहिर्भावात्पूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्ट

दिदेहानां पूज्यतमत्वेनाधिक्याभ्युपगमनात्सत्त्वत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य देह-
भेदेषु चिदाधिक्ये मूढदृष्ट्या कल्पितेऽपि विवेकदृष्ट्या सर्वदेहा-
पञ्चभूतात्मकत्वाविशेषादशेषामास्ये वा स्वीकृते नास्ति सङ्घातेषु
सत्त्वत्वे काचिदुपपत्तिरित्याह । आधिक्य इति ॥ पूर्वाङ्गीचराणि योज-
यति ॥ घटादिति ॥ मणिमन्त्रादिरूपां मायामिन्द्रजालप्रयोजकभूतां
व्यावर्तयति । अविद्येति ॥ विमता देहान सत्या देहत्वात्कर्मप्रतिपन्न-
वदित्यर्थः ॥ ब्रह्मादिदेहानामुत्कृष्टत्वान्नाविद्याकृतत्वमित्याशङ्क्य द्विती-
याङ्गे व्याचष्टे । यदीत्यादिना ॥१०॥

जीवस्याद्वितीयब्रह्मत्वमुपपत्त्यवष्टम्भेनोपपादितम् । इदानीन्त-
नैव तेत्तिरीय श्रुतेस्तात्पर्यमाह । रसादयो हीति ॥ श्लोकस्य तात्-
पर्यमाह । उत्पत्त्यादिति ॥ अक्षरायं कथयति । रसादय इति ॥
आदिशब्देन सनोमयविज्ञातमयानन्दमया गृह्यन्ते । खड्गदेर्यथा

तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥११॥
 द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।

माख्यातास्तैत्तिरीयकशाखोपाधिषट्त्व्यां तेषां कोशाना-
 मात्मा येनात्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन ।
 स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः । कोऽसावित्याह ।
 पर एवात्मा यः पूर्वं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति प्रकृतः ।
 यस्यादात्मनः स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः
 कोशलक्षणाः सङ्घाता आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम् ।
 स आत्माऽस्याभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशितः । आत्मा
 ज्ञाकाशवदित्यादिश्लोकैः । न तार्किकपरिकल्पितात्मवत्-
 पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

किञ्चाधिदैवमध्यात्मञ्च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
 पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवात्मा ब्रह्म सर्व्व-

कोशास्तदपेक्षया वह्निर्भवन्ति तद्वदेते पञ्च कोशा व्यपदिश्यन्ते ॥ तत्र
 हेतुमाह । उत्तरोत्तरस्येति ॥ पूर्वपूर्वस्यान्मयादेरुत्तरोत्तरप्राण-
 मयाद्यपेक्षया वह्निर्भावात् ब्रह्म सर्व्वान्तरं प्रतिष्ठाभूतमपेक्षानन्दमय-
 स्यापि वह्निर्भावा विज्ञेयादविगिष्टं पञ्चानामपि कोशत्वमित्यर्थः ॥
 अवगिष्टान्यक्षराणि व्याचष्टे । व्याख्याता इत्यादिना । तत्र जीवगम्य
 प्रवृत्तिं व्युत्पादयति । स हीति ॥ विगिष्टं जीवगम्यार्थमाकाङ्क्षाद्वारा
 व्यावर्त्तयति । कोऽसावित्यादिना ॥ प्रकरणविच्छेदनार्थं प्रकरणमनु-
 हन्त्यन्ते । यस्यादिति ॥ प्रकृतस्य परस्यात्मनः श्रौतत्वे फलितमाह ।
 वेत्यादिना ॥११॥

मनुश्च २हं प्राण्यहं प्रजातः २हं कर्ता २हं भोक्ता २हमिति

एथिव्यासुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः ॥१२॥

मिति द्वयोर्द्वयोरद्वैतत्वात् परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
 कोत्याह । ब्रह्मविद्यास्यं सध्वष्टं अष्टतत्वं सोऽनहेतुत्वा-
 द्विज्ञायते यस्मिन्निति सधुज्ञानं सधुब्राह्मणं तस्मिन्न-
 त्यर्थः ॥ किमिवेत्याह । एथिव्यासुदरे चैव यथैक आकाशो-
 ऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः ॥१२॥

पञ्चानां विगिष्टानां यदेकं स्वरूपमनुतां प्रत्यक्चेत्यं तद्ब्रह्मैवेति
 जीवन्मयोरेक्ये तेतिरीयमुत्तात्पर्यमुक्ता तत्रैव बृहदारण्यकश्रुते-
 रपि तात्पर्यमाह । द्वयोरिति । सधुब्राह्मणे ब्रह्म पथ्यायेषु अधिदै-
 वाध्यात्मविभक्तयोः स्थानयोरवनेव स इति परं ब्रह्म प्रत्यक्प्रकाशि-
 तम् । अतोऽस्मिन् बृहदारण्यकश्रुतेरपि ब्रह्मात्मैक्ये तात्पर्यमित्यर्थः ॥
 तत्र दृष्टान्तमाह । एथिव्यामिति ॥ न केवलमेकौ तैत्तिरीयश्रुतिरेव
 तात्पर्यं किन्तु बृहदारण्यकश्रुतेरपीत्याह । किञ्चेति ॥ अधिदैवं
 एथिव्यादावध्यात्मञ्च शरीरे तेजोमयो ज्योतिर्मायश्चैतन्यप्रधानोऽष्टत-
 मयोऽमरणाधर्मा पुरुषः पूर्णः एथिव्यादौ शरीरे चान्तर्गतो यो
 विज्ञाता स पर एवात्मा । तेन स विज्ञाता सर्वं पूर्णमपरिच्छिन्नं ब्रह्मै-
 वेति परं ब्रह्मप्रकाशितमिति सत्त्वन्वः । अपवादावस्थायामध्वारोपा-
 सम्भवात् द्वयोर्द्वयोरिति कथमुच्यते तत्राह । अद्वैतत्वादिति ॥
 द्वैतत्त्वपर्यन्तं ब्रह्म प्रकाशितम् । द्वयोर्द्वयोरिति पुनरनुवादमात्र-
 मित्यर्थः । सधुज्ञाने सध्वेव प्रकाशितं न ब्रह्म इत्याशङ्क्य सधुज्ञान-
 शब्दार्थं व्युत्पादयति । कोत्यादिना ॥ शब्दस्य कचिदाश्रितत्वं रूप-
 वदनुमीयते । तच्च शब्दाधिकरणं सामान्यतः सिद्धं पारिषेध्यादाकाश-
 मिति सिद्धमिति । तच्च कल्पनालाघवादेकमेवेति गम्यते । तथा च वहि-
 रन्त्यैकमेवाकाशमनुमानप्राप्ताख्यादधिगतम् ॥ तथाधिदैवमध्यात्मञ्च
 ब्रह्म प्रत्यग्भूतं सिद्धमित्युत्तरार्द्धं व्याचष्टे । किमेवेत्यादिना ॥१२॥

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।

नानात्वं विन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥१३॥

यद्युक्तितः अतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चात्म-
नोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते सूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च ।
यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रवर्हिष्कृतैः कृता-
र्त्तिकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते । न तु तद्द्वितीय-
मस्ति । द्वितीयादौ भयं भवति । उदरमन्तरं कुरुते ।
अथ तस्य भयं भवति । इदं सर्वम् । यदयमात्मा । सत्योः
स सत्यमाप्नोतित्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः । यच्च
तत्तदेवं हि समञ्जसं ऋज्वबोधं न्याय्यमित्यर्थः । यासु

इतश्चैकत्वे अतीनां तात्पर्यमित्याह । जीवात्मनोरिति ॥ अभे-
देन ब्रह्मैविद्ब्रह्मैव भवतीत्यादिना ब्रह्मभावफलवादेनेत्यर्थः । यत्
प्रशस्यते तद्विधेयमित्यादिन्यायात् । एकत्वदर्शनं फलवादोपपत्तुप्रप-
न्नादेकत्वं प्रशस्तत्वादिवचितमिति भावः । यच्चानेकत्वं सर्वप्राणि-
साधारणं तन्निन्द्यमानं दृश्यते । यन्निन्द्यते तन्निषिध्यत इति न्याया-
न्नानात्वं शास्त्रार्थो न भवतीत्याह । नानात्वमिति ॥ तदुभयमेकत्वप्रशं-
सनं नानात्वनिन्दनञ्चैकत्वमेव शास्त्रीयमित्यभ्युपगमे सति युक्तमिति
फलितमाह । तदेवं हीति ॥ श्लोकाद्वराणि व्याचष्टे । यदिति ॥
अनन्यत्वाभावशङ्कां व्यावर्त्यैकरसत्वं दर्शयति । अभेदेनेति ॥ तत्प्रशं-
स्यते शास्त्रेणेति तत्प्रदमादाय व्याख्येयम् । शास्त्रेणाभेदेदनेन
फलवादेनेत्यर्थः । व्यासपराशरादिभिश्च वेदार्थं व्याचक्षाणैरेकत्वं
सूयते ॥ वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः । अहं हरिः
सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातमित्यादिवाक्यैरित्याह ।

तार्किकपरिकल्पिताः कुट्टयस्ता अन्वञ्चो निरूप्यमाणा न
घटानां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः ॥१३॥

ननु अत्यापि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्ते-
रुत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं कस्यकाण्डे ।
अनेकशः कामभेदत इदं कामोऽहः काम इति । परञ्च
सदाधारपृथिवीद्यामित्यादिमन्त्रवर्णैः । तत कथं कस्यज्ञा-
नकाण्डवाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैकत्वस्य साम-
ञ्जस्यमवधार्यत इति । अत्रोच्यते ॥ यतो वा इमानि

व्यासादिभिश्चेति ॥ द्वितीयाहं विभजते । यच्चेति ॥ तन्नित्यत इति
यच्छब्दोपक्रमादुद्गृह्यम् । अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नद-
र्शनः । किन्तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणेत्यादिवार्क्यैर्व्यासाद-
योऽपि द्वैतदर्शनं निन्दन्तीत्याह । अन्यैश्चेति ॥ एवमनेकतद्दर्शनस्य
निन्दितत्वेन निषिद्धत्वाद्दानेकत्वं शास्त्रीयमित्युक्त्वा चतुर्थपादार्थमाह ।
यच्चैतदिति ॥ विषयभेदेन प्रशंसनं निन्दनञ्चेत्यर्थः । एवं हीति ॥
द्वैतस्याशास्त्रीयत्वमद्वैतस्यैव तत्तात्पर्यगम्यत्वमित्यङ्गीकारे सती-
त्यर्थः । भेददृष्टितामपि न्याय्यत्वाविशेषाद्भेददर्शननिन्दनस्य कुतो न्याय्य-
त्वमित्याशङ्क्याह । यास्त्विति ॥ या वेदवाच्याः स्मृतयो याश्च काश्च
कुट्टयः । सर्वास्ता निष्कलाः प्रेत्यतमोमूला हि ताः स्मृता इति मनुव-
चनादित्यर्थः । न्यायविरोधादपि भेदवादानामसमञ्जसत्वमित्याह ।
निरूप्यमाणा इति । वैशेषिकवैनाशिकादिकल्पना भेदानुसारिण्या
भेदश्च परस्परान्ययतादिदोषदूषिता न प्रतीयते । तेन भेदवादानामुत्-
प्रेक्षामूलानामसमञ्जसतेत्यर्थः ॥१३॥

भेदवादानामुत्प्रेक्षामात्ममूलत्वं श्रुतिमूलत्वादित्याशङ्क्य परि-
हरति । जीवात्मेति ॥ उत्पत्तिर्ष्युत्पत्तिः सम्यक् ज्ञानं तदर्थोपनि-

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्त्तितं ।

भूतानि जायन्ते । यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः । तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । तदैक्षत । तत्तेजोऽह-
जतेत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक् पृथक्त्वं कर्ष-
काण्डे प्रकीर्त्तितं यत्तन्न परमार्थं किन्तर्हि गौणम् ।
महाकाशघटाकाशादिभेदवत् । यथौदनं पचतीति भवि-
ष्यद्दृष्ट्या तद्वत् । न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्य-
भेदार्थत्वमुपपद्यते । स्वाभाविकाविद्यावत् प्राणिभेददृश्य
नुवादित्वादात्मभेदवाक्यानाम् । इह चोपनिषत्सूत्रपत्ति-

पदः प्रवृत्तप्रपञ्चया प्राक् प्रवृत्तकर्मकाण्डेन यत्परापरयोर्नानात्व-
मुक्तं तदौदनं पचतीति भविष्यत्प्रवृत्तप्रातण्डलेष्वौदनत्ववत् गौण-
मेव न मुख्यभेदार्थत्वं श्रुतेर्युज्यते । भेदस्या पूर्वत्वपुरुषार्थत्वयोरभा-
वादित्यर्थः । श्लोकव्यावर्त्तमाशङ्कामाह । नन्विति ॥ न केवलमस्माभि-
रुत्प्रेक्षितमिदं किन्तु श्रुत्यापि दर्शितमित्यपरोक्षार्थः । भेदवत्प्रा-
श्रुतेस्तात्पर्यलिङ्गमभ्यासं सूचयति । अनेकश इति । कर्मकाण्डे
तत्तत्कामनाभेदेन नियोज्य भेदसिद्धावपि कथं जीवपरयोर्भेदः
सिध्यति परस्य तत्रानुक्तत्वादित्याशङ्कामाह ॥ परश्चेति ॥ हिरण्यगर्भः
समवर्त्तताम् इति मन्त्रे प्रकृतो हिरण्यगर्भः सर्वनाम्ना पराम्भश्यते ।
स इमां पृथिवीं व्यामपि धृतवान् । अन्यथा गुरुत्वात्तयोरवस्थाना-
योगात् । न च हिरण्यगर्भोऽस्मिन्नस्मिन्निर्गते परे बुध्यन्ते मन्त्रवर्त्तः ।
परश्च प्रकीर्त्तित इति सम्बन्धः । कर्मकाण्डार्थं ज्ञानकाण्डेनाप-
वाध्यज्ञानकाण्डार्थस्यैकत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यतामित्याशङ्क्य वाच्य-
बाधकभावनिर्द्धारणे कारणानवधारणान्नैवमित्याह । तवेति ॥ श्लोका-

भविष्यदुत्प्रागौखं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

प्रत्ययादिवाक्यैर्जायपरमात्मनोरेकत्वमेव प्रतिपिपादयि-
षितम् । तत्त्वमसि अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदे-
त्यादिभिः । अत उपनिषत्स्वेकत्वं श्रुत्या प्रतिपादयिषितं
भविष्यतीति भाविनामेकवृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृश्यनु-
वादो गौण एवेत्यभिप्रायः । अथवा तदैक्षत । तत्तेजो-
ऽसृजतैत्याद्युत्पत्तेः प्रागेकमेवाद्वितीयमित्येकत्वं प्रकी-
र्तितम् । तदेव च तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीत्येकत्वं

चरैरुत्तरमाह । अवेत्यादिना ॥ अथक्त्वा गौणत्वे प्रागुक्तमेव दृष्टान्त-
माह । महाकाशेति ॥ तत्रैव श्लोकसूचितमुदाहरणमाह । यथेति
मुख्यत्वं हीत्यादिना व्याचष्टे । न होति ॥ भेदस्यापूर्वादाद्यभावान्न
वाक्यानां तत्परत्वं तत्परतत्परयोश्च तत्परं वाक्यं बलवदिति
न्यायादखण्डवाक्यार्थस्यैव सामञ्जस्यमित्यर्थः ॥ अद्वैतवाक्यानामपि
कथमद्वैते तात्पर्यमित्यागङ्गापूर्वार्थत्वादुपपत्तिमत्त्वाच्चेत्याह । इह
चेति ॥ अद्वैतं तावन्मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमेवाद्वितीयमिति प्राग-
वस्थायां ब्रह्माद्वितीयं श्रुतम् । तद्वेदं सृष्ट्वा । तत्सृष्टा तदेवानु-
प्राविशदिति श्रुतेरनुप्रविष्टो जीवोर्ध्वमलप्यते । तेन जीवस्य ब्रह्मा
सम्भवतीत्युपपत्त्यापि श्रुतेरद्वैतार्थत्वं गम्यते । सृष्ट्यादिश्रुतीनामद्वैते
तात्पर्यं न सृष्ट्यादावित्यनन्तरमेव वक्ष्यते । तस्मादद्वैते श्रुतेस्तात्-
पर्यात्तदर्थस्यैव तात्त्विकतेत्यर्थः । न केवलमुपपत्तेरेवाद्वैते श्रुतेस्तात्-
पर्यं किन्तु नवकत्वोऽभ्यासादपीत्याह । तत्त्वमसि । भेददृष्टेरपवादाच्च
श्रुतेरद्वैते तात्पर्यं प्रतिभातित्याह । अन्योऽसाविति ॥ आदिशब्दे-
नाद्वैतवादीनि द्वैतनिषेधानि च वचनान्तराणि च गृह्यन्ते । एकत्व

सृष्टो हविस्फलज्जाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।

अविध्यतीति तां अविध्यदृष्टिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं
यच्च क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं दङ्गौणम् । यद्यौदनं पचतीति
तद्वत् ॥ १४ ॥

ननु यद्युत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवा द्वितीयं तथा-
प्युत्पत्तेरूर्ध्वं जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति । मैवम् ।
अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम् । पूर्वमपि परिहृत एवायं
दोषः । स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः सङ्घाताः घटाकाशो-
त्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिर्भेदादिरिति । इत एवो-
त्पत्तिभेदादिश्रुतिश्च आकृष्येह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामै-

मेव प्रतिपिपादयिषितमिति पूर्वेण । सम्बन्धः ॥ एकत्वे श्रुतेस्तात्पर्यं
सिद्धे तृतीयपादावष्टम्भेन फलितमाह । अत इति ॥ श्लोकस्य साध्या-
हारं व्याख्यानान्तरमाह । अथ तत्त्वादिना ॥ १४ ॥

सृष्ट्यादिश्रुतिषु शब्दगतिवशादेव सृष्ट्यादिभेददृष्टेरद्वैतानुप-
पत्तिरित्यागङ्गग्राह । सृष्टो हेति ॥ उत्पत्तग्रादिश्रुतीनां स्वार्थनिष्ठत्व-
मुपेत्य व्यावर्त्तञ्चोद्यमुत्थापयति । नन्विति ॥ तासां स्वार्थनिष्ठत्वाभावा-
न्निरवकाशश्चोद्यमिति परिहरति । मैवमिति ॥ परिहृतत्वाच्च नेद-
ञ्चोद्य सावकाशमित्यङ्गह । पूर्वमपीति ॥ यदि प्रकृतात्पत्तग्रादिश्रुतिभ्यः
सकशादुपक्रमोपसंहारैकरूप्यं तात्पर्यलिङ्गमाकृष्योद्भाव्य स्रष्टा
सृष्ट्यादिश्रुतेः स्वार्थपरत्वं परिहृतं तर्हि पुनरुपन्यासो वृथा स्यादित्य-
त्यागङ्गग्राहते । इत एवेति ॥ उत्पत्तग्रादिश्रुतीनां निश्चयादपि परत्वं पूर्व-
मुक्तम् । इह त्वतासां ब्रह्मात्मक्ये तात्पर्यप्रतिपादनेच्छया पुनरुपन्या-
सः सिद्धप्रतीत्युत्तरमाह । इह पुनरिति ॥ पादत्रयगतान्यचराणि

उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥१५॥

दं पारम्यर्थप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः । सृष्टो ह विस्फुलि-
ज्जादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशिता अन्यथ
च स सर्वैः सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायो-
पायोऽस्माकम् । यथाप्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधा-
द्याख्यायिका कल्पिता प्राणवैशिष्ट्यबोधावताराय तदप्य-
सिद्धमिति चेत् । न । शाखाभेदेष्वन्यथा च प्राणादिसंवाद
अवणात् । यदि हि वादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव
संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यद्विरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत् ।

योजयति । ष्टदित्यादिना ॥ यः शब्दगत्या प्रतीयते न स श्रुत्यर्थो भवति
किन्तु तात्पर्यगम्यस्यैव श्रुत्यर्थतेत्यत्र दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ वागादीनां
प्राणानामहं श्रोयानिति मिथः सङ्घर्षः संवादस्तत्र यादृख्यायिका ।
श्रूयते नासौ श्रुत्यर्थो भवति । वागादीनामचेतनत्वात् । तथा सृष्ट्या-
दिश्रुतिरपि न स्वार्थे तात्पर्यं वतीत्यर्थः ॥ उदाहरणान्तरं सूचयति ।
वागादीति ॥ देवासुरसंग्रामे देवास्तावदसुरानभिभविषुमुपचक्रमिरे ।
वागादींश्चोद्गातृत्वेन वज्रिरे । तांश्च वागादीन् कल्याणसङ्गजेन
पाप्मना असुरा विविधुरित्याद्याख्यायिका च न यथाश्रुताधी । वागा-
दीनां वागभावेनोद्गानासामर्थ्यात् । किन्त्वसुरधर्षितत्वात्प्राणोत्क्रान्तौ
देहपातप्रसिद्धे च प्राणः चोद्यो भवतीति प्राणवैशिष्ट्यनिश्चये बुद्ध्यवतार-
शेषत्वेन सा कल्पिता । तथैव प्रकृतेऽपि सृष्ट्यादिश्रुतेः स्वार्थे तात्पर्या-
भावात्तत्कार्यस्य तद्व्यतिरेकेणाभावात्तदेवास्तीत्यद्वैतबुद्ध्यवतारोपा-
यत्वेन सृष्ट्यादिप्रक्रिया कल्पितेत्यर्थः । देवताशब्दप्रयोगाच्चेतनत्वं वागा-
दीनामिति मुख्याद्यत्वं संवादादिश्रवणस्य । अतोऽसिद्धमुदाहरणमिति

उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥१६॥

धर्मोत्कृष्टदृष्टयः । हीना निरुद्धा मध्यमा उत्कृष्टा च
दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं च येषां ते मन्दमध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्ये-
पेता इत्यर्थः । उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्या-
अमाद्यर्थं कर्माणि च । न चात्मैक एवाहितीय इति
निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः

मन्दानां मध्यमानाञ्च उत्तमदृष्टिप्रवेशार्थं दयालुना वेदेनोपासनोप-
दिष्टा । तथा चोपासनानुष्ठानद्वारेणोत्तमामेकत्वदृष्टिं क्रमेण प्राप्ता
उत्तमेष्ट्वान्तर्भवित्वतीत्यर्थः ॥ श्लोकव्यावर्त्तप्रासादमाह । यदीति ॥
तस्यैव परमार्थतः सत्त्वे प्रमाणमाह । एकमेवेति ॥ द्वैतप्रतीतिर्निश्चया-
द्वैतविषयत्वेनाविरोधमाह । असदिति ॥ अद्वैतस्यैव वस्तुत्वे ध्यान-
विधिविरोधमाह । किमर्थेति ॥ उपासनोपदेशमेव विशदयति ।
आत्मेति ॥ तत्र हि निदिध्यासितव्य इत्युपासनोपदिश्यते । य आत्मे-
त्यादौ तु स विजिज्ञासितव्य इति ध्यानविधिः । स क्रतुमित्यत्र सश-
ब्देन शमादिमानधिकारी परामृश्यते । अद्वैतस्यैव वस्तुत्वे कर्म-
विधिविरोधोऽपि प्रसरतीत्याह । कर्माणि चेति किमर्थान्युपदिष्टानीति
सम्बन्धः । अद्वैताधिकारिणोऽधिकार्यन्तरं प्रति विधिवयं सावकाश-
मिति परिहरति । दृष्ट्विति ॥ तत्रेत्युपासनोपदेशः कर्मोपदेशश्च
सृज्यते ॥ तदैव कारणमचरयोजनया प्रकटयति । आश्रमा इति ॥
आश्रमशब्देनाश्रमिणोऽसृज्यन्तां वर्णानस्तु कथं सृष्ट्ये रक्षित्वाशङ्कप्राह ।
आश्रमेति ॥ श्रूद्रान् व्यावर्त्तयैवर्त्मिकानामेव ग्रहणार्थं मार्गगा इति
विशेषणम् ॥ त्रैविध्यमेवाकाङ्क्षाद्वारा स्फोरयति । कथमित्यादिना ।
कार्यब्रह्मविषयत्वाच्चिदृष्टत्वम् । मध्यमत्वं कारणब्रह्मविषयत्वात् ।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।

सन्तः कथमिमासुत्तमासेकत्वर्हाष्टं प्राप्नुयुरिति । यन्म-
नसा न मनुते येनाङ्गमनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि ।
नेदं यदिदमुपासते तत्त्वमसि आत्मैवेदं सर्वमित्यादि-
श्रुतिभ्यः ॥१६॥

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वात् अद्वयात्मदर्शनं सस्य-
दर्शनं तद्वाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत् । इतश्च मिथ्यादर्शनं
द्वैतिनां रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात् कथं सिद्धान्तव्यव-
स्थासु स्वसिद्धान्तरचनानि यमेषु कपिलकणादबुद्धादि-

उत्कृष्टत्वमद्वैतविषयत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ एवं पूर्वार्द्धं व्याख्यायोक्त-
रार्द्धं व्याकरोति । उपासनेति ॥ कर्मोपदेशस्यापि तदर्थत्वमाह ।
कर्माणि चेति ॥ व्यापकर्त्तां शङ्कां दर्शयति । न चेति ॥ वेदेनोपासना-
द्युपदेशे मन्दानां मध्यमानाञ्च कथमनुग्रहः सिध्यतीत्याशङ्क्याह ।
सन्मार्गगा इति ॥ प्राप्नुयुरित्युपासनोपदिष्टा । कर्माणि चेति पूर्वेषु
सम्बन्धः । उपास्यं ब्रह्मैव न भवतीति प्रतिषेधात् मन्दमध्यमदृष्टिवि-
षयमुपासनस्य प्रतिभातीत्याह । यन्ननसेति ॥ अद्वैतदृष्टीनान्तु वर्णा-
श्रमभेदाभिमानाभावादेव नोपासनं कर्म वा सम्भवतीत्याह । तत्त्वम-
सीति ॥१६॥

अद्वैतदर्शनस्योपासनादिविधिविरोधाभावेऽपि मतान्तरेर्विरोधोऽस्तीत्या-
शङ्क्य तेषां भ्रान्तिमूढत्वान्मैवमित्याह । स्वसिद्धान्तेति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यं
वक्तुं भूमिकां करोति । शास्त्रेति ॥ तद्वाह्यत्वादित्यत्र तच्छब्देन शास्त्रो-
पपत्ती स्पष्टीते ॥ द्वैतदर्शनस्य मिथ्यादर्शनत्वे हेतुन्तर परत्वमवतारितस्य
श्लोकस्य दर्शयति । इतश्चेति ॥ इतः शब्दार्थमेव दर्शयति । द्वैतिनामिति ॥

परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥१७॥

दृश्यवुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः । एवमेवैष परमार्थो
नान्ययेति तत्र तत्राऽनुरक्ताः प्रतिपक्षश्चात्मनः पश्यन्तस्तं
द्विपन्त इत्यं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शनानमित्तमेव
परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते । तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मादी-
योऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्यात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरु-
ध्यते । यथा स्वहस्तापादादिभिः । एवं रागद्वेषानास्पद-
त्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ॥१७॥

आदिशब्देन मदमानादयो गृहीताः । स्वीयं स्वीयं सिद्धान्तं व्यवस्था-
पयितुं तत्त्वज्ञानमधिकृत्य प्रवृत्तानां वादिनां कुतो दोषास्तद्वत्त्वमित्या-
क्षिपति । कथमिति ॥ श्लोकाक्षरयोजनया परिहरति । स्वसिद्धान्तेत्या-
दिना ॥ निश्चयमेव स्फोरयति । एवमेवेति ॥ रागास्तद्वत्त्वेऽपि तेषां
द्वेषास्तद्वत्त्वं कथमित्याशङ्कग्राह । प्रतिपक्षमिति ॥ उत्तरार्द्धं विभजते ।
स्वसिद्धान्तेति ॥ यद्वि वादिनां प्रत्येकं स्वसिद्धान्तेनोपसंगृहीतं दर्शनं
तन्निर्द्धारणार्थमन्योन्यं वादिनो विरोधमाचरन्तो दृश्यन्ते । न च तैर-
द्वैतदर्शनं विरुध्यमानमध्यवसीयते । यथा स्वकीयकरचरणादिभिरा-
घाते कटाचिदाचरितेऽपि द्वेषो न जायते । परबुद्धभावात्तथा द्वैता-
भिमानिभिरुपद्रवे चोद्रे कतेऽपि नाद्वैतदर्शनस्तु द्वेषो जायते ।
सर्वानन्यत्वात्परबुद्धभावादित्यर्थः । अद्वैतदर्शनस्य सम्यग्दर्शनत्वं
प्रतिज्ञातम् । कथं प्रदर्शितया प्रक्रियया प्रतिपक्षमित्याशङ्कग्राह । एव-
मिति ॥१७॥

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते । अद्वैतं परमार्थो हि यस्मादद्वैतं नानात्वमस्याद्वैतस्य भेदस्य कार्यमित्यर्थः । एकमेवाद्वितीयम् । तत्तेजोऽसृजतेति श्रुतेः । उपपत्तेश्च । स्वचित्तस्सन्दनाभावे समाधौ मूर्च्छायां सुषुप्तौ चाभावात् । अतस्तद्भेद उच्यते द्वैतम् । द्वैतिनान्त, तेषां परमार्थतत्त्वोभयथापि द्वैतमेव । यदि च तेषां स्वान्तानां द्वैतदृष्टिरस्याकमद्वैतदृष्टिरभ्वान्तानां तेनायं हेतुनास्त्वत्पक्षो न विरुध्यते तैः । इन्द्रो मायाभिः । न तु तद्द्वि-

हेतुपक्षैरद्वैतपक्षस्य विषयद्वारके विरोधेऽधिगम्यमाने कथमविरोधवाचो युक्तिरित्याशङ्क्य स्वमतपर्यालोचनया तावदविरोधमाह । अद्वैतमिति ॥ मिथ्याभूतेन द्वैतेनाद्वैतस्याविरोधेऽपि परमार्थभूतेन तेन विरोधः स्यादित्याशङ्क्य तथाविधं द्वैतमेव नास्तीति मत्वाह । तेषामिति ॥ द्वैतिनां परमार्थत्वेनापरमार्थत्वेन च द्वैतमेव व्यवहारगोचरीभूतम् तच्च सम्प्रतिपन्नद्वैतवन्निर्णयत्वेन स्थिते न द्वैतेनाद्वैतस्य विरोधः शक्यशङ्को भवतीत्यर्थः ॥ श्लोकप्रतिषेध्यं प्रश्नं करोति । केनेति ॥ श्लोकाक्षराणामर्थमाचक्षाणो हेतुमाह । उच्यत इति ॥ द्वैतस्याद्वैतकार्यत्वे प्रमाणमाह । एकमेवेति ॥ श्रुतिप्रामाण्यादद्वैतस्याद्वैतकार्यत्वावगमात्कार्यस्य च कारणात् भेदेन सत्त्वनिषेधात्तत्त्वमित्यवधारणाच्चाद्वैतदर्शनं द्वैतदर्शनेन विरुद्धमित्यर्थः । अद्वैतदर्शनं द्वैतदर्शनैरविरुद्धमित्यत्रैव युक्तिमाह । उपपत्तेश्चेति ॥ तानिबोपपत्तिं गृह्यिष्यद्वर्धति । स्वचित्तेति ॥ सुषुप्तादयवस्थायां स्वकीयचित्तस्सन्दनाभावे

तेषामभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते ॥१८॥

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।

तीयमस्तीति श्रुतेः । यथा सत्तगजारूढ उन्मत्त भूमिष्ठं
प्रति गजारूढोऽहं वाह्य मां प्रतीति ब्रूयाणमपि तं
प्रति न वाह्यत्वविरोधमुद्धा तद्वत् । ततः परमार्थतो ब्रह्म
चिदात्मैव द्वैतिनाम् । तेनायं हेतुना तस्मात्प्रचो न विरु-
ध्यते तैः ॥१८॥

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति
स्यात् कस्यचिदाशङ्क्यत आह । यत्परमार्थसदद्वैतं
मिथ्याज्ञानोपरमे सति हेतुदर्शनाभावादद्वैतं सिद्धम् । ततश्च स्वप्न
वज्जाग्रद्वेदानामुत्पत्तिदर्शनादित्युपपत्तेर्द्वैतमद्वैतकार्यं न च कारणं
तत्कार्यप्रतिभासैर्विरुध्यते । कार्यस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् कारणा-
तिरेकेनाभावादित्यर्थः ॥ तेषामित्यादिभागं विभजते । द्वैतिनान्विति ॥
परमार्थद्वैतांगेनाद्वैतविरोधमागङ्गु द्विधा व्यवहारेऽपि विमतस्य
द्वैतस्य द्वैतत्वादेव सम्प्रतिपन्नवन्न मिथ्यात्वसिद्धेर्न तेन विरोधोऽद्वै-
तस्येति सन्धानः सम्राह । यदि चेति ॥ भ्रान्तिमूलद्वैतदर्शनैरद्वैत-
दर्शनं प्रमाणमूलमविरुद्धमित्येतद्दृष्टान्तेनोपपादयति । यथेत्यादिना ॥
कार्यकारणभूतयोर्द्वैताद्वैतयोरपिरोधे सिद्धे फलितमाह । तत इति ॥
अद्वैतिनां द्वैतिनाञ्च प्रातिस्विकपक्षपर्यालोचनातो द्वैतपक्षैरद्वैतपक्षो
विरुद्धो न भवतीति फलितमुपसंहरति । तेनेति ॥१८॥

अद्वैतमेव द्वैतात्मना परिणमते चेत् द्वैतमपि तान्विकं स्या-
दित्यागङ्गुग्राह । माययेति ॥ विवर्त्तवादानङ्गोकारे दोषमाह । तत्त्वत
इति ॥ पूर्वाङ्गव्यावर्त्यामागङ्गामादर्शयति । द्वैतमिति ॥ तत्र पूर्वाङ्गा-
न्तराण्यवतार्य व्याकरोति । अत आह्वेति ॥ विमतो भेदो मिथ्याभेद-

तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्तप्रतामस्य तत्र जेत ॥ १६ ॥

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ॥

मायया भिद्यते ह्येतत्तैमिरिकानेन चन्द्रवद्वज्रः सर्पादि-
धारादिभिर्भेदैरिव न परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः ।
सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते । यथा मृदुघटादिभेदैः ।
तस्यान्विरवयवमजं नान्यथा कथञ्चन केनचिदपि प्रका-
रेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः । तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यस्य तम-
जमद्वयं स्वभावतः सन्नत्त्यं तां व्रजेत् । यथाऽग्निः शीत-
ताम् । तच्चानिष्टं स्वभाववैपरित्यगमनम् । सर्वप्रमाणवि-
रोधात् । अजमव्ययमात्मतत्त्वं सावयवैव भिद्यते न परमा-
र्थतः तस्यानं परमार्थरुद्धवैतम् ॥ १६ ॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्वाख्यातारो ब्रह्मवादिनो
वावदूका अजातस्य वात्मतत्त्वस्यास्य तस्य स्वभावतो जाति-

त्वाच्चन्द्रादिभेदवदित्यर्थः ॥ विमतं तत्त्वतो भेदरहितम् ॥ निरवयवत्वा-
दित्यत्वादजत्वाच्च व्यतिरेकेण घटादिवदित्याह । नेत्यादिना ॥ निरवय-
वत्वेऽपि वस्तुनः स्फुटनधर्मात्त्वमाशङ्क्याह । सावयवं हीति ॥ उक्त-
मनुमानं निगमयति । तस्मादिति ॥ अन्यथा परमार्थत्वेनेत्यर्थः । पुन-
र्नजनुकर्मणामन्वयार्थं कार्यत्वधर्मेत्वाश्रयादिरत्न प्रकारोऽभिप्रेतः ॥
विपक्षे दोषं वदन् द्वितीयाहं विवृणोति । तत्त्वत इति ॥ प्रसङ्गस्येष्ट-
त्वमाशङ्क्य निराचष्टे । तच्चेति ॥ विवर्त्तवादमुपसंहरति । अजमिति ॥
स्थिते विवर्त्तवादे क्लृप्तमाह । तस्मादिति ॥ १६ ॥

स्वपक्षमुक्त्वा स्वयूथ्यपक्षमनुभाष्य दूषयति । अजातस्येति ॥ अनु-
वादविभागं विभजते । ये त्विति ॥ स्वभावत एवाजातस्य स्वभावत

अजातो ह्यनृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥२०॥
 न भवत्यनृतं मर्त्यं न मर्त्यं समृततन्तथा ॥
 प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद्विष्यति ॥२१॥
 स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यतां ।

मुत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव । तेषां जातं चेत्तदेव
 मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम् । स जाजातो ह्यमृतभावः स्वभावतः
 सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति न कथञ्चन मर्त्यत्वस्वभाव-
 वैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः ॥२०॥

यस्यान भवत्यमृतं मर्त्यं लोकेनापि मर्त्यं समृतं तथा
 ततः प्रकृते स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कश्चि-
 द्विष्यति । अग्निरिवीक्ष्यते ॥२१॥

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेनानृतो भावो मर्त्यतां
 गच्छति परमार्थतो जायते तस्य प्राशुत्यन्तेः सभावः

एवानृतस्य चातुतत्त्वस्य परमार्थत एव जातिमुत्पत्तिं ये स्वबुद्ध्याः
 स्वीकृत्यन्तीत्यर्थः ॥ जातस्य हि भ्रुवो मर्त्यरिति न्यायेन दूषयति ।
 तेषामिति ॥ अजातो हीत्याद्यचराण्युक्तेऽर्थे योजयति । स चेति ॥२॥

पदार्थानां स्वभाववैपरीत्यगमनमनुपपन्नमित्युक्तं प्रपञ्चयति । न
 भवतीति ॥ तत्र पूर्वार्धं हेतुत्वेन व्याचष्टे । तस्यादिति ॥ उत्तरार्धं
 हेतुमत्त्वेन योजयति । तत इति ॥ यथाग्नेः स्वभावभूतस्येष्टस्यान्यथात्वं
 शैत्यगमनमनुक्तं तथाऽन्यथापि स्वभावस्यान्यथात्वमनुचितं स्वरूपनाश-
 प्रसङ्गादित्यर्थः ॥२॥

ननु अक्षकाररूपेण प्राशुत्यन्तेरनृतमपि कार्याकारेणोत्पत्त्यन्तर-
 बालं मर्त्यतां गमिष्यति । ततो रूपभेदादुभयमविरुद्धमिति तत्राह ।

कृतकेनादृतस्तस्य कथं स्यात्स्यति निश्चलः ॥२२॥

भूततोऽसूततो वापि सृज्यमाने समाश्रुतिः ।

स्वभावतोऽदृत इति प्रतिज्ञा दृष्टैव । कथं तर्हि कृतकेना-
दृतस्तस्य स्वभावः कृतकेनादृतः स कथं स्यात्स्यति निश्च-
लोऽदृतस्वभावतया न कथञ्चित् स्यात्स्यति आत्मा जातिवा-
दिभः सर्वदाऽजं नाम नास्त्येव सर्वमेतन्मर्थ्यं । अतोऽ-
निश्चोक्षप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥२२॥

नन्यजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न सङ्ग-
च्छते प्राभाष्यं । यादं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः ।
सा त्वन्यपरा । उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम । इदा-
नीदृक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोक्षपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति

त्वभावेनेति ॥ पूर्वार्धे साध्याहारं योजयति । वस्येति ॥ प्रागवस्था-
यामपि कारणस्यैव कार्याकारेण जन्मयोग्यतया मर्त्यतागमान्मृपैव
प्रतिज्ञा स्यादित्यर्थः । कथं तर्हि तस्य प्रतिज्ञा युक्तेत्याशङ्क्य कृतकेन
मर्त्यविलयेनादृतस्तस्य वादिनः स कारणाख्यो भावो भवतीति प्रतिज्ञा
युक्तेत्याह । कथमित्यादिना ॥ भवतु प्रलयावस्थायानदृतास्यापरिणा-
मेणादृतत्वं ततो वा किं स्यादित्याशङ्क्याह । कृतकेनेति ॥ कृतकत्वस्य
यत्कृतकं तदनित्यमिति विनाशित्वेन व्याप्तत्वादित्यर्थः । किञ्चास्याम-
वस्थायां कार्यमात्रं वक्षित्यजं ब्रह्मास्तीति ज्ञानाभावात्प्रोक्तं न
स्यादित्याह । आत्मेति ॥२२॥

परिणामवादस्य सृष्टिश्रुत्यनुसारेण स्वीकार्यत्वमाशङ्क्य निरस्यति ।
भूतत इति ॥ परिणामवादे विवर्तवादे च सृष्टिश्रुतेरविशेषादहेतानु-

निश्चितं युक्तियुक्तञ्च यत्तद्वति नेतरत् ॥२३॥

सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोप्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थो
भूतः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुनि अभूततो मायया
वा मायां विनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टि
श्रुतिः । ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता । ना
अन्यथा सृष्टेरप्रासङ्गत्वान्निष्पद्यो^१जनत्वाच्चेत्यवोचाम । अवि-
द्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणो मुख्या च सृष्टिः न परमा-
र्थतः । सवाच्याभ्यन्तरो ह्यज इति श्रुतेः । तस्माच्छ्रुत्या
निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजमसृष्टमिति युक्तियुक्तञ्च ।
युक्त्या च सम्मानं तदेवेत्यवोचाम पूर्वैर्ग्रन्थैः । तदेव श्रुत्यर्थो
भवति नेतरत्कदाचिदपि ॥२३॥

शेषिश्रुतियुक्तिवशाद्विवर्त्तवादस्यैव स्वीकर्त्तव्यतेति भावः । सृष्टिश्रुतेर-
द्वैतानुसङ्गे प्रमाणयुक्त्यनुसृष्टहीतमद्वैतमेवाभ्युपगन्तव्यमिति फलित-
माह । निश्चितमिति ॥ श्लोकव्यावर्त्त्यां शङ्कां दर्शयति । नन्विति ॥
यद्यात्मा कार्याकारेण न जायते तर्हि सृष्टिश्रुतिरश्लिष्टा स्यादि-
त्यर्थः । सृष्ट्यनुवादिनो श्रुतिरस्तोत्यङ्गीकरोति । वादमिति ॥ तस्या
मिथ्यासृष्ट्यनुवादित्वेन कथमुपपत्तिरित्याशङ्क्याह । सा त्विति ॥
कथमद्वैतपरत्वेन सृष्टिश्रुतेरुपपत्तिरित्याशङ्क्याह । उपाय इति ॥
यदि सृष्टिश्रुतेरद्वैतपरत्वेन तद्विरोधसमाधी अधस्तादेवोक्तौ तर्हि
पुनश्चोदं तत्परिहारश्च युक्तौ पुनरुक्तेरित्याशङ्क्याह । इदानी-
मिति ॥ मिथ्यासृष्टिवादे श्रुतिपदानामसृजताऽभवदित्यादीनामसा-
मञ्जस्य विरोधाशङ्कायां तावन्मात्रं परिहर्त्तुं पुनश्चोदपरिहारा-
वित्यर्थः ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमुक्त्वा पूर्वार्द्धाक्षराणि व्याकरोति ।

नेह नानेति चास्माद्यादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।

कथं श्रुतिनिश्चय इत्याह । यदि हि भूत एव सृष्टिः
स्यात्ततः सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शननार्थमा-
श्रव्यो न स्यात् । अस्ति च नेह नानास्ति किञ्चनेत्यादि-
रास्माद्यो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः । तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यया
कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत् । इन्द्रो मायाभि-
भूतत इति ॥ माया ह्येषा मया सृष्टेत्यादिवत् तत्तेजोऽसृजतेति
श्रुतिः सच्च त्वज्ञाभवदिति श्रुतिस्तु देवदत्तोव्याघ्रोऽभवदिति । तन्न । न
च सत्यत्वं विशेषणमात्रोपलभ्यते । तेन मायामयां सृष्टाविष्टायामपि
सृष्टिश्रुतिः श्लिष्टेत्यर्थः । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्ये सम्प्रत्यय इति
न्यायमाश्रित्य शङ्कते । नन्विति । अग्निर्माणवक इत्यत्र माणवकेऽग्नि-
शब्दप्रयोगोऽप्यग्निमानयेत्यादिप्रयोगे प्रथमं बह्विप्रतीतेर्मुख्यमेव प्रथमं
प्रतिभातीति मुख्ये पदव्युत्पत्तेर्मुख्यार्थतया सत्या सृष्टिरेष्टव्येत्यर्थः ॥
मुख्यसृष्ट्यङ्गीकारेऽपि सत्या सृष्टिर्न सिद्धप्रति ॥ अस्त्यत्वे सत्यायाः
सृष्टेः सृष्टिगद्गार्थत्वेनाप्रसिद्धत्वादिति परिहरति । नेत्यादिना ॥
लौकिकानां मुख्यसृष्टेः सत्यसृष्टित्वेऽपि फलाभावान्न तत्र श्रुतितात्पर्य-
मित्याह । निष्प्रयोजनत्वाच्चेति ॥ अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वमेव स्पष्टयति ।
अविद्येति ॥ गौणी स्त्रप्रे रथादिसृष्टिः । मुख्या जागरे घटादिसृष्टिः
सर्वाप्यविद्यावस्थायामेव तस्यां सत्यामेव भावान्न तत्त्वदृष्ट्या कापि
सृष्टिः सम्भवति । तथा भूतस्यान्यथाभूतस्य स्वतः परतो वा वस्तुनो-
ऽन्यथाभावसम्भवान्तदतिरेकेण च सृष्टेरयोगादित्यर्थः । वस्तुस्वरूपा-
लोचनया वास्तव्याः सृष्टेरश्लिष्टत्वे श्रुतिमनुकूलयति । सवाह्येति ॥
सृष्टेरविद्याविद्यमानत्वेऽपि किं वस्तु विवक्षितमित्याशङ्क्योत्तराद्वि-
विभजते । तस्मादिति ॥ निरवयवत्वं विभुत्वमित्यादियुक्तिः । तेनाद्वै-
तमेव श्रुतितात्पर्यगम्यं न द्वैतमिति फलितमाह । तदेवेति ॥ २३ ॥

अजायमानो वज्रधा मायया जायते तु सः ॥२४॥

रित्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात् । ननु
प्रज्ञावचनो मायाशब्दः । सत्यं । इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्या-
त्वेन मायात्वाभ्युपगमाद्दोषः । मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञा-
भिरविद्यारूपाभिरित्यर्थः । अजायमानो वज्रधा विजायत
इति श्रुतेः । तस्यान्माययैव जायते तु सः । तुशब्दोऽव-
धारणार्थः । माययैवेति । न ह्यजायमानत्वं वज्रधा जन्म
चैकत्र सम्भवति । अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यञ्च । फलवत्त्वा-

सृष्टेरुपात्तस्यटीकरणद्वारेणाद्वैतमेव श्रुत्यर्थतया निर्द्धारयितुं
श्रौतनिश्चयमेव विद्यमानेति । नेहेति ॥ आकाशां प्रदर्श्य श्लोकाक्षराणि
व्याकरोति । कथमित्यादिना ॥ तत्राद्यप्रादे व्यतिरेकं दर्शयित्वा पुनर-
न्यथाख्यानेन व्याचष्टे । यदि हीति ॥ द्वैतभावश्चेत् प्रतिपिध्यते कथं तर्हि
सृष्टिरुपदिश्यते तत्राह । तस्मादिति ॥ यथा प्रागवैशिष्ट्यदृष्ट्यर्थं प्राण-
संवादाः श्रुतिषु कल्प्यन्ते तथा सृष्टिरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वेन कल्पिता । वा-
स्तव्याः सृष्टेरयोगस्योपदिष्टत्वादित्यर्थः । कल्पिता सृष्टिरित्यत्र हेतुन्तरं
दर्शयन् द्वितीयं पादमवतार्य तात्पर्यमाह । इन्द्र इति ॥ मायाशब्देन
सृष्टेरुपदेशादधौ कल्पिता युक्तेति शेषः । अभिधानग्रन्थे प्रज्ञानामसु
पाठान्मायाशब्दो मिथ्यार्थो न भवतीति शङ्कते । सन्निति ॥ मायाश-
ब्दस्य प्रज्ञानामसु काचित्कं पाठमङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥ कथं तर्हि
मिथ्यार्थत्वं तत्राह । इन्द्रियेति ॥ न हि मायाशब्दिना प्रज्ञा ब्रह्मचैतन्यं
भूयस्त्वान्ते विश्वमायानिर्वृत्तिरित्यादौ निर्वृत्तिश्रवणात् । किन्त्वमावि-
न्द्रियजन्या तस्याद्याविद्यान्यव्यतिरेकानुविभावितया विद्यात्वेन

सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते ।

ज्ञात्वैकत्वदर्शनमेव अतिनिश्चितोऽर्थः । तत्र को मोहः कः
शोकः एकत्वमनुपश्यत इत्यादिमन्त्रवर्णात् । ऋत्विः स
ल्लुप्तमाप्नोतीति निन्दितत्वाच्च ह्येष्ट्यादिभेददृष्टेः ॥२४॥

अन्वन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिपासत इति श्रुतेः
सम्भूतेरुपास्यत्वापवादात्सम्भवः प्रतिषिध्यते । न हि पर-
मार्थतः सम्भूतामां सम्भूतौ तदपवाद उपपद्यते । ननु
विनाशेन सम्भूतेः समुच्चयविध्यर्थः सम्भूत्यपवादः । यथा-
ऽन्वन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते इति । सत्यमेव

मित्र्यात्वान्मायाशब्दस्य मित्र्याधत्वेनानुपपत्तिरित्यर्थः । तात्पर्यार्थमुक्त्वा
तत्त्वैवाक्षरानुश्रूयमाह । मायाभिरिति ॥ पुरुषः सन्नीयत इति
सम्बन्धः । मायामयी सृष्टिरित्यत्र हेतुलक्षणपरत्वेन तृतीयपादमयता-
रयति । व्यजायमान इति ॥ व्यजायमानस्य बहुधा विजायमानत्वं
विरुद्धमित्याशङ्क्य चतुर्थपादमुक्त्यापवति । तस्मादिति ॥ अश्रुतस्य कथ-
मेवकारस्यापः स्यादित्याशङ्क्याह । तद्वदिति ॥ अवधारणरूप-
मर्थमेवाभिनयति । माययैवेति ॥ तस्मादित्यमवधार्यते । वान्तवे जन्मनि
का वस्तुत्वात्तिरित्याशङ्क्याह । न ह्यजेति ॥ आत्मैकत्वज्ञानमेव सृष्टि-
श्रुतितात्पर्यमस्य सृष्टित्तु तच्छेषत्वादविवक्षितेत्यत्र हेतुलक्षणाह ।
फलवत्त्वाच्चेति ॥ तस्य फलवत्त्वे प्रमाणमाह । तत्वेति ॥ एकत्वसाचा-
र्थोपदेशमनुपश्यतः साक्षात्कुर्वतस्तत्त्वैकत्वसाक्षात्कारे सति शोकमोहो-
पलक्षितः संसारो न भवतात्यर्थः । न केवलं विफलत्वाद्भेददृष्टिरविव-
क्षिता किन्तु नित्यत्वेन निषिद्धत्वादनर्थाकरणत्वाच्चेत्याह । ऋत्विगिति
॥२४॥

को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥२५॥

देवतादर्शनस्य सम्भूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य क-
र्त्रीणः समुच्चयविधानार्थः सम्भूत्यपवादः । तथापि विना-
शाख्यस्य कर्त्रीणः स्वाभाविकज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य सत्त्वोरति-
तरणार्थत्वदेवतादर्शनकर्त्तृसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य
कर्त्तृफलरागप्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य
सत्त्वोरतितरत्त्वार्थत्वं । एवं ह्येषणाद्वयलक्षणादिविद्यया
सत्त्वोरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्वार्थालोचनपरस्य
नान्तरोपकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनी-
मविद्यामपेक्ष्य पञ्चाङ्गाविनी ब्रह्मविद्याऽस्य तत्त्वसाधना

गेददृष्टेर्मिथ्यात्वे हेतुनरमाह । सम्भूतेरिति ॥ सस्यग्भूतिरैवार्थः
यस्याः सा सम्भूतिर्देवता हिरण्यगर्भाख्या । तस्याश्च कार्यमध्ये येषाया
निन्दितत्वात् प्रधानमग्ननिवर्हणन्यायेन सम्भवशब्दितं कार्यमेव निषि-
ध्यते । तथा च सिद्धं तस्या वस्तुत्वमित्यर्थः । कारणप्रतिषेधेन तद-
वस्तुत्वसिद्धेश्च यथोक्तार्थसिद्धिरित्याह । को न्वेनमिति ॥ पूर्वार्द्धे
व्याकरोति । अन्यमिति ॥ सम्भूत्युपासनाया मन्त्रार्द्धेनाद्येन निन्दां
विधाय ततो भूय इवेत्यादिनोत्तरार्द्धेन सम्भूतेरुक्ताया देवताया
हेतुत्वमुपपाद्यते । ततश्च प्रधानभूतदेवतोपास्यत्वापवादान्ततोऽर्चात्तनं
सर्वमेव सम्भवशब्दितं कार्यमात्मनिषिध्यते । तथा च तदवस्तुत्वसिद्धि-
रित्यर्थः । सम्भूतेरपवादेऽपि तस्मिन्मिथ्यात्वनियमाभावाच्च कार्यमा-
त्वस्य मिथ्यात्वं शक्यं प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्याह । न हीति ॥ सम्भूति-
निन्दा तदवस्तुत्वव्यापनाया न भवति । किन्तु विनाशेन न कर्त्तृणा
देवतोपासनस्य समुच्चयविधानस्य फलवत्त्वादिति शङ्कते । न हीति ॥

एकेन पुरुषेण सम्बध्यमाना अविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते ।
अतोऽन्यार्थत्वादस्य तत्त्वसाधनं ब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थं
एव भवति सम्भूत्यपवादः । यद्यप्यशुद्धिवियोग हेतुरतन्नि-
ष्ठत्वात् । अत एव सम्भूतेरपवादात् सम्भूतेरपेक्षिकमेव सत्त्व-
मिति । परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्यास्यताख्यः सम्भवः प्रति-
पिध्यते । एवं मायानिर्दिष्टस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युप-
स्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेन
जनयेत् । न हि रज्ज्वाभविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो
नष्टं जनयेत् कश्चित् । तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को

अपवादस्य समुच्चयविध्यर्थत्वे दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ अत्र खल्वविद्या-
शब्दितकर्मपवादो विद्याकर्मणोः समुच्चयविध्यर्थः स्थितो विद्याञ्चा-
विद्याञ्च यस्तद्देहोभयं सहेति अद्वयतादित्यर्थः । उक्तञ्चोदमनुजानाति ।
सत्यमिति ॥ तर्हि सम्भूत्यपवादस्तदवस्तुत्वख्यापको न भवतीत्युक्तं स्थित-
मेवेत्याशङ्क्य समुच्चयस्या विद्यावस्थायामवस्थितमवत्त्वादवस्तुत्वं सम्भू-
त्यादेर्निन्दाधीनमुक्तं तत्तदवस्थमेवेति सन्धानः सन्नाह । तथापीति ॥
यथाग्निहोत्रादेः शास्त्रीयस्य कर्मणोऽशास्त्रीयप्रवृत्तिरूपमृत्युतरणा-
र्थत्वं तथा साधनाद्यौपण्यरूपमृत्युतरणार्थत्वं समुच्चयस्यापि वाच्यम् ।
तथा च सम्भूत्यादेरवस्तुत्वमविरुद्धमित्यर्थः । मृत्युतरणार्थत्वे संस्कारार्थत्वं
कथमित्याशङ्क्याह । एवं हीति ॥ कामचारकामवादकामभक्षणादि-
लक्षणस्वाभाविकप्रवृत्तिरूपाशुद्धिवियोगः संस्कारो यथा नित्याग्निहो-
त्रादि फलं तथा निष्कामेनानुष्ठितसमुच्चयफलं कामाख्या शुद्धिव्यावृत्ति-
रित्यर्थः ॥ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेति मन्त्रे मृत्युतरणहेतुरविद्येति
अवगात् । सम्भूत्यास्यतममृत इति च सम्भूतेरस्य तत्त्वफलाभिलाषात्कथं
समुच्चयफलं मृत्योरतितरणमित्याशङ्क्याह । अत इति ॥ यतो न समु-

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निहृते यतः ।

नित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिप्रिध्यते । अविद्योद्भूतस्य
नष्टस्य जनयित्वा कारणं न किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः । नाऽयं
कुतश्चिन्न ब्रूव कश्चिदिति श्रुतेः ॥२५॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेनायातोऽदेशो नेति नेतीति प्रति-

ज्ञयान्मन्त्रमन्त्रतत्त्वं घटते तस्य । विद्ययाट्मन्त्रमश्रुत इति वक्ष्यमाण-
त्वात् । यतः समुच्चयलक्षणा अविद्या विद्यया सृष्ट्युं तीर्त्तव्यत्वं निर्दि-
श्यते । अपेक्षितसृष्ट्युत्तरणहेतुत्वमन्त्रादित्यर्थः । यद्यपि विद्याशब्दे न
समुच्चयो विवक्ष्यते । कथं तर्हि विद्याञ्चाविद्याञ्चेत्यनेन विद्याविद्ययोः
समुच्चयो निर्दिश्यते । न हि देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य ब्रह्माविद्यायाः
समुच्चयः सम्भवतीत्याशङ्क्याह । एवमिति ॥ नान्तरीयकत्वमवश्यम्भा-
वित्वं प्रतिबन्धकाभावे कार्योत्पत्तेरित्यर्थः ॥ एवं मन्त्रार्थे स्थिते प्रकृते
फलितमाह । अत इति ॥ अन्यार्थत्वं समुच्चयस्याशुद्धिपहेतुत्वं तच्चे-
दित्थं किमित्यपवादस्तत्वाह । यद्यपीति ॥ तथाप्यतन्निष्ठत्वात् परमाद्या-
भूतत्वफलत्वाभावात्तदपवादसिद्धिरित्यर्थः । अपवादफलं दर्शयन्नाद्य
भागविभजनमुपसंहरति । अत एवेति ॥ को न्वेन जनयेत् पुनरिति
श्रुत्यर्थमाचक्ष्णाणो द्वितीयार्धं विभजते । एवं मायेत्यादिना ॥ उक्तमर्थं
दृष्टान्तन स्पष्टयति । न हीति ॥ न कश्चिदेवं जनयेदिति कारणं प्रति-
प्रिध्यत इति सखन्धः । प्रश्नार्थे किं शब्दे दृश्यमाने कथं कारणप्रतिषेध-
शिद्धिरित्याशङ्क्याह । को न्विति ॥ अक्षरार्थमुक्त्वा द्वितीयार्धस्य तात्-
पर्यमाह । अविद्येति ॥ ततश्चेदुद्भूतो जीवः कथं तस्य जनयित्वा कारणं
नेत्युच्यते व्याघातादित्याशङ्क्याह । नष्टस्येति ॥ जीवस्य जनयित्वा कार-
णाभावे प्रमाणमाह । नायमिति । तस्याविद्यामन्त्रेण स्वतो जन्म-
भावं सूचयति । न अभूवेति ॥२५॥

इतोऽपि द्वैतं वस्तु न भवतीत्याह । स एष इति ॥ देवावेत्यादिना

सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाऽजं प्रकाशते ॥२६॥

पादितस्यात्मनो दुर्बोध्यत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपा-
यान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपादयिषया यद्यद्व्याख्यातं तत्-
सर्वं निष्कृते । ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलपयतीत्य-
एष नेति नेतीत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिरुपायस्यो-
पेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवद्ग्राह्य-
तामाभूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निष्कृत इत्यर्थः ।
ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यै-
करूपत्वमिति तस्य सवाच्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते
स्वयमेव ॥२६॥

व्याख्यातं मूर्त्तामूर्त्तादि सर्वमेव व्याज्यमग्राह्यं नेति नेतीति वीप्सया
यतो निषेधति श्रुतिरतः स एष इत्यपक्रम्य प्रतिपादितस्यात्मतत्त्वस्य
कूटस्थस्याविषयत्वेन प्रथमोपपत्तिरित्यर्थः । नेति नेतीति वीप्सा-
तात्पर्यमाह । सर्वमिति ॥ रूपद्वयोपन्यासानन्तरं तन्निषेधमन्तरेण
निर्विशेषवस्तुप्रतिपत्तेरयोगान्तत्प्रतिपत्त्या च पुरुषार्थपरिसमाप्ति-
सम्भवादादेशो निर्विशेषस्यात्मतत्त्वोपदेशत्वावत् प्रस्तूयते । एवं प्रस्तूय
नेति नेतीति वीप्सया सर्वस्य मूर्त्तामूर्त्तादिविशेषस्यारोपितस्य निषेधो
दर्शितस्त्वेन चात्मा जिज्ञासितो विप्रिष्टो निर्दिष्ट इत्यर्थः । स चेदेवं
मूर्त्तामूर्त्ताधिकारे प्रतिपादितस्तर्हि किमिति प्रवेशान्तरे पुनः पुनरेवं
प्रतिपाद्यते पुनरुक्तेरित्याशङ्क्य व्याख्यातमित्यादि व्याचष्टे । प्रतिपादित-
स्येति ॥ यद्यपि मूर्त्तामूर्त्तप्रकरणे प्रतिपादितमात्मतत्त्वं तथापि तस्य
परमसूक्ष्मत्वात् दुर्ज्ञातत्वं मन्यते श्रुतिः । सा पुनरुपायविशेषसङ्गावा-
भिप्रायेण तस्यैव पुनः पुनः प्रतिपादनेच्छया यद्यदारोपितं तत्तद्विशेष-
मपह्नुत्यावशिष्टमात्मस्वरूपं निवेदयतीत्यर्थः ॥ सर्वमित्यादि स्पष्टीकु-

सतो हि मायया जन्म युज्यते नतु तत्त्वतः ।

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सवाच्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्व-
मद्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेव । तद्युक्त्या चाधुनै-
तदेव पुनर्निर्द्धार्यत इत्याह । तत्रैतत् स्यात्सदा ग्राह्य-
मेव चेदसदेवात्मतत्त्वमिति । तन्न । कार्यग्रहणात् । यथा

वीणः स एष इति व्याचष्टे । ग्राह्यमिति ॥ स एष इत्याद्या श्रुतिर-
दृश्यतामात्मनो विशेषं निषेधमुखेन दर्शयन्ती यत् दृश्यं कार्यं मनसां
वाचाञ्च गोचरीभूतं तदशेषमर्थादपलपति । सा हि परमार्थतत्त्वदृश्य-
मिति ब्रूयाणा दृश्यस्य वस्तुत्वेनोपपद्यते तथा चानुपपत्तेर्दृश्यवर्गस्या-
वस्तुत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ननु किमिति श्रुतिर्व्याख्यातं विशेषजातं निहृते
पङ्कप्रचालनन्यायापातादित्याशङ्क्या ग्राह्यभावेनेत्यादि व्याकरोति ।
उपायस्येति ॥ द्वे वा वेत्यादिना व्याख्यातस्य रूपप्रपञ्चस्याद्वितीय
ब्रह्मात्ममात्रपर्यवसायितामप्रतिपाद्यमानस्य ब्रह्मवदेवोपायत्वेनाभि-
मतस्यापि प्रपञ्चस्य वस्तुत्वेन ग्राह्यत्वाशङ्काया सा माभूदित्यशेषराहि-
त्येनाद्वितीयब्रह्मस्वरूपनिर्द्धारणार्थमारोपितं प्रपञ्चं प्रतिषेधति श्रुति-
रित्यर्थः । उपायस्य कल्पितत्वेन वस्तुत्वाभावादुपेयस्य च सदैकरूप-
त्वात् कथं तथाविधवस्तुप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याजमित्यादि व्याचष्टे । तत-
श्चेति ॥ समारोपितस्य सर्वस्य निषेधादेव स्वातन्त्र्येण वस्तुत्वा-
भावनियथादरोपितसर्पादेरधिष्ठानातिरेकेणासत्त्ववदुपायस्य भूत्ता-
देरुपेयादद्वितीय ब्रह्मात्मतामेव प्रतिपद्यमानस्य ब्रह्मणश्च सदैकरूप-
त्वकूटस्थनित्यदृष्टिस्वभावत्वादि जानतस्तस्योत्तमस्याधिकारिणः स्वय-
मेवान्यापेक्षामन्तरेणात्मतत्त्वमुक्तं विशेषणं प्रकाशि भवति । कल्पितस्य
चोपायत्वं प्रतिविम्बादिवद्विरुद्धमित्यर्थः ॥ १६ ॥

आत्मतत्त्वमजमद्वितीयं परमार्थभूतम् । द्वैतन्तु मायाकल्पित

तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥२७॥

सतो मायाविनो मायया जन्मकार्यं एवं जगतो जन्म-
कार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थं सन्तमात्मानं
जगज्जन्म मायास्यदमेव गमयति । यस्मात्सतो हि विद्य-
मानात्कारणात् मायानिश्चितस्य हस्तग्रादिकार्यस्यैव
जगज्जन्म युज्यते नासतः कारणात् । न तु तत्त्वत एवा-
त्मनो जन्म युज्यते । अथवा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो
रज्ज्वादेः सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो
यथा तथाऽग्राह्यतस्यापि सत एवात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रू-
पेण मायया जन्म युज्यते । न तु तत्त्वत एवाजस्यात्मनो
जन्म । यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण

मसदिति प्रतिपादितम् । तत्रैव हेतुन्तरमाह । सतो हीति ॥ यदात्म-
तत्त्वं सदा सदेकरूपं तस्या मायाया जगदाकारेण जन्मयुक्तम् ।
मायाया दुर्निरूपार्थसमर्थनपटीयस्वात्परमार्थतत्त्वं कल्पमनैकरूपतया
नोत्पत्तुं पारयति विरोधादित्यर्थः ॥ विपक्षे दोषमाह । तत्त्वत इति ॥
यस्य वादिनो मते ब्रह्मैव परमार्थतो जगदात्मना जायते तस्याजस्य
जायमानत्वप्रतिज्ञाया व्याहतत्वाज्जातस्यैव जायमानत्वे स्यादनवस्थे-
त्यर्थः । अद्वैतमावेद्यन्त्या द्वैतनिषेधकं श्रुत्या दृश्यत्वजडत्वादियुक्त्या
च तथाविधया निर्द्धारितमर्थं श्लोकाद्वरार्थकथनार्थमनुवदति ॥ एव-
मिति ॥ उक्तमेव वस्तु युक्त्यन्तरेण पुनर्निर्द्धारयितुमुत्तरग्रन्थप्रवृत्ति-
रित्याह । अधुनेति ॥ पूर्वाहं शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातं शङ्कयति ।
तत्रेति ॥ श्लोकः सप्तम्या परास्यते । यत्र कदाचिदपि गृह्यते तदत्य-
न्तासदेव शशविषाणादिवदेष्टव्यम् । प्रमाणाभावे प्रमेयासिद्धेरित्यर्थः ।

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।

जायते वादिनो म हि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं
विरोधात् । ततस्तस्याधीजातं जायत इत्यापन्नम् । तत-
श्चानवस्थापाताज्जायमानत्वेन । तस्मादजमेकमेवात्मतत्त्व-
मिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

असद्वादिनामसतो भावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथ-
ञ्चन जन्म युज्यते । अदृष्टत्वात् । न हि बन्धप्रापुत्रो

कार्यलिङ्गकानुमानवशादात्मतत्त्वस्याकारणत्वेन सत्त्वनिर्णययात् ॥ नास-
त्त्वचोद्यमिति दूषयति । तच्चेति ॥ सङ्गृहीतमर्थं दृष्टान्तेन विदुषोति ।
यथेति ॥ विमतं सदधिष्ठानं कार्यत्वात् समुपतिपन्नवदित्यर्थः ॥ उक्ते-
र्यै पूर्वाङ्गीचराणि योजयति । यस्मादिति ॥ तस्मात्कारणस्य सत्त्व-
मविवादमिति शेषः । नासतः इति तस्य निःस्वभावत्वात्कारणत्वायो-
गादित्यर्थः । न त्विति ॥ तथा भूतस्यान्यथा भूतस्य च जन्मयोगादि-
त्यर्थः । सत इति पञ्चम्यन्तं पदं गृहीत्वा निमित्तकारणपरतया
व्याख्यातं समुपति सत इति पञ्चम्यन्तं परमादायोपादानपरतया व्याख्यां
करोति । अथ वेति ॥ यथा रज्ज्वोः सर्पधाराद्याकारेण मायाकृतं जन्म
तथैवाप्ताहस्यापि सद्रूपस्यात्मतत्त्वस्य जगदात्मना जन्म मायाप्रयुक्तं
प्रतिपत्तव्यम् । जन्मरहितस्य वस्तुतो जन्मव्याधातादित्यर्थः ॥ उक्त-
रार्द्धं विभजते । वस्येत्यादिना ॥ मायिकं जन्म न तात्त्विकमिति स्थिते
फलितमाह । तस्मादिति ॥ २७ ॥

सत्पूर्वकं कार्यमिति न व्याप्तिः । असद्वादिभिरसतः सज्जन्मा-
भ्युपगमादित्याशङ्क्याह । असत इति ॥ तत्त्वतोऽतत्त्वतो वा नासतः
सदाकारेण जन्मेत्यर्थः ॥ तत्र दृष्टान्तमाह । बन्धेति ॥ पूर्वाङ्गे व्याक-

बन्धप्राप्तो न तच्चेन मायया वापि जायते ॥२८॥
यथा स्वप्ने द्वाभासं स्पन्दते मायया मनः ।

मायया तत्त्वतो वा जायते तस्मादसद्वादो दूरत एवानु-
पपन्न इत्यर्थः ॥ २८ ॥

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते । यथा रज्ज्वां
विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन् एवं मनः
परमार्थविज्ञप्तात्मरूपेणावेक्ष्यमाणं सत् ग्राह्यग्राहक-
रूपेण द्वाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया रज्ज्वामिव सर्पः ॥

रोति । असद्वादिनामिति ॥ असतो निस्वरूपस्य स्वरूपाभावादेव तत्त्व-
तोऽतत्त्वतो वा कार्याकारेण न युक्तं जन्मेत्यत्र हेतुमाह । अदृष्टत्वा-
दिति ॥ उत्तरार्द्धे व्याकुर्वन्नदृष्टत्वमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति । न हीति ॥
सद्वादो मायया संभवति । असद्वादस्तु तथापि नेति विशेषं दर्शयति ।
तस्मादिति ॥ कार्यकारणनिरूपणमत्रेति परान्वश्यते ॥२८॥

सत एव मायया जन्मेत्युक्तमुपपादयति । यथेति ॥ सत एव
मायया जन्मेत्युक्तम् ॥ अवस्थाद्वयेऽपि द्वैतस्य मनःस्पन्दितत्वस्वी-
कारादिति श्लोकव्यावर्त्तञ्चोद्यमुत्पापयति । कथमिति ॥ अधिष्ठान-
रूपेण मनोऽपि सदिति सदृष्टान्तमुत्तरमाह । उच्यत इति ॥ मनसः
सन्नात्वत्वेऽपि कथमनेकधा स्पन्दनमित्याशङ्क्य स्वप्नदृष्टान्तं व्याचष्टे ।
ग्राह्येति ॥ दार्ष्टान्तिकमाह । तथेत्यादिना ॥ मायाधीनं मनःस्पन्दन-
मवस्तुभूतमिति द्योतयितुमिवेत्युक्तं मनो ब्रह्म चेति कारणद्वयम् ॥२९॥

तर्हि द्वैतस्य स्वीकृतमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन निराचष्टे ॥ अद्वय-
श्चेति ॥ दृष्टान्तभागं विभजते । रज्ज्विति ॥ दृष्टान्ते चैतन्यातिरिक्तस्य

तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते माययामनः ॥ २६ ॥

अद्वयञ्च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।

अद्वयञ्च द्वयाभासं तथा जाग्रन् न संशयः ॥ २७ ॥

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम् ॥

तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मायया मनः स्पन्दत
इवेत्यर्थः ॥ २६ ॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सत्तद्-
द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः । न हि स्वप्ने हस्त्यादि
ग्राह्यं ग्राहकं चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति ।
जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः । परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात्
॥ २७ ॥

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एव युक्तम् ।
तत्र किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह ।
कथं तेन हि मनसा विकल्पप्रमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं
सर्वं मन इति प्रतिज्ञा । तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात् ।

ग्राह्यग्राहकभेदस्य मनःस्पन्दितस्यासत्त्वं साधयति । न हीति । तथैव
जागरितेऽपि परमार्थात्मस्वरूपेण द्वयं सन्मनो ग्राह्यग्राहकद्वैताका-
रणावभासते । तथा च परमार्थसतो विज्ञानमात्रास्यावस्थाद्वयोऽपि
विशेषाभावात्तस्मिन्नेवाधिष्ठाने मायाकल्पितं मनःस्पन्दते । द्वाकार-
नित्यङ्गीकारात् ॥ न कारणद्वयं शङ्कितव्यमित्याह । जाग्रदपीति
॥ २७ ॥

मनेमात्रं द्वैतमित्यत्र प्रमाणमाह । मनोदृश्यमिति ॥ वृत्त-

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥३१॥

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।

मनसो ह्यमनीभावे निरुद्धे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां
रज्ज्वाभिव सर्पे लयङ्गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इत्य-
भावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थः ॥३१॥

कथं पुनरयं मनोभाव इति । उच्यते । आत्मैव सत्य-
मात्मसत्त्वं सृत्तिकावत् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
सृत्तिकेत्येव सत्यमिच्छते । तस्य शास्त्राचार्योपदेशमन्वव-
बोध आत्मसत्यानुबोधः । तेन सङ्कल्पप्राभावात्तया न सङ्क-

दृत्तमनूद्य श्लोकोतात्पर्यमाह । रज्ज्विति ॥ तथा रज्जुः सर्परूपेण
विकल्पयते तथा मनो द्वैतरूपेण विकल्पनात्मकम् । तच्चाविद्याकल्पित-
मित्युक्तेऽर्थे प्रमाणवेपण्यायं विशिष्टमनुमानमुपन्यस्यतीत्यर्थः ॥ तदेव
प्रश्नपूर्वकं पकटयन् प्रथमाद्भीक्ष्णराणि व्याचष्टे । कथमित्यादिता ॥
विमतं मनोमात्रं तत् । भावे नियतभावत्वात् । यथा सृङ्गावे नियतभावो
सृङ्गावो घटादिरित्यनुमानमाचरयति । द्वैतमिति ॥ उक्तमेव व्यतिरेकं
स्फोरयन् द्वितीयादौ विभजते । मनसो हीति ॥ समाधिस्थापयोर्द्वैत-
स्यानुपलम्भेऽपि नासत्त्वमित्याशङ्क्य मानाधीना मेयसिद्धिरित्यभिप्रे-
त्याह । इत्यभावादिति ॥३१॥

मनसो यदमनस्त्वमुक्तं तदुपपादयति । आत्मेति ॥ समाधिस्थापयो-
रननुभवेऽपि मनसः स्वरूपेण नित्यत्वान्नामनस्त्वमित्याक्षिपति । कथ-
मिति ॥ सङ्कल्पो हि मनसो व्यवहारिकं रूपम् । सङ्कल्पश्च सङ्कल्पापे-
क्षत्वात् । तदभावे न भवति । सर्वात्मैवेत्यवगमे त्वसङ्कल्पप्राभावान्नमनो
मनस्त्वं न वर्त्तते तथापि स्फुरति चेदात्मैवेति न विवेकिदृष्ट्या मनो
नामास्तीति श्लोकाक्षरैरुत्तरमाह । उच्यते इति ॥ तस्यैव सत्यत्वे

अमनस्तां तदा याति आह्याभावे तदग्रहं ॥ ३२ ॥

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।

लपते । आह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः । यदा यस्मिन् काले
तदा तस्मिन् काले । अमनस्ताममनोभावं । याति आह्या-
भावे । तन्मनोऽग्रहं अहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

यद्यसदिदं द्वैतं केन समञ्जसमात्मतत्त्वं विबुध्यत इति ।
उच्यते । अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितम् अत एवाजं ज्ञानं
ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणा भिन्नं प्रचक्षते कथ-
यन्ति ब्रह्मविदः । न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो-
विद्यतेऽगुप्यवत् । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्मेत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्थं

दृष्टान्तमाह । मृत्तिकावदिति ॥ यथा घटपराधादिष्वसत्त्वो मृत्तिका-
मात्रनुसृतं सत्यमिष्यते तथैवानात्मसु असत्त्वेष्वामात्रं सत्यमेदव्यम् ।
तत्त्वमित्यवधारणादेव कारणस्य दृष्टान्तनिविष्टस्य दार्ष्टान्तिकेऽनुपपत्त्या-
दित्यर्थः ॥ उक्ते दृष्टान्ते प्रमाणमाह । वाचारक्षणमिति ॥ अवशिष्टान्य-
क्षराणि व्याचष्टे । तस्येत्यादिना ॥ तेन तत्त्वज्ञानेनात्मातिरिक्तार्थाभावे
निश्चिते 'सङ्कल्पविषयभावनिर्द्धारणया सङ्कल्पाभावे दृष्टान्तमाह ।
दाह्येति ॥ यथाग्नेर्दाह्याभावे ज्वलनं न भवति तथा सङ्कल्पप्राभावे सङ्कल्पो
निरवकाशः स्यादित्यर्थः ॥ सङ्कल्पप्राभावे किं मनसो भवति तदाह ।
यदेति ॥ ३३ ॥

मनसश्चेन्नखलं व्यावर्त्तते तर्हि कथमात्मनोऽवबोधो व्यञ्जकाभावा-
दित्याशङ्क्याह । अकल्पकमिति । श्लोकव्यावर्त्त्यां शङ्कामाह । यदीति ॥
मनोमुख्यस्य द्वैतस्यासत्त्वे व्यञ्जकाभावाच्चात्वबोधः सम्भवति । मनसै-

ब्रह्म ज्ञेयं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥३३॥

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।

तदिदं ब्रह्म ज्ञेयं औष्ण्यस्येवाग्निवदभिन्नं । तेनात्मस्वरूपेणाजेनज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यते अवगच्छति नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता । नित्यविज्ञानैकरसधनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्ष्यत इत्यर्थः ॥३३॥

आत्मसत्यानुरोधेन सङ्कल्पमकुर्वत् ब्राह्मविषयाभावे निरिन्धनाग्नित्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्धं मनो भवतीत्युक्तम् । एवञ्च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावोक्तः । तस्यैवं निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचरणां प्रचारो यः स तु प्रचारविशेषेण ज्ञेयो योगिभिः । ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुप्रतिष्ठस्य

वानुदृष्टव्यमिति श्रुतेः । मनसश्चासत्त्वाङ्गीकारादित्यर्थः । स्वरूपभूतेन ज्ञानेनैवात्मनोऽवबोधसम्भवाज्ञातिरिक्ते मनस्यपेक्षेत्युत्तरमाह । उच्यत इति ॥ ज्ञेयाभिन्नं ज्ञानमित्यत्र श्रुतीरुदाहरति । न हीति ॥ सत्यग्नौ तदात्मकमौष्ण्यं न परिलुप्यते तद्येत्युदाहरति । अग्न्युष्णवदिति ॥ प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिसङ्ग्रहार्थमादिपदम् ॥ ज्ञेयाभिन्नमित्युक्तं स्फुटयति । तस्यैवेति ॥ आत्मनः स्वयमेवावगतिरूपत्वान्नाथीन्तरापेक्षेत्येतमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटयति । नित्येति ॥३३॥

मोक्षमाणस्य ज्ञानफलं स्वर्गवत् न परोक्षं किन्तु तन्निवत्प्रत्यक्षं ॥ अतश्च प्रकृतज्ञानफलस्य मनोनिरोधस्य प्रत्यक्षत्वाद्धं प्रसङ्गं करोति । निगृहीतस्येति ॥ न तस्य विज्ञेयत्वं सुपुत्रे प्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्याह । सुपुत्र इति ॥ श्लोकाच्चराणि व्याकर्तुं वृत्तं कीर्त्तयति । आत्मेति ॥ तस्य

प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः॥३४॥

मनसः प्रचारस्तादृश एव निरुद्धस्यापि प्रत्ययाभावाविशेषात्किं तत्र विज्ञेयमिति । अतोच्यते । नैवं । यस्मात्सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्याभोहतमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनस आत्मसत्यानुबोधकृताश्विष्णु-ष्टाविद्याद्यनर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्त सर्व-क्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः । अतो न तत्समः । तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः ॥३४॥

सत्यस्य प्रागुक्तानुबोधेन सत्यज्ञानेन वाच्यस्य विषयस्य सङ्कल्पस्याभावे निरालम्बनस्य प्रचारासम्भवे च मनः सङ्कल्पमकुर्वन्प्रशान्तं निरुद्धञ्च प्रभवतीत्यन्वयः ॥ निर्विषयं मनः शास्यतोत्य दृष्टान्तमाह । निरिन्धनेति ॥ निरुद्धे मनसि मनस्त्वव्यावृत्तो मनःस्पन्दितस्य हेतुस्याभावमुक्तं स्मारयति । एवञ्चेति ॥ एवं वृत्तमनूय पारत्वयस्यार्थमाह । तस्येति ॥ एवं विषयाभावेनेति यावत् ॥ आत्मसत्यानुबोधो विवेकशब्दार्थः । प्रत्यगात्मत्वेन पर्यवसानं प्रचारस्तस्य विद्वत्प्रत्यक्षत्वं विवक्षितं योगिभिरित्युक्तं ॥ चतुर्थपादव्यावृत्तीमाशङ्कामाह । नन्वेति ॥ निरुद्धस्यापि मनसः प्रचार इति सस्यत्वः । विशेषप्रत्ययाभावस्य निरोधे स्वाप्ते च विशेषाभावादिति हेत्वर्थः । तत्र प्रचारे प्रसिद्धे सतीति यावत् । चतुर्थपादसुत्तरत्वेनावतारयति । अत्रेति ॥ निरुद्धस्य मनसः सुषुप्तेऽव प्रचारस्य सुज्ञानत्वात् न तत्र ज्ञातव्यमस्तीत्युक्तं प्रत्याह । नैवमिति ॥ विद्याभावव्यावृत्त्यर्थं भोहविशेषणं चित्तभ्रमं व्यावर्त्तयितुं तमोविशेषणं अन्तर्लीना गुप्ता अनेकानर्थफलानां प्रवृत्तानां बीजभूता वासना यस्मिन्मनसि तस्येति सुषुप्तस्य विशेषणम् । आत्मनः सत्यस्यानुबोधो यो व्याख्यातः स एव कृताशोऽग्नितो न पिबुष्टान्यविद्यादीन्यनेका-

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।

तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥३५॥

प्रचारभेदे हेतुमाह । लीयते हि । यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययीजवासनाभिः सह तमोरूपमविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सत् न लीयते तमोबीजभावं नापद्यते तस्मादुक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः । यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं ब्रह्मैव सत्त्वं तत्तमित्यतस्तदेव निर्भयम् । द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात् । शान्तमभय ब्रह्म । यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन । तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकर-

नर्धपर्यन्तप्रवृत्तीनां बीजानि यस्य तस्येति निरुद्धस्य विशेषणं प्रकर्षेण शान्तं सर्वलोकात्मकं रजो यस्येति तस्यैव विशेषणान्तरम् ॥ स्वतन्त्रो ब्रह्मस्वरूपावस्थानात्मक इत्यर्थः । यथोक्तस्य प्रचारस्य सुषुप्तप्रचारविसृष्टस्य दुर्ज्ञानत्वे स्थिते फलितमाह । तस्मादिति ॥३४॥

मनसः सुषुप्तस्य समाहितस्य च प्रचारभेदोऽस्तीत्युक्तं तत्र हेतुमाह । लीयते हीति ॥ समाहितस्य मनसो द्वैतवर्जितस्य स्वरूपं कथयति । तदेवेति ॥ पूर्वार्द्धस्य तात्पर्यमाह । प्रचारेति ॥ मनसः सुषुप्तस्य समाहितस्य चेति यक्तव्यम् । यस्मादित्यस्य तस्मादित्युत्तरेण सम्बन्धः । अविद्यादीत्यादिशब्देनास्मितारागादयो गृह्यन्ते ॥ सुषुप्ते मनसो वासनाभिः सह लयप्रकारं कथयति । तमोरूपमिति । आपद्यत इति सम्बन्धः ॥ जाडं रूपमवस्थान्तरेऽपि तुल्यमित्यतो विशिनष्टि । अवि-

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।

सधनमित्यर्थः । समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्त-
र्येण व्यापकमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

जन्मनिमित्ताभावात्सवाच्याभ्यन्तरमजम् । अविद्यानिमित्तं
हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम् । सा चाविद्याऽऽत्मसत्या-
नुबोधेन निरुद्धा । यतोऽजं अत एवानिद्रम् । अविद्याल-
क्षणाऽनादिमायानिद्रा । स्वापात्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेनात्मना
अतोऽस्वप्नम् । अप्रबोधकृते स्वस्य नामरूपे प्रबोधाच्च ते
रज्जुसर्पवद्विनष्टे । न नाम्नाऽभिधीयते ब्रह्म रूप्यते वा न

शेषेत्यादिना ॥ एवमाद्यं पादं व्याख्याय व्याचष्टे । तदेति ॥ पूर्ववि-
भागविभजनेन फलितमाह । तस्मादिति ॥ तदेव निर्भयं ब्रह्मत्वस्यार्थ-
माह । यदेति ॥ समाहितं मनो बाह्यकमित्यविद्याकृतं यन्मलद्वयं
तेन वर्जितं यदा तदेति सम्बन्धः । मनसो ब्रह्मत्वे निर्भयत्वं तस्य
फलितमाह । इत्यत इति ॥ तत्र हेतुमतःशब्देन सूचितमाह । द्वैतेति ॥
यदुपशान्तं ब्रह्माभयमित्युक्तं तस्याभयत्वे प्रमाणं सूचयति । यद्विद्वा-
निति ॥ ननु यथोक्तं ब्रह्म प्रकाशते न वा प्रकाशते । प्रकाशते चेदुमाया-
मेक्षयामद्वैतव्याघातः । न चेत् प्रकाशते पुरुषार्थत्वासिद्धिरिति तत्राह ।
तदेवेति ॥ तस्य ब्रह्मत्वसिद्धये परिच्छिन्नत्वं व्ययच्छिनत्ति । समन्तत
इति ॥ ३५ ॥

प्रकृतमेव प्रकारान्तरे निरूपयति । अजमित्यादिना ॥ न च
तस्मिन्निरूप्याधिके ब्रह्मणि जाते कर्तव्यशेषः सम्भवतोत्याह । नेति ॥
अजत्वमुपपादयति । जन्मेति ॥ किं तज्जन्मनिमित्तं यदभावादजत्व-
मुपपादयते तदाह । विद्येति ॥ कुतश्चिद्विद्वत्त्वा अजत्वसिद्धिस्त-
त्वाह । सा चेति ॥ निमित्तनिवृत्त्या अथत्वसिद्धेर्युक्तमनिद्रत्वं ॥ निद्रा-

सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन ॥३६॥

केनचित्प्रकारेणेत्यनामकरूपकञ्च तत् । यतो वाचो
निवर्त्तन्त इत्यादिश्रुतेः । किञ्च सकृद्विभातं सदैव विभातं
सदा भारूपमग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जित-
त्वात् । ग्रहणाग्रहणे हि रात्रग्रहणी तमश्चाविद्यालक्षणं
सदा ऽप्रभावत्वे कारणं तदभावात् नित्यचैतन्यभारूप-
त्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति । अत एव सर्वज्ञं तत् स्वरूप-
ञ्चेति सर्वज्ञं । नेह ब्रह्मण्येवंविधे उपचरणमुपचारः
कर्त्तव्यः । यथाऽन्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधाना-
दुपचारः । नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावादब्रह्मणः कथञ्चन न
कथञ्चिदपि कर्त्तव्यसम्भवोऽविद्यानाशे इत्यर्थः ॥३६॥

शब्देनाविद्याभिलाषादित्याह । अत एवेति ॥ विशेषणान्तरं साधयति ।
अविद्यालक्षणेति ॥ उत्तरविशेषणद्वयं विदुषोति । अप्रवेधेति ॥
ब्रह्मणो नामरूपवत्त्वाभावे प्रमाणमाह । यत इति ॥ विशेषणा-
न्तरमाह । किञ्चेति ॥ सदाभासरूपत्वे हेतुमाह । अग्रहणेति ॥
जीवे ह्यपाधिस्थे २हंरूपमग्रहणानुदये तिरोभावः कर्त्ताहमित्यन्यथा-
ग्रहणोदये चाविर्भावो भवति तदभावाद्वास्वरूपमेव सदा ब्रह्मेत्यर्थः ।
श्रुत्याचार्यापदेशात् पूर्वं ब्रह्मण्यग्रहणं तदुपदेशादूर्ध्वानुदग्रहणमिति
प्रसिद्धे ब्रह्मण्यपि ग्रहणाग्रहणे स्यातामित्याशङ्क्याह । अग्रहणेति ॥
यथा सविवर्त्तयया रात्रग्रहणी न स्तः किन्तूदयास्तमयकल्पनया कल्पेते
तथा ब्रह्मस्वभावलोचनया ग्रहणाग्रहणे न विद्येते किन्तूपाधिद्वारा
कल्पेते । तेन ब्रह्मणः सदाभासरूपत्वमविरुद्धमित्यर्थः । इतश्च निरुपा-
धिकं ब्रह्म सदा विभातमेधितव्यमित्याह । तमश्चेति ॥ अप्रभातत्व

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।

सुप्रशान्तः सकृज्जरोतिः सामाधिरचलोऽभयः ॥१०॥

अनामकत्वादुक्तार्थसिद्धये हेतुमाह । अभिलष्यतेऽने-
नेति अभिलापी वाकरणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य तस्मा-
द्विगतः । वामत्रोपलक्षणार्था सर्ववाह्यकरणवर्जित इत्ये-
तत् । तथा सर्वचिन्तासमुत्थितः । चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता
बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणविवर्जित इत्यर्थः । अप्र-
माणो ह्यमनाः शुभ्रः इति श्रुतेः । अक्षरात्परतः परः ।
यस्मात्सर्वविषयवर्जितः अतः सुप्रशान्तः । सकृज्जरोतिः
सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण समाधिः समाधिनिनि-
त्तप्रज्ञावगम्यत्वात् । समाधोयतेऽस्मान्निति वा समाधिः ।
अचलोविक्रियः । अत एवाभयो विक्रियाभावात् ॥३७॥

इति छेदः ॥ तदभावो ब्रह्मदृष्ट्या तमःसम्बन्धाभावः । उक्तमेव
हेतुकत्वं विषेपणान्तरं विनश्यति । अत एवेति ॥ विषुषो निरुद्ध
मनसो ब्रह्मस्वरूपावस्थानमुक्तम् । ये तु विदुषा ऽपि समाध्यादि
कर्त्तव्यभाचक्षते तान् प्रत्याह । नेहेति ॥ एवंविधत्वनिरूपाधिकत्वमुप-
चारः समाध्यादिः । निरूपाधिके ब्रह्मणि विदुषो न कर्त्तव्यशेषो
ऽस्तीत्येतमर्थं वैधर्म्योदाहरणेन साधयति । यथेत्यादिना ॥ अन्येषा-
मनात्मविदामिति यावत् । अविद्यादशायामेव सर्वो व्यवहारो विद्या-
दशायान्नाविद्याया असत्त्वान्न कोऽपि व्यवहारः । बाधिनानुदृष्ट्या तु
व्यवहाराभाससिद्धिरित्यर्थः ॥३६॥

विद्वानेव ब्रह्मैतज्जीवत्य प्रकृतं ब्रह्म पुलिङ्गत्वेन निर्दिशति ।
सर्वेति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । अनामेति ॥ अत्रेति प्रकृतपदो-
पादाने तर्हि सर्वकरणवर्जितत्वात्स्यात्वेव सिद्धत्वादुत्तरविशेषणमनर्थक-

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।

यस्याद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तम् अतो न तत्र तस्मिन् ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणम् उपादानं नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वद विद्यते । यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र हानोपादाने स्यातां न तत् द्वयमिह ब्रह्मणि सम्भवति । विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च । अतो न तत्र हानोपादाने इत्यर्थः । चिन्ता यत्र न विद्यते । सर्वप्रकारैव चिन्ता न सम्भवति । यत्तामनस्त्वं कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः । यदैवात्मसत्त्वानुबोधो जातस्तदैवात्मसंस्थं विषयाभावाद्गन्धुणावदात्मन्येव स्थितं

मित्याशङ्क्याह । सर्वं बाह्येति ॥ बाह्यकरणसम्बन्धराहित्यवदन्तः-करणसम्बन्धराहित्यं दर्शयति । तद्येति ॥ उभयविधकरणसम्बन्धवैधु-र्येणात्मनः शुद्धत्वे प्रमाणमाह । अप्राण इति ॥ कारणसम्बन्धरा-हित्यमाह । अक्षरादिति ॥ तस्य परत्वं कार्यापेक्षया दृष्टव्यम् । उक्तं हेतूक्तव्य विशेषणान्तरं विशदयति । यस्यादिति ॥ अस्मिन् परस्मि-न्नात्मनि समाधीयते निक्षिप्यते जीयस्तदुपाधिश्चेति समाधिः परमात्मा । समाधिनिमित्तत्वात् प्रज्ञया तस्यावगम्यतात् वा समाधित्वमगन्तव्यम् ॥ अत एवेत्युक्तं स्फुटयति । विक्रियेति ॥ ३७ ॥

प्रकृते ब्रह्मण्यविक्रिये विधिनिषेधाधीनयोर्वैदिकयोर्वा लौकि-कयोर्वा हानोपादानयोरनवकाशत्वमित्याह । अहो नेति ॥ मनोवि-षयत्वाभावाच्च ब्रह्मणि तयोरवकाशो नास्तीत्याह । चिन्तेति ॥ यथोक्ते ब्रह्मणि ज्ञाते फलितमाह । आत्मेति ॥ प्रकरणादौ प्रतिज्ञातमुपसं-हरति । अजातीति ॥ किमिति लौकिकौ वैदिकौ वा अहोत्सर्गो ब्रह्मणि न भवतस्त्याह । यस्यादिति ॥ उक्तमेवार्थमुपपादयति ।

आत्मसंख्यन्तां ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥३८॥
अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।

ज्ञानम् । अजाति जातिवर्जितम् । समतां गतं परं साध्य-
सापन्नश्चवति । यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्य-
मजाति समतां गतमिति । इदं तदुपपत्तितः शास्त्रत-
चोक्तमुपसंह्रियते । अजाति समतां गतमित्येतस्मादात्म-
सत्यानुबोधत् कार्पण्यप्रविषयमन्यत् । यो वा एतदक्षरं
गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपण इति श्रुतेः ।
प्राप्यैतत् सर्वैः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥३८॥

यद्यपीदमित्यं परमार्थतत्त्वम् अस्पर्शयोगो नामायं

यत्न हीति ॥ ब्रह्मणि विक्रियाभावे हेतुमाह । विकारेति ॥ तस्य
विक्रियाविषयत्वाभावे हेतुं कथयति । निरवयवत्वाच्चेति ॥ विक्रिया-
यास्तद्विषयत्वस्य चाभावे फलितमाह । अत इति ॥ द्वितीयं पादमव-
तार्य व्याचष्टे । चिन्तेत्यादिना ॥ तृतीयं पादं विभजते । यदैवेति ॥
चतुर्थपादं व्याकरोति । अजातोति ॥ नन्विदं प्रकरणादावुक्तं किमर्थं
पुनरिहोच्यते तत्राह । यदादाविति ॥ ननु ग्रहो न तत्वेत्यादौ पूर्वत्र
तत्त्वज्ञानमुक्तं न तत्कार्पण्यं तत्कथमकार्पण्यं वक्ष्यामीत्युपक्रान्तस्यालो-
पसंहारः सम्भवतीत्याशङ्क्य तत्त्वज्ञानस्यैवाकार्पण्यरूपत्वादुक्तोपसंहार-
मिद्विरित्याह । एतस्मादिति ॥ तत्त्वज्ञानातिरिक्तं ज्ञानं कार्पण्यवि-
षयमित्यत्र लिङ्गं दर्शयति । यो वा इति ॥ तत्त्वज्ञानराहित्ये कृपणत्व-
ज्ञा तद्वत्त्वे फलितमाह । प्राप्येति ॥३८॥

परमार्थब्रह्मस्वरूपावस्थानफलकज्ञेद्वैतदर्शनं किमिति तर्हि
सर्वैरेव नाद्रियते तत्राह । अस्पर्शेति ॥ परमार्थतत्त्वं कर्मनिष्ठानां

योगिनो विभ्यति त्वस्मादभये भयदर्शिनः ॥३६॥

सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्पर्श्यते
प्रसिद्ध उपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्यो-
गिभिर्वेदान्तविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधा-
यासलभ्य एवेत्यर्थः । योगिनो विभ्यति ह्यस्मात्सर्वसल-
वर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति
अभयेऽस्मिन् भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला
अविवेकिन इत्यर्थः ॥३६॥

वह्निष्मृ खानां दुर्दर्शनमित्यत्र हेतुमाह । योगिन इति ॥ यदुक्तं तत्त्व-
ज्ञानं स्वरूपावस्थानफलकमिति तदङ्गीकरोति । यद्यपीति ॥ परमार्थ-
तत्त्वं ब्रह्मोदं प्रत्यग्भूतम् । इत्थं प्रागुक्तपरिपाद्या कूटस्थमच्चिदानन्दा-
त्मकं यद्यपि तत्त्वज्ञानात् प्राप्यते तथापि मूढस्तुष्टास्तन्निष्ठा न भव-
न्तीति शेषः ॥ यस्य तत्त्वानुभवस्य स्वरूपावस्थानं फलमुक्तं तन्मिदानीं
विगिनष्टि । अस्पर्शेति ॥ तत्र वर्णाश्रमादिधर्म्मेण पापादिमलेन च स्पर्-
शेण न भवत्यस्मादित्यहेतानुभवस्पर्शः । स एष योगो जीवस्य ब्रह्मभावेन
योजनादित्याह । सर्वेति ॥ नामेति निपातस्य पर्यायं गृहीत्वा
विवक्षितमर्थमाह । नामेत्यादिना । उपनिषत्सु न लिप्यते कस्मिन्ना
पापकेनेत्याद्यासु । दुःखं अवगमननादिलक्षणम् ॥ योगिशब्दस्य ज्ञानि-
विषयत्वं व्यावर्त्तयति । वेदान्तेति ॥ कैस्तेर्हि यथोक्तस्यानुभवस्य लभ्य-
त्वमित्यागङ्ग्याह । आत्मेति ॥ उत्तराङ्गं विभजते । योगिन इति ॥
कस्मिन्ना हि श्रोत्रिया ब्राह्मण्याद्यऽस्माकं नङ्क्ष्यन्तीति मत्वा तत्त्व-
ज्ञानादिभ्यतीत्यर्थः ॥ अभयनिमित्तमेव तत्त्वज्ञानं मिथ्याज्ञानवशात्
भयनिमित्तं पश्यन्तीत्याह । सर्वेति ॥ भयदर्शित्वं विशदयति । अभ-
येति ॥३६॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।

दुःखक्षयः प्रबोधश्चाऽथक्षया शान्तिरेव च ॥४०॥

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पित-
मेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्म-
स्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत
एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम । ये
त्वतो ऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्य-
दात्मव्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानु-
बोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगि-
नाम् । किञ्च दुःखक्षयोऽपि । न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि
। चलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम् । किञ्चात्मप्रबोधोऽपि
मनोनिग्रहायत्त एव । तथाऽक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिरेषां
मनोनिग्रहायत्तैव ॥४०॥

उत्तमदृष्टीनामहेतदर्शनम् अद्वैतदृष्टिफलञ्च मनोनिरोधमुक्त्वा
मन्ददृष्टीनां मनोनिरोधाधीनमात्मदर्शनमुपन्यस्यति । मनस इति ॥
अभयमित्यग्रेष्वभयनिवृत्तिसाधनात्मदर्शनमुच्यते । सर्वयोगिनां सर्वेषां
योगिनां कर्मानुष्ठाननिष्ठानां बुद्धिशुद्धतामित्यर्थः । मनोनिरोधाधीनं
प्रागुक्तमनूद्य तत्फलं कैवल्यं कथयति । दुःखेति ॥ श्लोकस्य विषयं
परिशिनष्टि । येषामिति ॥ अभयं भयराहित्यम् असन्ताप्तात्मकमि-
त्यर्थः । उक्तलक्षणा शान्तिर्निरतिशयानन्दाभिव्यक्तिः स्वभावतो विद्या-
स्वरूपसामर्थ्यादित्यर्थः । विदुषां जीवन्मुक्तानां मुक्तः सिद्धत्वात् न
साधनामेवेत्याह । नान्यायत्तेति ॥ तत् वाक्योपक्रममनुकुलयति ।

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रैणैकविन्दुना ।

मनसा निग्रहस्तद्वद्वेदपरिखेदतः ॥४१॥

उपायेन निगृह्यतीयाविच्छिप्तं कामभोगयोः ।

मनोनिग्रहोऽपि तेषां उदधेः कुशाग्रैणैकविन्दुना उत्से-
चनेन शोषणव्यवसायवत् व्यवसायवतामनवसन्नान्तःकर-
णानामनिर्व्येदादपरिखेदतो भवतीत्यर्थः ॥४१॥

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रह उपायो
नेत्युच्यते । अपरिखिन्नव्यवसायवान् सन् वक्ष्यमाणेनोपा-

नेत्यादिना ॥ उत्तमेभ्यो ज्ञानवद्भ्योऽधिकारिभ्यो व्यतिरिक्तानधिका-
रेणावतारयति । ये त्विति ॥ योगिनः सुकृतानुष्ठायिनस्तदनुष्ठानादेव
सन्मार्गगामिनस्तेषामपि तत्त्वज्ञानं कथञ्चिदुपजातं चेदलं मनोनिग्रहे-
णेत्याशङ्क्याह । तेषामिति ॥ अभयं तदेव तत्त्वज्ञानम् ॥ दुःखनिवृत्ति-
रपि मनोनिग्रहसमपेक्ष्य भवतीत्याह । किञ्चेति ॥ तदेव व्यतिरेकमुखेन
स्फोरयति । न होति ॥ इतश्च मनो निग्रहीतव्यमित्याह । किञ्चेति ॥
अभयमित्यत्र सूचितं स्पष्टं विदुषोति । आत्मैति ॥ इतश्च मनो-
निग्रहोऽर्धवानित्याह । तथेति ॥ तेषां साधकानां मुमुक्षूणामिति
यावत् ॥४०॥

कथं मुमुक्षूणां जिज्ञासूनां मनोनिग्रहः सिध्येदित्याशङ्क्याह ।
उत्सेक इति ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतश्लोकनिविष्टाक्षराणि व्याचष्टे ।
मनोनिग्रहोऽपीति ॥ तेषां व्यवसायवताम् उद्योगभागिनामनुद्देग-
वतामिति सम्बन्धः । चक्षुषो निमीलने तमो दृश्यते । तस्य च उन्मी-
लने घटाद्येवोपलब्ध्यते । न कदाचिदपि ब्रह्मोत्पत्तिपरिवर्जनात् ।
प्रागुदीरितानां मनोनिग्रहः सम्भवति तदाह । अपरिखेदतः
इति ॥४१॥

सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥४२॥

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् ।

येन कामभोगविषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णीयात् निरु-
न्ध्यात् आत्मन्येवेत्यर्थः । किञ्च लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो
लयस्तस्मिन् लये च सुप्रसन्नम् आयासवर्जितमपि इत्येतत्
निगृह्णीयादित्यनुवर्त्तते । तुप्रसन्नञ्चेत् । कस्मान्निगृह्यत
इति । उच्यते । यस्माद्यथा कामीऽनर्थहेतुस्तथा लयो
ऽपि । अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवत्त्वयादपि
निरोद्धव्यमित्यर्थः ॥४२॥

कः स उपाय इति । उच्यते । सर्वं द्वैतम् अविद्यावि-
जृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगात् कामनिमित्तो

समाधिं कुर्वन् तत्तत्त्वसाक्षात्कारप्रतिबन्धकाः । लयविच्छेदसुखरागाः
तेभ्यो मनसो वक्ष्यमाणोपायेन निग्रहं कुर्यात् । अन्यथा समाधिसाफ-
ल्यानुपपत्तेरित्याह । उपायेनेति ॥ प्रागुक्तादुपायादेव मनोनिग्रहे-
परिग्रहे अवणादिविध्यानार्थमिति मन्वानः शङ्कते किमिति ॥ पूर्वो-
क्तोपायवतः अवणाद्यनुष्ठितो मनोनिग्रहद्वारा तत्त्वज्ञानसिद्धिरित्यु-
त्तरमाह । नेत्युच्यत इति ॥ तृतीयपादं व्याचष्टे । किञ्चेति ॥ लीयते
स्थानद्वयमिति शेषः । चतुर्थपादमाकाङ्क्षाद्वारा विद्वद्विरोधोति । सुप्रसन्न-
मित्यादिना ॥४२॥

उपायेन निगृह्णीयादित्युक्तम् । तमेवोपायं वैराग्यरूपमुपदि-
शति । दुःखमिति ॥ ज्ञानाभ्यासाख्यमुपायान्तरमुपन्यस्यति । अज-
मिति । अक्षरव्याख्यातार्थमाकाङ्क्षां निक्षिपति । कः स इति ॥ तत्र
पूर्वाङ्गं व्याकरोति । उच्यत इत्यादिना ॥ वैराग्यभावना तत्र तत्र

अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥४३॥

लये असंशयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।

भोग इच्छाविषयः । तस्मात् विप्रसृतं मनो निवर्त्तयेत्
वैराग्यभावनया इत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वमित्येतत् शास्त्रा-
चार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति ।
अभावात् ॥४३॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते
लीनं सम्बोधयेन्मनः । आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत् ।
चित्तमन इत्यनर्थान्तरम् । विक्षिप्तञ्च कामभोगेषु शम-
येत् पुनः । एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात् सम्बोधितं
विषयेभ्यश्च व्यावर्त्तितं नापि साध्यापन्नम् अन्तरालावस्थं
सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात् ।

द्वैतविषये दोषानुसन्धानेन वैतृष्ण्यभावना । तथा कामभोगात् मनो
निरोद्धव्यमित्यर्थः । द्वितीयाहं ज्ञानाभ्यासविषयं व्याकरोति । अज-
मित्यादिना ॥४३॥

ज्ञानाभ्यासवैराग्याभ्यां लयाद्विषेपाच्च व्यावर्त्तितं मनो राग-
प्रतिबन्धं अवगन्तननिदिध्यासनाभ्यासप्रसूतसम्पन्नातसमाधिपर्यन्तेन
ततोऽपि प्रतिबन्धादुपवर्त्तनीयमित्याह । लय इति ॥ श्लोकाक्षराणि
व्याकरोति । एवमित्यादिना ॥ ज्ञानाभ्यासः अवगाद्यादृत्तिर्विशयेषु
क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनेन वैतृष्ण्यं वैराग्यं लयो निद्रा सम्प्रबोधन-
सेवाभिनयति । आत्मेति ॥ मनसि प्रकृते किमिति चित्तमुच्यते
तत्वाह । चित्तमिति । विक्षिप्तं विप्रसृतं शमयेत् व्यावर्त्तयेत् इति
यावत् पुनरित्यत्र विवक्षितमर्थमाह । एवमिति ॥ उभयतो व्यावर्त्तितं

सकप्रायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत् ॥४४॥
नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गं प्रज्ञया भवेत् ।

ततोऽपि यत्नतः साम्यमापादयेत् । यदा तु समप्राप्तं
भवति समप्राप्तप्रभिसुखो भवतीत्यर्थः । ततस्तत् न विचा-
लयेत् विषयाभिसुखं न कुर्यादित्यर्थः ॥४४॥

समाधित्वातो योगिनो यत् सुखं जायते तन्नास्वा-
दयेत् तत्र न रज्येतेत्यर्थः । कथं तर्हि निःसङ्गः निस्पृहः
प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तद्विद्यापरि-

मनस्तर्हि निर्विशेषब्रह्मरूपतां गतमित्याशङ्क्याह । नापीति ॥ अन्तरा-
लावस्थामनसः स्वरूपं तृतीयपादावष्टमोऽनसं दृश्यति । सकपायमिति ॥
रागस्य बीजत्वं पराचीनविषयप्रवृत्तिं प्रति प्रतिपत्त्यव्यम् ॥ यथोक्तं
मनो ज्ञात्वा किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह । ततोऽपीति ॥ अन्तराला-
वस्था पञ्चम्या परावृत्त्यते । लयावस्थादि दृष्टान्तयितुमपिशब्दः ।
यत्नतः सम्प्रज्ञातसमाधेरिति यावत् । साम्यसं सम्प्रज्ञातसमाधिमित्यर्थः ॥
चतुर्थपादस्याधीमाह । यदा त्विति ॥ समाधिद्वयद्वारेण मम निर्विशेषं
परिपूर्णं ब्रह्मरूपं प्राप्य मनस्तन्मात्रतया समासञ्चेदप्राप्तप्रतिषेधः
स्यादित्याशङ्क्याह । समप्राप्तीति ॥ ततो निर्विशेषवस्तुप्राप्तादभि-
मुख्यादन्तरमित्यर्थः । किं तन्मनसश्चालनं यत्प्रतिषिध्यते तत्राह ।
विषयेति ॥४४॥

समाधित्वायां यत्सुखमुत्पद्यते तद्विषयाभिलाषादपि मनो
निरोद्धव्यमिच्छाह । नास्वादयेति ॥ तत्रेति समाध्यवस्थोच्यते । किन्तु
तस्यामवस्थायां सुखं तदुपलभ्यते तज्ज्ञानविजृम्भितं मिथ्यवेति प्रज्ञया
विवेकवित्तानेन निस्पृहः सन् भावयेदित्याह । निःसङ्ग इति ॥ किञ्च
वच्चित्तं प्राचीनवैराग्याद्युपायेन निश्चलं प्रत्यगात्मप्रवणं प्रसाधितं

निश्चरत् निश्चरत् चित्तं एकोकुर्यात् प्रयत्नतः ॥४५॥

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।

कल्पितं सृष्टैवेति विभावयेत् । ततोऽपि सुखरागान्निगृही-
यात् इत्यर्थः । यदा पुनः सुखरागान्निगृह्यत्तं निश्चर-
त्सुखात् सन्निश्चरद्वहिर्निगच्छन्निति चित्तं ततस्ततो निश्च-
रत्कोपायेन आत्मन्येवैकीकुर्यात् प्रयत्नतः । चित्सुखरूप-
सत्तासाधनेवापादयेदित्यर्थः ॥४५॥

यद्योक्तं न उपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न

तद्यदि सुखावागुभारेण वह्निर्निगन्तुमिच्छेत्तदा सम्प्रज्ञातसमाधेर-
सम्प्रज्ञातसमाधिपर्यन्तात् प्रयत्नात् तदात्मन्येवैकीकृत्य तन्मात्रमापद्य
परिशुद्धपरिपूर्णब्रह्मात्मकः स्वयं तिष्ठेत् इत्याह । निश्चरदिति ॥
प्रथमपादान्तराणि योजयति । समाधिल्लित इति ॥ तस्य समाध्य-
वस्थापामिति शेषः ॥ द्वितीयपादमाकाङ्क्षाद्वारा विवृणोति । कथमि-
त्यादिना ॥ निःस्पृहो बभूवे सुखे अनुरागरहितः सन्नित्यर्थः । विवेकरूपा
बुद्धिरागन्तुकस्य रज्जुसर्पवत् कल्पितत्वमित्येवमात्मिका तथा भावये-
दिति सखन्वः ॥ भावनोपकारमभिनयति । यदित्यादिना ॥ प्रथमा-
र्द्धस्याचरार्धमुक्त्वा तात्पर्यार्थं निगमयति । ततोऽपीति ॥ उत्तरार्द्धं
विभजते । यथेत्यादिना ॥ पूर्वोक्तसमाध्यनुरोधादात्मन्येव निश्चरत्सुखात्
सचित्तं बभूवे सुखरागनिमित्तं तदुपायरागनिमित्तं वा निश्चरत् भव-
तीति सखन्वः । तच्च चित्तं बाह्यविषयाभिमुख्यादुक्तोपायेन ज्ञाना-
भ्यासादीना व्यावर्त्त्यात्मन्येव परस्मिन् ब्रह्माणि प्रयत्नतः सम्प्रज्ञात-
समाधिवशादेकीकुर्यात् । असंप्रज्ञातसमाधियुक्तं परिपूर्णं ब्रह्मैवापाद-
येदित्यर्थः ॥ तदेव स्पष्टयति । चित्सुखरूपेति ॥४५॥

कदा पुनरिदं चित्तं ब्रह्मनस्त्वमापद्यते तत्राह । यदेति ॥

अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तथा ॥४६॥

स्वस्थं शान्तं निर्वाणं अकथ्यं सुखमुत्तमम् ।

लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते अनिङ्गनमचलं निवा-
तप्रदोपकल्पम् । अनाभास न केनचित्कल्पितेन विषय-
भावेनावभासते इति । यदैवं लक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं
ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥४६॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं
स्वात्मनि स्थितम् । शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम् । सनि-
र्वाणं निर्वृतिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते ।

त्रिविधप्रतिबन्धविधुरं विषयाकाररहितं यदा चित्तमवतिष्ठते तदा
ब्रह्म सम्पन्नं भवतीत्यर्थः ॥ अक्षराणि व्याचष्टे । यथोक्तं नेत्यादिना ॥
उपायो ज्ञानाभ्यासादिः । निवृत्तीति विषयेभ्यो विमुखीकृतं न लीयते
न निद्रापारवश्येन कारणात्मतां गतमित्यर्थः । अचलं रागादिवासना-
मूल्यमित्यर्थः । अचलत्वे दृष्टान्तो निर्धीतेति ॥ किन्तु ब्रह्मकारणत्वेन-
लक्षणं चित्तं यदा सम्पद्यते तदेति योजना ॥ निष्पन्नं ब्रह्मेत्युक्तमेव
स्फुटयति । ब्रह्मस्वरूपेणेति ॥४७॥

असम्प्रज्ञातसमाध्यवस्थायां येन रूपेण चित्तमभिनिष्पद्यते तद्-
ब्रह्म ॥ स्वरूपं विशिनष्टि । स्वयमिति ॥ ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तमिति शेषः ॥
तत्र विदुषां स्वप्नसिद्धाहरति । सर्वज्ञमिति ॥ यथोक्तमित्यसम्प्रज्ञात-
समाधिलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । तस्य परमपुरुषार्थरूपतामाह । सुख-
मिति ॥ वैषयिकसुखं व्यक्तेतुं परमार्थेति विशेषणम् ॥ किन्तु
ज्ञानेनेत्याशङ्काह । आत्मेति ॥ तस्य सत्यस्यावगमाचार्यानुबोधना-
बोधेन लब्धते प्राप्यते ब्रह्मेति तथोच्यते ॥ तस्य स्वमहिमप्रतिष्ठत्वा-
माह ॥ स्वात्मनीति ॥ सर्वस्य त्रिविधस्यानर्धस्योपशमेनोपलब्धित-

अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥४७॥
न कश्चिज्जायते जीवः सन्भवोऽस्य न विद्यते ।

तच्चाकथं न शक्यते कथयितुम् । अत्यन्तासाधारणविषय-
त्वात् । सुखसुत्तमं निरश्रितयं हि तत् योगिप्रत्यक्षमेव । न
जातमित्यजम् । यथा विषयम् अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेना-
व्यतिरक्तं सत् स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परि-
चक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः ॥४७॥

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिस्त्वहोहादिवत्सृष्टिरूपासना-
चोक्ता परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति ।
परमार्थसत्यं तु न कश्चित् जायते जीवः कर्त्ता भोक्ता च
नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण । अतः स्वभावतोऽन-

त्वादपि पुरुषार्थत्वसिद्धिरित्याह । सर्वेति ॥ १ ॥ निरतिशयानन्दाऽभिव्य-
क्तिनिर्वशेषानर्थोच्छित्तियुक्तेष्वलक्षणं मोक्षमाप्नुते ॥ तत्त्वमिदं
ब्रह्मेत्याशङ्क्याह । सनिष्काममिति ॥ तस्य चीरगुडादिमाधुर्य-
मदस्येव खानुभवमात्राधिगम्यत्वादवाच्यत्वमाह । तच्चेति ॥ यदुक्तं
परमार्थसुखमिति तदिदानीमुपपादयति । सुखमिति ॥ तर्हि सर्व-
यामेव तत् भयादित्याशङ्क्याह । योगीति ॥ ज्ञानस्याऽजातत्वे वैधर्म्य-
दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ ४७ ॥

उक्तानामुपायानां परमार्थसत्यत्वे तद्वैतहानिः । अन्यथा तद-
प्रमतिरित्याशङ्क्याह । न कश्चिदिति । तत्र हेतुमाह । सन्भवो-
ऽस्येति ॥ श्लोकाचराणि व्याकर्त्तुं भूमिकां व्याकरोति । सर्वोऽपीति ॥
व्यवहारिकसत्यत्वमेवोपायानां न परमार्थसत्यत्वमित्यङ्गीकृत्य पार-
मार्थिकसत्यस्य प्रतिपत्त्युपायत्वेनैवोक्तेत्याह । नृदिति ॥ यदुक्तं मनो

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥४८॥
इति गौडपादीयकारिकायामद्वैताख्यं तृतीयं
प्रकरणम् ॥ ३ ॥ ॐ तत्सत् ॥

स्याऽस्यैकस्यात्मनः सम्भवः कारणं न विद्यते नास्ति ।
यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव
इत्येतत् । पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानामेतदुत्तमं सत्यं
यस्मिन् सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किञ्चिन्न जायते
इति ॥४८॥

इति श्रीगोविन्दभवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरि-
व्राजकार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयभाष्ये
आगमशास्त्रविवरणेऽद्वैताख्यतृतीयप्रकरणभाष्यम् ॥३॥

ओं तत्सत् ॥

निग्रहादीनां परमार्थत्वे द्वैतहानिरिति तत्राह । नेत्यादिना ॥ तेषाम-
परमार्थत्वे कथमद्वैतप्रतिपत्तिरित्यपि न व्यवहारिकसत्यानामपि तत्
प्रतिपत्तिहेतुत्वस्य प्रतिविम्बदुपपत्तेरिति भावः । उपायानां व्यवहा-
रिकसत्यत्वेनैव पारमार्थिकं सत्यत्वं किं न स्यादिति तत्राह । परमा-
र्थेति ॥ तदेव स्पष्टयति । कर्त्तेति ॥ स्वभावतोऽज्यत्वं हेतूकर्त्तव्यम् ।
तदेव हेतुत्वरमाह । अत इति ॥ हेतुत्वरमेव स्पष्टयति । यस्यादिति ॥
उत्तरार्द्धं व्याचष्टे । पूर्वेष्विति ॥ पूर्वेषु अन्येष्विति शेषः । इतिशब्दो
द्वैतप्रकरणपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥४८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशङ्कानन्दपूज्यपादशिष्य-
भगवदानन्दज्ञानविरचितायां गौडपादभाष्यटीकायां तृतीयं प्रकरणं
समाप्तम् ॥ ३ ॥ ओं तत्सत् ॥ हरिः ॐ ॥

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्म्मान् गगनोपमान् ।

ओंकारनिर्णयद्वारेण आगमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य
वाच्यविषयभेदेवैतय्याच्च प्रसिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां
साक्षान्निर्धारितस्यैतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतः । अन्ते
तस्यैतस्यागमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैना-
शिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्वागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्श-
नामिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम् । क्लेशानास्पदत्वात्
सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनस्तुतये । तदिह विस्तरेणान्योन्य-
विरुद्धतया असम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शन-
सिद्धिरुपसंहर्तव्या । आवीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरार-
भ्यते । तन्नाद्वैतदर्शनं सम्प्रदायकर्तुरद्वैतस्वरूपेणैव नम-

आद्यन्तमध्यमङ्गला यन्याः प्रचारिणो भवन्तीत्यभिप्रेत्यादावो-
च्चारोच्चारणवदन्ते परदेवताप्रणामवत् मध्येऽपि परदेवतारूपमुप-
देष्टारं प्रणमति । ज्ञानेति ॥ पूर्वोत्तरप्रकरणसम्बन्धसिद्धयर्थं पूर्व-
प्रकरणत्वमेव वृत्तमर्थं क्रमादनुवृत्ति । ओंकारेति ॥ अद्वैत इत्यद्वैतो-
पलक्षितं तृतीयं प्रकरणमुच्यते । चतुर्थं प्रकरणमवतारयितुमुपयुक्त-
मर्थान्तरमनुवदति । तस्येति ॥ द्वैतिनो भेदवादिनो वैनाशिकव्यति-
रिक्ता गच्छन्ते वैनाशिका नैरात्मप्रवादिनो रागद्वेषादीत्यादिशब्देनोति-
रिक्तक्लेशोपादानम् । पञ्चान्तराणां मिथ्यादर्शनत्वसूचनं कुतोपगम्यते
तत्वाह । क्लेशेति ॥ पातनिकामेवं कृत्वा समनन्तरप्रकरणप्रवृत्तिं
प्रतिजानीते । तदिहेति ॥ तदसम्यग्दर्शनत्वमिति सम्बन्धः । आवी-
तन्यायो व्यतिरेकन्यायः । यथा यत्कृतकं तदनित्यत्वमित्यन्यादिनि-
त्यत्वेऽवगतेऽपि यन्नानित्यं न तत्कृतकमिति व्यतिरेकोऽपि व्यभिचार-

ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदाम्बरम् ॥१॥

स्कारार्थोऽयमाद्यलोकः । आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थ-
सिद्ध्यर्थेऽप्यन्ते शास्त्रारम्भे । आकाशेनेषदसमाप्तमाकाश-
कल्पमाकाशतुल्यमेतत् । तेनाकाशकल्पेन ज्ञानेन किं
धर्मानात्मनः किं विशिष्टान् गगनोपमान् गगनमुपमायेषान्ते
गगनोपमाः तानात्मनो धर्मान् । ज्ञानस्यैव पुनर्विशे-
षणम् । ज्ञेयैर्धर्म्मैरात्मभिरभिन्नमन्युणाप्रवत्सवित्प्रकाश-
वच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाकाशकल्पेन ज्ञेयात्म-
स्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान् धर्मान् यः सम्बुद्धः
सम्बुद्धानित्ययमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्दे अभि-
वादेये द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं

शङ्कानिरासितत्वेन व्याप्तिनिश्चयार्थमिष्यते । तथा तर्कतः सम्भावित-
स्यायमनेनायगतस्यापि प्रतिपक्षभूतवादान्तरापाकरणप्रपञ्चमन्तरेण
पाक्षिकी सम्यक्शङ्का स्यादद्वैतदर्शनस्येति तत्प्रतिषेधेन तत्सिद्धरूप-
संहर्त्तव्यत्वात्तद्विशान्तिदृष्टान्तोपलक्षितमारभ्यते प्रकरणमित्यर्थः । विशेषे-
ण स्पष्टमितो वीतः सन् भवतीत्यधीतः । अधीत एवाधीतः । तेन
न्यायेन व्यतिरेकेणेति यावत् ॥ प्रकरणस्य तात्पर्यमेवं दर्शयित्वा
प्रथमश्लोकस्य तात्पर्यमाह । तत्रेति ॥ तत्र चतुर्थप्रकरणं सप्तम्या
परान्त्यते ॥ किमित्यद्वैतरूपेणाचार्यो नमस्क्रियते तत्राह । आचा-
र्येति ॥ अभिप्रेतार्थः शस्त्रस्याविघ्नपरिममाप्तिस्तदर्थे विप्रतिपत्त्यादि-
व्यावृत्तिश्च । आकाशस्य जडत्वाधिक्यात् ज्ञानं स्वप्नकाशमाकाशेनेषद-
समाप्तं वक्तव्यम् । विभुत्वादावुपमा दृष्टव्या । वक्ष्यवचनमुपाधिक-
ल्पितभेदाभिप्रायम् । तेषामपि चिन्मात्रत्वं विवक्षितोक्तं ज्ञानस्यैवेति ॥
तेनेत्यादि पुनरनुवादेनान्वयमन्वाचक्षे । आचार्यो हि पुरा वदरिका-

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।

प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः । उपदेष्टुमस्कारसु-
खेन ज्ञानज्ञेयज्ञातमेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह
प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रति-
ज्ञातं भवति ॥१॥

अधुनाऽद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये स्पर्शनं
स्पर्शसम्बन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि
सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव वै नामेति । ब्रह्मविदाम-
स्ययोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः । स च सर्वसत्त्वसुखो भ-
वति । कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखस्वरूपः
यथातपः अयन्तु न तथा किन्तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः ।

अमे नरनारायणाधिष्ठिते नारायणं भगवन्तमभिप्रेत्य तपोमहदतप्यत ।
ततो भगवानतिप्रसन्नस्तस्मै विद्यां प्रदादिति प्रसिद्धं परमगुरुत्वं पर-
मेष्ठिरे इति भावः ॥ ननु प्रकरणे प्रारम्भमाणे प्रतिपद्ये प्रमेये वक्तव्ये
किमित्युपदेष्टा नमस्क्रियते तत्राह । उपदेष्टिति ॥१॥

इदानीमद्वैतदर्शनयोगस्तुतये तन्नमस्कारं प्रस्तौति । अस्पर्शेति ॥
श्लोकस्य तात्पर्यमाह । अधुनेति ॥ तस्य च स्तुतिः तत्साधनेषु प्रह-
न्ताहुपयुज्यते । सम्प्रत्यक्षराणि व्यादुर्वन् अस्पर्शयोगशब्दं व्याव-
रोति । अस्पर्शनमिति ॥ योगस्याऽन्यसम्बन्धप्रसङ्गाभावात् कथमस्पर्श-
त्वमित्याशङ्क्याह । ब्रह्मेति ॥ निपातयोरर्थं कथयति । वै नामेति ॥
सर्वेषां सत्त्वानां देहभूतां सुखयतीति व्युत्पत्त्या सुखहेतुत्वं ब्रह्म-
स्वभावस्य सुखविशेषणो न दर्शयति । सचेति ॥ सुखहेतावपि ब्रह्म-
स्वभावे विवक्षितं विशेषं दर्शयति । भवतीति ॥ हितविशेषणस्य
तात्पर्यमाह । तथेह भवतीत्यादिना ॥ तस्य हितत्वे हेतुमाह ।

अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥२॥
भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।

तथेह भवति कञ्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः । अयन्तु
सुखो हितश्च । नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात् । किञ्चाऽवि-
वादः विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्
विद्यते सोऽविवादः । कस्मात् यतोऽविरुद्धश्च य ईदृशो
योगो देशित उपदिष्टः शास्त्रेण तं नमाम्यहं प्रणमासी-
त्यर्थः ॥२॥

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्त इति । उच्यते । भूतस्य
विद्यमानस्य वस्तुनो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः केचि-

नित्यमिति ॥ तस्यैव विशेषणान्तरमाह । किञ्चेति ॥ तत्र हेतुं प्रश्न-
पूर्वकमाह । कस्मादिति ॥ आत्मप्रकाशत्वात् ब्रह्मस्वभावस्याविरुद्ध-
त्वम् । न हि कस्यचिदात्मप्रकाशो विरुद्धो भवतीत्यर्थः । तयोक्तयोग-
ज्ञानमार्गस्य सम्प्रदायागतत्वमाह । य ईदृश इति ॥ तन्मन्स्कार-
व्याजेन तस्य स्तुतिस्तदुपायेषु श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमत्र विवक्षितेत्याह । तन्नमा-
मीति ॥२॥

दद्वेतदर्थं नस्याविरुद्धत्वेनाविवादत्वं विषदोक्तुं द्वैतिनां विवादं
तावदुदाहरति । भूतस्येति ॥ एवं विरुद्धं वदन्तो मिथो जेतमिच्छ-
न्तीत्याह । विवदन् इति ॥ प्रश्नपूर्वकं श्लोकाक्षराणि योजयति ।
कथमित्यादिना ॥ एवकार्थं हेतुनाह । यस्मादिति ॥ पात्राभि-
मानिनो जातिमिच्छन्तीति पूर्वार्थे सम्बन्धः । चतुर्थपादं साध्याहारं
व्याकरोति । विवदन् इति ॥२॥

पक्षद्वयनिषेधमुखेन सिद्धमर्थं कथयति । भूतमित्यादिना ॥ श्लो-
काक्षरव्याख्यानार्थमाकाङ्क्षान्निधिपति । तैरिति ॥ तत्पादं पादमवतार्य

अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥३॥

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते ।

विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥४॥

देवः हि साङ्ख्यो न सर्व एव द्वैतिनः । यस्यादभूतस्या-
ऽविद्यमानस्याऽपरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीरा धीमन्तः
प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थः । विवदन्तोऽन्योऽन्यमिच्छन्ति
जेतुमित्यभिप्रायः ॥३॥

तैरेव विरुद्धवदनेनाऽन्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं
ख्यापितं भवतीति । उच्यते । भूतं विद्यमानं वस्तु न जा-
यते किञ्चिद्विद्यमानत्वादेव आत्मवदित्वेवं वदन् सद्वादी-
सांख्यपक्षं प्रतिषेधति । सज्जन् तथा अभूतमविद्यमान-
मविद्यमानत्वाच्चैव जायते शशविषाणवदित्वेवं वदन्
साङ्ख्योऽयसद्वादिपक्षमसज्जन् प्रतिषेधति । विवदन्तो
विरुद्धं वदन्तोऽद्वया अद्वैतिनोऽप्येतेऽन्योन्यस्य पक्षौ सदस-
तोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिसमुत्पत्तिमर्थात् ख्यापयन्ति
प्रकाशयन्ति ते ॥४॥

व्याकरोति । उच्यत इति ॥ द्वितीयपादं विभजते । तथेति ॥ द्वितीयाहं
विभजते । विवदन् इत्यादिना ॥ सदसदतिरिक्त वस्तुभावाद्भूतत उत्पत्ते-
रनुपपत्तिरित्याह । अर्थादिति ॥४॥

ख्याप्यमानामजातिन्तैरनुमोदामहे वयम् ।

विवदामो न तैः सार्द्धमविवादं निबोधत ॥५॥

अजातस्यैव धर्म्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।

अजातो ह्यमृतो धर्म्मा मर्त्यतः कथमेष्यति ॥६॥

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमेवमस्त्वित्यनुमोदामहे के-
वलं न तैः सार्द्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन । यथा
तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः । अतस्तमविवादं विवादरहितं
परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः ॥५॥

सदसद्वादिनः सर्वे यान्ति पुरस्तात्कृत भाष्यश्लोकः ॥६॥

वर्हि प्रतिवादिभिरुक्तत्वादजातिरपि भवता प्रत्यख्येयेत्या-
शङ्क्याह । ख्याप्यमानामिति ॥ प्रतिवादिभिः सह विवादाभावे फलित-
माह । अविवादमिति ॥ अक्षराणि व्याचष्टे । तैरित्यादिना ॥
अहेतवादिनो द्वैतवादिभिर्विवादाभावे वैधर्म्मग्रहणान्तमाह । यथा
त इति ॥ चतुर्थपाठार्थमाह । अत इति ॥५॥

जातस्यैव जन्मनाऽऽनर्थादनुवक्ष्यानाञ्चाऽजातस्यैव पदार्थस्य
जन्म सद्वादिनोऽसद्वादिनश्च सर्वेऽपि स्वीकुर्वन्तीति परपक्षमनुवदति ।
जातस्येति ॥ तत्र शिष्टाभीष्टदोषं प्रदर्श्याऽभ्यनुजानाति । अजातो
हीति ॥ के ते वादिनो यैरेवमिष्यते तत्राह । सदसदिति ॥ अव-
शिष्टानि श्लोकाक्षराणि व्याख्यातत्वान्न पुनर्व्याख्यानसापेक्षाणीत्याह ।
पुरस्तादिति ॥६॥

न भवत्यऽदृतं मर्त्यं न मर्त्यं समन्तथा ।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥ ७ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मा गच्छन्ति मर्त्यताम् ।

कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्यास्यति निश्चलः ॥ ८ ॥

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणाम-
न्योन्यविरोधव्यापितानुमोदनप्रदर्शनार्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

यस्याल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति काऽसावित्याह
सम्यक्सिद्धिः सांसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिकी यथा योगिनां
सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः सा भूतमविष्यत्-

परिणामिब्रह्मवादे यदब्रह्मवादिभिर्दूषणमुच्यते तदप्यनुज्ञात-
मेवेति मत्वाह । न भवतीति ॥ अदृतं हि ब्रह्म न तद्रूपे स्थितं
मर्त्यमवितुमर्हति । स्थितरूपविरोधात् । न च मर्त्यं कार्यं स्वरूप-
स्थिते प्रलयावस्थायामदृतं ब्रह्म सम्पद्यते । नष्टेऽपि स्वरूपे तस्यैवा-
भावान्नान्यथात्वमित्यभिप्रेत्याह । प्रकृतेरिति ॥ किञ्च यस्य परिणाम-
वादिनः स्वभावेनादृतः सन् परमात्माख्यो धर्मशब्दितो भावो मर्त्यतां
कार्यभाषापन्था गच्छति । तस्य कृतं केन समुच्चयाऽनुष्ठानेनादृतो
जातो मुक्तो वक्तव्यः । स च कथं निश्चलः स्यात् पारयति । यत्-
कृतकं तदनित्यमिति न्यायविरोधादित्याह । स्वभावेनेति ॥ पुनरुक्ति-
माशङ्क्य प्रत्यादिशति । उक्तार्थानामिति ॥ ७ ॥ ८ ॥

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिदित्युक्तं तत्र प्रकृतिशब्दार्थं कथ-
यति । सांसिद्धिकीति ॥ श्लोकाक्षराणि व्याकृष्यन् प्रकृतेरन्यथात्वभावे
हेतुमाह । यस्यादिति ॥ तस्यादजादृतस्वभावा प्रकृतिर्न विपर्येतीति

प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥६॥
जरा मरण निर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।

कालयोरपि योगिनां न विपर्येति तथैव सा । यथा
स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावत एव सिद्धा । यथाऽग्न्यादीना-
मुष्णप्रकाशादिलक्षणा सापि न कालान्तरे व्यभिचरति
देशान्तरे च तथा सहजा आत्मना सहैव जाता यथा
पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा । अन्यापि या काचि-
दक्षता केनचिन्न कृता यथाऽपां निम्नदेशगमनादिल-
क्षणा । अन्यापि या काचित्स्वभावं न जहाति सा सर्वा
प्रकृतिरिति विज्ञेयम् । लोके सिध्याकल्पितेषु लौकिके-
ष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुताऽजस्वभावेषु
परमार्थवस्तुष्वस्य तत्त्वलक्षणा प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभि-
प्रायः ॥६॥

किंविषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो

किमु वक्तव्यमिति योजना । कैमुतिकन्यायद्योतनार्थोऽपि गच्छः । विव-
क्षितं हेतुं स्फुटयितुं प्रश्नपूर्वकं विभजते । कासावित्यादिना ॥ साङ्ग-
योगमनुष्ठाय परिसमापनं संसिद्धिः । सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तौ
सामग्रीसम्पन्नानां या काचित् स्वभावान्न जहाति घटस्य घटत्वं पटस्य
पटत्वमित्यादिकेति शेषः ॥ प्रासङ्गिकं प्रकृतिगच्छार्थमुक्त्वा प्रकृतेरन्यथा-
त्वाभावे प्रागुक्तं सिद्धान्ते यत्फलति तदिदानीं किं पुनर्न्यायेन कथयति ।
सिध्येति ॥६॥

प्रासङ्गिकीमेव जीवानां प्रकृतिं दर्शयितुं प्रक्रमते । जरेति ॥

जरामरणमिच्छन्तश्च प्रवन्तो तन्मनीषया ॥१०॥

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।

वादिभिः कल्पप्रते कल्पनायां वा को दोष इत्याह । जरा-
मरणनिर्मुक्ताः । जरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः ।
के सर्वे धर्माः सर्वे आत्मन इत्येतत्स्वभावतः प्रकृतितः ।
एवं स्वभावाः सन्तो धर्मा जरा मरणमिच्छन्त इवेच्छन्तो
रज्ज्वाभिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तश्च प्रवन्तो स्वभावतश्चल-
न्तीत्यर्थः । तन्मनीषया जन्ममरणचिन्तया तद्भावभावि-
तत्वदोषेणेत्यर्थः ॥१०॥

कथं सज्जातिवादिभिः साङ्ख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्याह
वैशेषिकः । कारणं ब्रह्मदुपादानलक्षणं यस्य वादिनो वै
कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन

आत्मनो हि सर्वविक्रियारहिताः स्वभावतो भवन्तीत्यर्थः । तेषामुक्त-
प्रकृतेरन्यथात्वे का चतितिरित्याशङ्क्याह । जरामरणमिति ॥ सर्व-
विक्रियाम्भून्ये स्वात्मनि विक्रियाकल्पनायां तद्वासनया स्वभावहानिः
स्यादित्यर्थः ॥ श्लोकाच्चाणि व्याकर्तुमाकाङ्क्षां दर्शयति । किं विष-
येति ॥ आश्रयविषयो विषयशब्दः ॥ अप्रकृतं प्रकृतेराश्रयनिरूपण-
मित्याशङ्क्याह । यस्या इति । प्रश्नान्तरं प्रकरोति । कल्पनायामिति ॥
तत्र पूर्वार्द्धमुत्तरत्वेन व्याकरोति । आहृत्यादिना ॥ उत्तरार्द्धं विभजते ।
एवं स्वभावा इति ॥१०॥

मासङ्गिकं परित्यज्य साङ्ख्यप्रपञ्चे वैशेषिकादिभिरुच्यमानं दूषण-
मथनुज्ञातमनुभाषते । कारणमिति । कारणस्य जायमानत्वे का
हानिरित्याशङ्क्याह । जायमानमिति ॥ सावयवत्वाच्च प्रधानस्य नित्य-

जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथञ्च तत् ॥११॥
कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।

इत्यर्थः । तस्याऽजनेव सत्प्रधानादि कारणं महदादि
कार्यरूपेण जायत इत्यर्थः । महदाद्याकारेण चेज्जाय-
मानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धञ्चेदं जायते-
ऽजञ्चेति । नित्यञ्च तैरुच्यते । प्रधानं भिन्नं विदीर्षं स्फुटि-
तमेकदेशेन सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः । न हि सावयवं
घटादि एकदेशस्फुटनधर्म्मि नित्यं दृष्टं लोक इत्यर्थः । विदी-
र्षञ्च स्यादेकदेशेनाजं नित्यञ्चेति । एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभि-
धीयत इत्यभिप्रायः ॥११॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह । कारणादजात्का-
र्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं स्वया ततः कार्यमजमिति प्राप्तम् ।

त्वानुपपत्तिरित्याह । भिन्नमिति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । कथ-
मिति ॥ तत्र प्रथमपादाक्षराणि योजयति । कारणमित्यादिना ॥
तदेव स्पष्टयति । कारणमेवेति ॥ द्वितीयपादं विमजते । तस्येति ॥
प्रधानादीत्यादिशब्देन तदवयवाः सत्त्वादयो गृह्यन्ते । महदादी-
त्यादिशब्देनाहङ्कारादियहणम् ॥ तृतीयपादं व्याकरोति । महदा-
दीति ॥ विप्रतिषेधं विशदयति । जायत इति ॥ चतुर्थपादार्थमाह ।
नित्यञ्चेति ॥ विमतमतित्वं साध्यवत्त्वाद् घटादिवदित्यभिप्रेत्य दृष्टान्तं
साधयति । न हीति ॥ साङ्ख्यस्मृतिविरुद्धमनुमानमित्याशङ्क्याहो
विदीर्षञ्चेति ॥११॥

किञ्च । कार्यकारणयोरभेदे किं कारणाभिन्नं कार्यं किं वा
कार्याभिन्नं कारणमिति विकल्पग्राह्यमनुवदति । कारणादिति ॥ अतो-

जायमानाद्विवेकार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥१२॥

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।

इदञ्चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजज्ञेति तव । किञ्चाऽन्यत्कार्य-
कारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्वि वै कार्यात्कारणमनन्य-
नित्यं ध्रुवञ्च ते कथं भवेत् । न हि कुक्कुट्या एकदेशः
पच्यते एकदेशः प्रसवाय कल्पयते ॥१२॥

किञ्चाऽन्यदजादनुत्पन्नाद्वस्तुनो जायते तस्य वादिनः
कार्यम् । दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै दृष्टान्ताभावेऽर्थादजान्न

२स्मिन् पक्षे कार्यमजं स्यात् ॥ तथाविधकारणाभिन्नत्वादिति दूष-
यति । अत इति ॥ द्वितीयमनुद्वर्तित । यदीति ॥ जायमानात्कार्यात्
कारणमभिन्नं यदीति योजना । यदीति ॥ न तर्हि कारणं ध्रुवं
भवितुमर्हति कार्याभिन्नत्वात्तस्य चाध्रुवत्वादिति दूषयति । कारण-
मिति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । उक्तस्येति ॥ कार्यकारणयोरभेद-
वादे विप्रतिषेधो दर्शितः । तस्यैव दृढोक्तकारणार्थमयं श्लोक इत्यर्थः ॥
पूर्वाङ्गीकरोत्यमर्थमाह । कारणादिति । प्राप्तेरनिष्टपर्यवसायि-
त्वमाह । इदञ्चेति ॥ प्रधानस्याजत्वं जायमानत्वञ्च विप्रतिषिद्ध-
मित्युक्तम् ॥ अन्यादित्युक्तमेव व्यनक्ति । कार्यमिति ॥ अभेदेऽपि
मायावादे नैष दोषः कारणस्य कार्यादनन्यत्वानभ्युपगमात् ॥ कार्य-
स्यैव कारणमात्रत्वाङ्गीकारादिति मत्वाह । तवेति ॥ द्वितीयाद्वै
विभजते । किञ्चान्यदिति ॥ अभेदवादेऽपि कार्यस्यानित्यत्वं कार-
णस्य नित्यत्वमिति व्यवस्था किमिति न भवतीत्याशङ्क्याह । न
ह्येति ॥१२॥

किञ्च यस्य प्रधानवादिनो गते प्रधानादजाभिन्नं कार्यं जायते
महदादीत्यभ्युपगम्यते । तस्य पक्षे तस्मिन्नर्थे दृष्टान्तो यत्तव्यः तद-

जाताञ्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥१३॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।

किञ्चिज्जायत इति सिद्धमवतीत्यर्थः । यदा पुनर्जाता-
जायमानस्य वस्तुनोऽभ्युपगमः तदप्यन्यस्याज्जातान्तद-
प्यन्यस्यादिति न व्यवस्था प्रसज्यते । अनवस्थानं स्यादि-
त्यर्थः ॥१३॥

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूदिति परमार्थतो द्वेता-
भावः श्रुत्योक्तस्तमान्विताह । हेतुर्धर्म्यादेरादिः कारणं
देहादिसङ्घातः फलं येषां वादिनाम् । तथादिः कार-
णम् । हेतुर्धर्म्यादिः । फलस्य च देहादिसङ्घातस्य ।

वदन्मेव तेनार्थव्यवस्थापनात् । न चात्रोभयसम्प्रतिपन्नो दृष्टान्तो
दृष्टोऽस्तीत्याह । अजादीति ॥ यद्यजान्निवाहस्तुनो जायमानम-
भ्युपगन्तं न शक्यते तर्हि जातादेव जायमानमभ्युपगम्यतानित्याश-
ङ्क्याह । जाताञ्चेति । साङ्ख्यप्रसङ्गे दोषान्तरप्रदर्शनपरत्वं श्लोकस्य
प्रतिजानीते । किञ्चान्यदीति ॥ तत्र पूर्वोद्घोषराशिं योजयति ।
अजादिति ॥ दृष्टान्ताभावेऽपि प्रमाणान्तरादर्थप्रतिपत्तिर्भवितुमीत्या-
शङ्क्याह । दृष्टान्तेति ॥ परस्य खल्वनुमानाधीनमर्थपरिज्ञानम् ॥
च दृष्टान्ताभावेऽनुमानमवकल्पते तस्मान्न साङ्ख्यप्रसङ्गः सम्यक्त्वतीत्यर्थः ॥
द्वितीयाहं व्याचष्टे । यदा पुनरित्यादिना ॥१३॥

द्वैतवादिभिरन्योन्यपक्षप्रतिपक्षेण सुखेन व्यापितं वस्तुनोऽजन्म-
त्यमद्वैतवादिनाऽभ्यनुज्ञातमिदानीं द्वैतनिरसनमपि श्रौतं विद्वदनु-
भवानुसारि चैतनाभ्यनुज्ञातमेवेत्याह । हेतोरिति ॥ हेतुफलमात्मकः
संसारोऽनादिरिति वदद्भिन्नस्यानादित्वस्य भावो नैव वक्तुं शक्यते ।

हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥१४॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।

तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥१५॥

एवं हेतुफलयोरितरकार्यकारणत्वेनादिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेवं
हेतोः फलस्य नाद्यादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते विप्रतिपिद्धमि-
त्यर्थः । न हि नित्यस्य कूटस्थस्यात्मनो हेतुफलात्मकता
सम्भवति ॥१४॥

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इति । उच्यते । हेतुजन्यादेव
फलाद्देतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो
भवति तथा पुत्राज्जन्म पितुः ॥१५॥

हेतुफलयोरादिमत्त्वस्य कण्ठोक्तत्वादतो हेतुफलात्मकं द्वैतमनिरु-
पितरूपमवस्तुभूतमित्यर्थः ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । यत्र त्विति ॥
तमाश्रित्य कार्यकारणात्मकस्य द्वैतस्य दुर्निरूपत्वमाहेति योजना ॥
हेतुफलयोरात्मपरिणामत्वादादिमत्त्वमुपादानरूपेण चानादित्वमित्या-
शङ्क्यात्मनो निरंशस्य कूटस्थस्य नित्यस्य परिणामानुपपत्तेर्नैवमित्याह ।
न हीति ॥१४॥

हेतुफलयोरन्योन्यमादिमत्त्वं ब्रुवन्ता । तदात्मकस्य संसारस्या-
नादित्वं विप्रतिसिद्धमित्युपपादितम् । सम्प्रति कार्यकारणभावोऽपि
तयोर्न सम्भवतीत्याह । हेतोरित्यादिना । हेतुफलयोरन्योन्यं कारण-
त्वमभ्युपगच्छद्भिरभ्युपगम्यते विरुद्धमिति ॥ एतत् प्रश्नपूर्वकं प्रकट-
यति । कथमित्यादिना ॥ ईदृशत्वमेव विशदयति । यथेति ॥१५॥

सम्भवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्तु या ।

युगपत्सम्भवे यस्यादसम्बन्धो विषाणवत् ॥१६॥

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिद्ध्यति ।

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुर्मात्रं चेन्नन्यसे
सम्भवे हेतुफलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्तथाऽन्वेष्टव्यः ।
हेतुः पूर्वं पश्चात्फलञ्चेति । इतरच्च युगपत्सम्भवे यस्या-
हेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासम्बन्धः । यथा युगपत्सम्भ-
वतोः सव्येतरगोविषाणयोः ॥१६॥

कथमसम्बन्ध इत्याह । जन्यात् स्वतोऽलब्धात्मकात्
फलादुत्पद्यमानः सन् शशविषणादेरिवासतो न हेतुः

प्रतीतितो हेतुफलयोरुत्पत्तेरुपगन्तव्यत्वान्न युक्तं तन्निराकर-
णमित्याशङ्क्याह । सम्भवे इति ॥ तयोरुदये प्रातोतिके नियतपूर्व-
भावी हेतुर्नियतोत्तरभावि फलमित्यभ्युपगमे हेतुमाह । युगपदिति ॥
यथोक्तो विरोधो हेतुफलभावस्यासम्भवः सन् युक्तोऽभ्युपगन्तुं प्रतीति-
विरोधादिति व्यावर्त्यां शङ्कामनुवदति । यथेति ॥ तत्रोत्तरत्वेन
श्लोकाक्षराणि योजयति । सम्भव इति ॥ प्रतीत्या क्रमस्वीकारवदुप-
पत्तेश्चेत्याह । इतश्चेति ॥ तमेवोपपत्तिं स्फोरयति । युगपदिति ॥
यथोर्युगपत्सम्भवस्तयोर्न कार्यकारणत्वं यथा विषाणयोरिति व्याप्ते-
र्व्यक्तत्वात् क्रमस्य आवश्यकतेत्यर्थः ॥१६॥

उक्तव्याप्तेरनुपाहकं तर्कमुपन्यस्यति । फलादिति ॥ हेतुफलयो-
र्मिथो हेतुफलत्वं ब्रुवतो मते हेत्वधीनतयाऽलब्धात्मकात् फलादुत्पद्यमानो
हेतुर्न ततो लब्धात्मको भवत्यलब्धात्मकश्चाऽसत्त्वान्न फलमुत्पादयितुं
शक्नोति अतो हेतुफलभावस्यैवासिद्धिरित्यर्थः ॥ हेतुफलयोरक्रमवतोर्न

अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥१७॥

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धश्च हेतुतः ।

कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥१८॥

सिध्यति जन्म न लभ्यते । अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सन् शश-
विषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति । नहीतरे-
तरापेक्षसिद्धोः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन
सम्बन्धः क्वचिद्दृष्टः अन्यथा वेत्यभिप्रायः ॥१७॥

असम्बन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यका-
रणभावे यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव
त्वया करतत्पूर्वनिष्पन्नं हेतुफलयोर्यस्य पश्चाद्भाविनः
सिद्धिः स्यात् पूर्वसिद्ध्यपेक्षया तद्वद्ब्रूहीत्यर्थः ॥१८॥

कार्यकारणभावेन सम्बन्धः सिध्यतीत्येतदाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं साधयति ।
कथमित्यादिना ॥ हेतुस्वरूपाज्जन्यं फलं तदधीनत्वेन लब्धात्मकं स्वतश्चाल-
ब्धात्मकम् । तत उत्पद्यमानः सन्नेप हेतुर्न सिध्यति । न खलु शशवि-
षाणादेरसतः सकाशात्सिद्धिस्तुल्यत्वात्मकमुपलभ्यते । हेतुश्चेदप्रसिद्धो-
ऽलब्धात्मकोऽभ्युपगतः स तर्हि यथाविधोऽसद्रूपः सन्न फलमुत्पादयितु-
मुत्सहते ॥ न हि सद्वादिसते फलमसतः सकाशादुपलब्धचरमित्यर्थः ।
तथापि कथं हेतुफलयोरसम्बन्धः सिध्यतीत्याशङ्क्याह । न हीति ॥
अन्यथा वेत्याधाराधेयभावादिति ॥ कथं न हेतुफलयोर्योगपक्षे सत्य-
न्यतरस्यापि न पूर्वक्षणे सत्तत्त्वसतोः शशविषाणयोरिवान्योन्यापेक्षया
जन्यजनकत्वं नोपपद्यते शशविषाणादिष्वपि प्रसङ्गादित्युक्तम् ॥१७॥

इदानीं पुण्यो वै पुण्येन कर्म्मणा भवतीत्यादिश्रुतेर्धर्म्मोदिषु
हेतुफलभावमाशङ्क्य श्रुतेरसम्भावितार्थे प्रामाण्यायोगादवश्यं पौर्वापर्यं

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।

एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥१६॥

अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे सेयमशक्तिरपरि-
ज्ञानम् । तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः । अथ वा योऽयं
त्वयोक्तः क्रमः हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धि-
रितीतरेतरानन्तर्यलक्षणस्तस्य कोपो विपर्ययोऽन्यथा-
भावः स्यादित्यभिप्रायः । एवं हेतुफलयोः कार्यकारण-
भावानुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रका-
शिताऽन्योन्यपेक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरि-
त्यर्थः ॥१६॥

वक्तव्यमित्याह । यदीति ॥ श्लोकाक्षराणि योजयति । असम्बन्धे-
त्यादिना ॥१८॥

हेतुफलयोरिदं पूर्वमिदं पश्चादिति न ज्ञायते । परस्परान्तरात् ।
अतश्चेदं पूर्वं निष्पन्नमिति वक्तुमशक्यमित्याह । अशक्तिरिति ॥ उत्त-
राधसरे चेदुत्तरापरिज्ञानं तर्हि कथमशक्तिसूचकं तन्निग्रहस्थानम-
प्रतिभाभिधानीयमापततीत्यर्थः । किञ्च यदि क्रमस्य नियतपूर्वापर-
भावात्मनोऽपरिज्ञानं तदा पूर्वं कारणमुत्तरं कार्यमिति प्रतिज्ञा
हीयेव । तथा च प्रतिज्ञातानिर्निग्रहान्तरमापद्यतेत्याह । क्रमेति ॥
अन्योन्यपक्षप्रतिक्षेपमुखेन सतो ऽसतश्च जन्मनी प्रत्याख्याते । क्रमा-
क्रमाभ्यामुत्पत्तेरनुपपत्तेरजातिरेवास्मादभिप्रेता वादिभिरादर्शिता भव-
तीत्युपसंहरति । एवं होति ॥ तत्वाद्यं पादं व्याकरोति । अथेत्या-
दीना ॥ क्रमपक्षे पूर्वनिष्पन्नमेतच्छब्देन परागम्यते ॥ द्वितीयपादं
योजयति । अथ वेत्यादिता ॥ द्वितीयाद्धं विवृणोति । एवमिति ॥१९॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं
शब्दमात्रमात्रित्य कुलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा
विषाणवज्जासस्वन्व इत्यादि । न ह्यस्माभिरसिद्धा हेतोः
फलसिद्धिः असिद्धाद्वा फलाद्देतुसिद्धिरभ्युपगता किन्तर्हि
बीजाङ्कुरवत्कार्यकारणाभावोऽभ्युपगम्यत इति । अत्रो-
च्यते । बीजाङ्कुराख्यो यो दृष्टान्तः स साध्येन तुल्यो समे-
त्यभिप्रायः । न तु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरयो-
रनादिः न पूर्वस्य पूर्वस्याऽपरवादादिमत्त्वाऽभ्युपगमात् ।
यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादिमान् बीजञ्चा-
ऽपरमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत् । एवं

बीजाङ्कुरयोरिव हेतुफलयोरन्योन्यं कार्यकारणभावाभ्युपग-
मान्नान्योन्याश्रयत्वमित्याशङ्क्याह । बीजेति ॥ दृष्टान्तस्य साध्यसम-
त्वेऽपि साधकत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह । न हीति ॥ श्लोकापोद्यं चोद्यमु-
द्भावयति । नन्विति । शब्दमात्रं विवक्षितार्थशून्यम् ॥ शब्दमात्रित्य
कुलप्रयोगमेवोदाहरति । पुत्रादिति ॥ आदिशब्देन फलादुत्पद्यमानः
सन् न ते हेतुः प्रसिध्यतीत्यादि गृह्यते ॥ कार्यकारणभावो हेतुफल-
योरित्यत्रानभिप्रेतमर्थं कथयति । न हीति ॥ तत्रैव प्रश्नपूर्वकमभिप्रे-
तमर्थमुदाहरति । किन्तर्हीति ॥ दृष्टान्तासम्प्रतिपत्त्या परिहरति ।
अत्रेति ॥ मायावादिमते कचिदपि कार्यकारणभावस्य वस्तुभूतस्या-
सम्प्रतिपत्तेर्ममेत्युक्तम् । प्रत्यक्षावष्टम्भेन दृष्टान्तं साध्यवन्नाशङ्कते ।
नन्विति ॥ किं बीजाङ्कुरव्यक्तयोरिदं कार्यकारणत्वमिच्छते किं वा
बीजाङ्कुरसन्तानयोरिति विकल्पग्राह्यं दूषयति । न पूर्वस्येति ॥ तदेव
प्रपञ्चयति । यथेत्यादिना ॥ बीजव्यक्तेरङ्कुरव्यक्तेश्चोक्तप्रकारेणानादि-

नहि साध्यसमो हेतुःसिद्धौ साध्यस्य युज्यते॥२०॥

पूर्वपूर्वोद्भूतो बीजश्च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेदि प्रत्येकं
सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्यादिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुप-
पत्तः । एवं हेतुफलानाम् । अथ बीजाङ्कुरसन्ततेरनादि-
मत्त्वमिति चेत् । न । एकत्वानुपपत्तेः । न हि बीजाङ्कुर-
व्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसन्ततिर्नामैकाग्र्युपगम्यते हेतुफल-
सन्ततिर्वा तदनादित्ववादिभिः । तस्मात्सूक्तं हेतोः फलस्य
चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यत इति । तथाचान्यदप्यनुपपत्तेर्न
कलमित्यभिप्रायः । न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ
सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलेरित्यर्थः । हेतुरिति
दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतो गमकत्वात् । प्रकृतो हि दृष्टान्तो न
हेतुरिति ॥२०॥

तस्याऽन्योन्यकारणत्वस्य चानुपपत्तिरिति शेषः ॥ कल्याणरमुत्याप-
यति । अथेति ॥ बीजसन्ततेरङ्कुरसन्ततेश्चानादित्वमन्योन्यकारणत्व-
ञ्चाऽविरुद्धं सिध्यति । बीजजातीयामङ्कुरजातीयमङ्कुरजातीयाद्बीज-
जातीयमुत्पद्यमानमुपलभ्यते । तथैव हेतुजातीयात् फलजातीयं फल-
जातीयाच्च हेतुजातीयमविरुद्धमित्यर्थः । दृष्टान्ते दाष्टान्तिके च
सन्ततेरेकस्या व्यक्तेर्व्यतिरेकेणासम्भवान्नैवमिति दूषयति । नेत्यादिना ॥
तदेव प्रपञ्चयति । न हीति ॥ तदनादित्ववादिभिस्तासु व्यक्तिषु
मिथो हेतुत्वमनादित्वं तद्वदनुशीलैरिति यावत् । अन्योन्याश्रयत्वादन-
वस्थानाद्वा हेतुफलयोर्मिथो हेतुफलभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् दृष्टान्ता-
ष्टान्तिकयोरनुपपत्तिः सिद्धेत्यपसंहरति । तस्मादिति ॥ दृष्टान्तस्या-
सम्प्रतिपन्नत्वे स्थिते कार्यकारणत्वस्य क्वचिदपि सम्प्रतिपत्त्यभावात्-
पुत्राज्जन्म पितृर्यथेत्यादि न कलप्रयुक्तमिति फलितमाह । तथा

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।

याजमानाद्वि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥२१॥

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेत्याह । यदेतद्वेतुफलयोः
पूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकम् अवबोधकमि-
त्यर्थः । जायमानो हि च धर्मा गृह्यते । कथं तस्मात्पूर्वं
कारणं न गृह्यते । अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्वा
तज्जनकं ग्रहीतव्यम् । जन्यजनकयोः सम्बन्धस्यानपेक्ष-
त्वात् । तस्मादजातिपरिदीपकं तदित्यर्थः ॥२१॥

इतश्च न जायते किञ्चित् । यत् जायमानं वस्तु स्वतः
परत उभयतो वा सत् असत् सदसद्वा जायते न तस्य

चेति ॥ एवं श्लोकस्य पूर्वार्द्धं व्याख्यायोत्तरार्द्धं व्याचष्टे । न चेति ॥
किमिति हेतुशब्दस्य मुख्यमर्थं त्यक्त्वा गौणोऽर्थो गृह्यते । प्रकरणसामर्थ्या-
दित्याह । प्रकृतो हीति ॥ हेतुफलभावानुपपत्तिमुपपादितामुपसंहर्त्तु-
मिति शब्दः ॥२०॥

यत्पुनरन्योन्यपक्षं प्रतिक्षिपद्विरजातिर्वस्तुतो ज्ञापिता परी-
क्षकैरित्युपक्षिप्तं तत्र कथमजातिर्वस्तुतो ज्ञापितेत्याशङ्क्याह । पूर्वा-
परेति ॥ कार्यस्य गृह्यमाणत्वादजातिरसिद्धेत्याशङ्क्य कारणस्यापि
तर्हि आहूत्वादितरेतराश्रयादजातिरतिव्यक्ता सिद्धप्रतीत्याह । जाय-
मानादिति ॥ तत्र पूर्वार्द्धं प्रश्नद्वारा विवृणोति । कथमित्यादिना ॥
नियते पूर्वोपर्य्ये निर्वीरिते जातिः सिध्यति । तदभावे तदसिद्धिरि-
त्यर्थः । द्वितीयाद्धं विभजते । जायमानो हीति ॥ कार्यग्रहणे कारणं
ग्रहीतव्यमिति कुतो नियस्यते तत्राह । अवश्यं हीति ॥ कार्यकारणयो-
र्नियमसम्बन्धवतोरितरेतराश्रयात् दुर्यहत्वादजातिरेव वस्तुतो ज्ञापि-

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिदस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिदस्तु जायते ॥२२॥

केनचिदपि प्रकारेण जन्म सम्भवति । न तावत्स्वयमेवा
ऽपरिनिष्पन्नात्स्वरूपात् स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मा-
देव घटात् । नापि परतः अन्यस्मादन्यो यथा घटात्पटः
पटात् पटान्तर्गं तथा नोभयतः । विरोधात् । यथा
घटपटाभ्यां घटः पटो वा जायते । ननु मृदो घटो
जायते पितुश्च पुत्रः सत्यम् अस्ति जायत इति प्रत्ययः
शब्दश्च मूढानां तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परोक्ष्येते

तेत्युपसंहरति । तस्मादिति ॥ कार्यकारणयोर्दुर्ज्ञानत्वं तच्छब्देन
परावृत्त्यते ॥२१॥

वस्तुनो वस्तुतो जन्म नास्तीति विकल्पपूर्वकं साधयति । स्वतो
वेत्यादिना ॥ कस्य चिदपि वस्तुनो जन्म नास्तीत्यस्मिन्नर्थे हेतुनर-
परत्वं दर्शयति । इतश्चेति ॥ इतःशब्दार्थमेव स्फोरयितुं जायमान-
मनूय पोढा विकल्पयति । यज्जायमानमिति ॥ सर्वेष्वपि पक्षेषु
दोषसम्भावनां सूचयति । न तस्येति ॥ तत्वाद्यं दूषयति । न ताव-
दिति ॥ स्वयमेव जायमानं कार्यं स्वस्मादेव स्वरूपाद् तावज्जायते
स्वयमेव स्वापेक्षामन्तरेण स्वकारणाधीनतया परिनिष्पन्नत्वात् ।
अन्यथा स्वसिद्धेः । स्वसिद्धेरित्यात्माश्रयात् । न हि घटादेव घटो जाय-
मानो दृष्टोऽस्तीत्यर्थः ॥ द्वितीयं प्रत्याह । नापीति ॥ न खल्वन्यत्वं
जनकत्वे प्रयोजकम् । घटादपि घटोत्पत्तिप्रसङ्गात् । न चोत्पादक-
त्वयोग्यत्वविशेषितमन्यत्वं तथेति वाच्यम् । उत्पत्तिमन्तरेण तद्योग्य-
त्वस्य दुरवगमत्वादित्यर्थः । तृतीयं निरस्यति । तथेति ॥ निरोधमेव
दृष्टान्तद्वारा स्पष्टयति । यथेति ॥ नहि घटपटाभ्यां घटः पटो वा

किं सत्यमेव तौ उत सृष्टेति यावता परीक्ष्यमाणे । शब्द-
प्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत् ।
वाचारम्भणमिति श्रुतेः । सञ्ज्ञं जायते सत्त्वात् सृष्टि-
ण्डादिवत् । यद्यसत्तथापि न जायते न विद्यत अस-
त्त्वादेव शशविप्राणवत् । अथ सदसत्तथापि जायते
विरुद्धस्यैकस्यासम्भवात् । अतो न किञ्चिद्वस्तु जायत इति
सिद्धम् । तेषां पुनर्जनेतिरेव जायत इति क्रियाकारक-
फलैकत्वमभ्युपगम्यते क्षणिकत्वञ्च वस्तुनः । ते दूरत एव
न्यायापेताः । इदमित्यमित्यवधारणक्षणान्तरानवस्थानात्
अननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ॥२२॥

जायमानो दृश्यते । तथा जायमानं स्वस्वादित्यस्माच्च भवतीत्यनुप-
पन्नमित्यर्थः । अन्यत्वे सत्यपि जन्यजनकभावस्य प्रत्यक्षत्वान्नामौ शक्यते
प्रतिक्षेपमिति शङ्कते । नन्विति ॥ किं प्रत्यक्षानुसारिणौ शब्दप्रत्यया-
वविवेकिनामिष्येते किं वा विवेकिनामिति विकल्पप्राप्तमङ्गीकरोति ।
सत्यमिति ॥ द्वितीयं प्रत्याह । तावेवेति ॥ सृष्टेवेति परीक्ष्यमाणे
सतीति सम्बन्धः । तच्च जन्मशब्दधीविषयं वस्तु शब्दमात्रमेव । वाचा-
रम्भणश्रवणान्नपरमार्थतो यावता विद्यते । तस्मादसत्यालम्बनत्वमेव
शब्दप्रत्यययोरेष्टव्यमिति योजना ॥ चतुर्थं शिथिलयति । सञ्ज्ञेदिति ॥
पञ्चमं निराकरोति । यदीति ॥ षष्ठं प्रत्यादिशति । अथेत्यादिना ॥
पक्षां विकल्पानां निरासे फलितं निगमयति । अतो नेति ॥ क्रियाका-
रकफलनानात्वपक्षे अजजन्मानुपपत्तिदोषमुक्त्वा पक्षान्तरमनूद्य दूषयति ।
व्येपाम्पुनरिति ॥ बौद्धानां न्यायायष्टश्लोकेन वस्तु व्यवस्थापयतां कुतो
न्यायवाच्यत्वमित्याशङ्क्याह । इदमिति ॥ इदमा वस्तु परासृष्टम् ।
स्मृत्यमिति क्षणिकत्वं विवक्षितम् । एवमवधारणावच्छिन्ने क्षणे वस्तुव-
च्छेदकक्षणातिरिक्ते वस्तुनोऽवस्थानाभावान्न तस्मिन्ननुभवः सिध्यती-

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलञ्चापि स्वभावतः ।

आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥२३॥

किञ्च हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बला-
हेतुफलयोरजनैवाभ्युपगतं स्यात् कथम् अनादेरादिर-
हितात्फलाहेतुर्न जायते । न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाहेतो-
र्जन्मेष्यते त्वया फलञ्च । आदिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्व-
भावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते । तस्मा-
दनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजनैवाभ्युपग-
म्यते । यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य
आदिः पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते । कारणवत एव ह्यादि-
रभ्युपगम्यते नाकारणवतः ॥२३॥

त्वर्थः । न च तस्मिन्नुभूतेऽर्थे स्मृतिरुत्पद्यते । तथा च वस्तुनि प्रत्ययद्व-
यासिद्धौ व्यवहारासिद्धिरित्याह । ननु भूतस्येति ॥२२॥

वस्तुनो वस्तुतो जन्मराहित्ये हेत्वन्तरमाह । हेतुर्नैति ॥ ना-
नादेः फलाहेतुर्जायते । न हि फलस्यानादित्वे ततो हेतुजन्म युक्तं
सदा तज्जन्मप्रसङ्गादित्यर्थः । फलमपि न हेतोरनादेर्जायते दोष-
मास्यादित्याह । फलञ्चेति ॥ नापि स्वभावतो निमित्तमन्तरेण फल-
हेतुर्वी जायते । तत्र हेतुमाह । आदिरिति ॥ कारणरहितस्य
जन्मानुपलब्धिरित्यर्थः ॥ वस्तुनो वस्तुतो जन्माभावे हेत्वन्तरपरत्वं
श्लोकस्य सूचयति । किञ्चेति ॥ हेत्वन्तरमेव दर्शयितुं प्रथमं प्रतिज्ञां
करोति । हेत्विति ॥ फलाहेतुर्जायते ततश्च फलमित्यभ्युपगमात्
कथमजन्माभ्युपगमतमिति शृच्छति । कथमिति ॥ तत्वाद्यपादाच्चर-
योजनया परिहरति । अनादेरिति ॥ तदेवोपपादयति । न हीति ॥
फलं कार्यकारणसङ्घातः । हेतुर्धर्मादिः ॥ भगञ्चापीतिभागं विभ-

प्रज्ञप्तेः सन्निमित्तत्वमन्यथा द्वयनाश्रतः ।

उक्तस्यैवाऽर्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनरार्जपति ।
प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सन्निमित्तत्वम् ।
निमित्तं करणं विषय इत्येतस्य निमित्तत्वं सविषयत्वं
स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत्प्रतिजानीमहे । न हि निर्वि-
षया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात् । तस्याः सन्निमित्त-
त्वात् । अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहि-
तादिप्रत्ययवैचित्त्रप्रत्ययस्य नाश्रतः नाशोऽभावः प्रसज्यते-
त्यर्थः । न च प्रत्ययवैचित्त्रप्रत्ययस्य द्वयस्याभावोऽस्ति प्रत्यक्ष-
त्वात् अतः प्रत्ययवैचित्त्रप्रत्ययस्य द्वयस्य दर्शनात् । परेषां तन्त्रं

जते । फलञ्चेति ॥ अजाज्जायत इति नाभ्युपगम्यत इति सत्यन्तः ॥
स्वभावत इतिपदं योजयति । स्वभावत एवेति । फलितं निगमयति ।
तस्मादिति ॥ न हेतुफलयोर्जन्मवतोरनादित्वमभ्युपगन्तुं शक्यम् ।
अभ्युपगमे च जन्मैव तयोरकारास्मकं स्यादित्यर्थः । स्वभाववादनिरा-
करणं प्रतिज्ञातमुत्तराद्वाच्यमेव प्रतिपादयति । यस्मादिति ॥ २३ ॥

वस्तुनो वस्तुतो जन्मायोगादजं विज्ञानमात्रं तत्त्वमित्युक्तम् ।
इदानीं वाच्यार्थवादमुत्थापयति । प्रज्ञप्तेरिति ॥ ज्ञानस्य निर्विषयत्वे
प्रत्ययवैचित्त्रानुपपत्तिं प्रमाणयति । अन्यथेति ॥ अग्निदाहादिप्र-
युक्तदुःखोपलब्धानुपपत्तेश्चान्ति वाच्यार्थ इत्याह । संक्लेगस्येति ॥ परतन्त्रं
परकीयं शास्त्रं तस्यास्तित्वा तद्विषयस्य वाच्यार्थस्य विद्यमानतेति
यावत् ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । उक्तस्यैवेति ॥ वस्तुनो नास्ति
वस्तुतो जन्मेत्युक्तार्थस्तस्यैव दृढीकरणं पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां चिकीर्ष्यते
तथा पुनराक्षेपमुखेन वाच्यार्थवादिनां प्रस्थानमुत्थापयतीत्यर्थः ॥ ब्रह्मा-
क्षरूपभूतां प्रज्ञप्तिं प्रतिषेधति । शब्दादीति ॥ साकारवादं व्युद-

संक्षेपस्योपलब्धेऽप्यपरतन्त्रास्तिता मता ॥२४॥

परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रं तस्य परतन्त्राश्रयस्य वाह्यार्थस्य
ज्ञानव्यतिरिक्तस्याऽस्तिता मताऽभिप्रेता । न हि प्रज्ञप्तेः
प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिवाह्यालम्बनवैचित्र्य-
मन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं सम्भवति । स्फटिकस्यैव
नीलाद्युपाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः ।
इतश्च परतन्त्राश्रयस्य वाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता
संक्षेपशब्दं संक्षेपोदुःखमित्यर्थः । उपलभ्यते ह्यग्निदाहादि-
निमित्तं दुःखं यद्यग्न्यादिवाह्यं दारादिनिमित्तं विज्ञान-
व्यतिरिक्तं न स्यात् ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत
उपलभ्यते तु अतस्तेन अन्यामहे अस्ति वाह्योऽर्थ इति ।

स्यति । स्वात्मेति ॥ प्रज्ञप्तेर्विषयनिरपेक्षत्वान्न स्वातिरिक्तविषयतेत्या-
शङ्कग्राह । न हीति ॥ सनिमित्तत्वं सविषयत्वेन स्फुरणम् । तमेव
हेतुं द्वितीयपादयोजनया विप्रदयति । अन्यथेति ॥ प्रसङ्गस्येष्टत्वं
प्रत्याचष्टे । न चेति ॥ प्रत्ययवैचित्र्यानुपपत्तिप्रयुक्तं फलं चतुर्थपाद-
व्याख्यानेन कथयति । अत इति ॥ ननु प्रज्ञप्तेः स्वभावभेदेनैव वाह्या-
लम्बनं वैचित्र्यमन्तरेण स्वगतं वैचित्र्यं घटिष्यते तत्राह । न हीति ॥
औपाधिकं तर्हि प्रत्ययवैचित्र्यमित्याशङ्क्य वाह्यार्थव्यतिरिक्तोपाध्य-
नधिगमान्मेवमित्याह । स्फटिकस्येति ॥ तृतीयपादं हेतुन्तरपरत्वेनाव-
तारयति । इत्येति ॥ तस्योपलब्धिसुपपादयति । उपलभ्यते हीति ॥
तदुपलब्धेऽपि कृता वाह्यार्थसिद्धिरित्याशङ्कग्राह । यदीति । उप-
लब्धिरेव तर्हि दुःखस्य साभूदिति चेन्न । स्वानुभवविरोधादित्याह ।
उपलभ्यते त्विति ॥ विशिष्टदुःखोपलब्ध्यानुपपत्तिसिद्धं फलमाह ।
अत इति ॥ विज्ञानातिरिक्तवाह्यार्थोभावेऽपि लेशोपलब्धिरविरु-

प्रज्ञप्ते सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।

न हि विज्ञानमात्रे संक्षेपो युक्तः । अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः ॥२३॥

अत्रोच्यते वादस् एव प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्षेपोपलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया । स्थिरीभव तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुतस्तयात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र ब्रूहि किन्तु इति । उच्यते । निमित्तस्य प्रज्ञत्वालम्बनाभिमतस्य तव घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्याभिः कथं भूतदर्शनात् परमार्थदर्शनादित्येतत् । न हि घटो यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति । यथाऽखान्महिषः पटो वा तन्व्यतिरेकेण ।

इत्याशङ्क्याह । न हीति ॥ अन्यत्र दाहच्छेदादिव्यतिरिक्ते चन्दनपङ्कलेपादाविति यावत् ॥२४॥

द्वाभ्यामर्थान्तिभ्यां वाच्यार्थवादे प्रज्ञप्ते विज्ञानवादमुद्भावयति । प्रज्ञप्तेरिति ॥ अस्तु का नाम वस्तुव्यतिरित्याशङ्क्याह । निमित्तस्येति ॥ मतास्तरे प्राप्ते तन्निराकरणमुच्यते । विज्ञानवादिनेति । श्लोकस्य तात्पर्यमाह । अत्रेति ॥ तत्र पूर्वार्द्धे विभजते । वादमित्यादिना ॥ द्वैतिनस्तत्र तर्कप्रधानतान्न प्रतीतिमात्रगणना युक्तेति मत्वाह । स्थिरीभवेति ॥ वस्तुनो वाच्यस्यार्थस्य तथात्वं प्रज्ञप्तिविषयत्वं तस्याभ्युपगमे कारणं प्रागुक्तयुक्तिदर्शनमित्येतस्मिन्नर्थे त्वं स्थिरीभवेति योजना । विचारदृष्टिमेवावष्टभ्याहं वर्त्ते किंततो दूषणं ब्रूहीति पृच्छति । ब्रूहीति ॥ तत्रोत्तरार्द्धे सिद्धान्ती व्याकुर्वन्नुत्तरमाह । उच्यत इत्यादिना ॥ घटादेर्वैचित्र्याहेतुत्वे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह । कथमित्यादिना ॥ परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयति । न हीति ॥ तत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह ।

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

तन्तवश्चाशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोच्चरीभूतदर्शने आशब्द-
प्रत्ययनिरोधानैव निमित्तमुपलभमाह इत्यर्थः । अथवा
भूतदर्शनाद्वाच्यानिमित्तत्वमिष्यते । रज्ज्वादाविव
सर्पादेरित्यर्थः । भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमि-
त्तत्वं भवेत् । तदभावेऽभावात् । न हि सुषुप्तसमाहित-
सुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभावे आत्मव्यतिरिक्तो वाच्योऽर्थ-
उपलभ्यते । न ह्युन्मत्तावगतवस्त्वनुत्पत्तेरपि तथा भूतं
गम्यते एतेन द्वयदर्शनं संक्षेपोपलब्धिश्च प्रयुक्ता ॥ २५ ॥

यथेति ॥ घटे दर्शितं न्यायं पटेऽपि दर्शयति । पटो वेति ॥ तन्त-
वपि न्यायसायसुदाहरति । तन्तव इति । परमार्थदर्शनफलमुप-
संहरति । इत्येवमिति ॥ घटादीनां स्वकारणव्यतिरेकेणामताम् प्रत्यय-
वैचित्र्यहेतुत्वम् अतो घटादिप्रत्ययवत् प्रत्ययान्तराण्यपि प्रत्ययत्वावि-
शेषाद्वास्तवालम्बनवर्जितानि मन्तव्यानीत्यर्थः । भूतदर्शनं यौक्तिकं तत्त्व-
दर्शनं ततो निमित्तस्यानिमित्तत्वमिति व्याख्यातम् । इदानीमभूत-
दर्शनादिति पदच्छेदेन व्याख्यानान्तरमाह । अथ वेति ॥ यथा रज्ज्वा-
दावधिष्ठाने सर्पादेरारोपितस्य दर्शनात् तस्य वस्तुतो दर्शनं प्रत्या-
लम्बनत्वमिष्टम् । तथैवाधिष्ठानज्ञानापेक्षया परमार्थतो दर्शनाद्
वाच्यास्यार्थस्य ज्ञानमप्रत्यालम्बनत्वं वास्तवमभ्युपगन्तुमशक्यमित्यर्थः ।
किञ्च । विमतो वाच्यार्थो न तत्त्वतो ज्ञानं प्रत्यालम्बनं भ्रान्तिविषय-
त्वात् रज्ज्वां सर्पादिवदित्याह । भ्रान्तीति ॥ हेतुं साधयति । तदभाव-
इति ॥ भ्रान्त्यभावे वाच्यार्थो न भातीत्युक्तं हेतुं प्रपञ्चयति । न हीति ॥
देहाभिमानवतो वाच्यार्थप्रतिभानभ्रौव्यादहैतदर्शनोऽपि तत्प्रतिभा-
नमप्रत्यहं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह । न ह्युन्मत्तेति ॥ वाच्यार्थसमर्थनार्थ-

चित्तं न स्पृश्यत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।

अभूतो हि यतस्त्वार्यो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥२६॥

यस्यान्नास्ति बाह्यं निमित्तम् अतश्चित्तं न स्पृश्यत्यर्थं
वाह्यालम्बनविषयम् । नार्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत् ।
अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दादर्थो
यत उक्तहेतुत्वाच्च नार्थाभासश्चित्तात्पृथक् चित्तमेव हि
घटादर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ॥२६॥

मुक्तमर्थापत्तिद्वयं कथं निरसनीयमित्याह । एतेनेति ॥ तत्त्वदर्शिनं
स्फुरणातिरिक्तवस्वनुपलम्भपददर्शनेन वैचित्र्यदर्शनं दुःखोपलब्धिश्च
प्रत्युक्ता । तेनानुपपद्यमानार्थापत्तिद्वयस्यानुत्थानम् । व्यवहारदृष्ट्या
तु पूर्वम्भ्रमसमारोपितस्वप्नवदेव संवेदने वैचित्र्यं दुःखं व्यवहाराङ्ग-
मित्यन्यथाप्युपपत्तिरित्यर्थः ॥२५॥

ज्ञानस्य सालम्बनत्वप्रसिद्धेस्तत्त्वदृष्ट्या ज्ञेयाभावे ज्ञानमपि न
स्यादित्याशङ्क्याह । चित्तमिति ॥ न हि स्फुरणं सकर्मकं तस्य
सकर्मकत्वप्रसिद्धाभावात् । जानातेस्तु सकर्मकत्वं क्रियाफलत्वकल्प-
नयां स्वीकृतमिति भावः । चित्तस्यार्थस्पर्शित्वाभावेऽपि तदाभास-
स्पर्शित्वं स्यादित्याशङ्क्याह । नार्थेति ॥ तत्र हेतुमाह । अभूत इति ॥
प्रथयपादं व्याचष्टे । यस्यादिति ॥ विमतं चित्तमर्थाभासमपि न स्पृश्येति
चित्तत्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति द्वितीयं पादं विभजते । नापीति ॥ न
हि दृष्टान्ते तस्यार्थाभासस्पर्शित्वं तस्यैव तदात्मना भानादित्यर्थः ॥
तृतीयपादं व्याकरोति । अभूतो हीति ॥ विमतोऽर्थः सन्न भवति
अर्थत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्यनुमानाच्च ज्ञानस्यालम्बनमित्यर्थः ॥ विम-
तोऽर्थः स्वविषयज्ञानजनको न भवति भ्रान्तिविषयत्वात् सम्प्रतिपन्न-
वदित्युक्तमनुमानं स्मारयति । उक्तेति ॥ अर्थजन्यत्वाभावे विज्ञान-
स्यार्थाभासजन्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य चतुर्थपादार्थमाह । नापीति ॥२६॥

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृश्यत्वध्वसु लिपु ।

अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥२७॥

ननु विपर्यासस्तर्हि असति घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य तथा च सत्यविपर्यासः क्वचिद्वक्तव्य इति । अतोच्यते । निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न स्पृशेदेव हि । यदि हि क्वचित्संस्पृशेत्तोऽविपर्यासः परमार्थत इति । अतस्तदपेक्षयाऽसति घटे घटाभासता विपर्यासः स्यात् न तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम् । तस्मादनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति न कथञ्चिद्विपर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः । अयमेव हि स्वभावचित्तस्य । यदुतासति निमित्ते घटादौ तद्वदवभासनम् ॥२७॥

ज्ञानस्य सालम्बनत्वाभावे तस्य तथात्वप्रथा भ्रान्तिर्भवेत् । भ्रान्तिश्चाभ्रान्तिप्रतियोगिनीत्यन्यथाख्यातिमतभाण्डूग्राह । निमित्तमिति ॥ कालत्वयेऽपि ज्ञानस्य वस्तुतोऽर्थस्पर्शत्वाभावे तदासनाभावात् तज्ज्ञान्या नान्यथा ख्यातिः सिद्धप्रति । भ्रान्तिस्तु विधान्तरेणापि भविष्यतीत्याह । अनिमित्त इति ॥ श्लोकव्यावर्त्तभाण्डूगं दर्शयति । नन्विति ॥ यदि घटादिवाह्योऽर्थो न गृह्यते तर्हि तस्मिन्नसत्त्वे तदाभासत्वाज्ज्ञानस्य विपर्यासः । अतस्सालम्बद्वेष्टेयत्वात् । विपर्यासे च स्मृतते क्वचिदप्यविपर्यासो वक्तव्यः । भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वत्वस्यान्यथा ख्यातिवादभिरिष्टत्वादित्यर्थः । तत्र पूर्वार्द्धयोजनया परिहरति । अत्रेति ॥ उक्तमेवार्थमुत्तरार्द्धयोजनार्थं साधयति । यदेति ॥ अभ्रान्तेरभावादसम्भवे भ्रान्तेरसति घटादौ घटाद्याभासता ज्ञानस्य कथं निर्वहतीत्याण्डूग्राह । अयमेवेति ॥ स्वभावशब्देना-

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।

प्रज्ञतेः सनिमित्तत्वमित्याद्येतदन्तं विज्ञानवादिनो
बौद्धस्य वचनं वाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरमाचार्येणा-
नुमोदितम् । तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय तदिदमु-
च्यते तस्मादित्यादि । यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता
चित्तस्य विज्ञानवादिनाऽभ्युपगता तदनुमोदितमस्माभि-
रपि भूतदर्शनात् तस्मात्तस्यापि चित्तस्य ज्ञायमानाव-
भासताऽसत्येव जन्मानि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते
चित्तम् । यथा चित्तदृश्यं न जायते अतस्तस्य चित्तस्य ये
जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकदुःखत्वशून्यत्वा-
नालत्वादि च । तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं दृष्टुमशक्यं
पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पख्यादीनाम् । अत इतरे-

विद्योच्यते । न हि भ्रान्तिरभ्रान्तिपूर्विकेति नियमः । सविषयाणां
भूमाणासविद्यात्वाभ्युपगमादित्यर्थः ॥२७॥

वाह्यार्थवादिपक्षमेवं विज्ञानवादिमुखेन प्रतिक्षिप्य विज्ञानवाद-
मिदानीमपवादति । तस्मादिति ॥ प्रतिक्षणं विज्ञानस्य जन्म दृश्यते
विज्ञानवादिभिरित्याशङ्क्याह । तस्येति ॥ वृत्तसङ्गीर्त्तनपूर्वकं श्लो-
कस्य तात्पर्यमाह । पक्षगौरिति ॥ तच्च वाह्यार्थवादिनो वाह्योऽर्थो
वज्ञानवदस्तीति पक्षप्रतिषेधसु खेनाप्रवृत्तं तत्पुनराचार्येण भवत्येव-
मित्यभ्यनुज्ञातम् ॥ वाह्यार्थवाददूषणस्य स्वमतेऽपि सम्मतत्वादित्याह ।
वाह्योऽर्थे इति ॥ वाह्यार्थवाददूषणानुसोदनप्रयोजनमाह । तदेवेति ॥
असत्येव घटादौ घटाद्याभासत्वं विज्ञानस्य यदुक्तं तदेव हेतुत्वेनोपादाय
विज्ञानवादिप्रतिषेधार्थं वाह्यार्थपक्षदूषणमनुमोदितमित्यर्थः ॥ सम्प्रति
विज्ञानवादमवतारयति । तदिदमिति ॥ तस्मादित्यादि व्याचष्टे ।

तस्य पश्यन्ति ये जातिं खेवैपश्यन्ति ते पदम् ॥२८॥

अजातं जायते तस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।

भ्योऽपि हैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः । येऽपि शून्य-
वादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां
प्रतिजानते ते ततोऽपि साहसिकतराः खं सुष्टिनाऽपि
जिघृक्षन्ति ॥२८॥

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धं यत्पुनरादौ प्रति-

यस्मादिति ॥ भूतदर्शनात् घटादेर्घटादिमात्रं भूतं वस्तुतत्त्वं तस्यापि
वज्रप्रमात्रं तत्त्वं तस्य शास्त्रतो दर्शनादिति यावत् ॥ द्वितीयपादं
दृष्टान्तत्वेन विभजते । यद्येति ॥ विमतं विज्ञानजन्म न तात्त्विकं
दृश्यत्वाच्चीलपीतादिवदित्यर्थः ॥ विपक्षे दोषमाह । अत इति ॥
तत्त्वतो विज्ञानस्य जन्मयोगादये तस्य तात्त्विकं जन्म पश्यन्ति ते
पक्ष्यादीनां खेऽपि पदं पश्यन्तीत्यन्वयः । अनात्मत्वादिशब्देनान्योन्य-
विलक्षणत्वमन्योन्यसादृश्यञ्च गृह्यते ॥ तत्र हेतुं सूचयति । तेनै-
वेति ॥ स्वदृष्टेरनुपपत्तेस्तद्दृश्यतामन्तरेण च तद्वत्सादृश्यतासम्भवा-
दित्यर्थः ॥ विज्ञानवादे फलितं विशेषं दर्शयति । अत इति ॥ शून्य-
वादिनं प्रति विशेषं कथयति । येऽपीति ॥ पश्यन्त एवेत्यविवृद्धि-
प्रपत्ता द्योत्यते । दृग्बलादेव सर्वभावाः सिध्यति । दृग्भाववस्तु
कथं सिद्धेयम् । न च तावत् दृगेव तदभावं साधयेत् । तयोरेककाल-
त्वानुपपत्तेरित्यर्थः । किञ्च सर्वशून्यतां वदन्तः शून्यतादर्शनस्य
स्वात्मदर्शनस्य च शून्यतां वदन्ति ॥ तथा च स्वपक्षाभिद्विरित्यभिप्रे-
त्याह । स्वदर्शनस्येति ॥ ततोऽपीति विज्ञानवादिभ्योऽपीत्यर्थः ॥२८॥

यदि विज्ञानस्य वाच्यालम्बनत्वं जणिकत्वं शून्यत्वञ्च न सम्भवति
किन्तिर्हि तत्त्वमेकद्वयं भवतोल्याशङ्क्याह । अजातमिति ॥ तस्यास्य

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥२६॥

अनादेरन्तवत्त्वञ्च संसारस्य न सेत्स्यति ।

ज्ञातं तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः । अजातं यच्चित्तं
ब्रह्मैव जायते इति वादिभिः परिकल्प्यते तदजातं जायते
यस्मादजातिः प्रकृतिस्य ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृ-
तेरन्यथाभावो जन्म न कथञ्चिद्भविष्यति ॥२६॥

अयञ्चापर आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसङ्गाववा-
दिनां दोष उच्यते । अनादेरतीतकोटिरहितस्य संसार-
स्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति ।
न ह्यनादिः सन्नन्तवान् कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके । योजा-
ङ्कुरसम्बन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत् । न । एकवस्त्व-

प्रकृतेरन्यथात्वं पुरस्तादेव निरस्तमित्याह । प्रकृतेरिति ॥ श्लोकस्य
तात्पर्यमाह । उक्तैरिति ॥ कूटस्थमद्वितीयं ब्रह्मेति यत्पूर्ववत् प्रति-
ज्ञातं तज्जन्मनो दुर्निरूपत्वादुक्तहेतुभिः सिद्धम् ॥ तस्यैव सिद्धस्यार्थस्य
फलमुपसंहर्तुमेव श्लोक इत्यर्थः ॥ पूर्वार्द्धं योजयति । अजातमिति ॥
यदि चित्तस्फुरणमजातमभीष्टं तर्हि तदब्रह्मैव तस्य कौटस्थैकस्या-
भावात्तत्पुनर्वस्तुतो न जातमेव मायया जन्मवदिति कल्प्यते चेत्तस्या-
जातिरेवाजातत्वात्मकतिर्भवतीत्यर्थः ॥ द्वितीयार्द्धं योजयति । अजात-
रूपाया इति ॥ तस्यास्तेदन्यथात्वं स्वरूपहानिरापतेदित्यर्थः ॥२६॥

कूटस्थं तत्त्वं तात्त्विकमित्यत्र हेतुन्तरमाह । अनादेरिति ॥
विमतः संसारो नान्तवान् अनादिभावत्वादात्मवदित्यर्थः । किञ्च
माक्षोऽनन्तो न भावत्वे सत्यादिमत्त्वाद् घटवदित्याह । अनन्तेति ॥
श्लोकस्य तात्पर्यमाह । अयञ्चेति ॥ तत्र पूर्वार्द्धं व्याकरोति । अना-
देरिति ॥ अतीतकोटिरहितस्य पूर्वं नासीदित्यवच्छेदवर्जितस्येत्यर्थः ॥

अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥३०॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा ।

वितथेः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥३१॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।

तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥३२॥

भावेनापोदितत्वात् । तथाऽनन्तताऽपि विज्ञानप्राप्तिकाल-
प्रभवस्य मोक्षस्यादिमतो न भविष्यति । घटादिष्वदर्श-
नात् । घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत् । तथा
च मोक्षस्य परमार्थसङ्गावप्रतिज्ञाहानिः । असत्त्वादेव
शशविषाणस्येवादिमत्त्वाभावश्च ॥३०॥

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ लोकाविह संसारमोक्षाभाव-
प्रसङ्गेन पठितौ ॥३१॥३२॥

योऽनादिभावः सोऽनन्तवान्नेति व्याप्तिरात्मनि व्यक्तेत्याह । न हीति ॥
बीजाङ्कुरयोर्हेतुफलभावेन सत्त्वस्वस्तस्य नैरन्तर्यं सन्तानस्तस्यानादि-
भावत्वेऽपि विच्छेदस्यान्तस्य दृष्टत्वादनैकान्तिकतेति शङ्कते । बीजेति ।
भावत्वविशेष्यांशस्य तत्तावत्तनान्न व्यभिचारशङ्केति दूषयति । नैकेति ॥
द्वितीयाङ्गं व्याचष्टे । तथेति ॥ यत्नादिमत्त्वं तत्र नानन्तत्वमिति
व्याप्तिभूमिमाह । घटादिष्विति ॥ यथा कृतकोऽपि घटादिष्वंसो
नित्यस्तथा वस्तुष्वंसोऽपि भविष्यतीत्यनैकान्तिकत्वमाशङ्कते । घटा-
दीति ॥ मोक्षस्याभावत्वे सति परमार्थसत्त्वप्रतिज्ञा भङ्ग्येतेति दूषयति ।
तथा चेति ॥ किञ्च प्रागुक्तः सत्ता समवायरूपं कार्यत्वं तदपि
मोक्षस्यासत्त्वे न सिद्धातीत्याह । असत्त्वादेवेति ॥३०॥

अस्तु तर्हि मोक्षस्याद्यन्तवत्त्वं तत्राह । आदाविति ॥ यटि-
त्यूषरोदकादि गृह्यते तथा वस्तुतो नास्त्येवेति यावत् । वितथेस्तेरेव

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायास्यान्तर्निदर्शनात् ।
 संवृत्तेऽस्मिन् प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥३३॥
 न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाङ्गतौ ।

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्यस्यैः
 प्रपञ्च्यते एतैः श्लोकैः ॥३३॥

जागरिते गत्यागमनकालौ नियतौ देशः प्रमाणतो

मरीच्युदकादिभिः सादृश्यमाद्यन्तवत्त्वम् । विमता मोक्षादयो न
 परमार्थसन्तो भवितुमर्हन्ति आद्यन्तवत्त्वान्मरीच्युदकादिवदित्यर्थः ॥
 कथं तर्हि मोक्षादीनामपि तथात्वप्रयेत्याशङ्क्याह । अविद्यया इति ॥
 लक्षिता मूढेरविचारकैरिति शेषः । ऊपरोदकादीनां स्नानपानादि-
 प्रयोजनानुपलब्धभान्नोक्षसर्गादीनान्त सुखादिप्राप्तिप्रयोजनप्रतिल-
 भान्न मोक्षादिवैतथ्यमित्याशङ्क्याह । सप्रयोजनतेति ॥ तेषां मोक्षा-
 दीनामिति यावत् । पुनरुक्तिशङ्कां वारयति । वैतथ्य इति ॥३१॥३२॥

किञ्च येन हेतुना स्वप्नस्य मिथ्यात्वमिष्टं तस्य जागरितेऽपि
 तत्त्वत्वाज्जन्मादिरहितं संविन्मात्रं तत्त्वमेष्टव्यमिति विवक्षित्वाह ।
 सर्व्वेति ॥ यदि देहान्तर्द्दर्शनेनान्मिथ्यात्वं सप्रस्येष्टं तर्हि वैराजदेहे
 सर्व्वस्य जागरितस्य दर्शनात् मिथ्यात्वं दुर्व्वारमित्यर्थः । किञ्च योग्य-
 देशवैधुर्यान्मिथ्यात्वं स्वप्नस्य यद्यभोष्टं तर्हि संवृत्ते प्रदेशे प्रत्यग्भूते
 ब्रह्मण्यखण्डैकरसे भूतानां विद्यमानानां दर्शनं न कुतोऽपि स्यात्
 ब्रह्मणोऽनवकाशत्वादित्याह । संवृत इति ॥ अवतारितश्लोकस-
 हितानामुत्तरश्लोकानां जात्याभासमित्यस्मात्प्राक्तनानां तात्पर्यमाह ।
 निमित्तस्येति ॥३३॥

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति । न युक्तमित्यादिना ॥ स्वप्न देशान्तरगतौ
 नियतकालाभावाच्च गत्वा दर्शनमिष्टं तथा मरणादूर्ध्वमर्चिरादिमार्गेण
 गत्वा ब्रह्मदर्शनमयुक्तं कालानवच्छिन्नत्वादित्यर्थः । किञ्च यद्देशस्थः

वतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते ॥३४॥
 मिताद्यैः सह सम्मन्त्र्य सम्बुद्धो न प्रपद्यते ।
 गृहीतञ्चापियत्किञ्चित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३५॥

यस्तस्यानियमात् नियमस्याभावात् स्वप्ने न देशान्तर-
 गमनमित्यर्थः ॥३४॥

मिताद्यैः सह सम्मन्त्र्य तदेव मन्त्रं प्रतिबुद्धो न प्रप-
 द्यते । गृहीतञ्च यत्किञ्चित् हिरण्यादि न प्राप्नोति ।
 गतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥३५॥

स्वप्ने पश्यति प्रतिबुद्धस्तस्मिन्देशे नास्तीति मिथ्यात्वमपीदम् । यथा
 यस्मिन्देशे स्थितः संसारमनुभवति ब्रह्मभावं प्रतिपन्नस्तस्मिन्देशे नास्ति
 परिपूर्णब्रह्मरूपेणावस्थानादतो जागरितस्यापि मिथ्यात्वमेष्टव्यमि-
 त्याह । प्रतिबुद्धश्चेति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यार्थं कथयति । जागरित
 इति ॥३४॥

किञ्च यथा स्वप्ने विसंवादादप्रामाण्यमिदं तथा जागरितेऽपि
 परं श्रेयोऽस्माभिः साधनीयमिति स ब्रह्मवादिभिः सह समालोच्या-
 विद्यानिद्रातः प्रतिबुद्धो नैव श्रेयःसाध्यत्वमालोचितं प्रतिपद्यते ।
 सर्वस्य नित्यमुक्तत्वनिश्चयात् । अतो मुमुक्षुत्वं श्रवणादिकर्तव्यता च
 आन्यैवेत्याह । मिताद्यैरिति ॥ किञ्च स्वप्नवदेव गृहीतमुपदेशादि
 विद्वान्न पश्यति, तत्साध्यफलाभावादित्याह । गृहीतञ्चेति ॥ अथवा
 लोकदृष्ट्या यत्किञ्चिद्गृहीतं वस्तान्नोदकादि तद्विद्वान्नैव किञ्चित्करो-
 मीति प्रतिबुद्धो अन्यप्रत्ययबाधान्न स्वसम्बन्धित्वेनाधिगच्छति । तेन
 तदाभासमात्रमेवेत्याह । मिताद्यैरित्यादिना ॥ उक्तमर्थं विवक्षित्वा
 श्लोकाचराणि योजयति । गृहीतञ्चेति ॥३५॥

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥३६॥
ग्रहणाज्जागरितवत्तद्देतुः स्वप्न इष्यते ।

स्वप्ने च अटन् दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततो
ऽन्यस्य स्वापादेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात् । यथा
स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वंचित्तदृश्यमवस्तुकं जागरि-
तेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः । स्वप्नसमत्वादसज्जागरितम-
पीति प्रकरणार्थः ॥३६॥

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनो जागरितवज्जागरितस्यैव
ग्रहणाद् ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य
स्वप्नसद्देतुर्जागरितकार्यमिष्यते । तद्देतुत्वाज्जागरित-
कार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम् ।

किञ्च स्वप्नावस्थायां येन देहेन नद्यादिषु पर्यटति स मिथ्या
पृथग्भूतस्य निश्चलस्य दर्शनात् । तथा जागरिते यो न परिव्राज-
कादिशरीरेण लोकस्य पूज्यो हेत्यो वा दृश्यते स मिथ्या कथ्यते ।
पृथगेत कूटस्थब्रह्माख्यशरीरस्यानुभवादित्याह । स्वप्न चेति ॥ किञ्च यथा
स्वप्ने देहो मिथ्या तथा चित्तदृश्यं जडं सर्वमवस्तुकं मिथ्याभूतमेपि-
तव्यमित्याह । यथेति ॥ पञ्चार्द्धगतान्यक्षराणि योजयति । स्वप्ने
इति ॥ उत्तरार्द्धगतानि व्याकरोति । यथेत्यादिना ॥ प्रकरणार्थमुप-
संहरति । स्वप्नेति ॥३६॥

यथा जागरितं तथा स्वप्नो गृह्यते । तथा स्वप्नस्य जागरित-
कार्यत्वादाः स्वप्नदृश तस्यैव जागरितं सदिति स्वप्नवत्तन्निष्ठात्वमि-
त्याह । ग्रहणादिति ॥ किञ्च जागरितस्य विद्यमानत्वमनेकसाधा-
रणत्वं वस्तुनो नास्ति स्वप्नकारणत्वात् किन्तु तथा भासमानत्वमित्याह ।

तद्देतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥३७॥

उत्पादस्याप्रतिसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।

न च भूतादभूतस्य सम्भवोऽस्ति कथञ्चन ॥३८॥

यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः । यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव सन् साधारणविद्यमानवस्तुवदभासते तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासनं न तु साधारणं विद्यमानवस्तु स्वप्नवदेत्यभिप्रायः ॥३७॥

ननु स्वप्नकारणत्वे जागरितवस्तुनो न स्वप्नवदवस्तुत्वम् । अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितस्तु स्थिरं लक्ष्यते । सत्यमेवाविवेकिनां स्यात् विवेकिनान्तु न कस्यचित् वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽतोऽप्रसिद्धत्वादुत्पादस्यात्त्रैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु सर्वाध्यास्यन्तरो ह्यज इति । यदपि

तद्देतुत्वादिति ॥ जागरितस्य वस्तुतोऽसत्त्वे हेतुन्तरपरत्वं श्लोकस्य दर्शयति । इतश्चेति ॥ इतःगद्गार्धमेव स्फोरयन् पूर्वाङ्गं योजयति । जागरितवदिति ॥ उत्तराङ्गं योजयति । तद्देतुत्वादिति ॥ सति प्रमातरि बाध्यत्वं स्वप्नस्य मिथ्यात्वं जागरितस्य पुनस्तदनुपलम्भात् परमार्थतः सत्त्वम् । कार्यस्य मिथ्यात्वे कारणस्यापि मिथ्यात्वमिति मानाभावात् ॥ न हि सर्वसाधारणं विद्यमानञ्च जागरितं मिथ्या भवितुं युक्तमित्याशङ्क्याह यथेत्यादिना ॥ ३७ ॥

कार्यकारणभावेऽपि स्वप्नजागरितयोर्न मिथ्यात्वमविशिष्टमत्यन्तवैषम्यादित्याशङ्क्याह । उत्पादस्येति ॥ यत् कार्यकारणत्वं सत्यासत्ययोरेव स्वप्नजागरितयोरित्युक्तं तत् दुरुक्तमित्याह । न चेति ॥ श्लोकत्रयावर्त्यामाशङ्क्यामाह । नन्विति ॥ किमिदं वैलक्षण्यमविवेकिनं

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।

मन्त्रसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत् । न
भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः सम्भवोऽस्ति लोके । न ह्यसतः
शशविषाणादेः सम्भवोः दृष्टः कथञ्चिदपि ॥ ३८ ॥

ननु उक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरितकार्यमिति तत्कथं-
मुत्पादो प्रसिद्ध इत्युच्यते । यत्तु तत्र यथा कार्यका-
रणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति असद्विद्यमानं रज्जुसर्प-
वद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्त्वयः
स्वप्ने जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण विकल्पयन् पश्यति

प्रतिभाति किंवा विवेकिनामिति विकल्पेग्राह्यमङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥
द्वितीयं प्रत्याह । विवेकिनास्त्विति ॥ द्वितीयभागमाकाङ्क्षाद्वारा विभ-
जते । वदमीत्यादिना ॥ सम्भवो नासतोऽस्तीत्येतत् दृष्टान्तेन साधयति ।
न हीति ॥ कथञ्चिदपि सतोऽमतो वेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

यदुक्तमुत्पादस्याप्रसिद्धत्वं तदुक्तम् । स्वप्नजागरितयोस्त्वकार्य-
कारणत्वाङ्गीकरणादित्याशङ्क्याह । असदिति ॥ जागरिते दृष्टस्य
स्वप्ने दर्शनात् ॥ जागरितस्य स्वप्नमिति कारणत्वं चेत्तर्हि स्वप्ने दृष्टस्य
जागरितेऽपि दर्शनान्तस्य जागरितमिति कारणत्वं किं न स्यादित्या-
शङ्क्याह । असत्स्वप्नेऽपीति ॥ श्लोकव्यावर्त्याभाशङ्कामुत्थापयति ।
नन्विति ॥ पूर्वापरविरोधे चोदिते परिहारे कथ्यमाने मनःसमाधानं
प्रार्थयते । शृण्विति ॥ तमेव प्रकारं प्रकटयन्नचराणि योजयति ।
असदिति ॥ तुच्छत्वं व्यवच्छिन्नं । रज्ज्विति ॥ दर्शनस्याभासत्वं
सूचयति । विकल्पितमिति ॥ यथा जाग्रद्दृष्टस्य विशेषस्य स्वप्ने
दर्शनाज्जागरितवासनाधीनः स्वप्नो जागरितकार्यत्वेन व्यवहियते तथा
स्वप्ने दृष्टस्य जागरितेऽपि दर्शनान्तकार्यत्वं जागरितस्य प्राप्तमित्या-
शङ्क्य द्वितीयाहं व्याचष्टे । तथेति ॥ यत्तु स्वप्नजागरितयोरुक्तं कार्य-

असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३६॥
नास्त्यसङ्घेतुकमसत् सदसङ्घेतुकन्तथा ।

तथा सत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति अवि-
कल्पयन् च शब्दात् । तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने
न पश्यति कदाचिदित्यर्थः । तस्माज्जागरितं स्वप्ने हेतु-
रुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा ॥३६॥

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्य-
कारणभाव उपपद्यते कथं नास्त्यसङ्घेतुकमसच्छशविषा-
णादि हेतुः कारणं यस्यासत् एव खपुष्पादेस्तदसङ्घेतुक-
मसन्नं विद्यते । यथा सदपि घटादिवस्तु । असङ्घेतुकं शश-
विषाणादिकार्यं नास्ति । तथा सच्च विद्यमानं घटादि-

कारणत्वं तदपि न नियतमिति निपातार्थं कथयति । चशब्दादिति ॥
तस्मात्प्रायशः स्वप्नस्य जाग्रद्विषयानाधीनत्वादिति यावत् ॥ जागरि-
तस्य परमार्थसत्त्वात्कार्यस्य स्वप्नस्यापि तादात्म्यात्तथात्वं विव-
क्षित्वा कार्यकारणत्वप्रथा कथं न भवतीति व्यावर्त्य कथयति । न
त्विति ॥३६॥

व्यवहारदृष्ट्या कार्यकारणत्वं स्वप्नजागरितयोरुक्तम् । तत्त्व-
दृष्ट्या त्वप्रतिपिद्वमेव क्वचिदपि कार्यकारणत्वमिति वदन् वस्तुनो
ऽज्ञानादवस्त्वेव कार्यं भवतीति मतं व्यावर्त्तयति । नास्तीति ॥ शून्य-
वादिनस्तु सदेव कार्यं जायते शून्यत्वादिति मन्यन्ते तान् प्रत्याह ।
सदिति ॥ तद्येत्यनेन नास्तीत्येतदनुकथ्यते । साङ्ख्येयस्तु कार्यका-
रणयोर्द्वयोरपि सत्त्वं सङ्घिरते तान् प्रयुक्तम् । सचेति ॥ सद्व्रक्ष्य
कारणं मिथ्याप्रपञ्चसृष्टेरित्येके वर्णयन्ति तान्निराचष्टे । सङ्घेतुक-
मिति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यं नाह । परमार्थतस्त्विति ॥ प्रसिद्धं कार्य-

सच्च सङ्केतकं नास्ति सङ्केतकमसत्कुतः ॥४०॥

विपर्ययासाद्यथा जाग्रदाचिन्त्यान् भूतवत् स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्ययासाङ्गस्यांस्तदैव पश्यति ॥४१॥

वस्त्वन्तरकार्यं नास्ति । सत्कार्यमसत्कुत एव सम्भवति । न
चान्यः कार्यकारणभावः सम्भवति शक्यो वा कल्पयितुम् ।
अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदि-
त्यभिप्रायः ॥४०॥

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरसतोरपि कार्यकारणभावाश-
ङ्कामपनयन्नाह । विपर्ययासादिविवेकतो यथा जाग्रज्जा-
गरितेऽचिन्त्यान् भावान् शक्यचिन्तनीयान् रज्जुसर्पादीन्
भूतत्ववत्परमार्थवत्स्पृशेत् स्पृशन्निव विकल्पयेदित्यर्थः ।
कश्चिद्यथा तथा स्वप्ने विपर्ययासाङ्गस्यादीन् पश्यन्निव
विकल्पयति तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्यमाना-
नित्यर्थः ॥४१॥

कारणत्वं यथा कथा च प्रक्रियया प्रतिपादयितुमुचितम् अन्यथा प्रसिद्ध-
प्रकोपादित्यादिज्ञपति । कथमिति ॥ अनिर्व्याच्यं मायामयं कार्य-
कारणत्वं प्रतीतिमात्रसिद्धनयौक्तिरुक्तमधिलक्ष्य प्रसिद्धिरविरुद्धेत्यभिसन्वा-
याद्यं पादं विभजते । नास्तीत्यादिना ॥ द्वितीयं पादं व्याचष्टे । तथे-
त्यादिना ॥ तृतीयं पादं व्याकरोति । तथा सङ्केति ॥ चतुर्थपादार्थ-
माह । असदिति ॥ अस्तु तर्हि प्रकारान्तरेण कार्यकारणभाव इत्या-
शङ्क्य योग्यानुपलब्धिविरुद्धत्वान्नैवमित्याह । न चेति ॥४०॥

स्वप्नजागरितयोर्वस्तुतो नास्ति कार्यकारणत्वमित्यत्रैव हेतुन्तर-
माह । विपर्ययासादिति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । पुनरपीति ॥
अक्षरार्थं कथयति । विपर्ययासादित्यादिना ॥ कश्चिदित्यस्य पूर्वार्थेण

उपलम्भात् समाचारादस्ति वस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्वसतां सदा ॥४२॥

यापि बुद्धैरहैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा । उप-
लम्भनमुपलम्भस्तस्यादुपलब्धेरित्यर्थः । समाचाराद्वर्णाश्र-
मादिधर्म्मसमाचाराणाञ्चाभ्यां हेतुभ्यामस्ति वस्तुत्ववादिना-
मस्ति वस्तुभाव इत्येवं वदनशीलानां दृढग्राहवतां अद्व-
धानानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः
तां गृह्णन्तु तावत् । वेदान्ताभ्यामिनान्तु स्वयमेवाजाद्वया-
त्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या । ते हि
ओतियाः । स्थूलबुद्धित्वादजातेः । अजातिवस्तुनः सदा
तस्यन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः ॥४२॥

क्रियापदेन सम्बन्धः । दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह । यथेत्या-
दिना ॥४१॥

तत्त्वदृष्ट्या कार्यकारणत्वस्याप्रसिद्धत्वे कथं जन्मादिस्त्वप्रमुखैः
स्त्वैर्जगत्कारणं ब्रह्म स्त्वितमित्याशङ्कग्राह । उपलम्भादिति ॥
अविवेकिनां विवेकोपायत्वेन कार्यकारणत्वमुपेत्य स्त्वकारप्रवृत्तिरि-
त्यर्थः ॥ श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे । यापीत्यादिना ॥ अस्ति वस्तुभावो
हेतुस्येति शेषः । कार्यकारणभावमुपेत्य जन्मोपदिष्टतामहेतवादिनां
मन्दविवेकिषु विवेकदाढ्योपायत्वेन कथं तदुपदेशः स्यादित्याशङ्कग्राह ।
तामिति ॥ यदा ब्रह्माणः सकाशादशेषं जगद्भवतीत्युपेतं तदा
तदतिरेकेण जगतो अभावात् ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चितम् । तद्विष-
येषु च वेदान्तेषु पौर्वापर्येणालोचितेषु तदभ्यामिनां तेषां तदभ्याम-
प्रसादादेव ब्रूतस्याद्वितीयवस्तुविवेकदाढ्यं सेतुस्यतीत्यभिप्रेत्याहैत-
वादिभिर्जातिरूपदिष्टा न तु हेतस्य स्मृतितो न्यायतश्च निरूपयितुमश-

अजातेस्त्वसतान्तेषासुपलम्भाद्वियन्ति ये ।

जातिदोषा न सेत्स्यन्तिदोषोऽप्यल्पोभविष्यति॥४३॥

उपलम्भात् समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।

उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम् । ये चैवमुपलम्भात् समाचाराच्चाऽजातेरजातिवस्तुनस्त्वसन्तो ऽस्ति वस्तित्व-
द्वयात्मनो वियन्ति विरुद्धं यान्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।
तेषामजातेस्त्वसतां अदधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जाति-
दोषा जात्युपलम्भकता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं
नोपयास्यन्ति । विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात् । यद्यपि कचिदोषः
स्यात् सोऽप्यल्प एव भविष्यति । सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक
इत्यर्थः ॥४३॥

ननूपलम्भसमाचारयोः प्रमाणत्वादस्तेष्व द्वैतं वस्त्विति ।

कस्य परमार्थत्वं गृहीत्वा जातिरूपदिष्टेत्यजातिरेव पारमार्थिकी-
त्यर्थः ॥ चतुर्थपादार्थमाह । ते हीति ॥४२॥

तेषां विवेकोपायत्वेन जातिरूपदिष्टेत्यलोपक्रममनुब्रूयति ।
उपाय इति ॥ उदरमन्तरङ्गकृते षष्ठ्य तस्य भयं भवतीत्यादिश्रुतिभ्यः ।
ब्रह्माणि विकारदर्शिनां भयप्राप्तिः श्रूयते । तथा च ओतिवाणा-
मपि भेददर्शनान्मानुगृह्यतेत्याशङ्क्याह । अजातेरिति ॥ न हि कल्याण-
कल्कश्चिद्वर्गतिं तात गच्छतीति स्मृतेस्तेषामात्मनिकपतनाभावेऽपि
निन्दानूपपत्त्या कश्चिदेव लेशः सम्भवतीत्याशङ्क्य सम्यग्दर्शनाप्राप्ति-
प्रयुक्तं गभेवासादिदोषमभ्यनुजानाति । दोषोऽपीति ॥ अन्वयमा-
दर्शयन् पादत्रयगतान्यक्षराणि योजयति । ये चेत्यादिना ॥ चतुर्थ-
पादं व्याचष्टे । यद्यपीति ॥ कश्चिन्निन्दानुपपत्तिस्त्विति इति
यावत् ॥४३॥

यत्तु हेतुभ्यां द्वैतस्यास्तित्वमुक्तं तद्दूषयति । उपलम्भादिति ॥

उपलम्भात् समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥४४॥
 जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
 अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥४५॥

नोपलम्भसमाचारवोर्व्यभिचारात् । कथं व्यभिचार इत्यु-
 च्यते । उपलभ्यते हि सायाहस्ती हस्तीव हस्तिनमिवात्र
 समाचरन्ति वन्धनारोहणादिहस्तिसम्बन्धिभिर्धर्मैर्हस्तीति
 चोच्यते । असन्नपि यथा तथैवोपलम्भात् समाचारात् द्वैतं
 भेदरूपमस्ति वस्तुत्वमुच्यते । तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैत-
 वस्तुसङ्गावे हेतुभवत इत्यभिप्रायः ॥४३॥

किम्पुनः परमार्थसद्वस्तु यदास्पदा जात्याद्यद्वयद्वय
 इत्याह ॥ जाति सज्जातिवदभासत इति जात्याभासम् ।
 तद्यथा देवदत्तो जायत इति । चलाभासं चलनमिवा-
 भासत इति । यथा स एव देवदत्तो गच्छतीति । वस्त्वा-
 भासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदभासत इति वस्त्वाभासम् ।
 यथा स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति । जायते देव-
 दत्तः स्यन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते । परमार्थ-

श्लोकव्यावर्त्यामाणङ्कामनूद्य दूषयति । नन्वित्यादिना ॥ व्यभिचार-
 स्यासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति । कथमित्यादिना । उपलम्भसमाचारौ
 सायामये हस्तिनि वस्तुत्वाभावेऽपि भवतः । तथा ह्येतेऽपि न तयोरस्ति
 वस्तुत्वसाधकत्वमित्युपसंहरति । तस्मादिति ॥४४॥

भूतदर्शनावष्टम्भेन निमित्तस्यानिमित्तत्वमुक्तमेतदन्तश्चोक्तैर्वि-
 प्रपञ्चितम् । समुपति भूतदर्शनमुपसंहरति । जात्याभासमिति ॥
 श्लोकाचराण्याकाङ्क्षाद्वारा विदुषोति । किं पुनरित्यादिना ॥ गौर-

एवं न जायते चित्तमेवंधर्मा अजाः स्मृताः ।

एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥४६॥

तस्त्वजमचलमवस्तुत्वमद्रव्यञ्च । किन्तदेवस्मकारं विज्ञानं
विज्ञप्तिः । जात्यादि रहितत्वाच्छान्तम् । अत एवाद्वयञ्च
तदित्यर्थः ॥४५॥

एवं तथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवंधर्मा
आत्मानोऽजाः स्मृता ब्रह्मविद्धिः । धर्मा इति वक्तु-
वचनम् । देहे भेदानुविधायित्वाद्वयस्यैवोपचारतः ।
एवमेव यथोक्तं विज्ञानं जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं
विजानन्तस्त्वाप्रक्तवाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसा-
गरे । विपर्यये तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत
इत्यादिमन्त्रवर्णात् ॥४६॥

तदीर्घलोक्त्या देवदत्तस्य गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वं स्फुटीक्रियते । पूर्वा-
ह्मीर्थानुवादेनापराद्धं योजयति । जायत इत्यादिना ॥ विशेष्यं प्रश्न-
पूर्वकं विशदयति । किन्तदित्यादिना ॥४७॥

ब्रह्मणाश्चिद्रूपस्याजत्वमुपपादितमुपसंहरति । एवं नेति ॥
चित्प्रतिबिम्बानां जीवानां बिम्बभूतब्रह्मात्मत्वाद्जत्वमविशिष्टमित्याह ।
एवमिति ॥ उक्तब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य फलमाह । एवमिति ॥ श्लोका-
न्तराणि व्याकरोति । एवमित्यादिना ॥ कार्यकारणाभावस्य दुर्भेग-
त्वादयो यथोक्ता हेतवश्चित्तत्रैतन्यं ब्रह्मेति यावत् । एवमिति प्रति-
बिम्बानां बिम्बमात्रत्वं जीवानामपि प्रतिबिम्बकल्पानां बिम्बभूतब्रह्मा-
त्मत्वादित्यर्थः । अद्वयस्य वक्तुवचनभाक्त्वमयुक्तमित्याशङ्क्याह । धर्मा
कृतीति ॥ उत्तरार्द्धं योजयति । एवमेवेति ॥ विज्ञानं विज्ञप्तिरूपं
ब्रह्मेत्यर्थः । यथोक्तज्ञाने मुख्यानधिकारिणो व्यपदिशति । त्यक्तेति ॥
उक्तज्ञानवतां संसारसंवासाभावे प्रमाणमाह । तत्रेति ॥४८॥

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्यन्दितं यथा ।

ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्यन्दितन्तथा ॥४७॥

अस्यन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।

अस्यन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥४८॥

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह । यथा हि लोके ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्यन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयाभासमित्यर्थः । किन्तु विज्ञानस्यन्दितम् । स्यन्दितमिव स्यन्दितमविद्यया । न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्यन्दनमस्ति । अजाचलमिति ह्युक्तम् ॥४७॥

अस्यन्दमानं स्यन्दनवर्जितं तदेवालातनृज्वाद्याकारेणाजायमानम् । अनाभासमजं यथा तथाऽविद्यया स्यन्दमानमविद्योपरमे अस्यन्दमानं जाल्याद्याकारेणानाभासमजमचलमिविष्यतीत्यर्थः ॥४८॥

विज्ञानमजमचलमेव जाल्याभासञ्चेत्युक्तं तदिदानीं दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति । ऋजुवक्रादिकेति ॥ अप्रच्युतपूर्वरूपस्यास्य नानाकारावभासो विवर्त्तस्तदत्र विज्ञानस्य स्यन्दितत्वं श्लोकस्य तात्पर्यमाह । यथोक्तमिति ॥ तत्र दृष्टान्तभागं व्याचष्टे । यथा हीति ॥ दार्ष्टान्तिकं योजयति । तथेति ॥ किमित्यविद्योमन्तरेण मुख्यमेव स्यन्दनं विज्ञानस्य नेष्यते तत्राह । न हीति ॥ निरवयवस्य विभुनो विज्ञानस्य वस्तुतश्चलनविकल्पस्याविद्यमानमेव स्यन्दनमित्यत्र वाक्योपक्रमानुकूल्यं कथयति । अजेति ॥४७॥

विज्ञानं शान्तमित्युक्तं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । अस्यन्दमानमिति ॥

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः ।
नततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातस्प्रविशन्ति ते ॥४६॥
न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।

किञ्च तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमाने ऋजुवक्राद्याभासा
अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालातेनैव भवन्तीति नान्यतो
भुवः । न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः । न च
निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते ॥४६॥

किञ्च न निर्गता अलातात्ते । आभासा गृहादिव

लोकाक्षराणि व्याकरोति । अस्पन्दमानमित्यादिनां ॥ तथाविद्यये-
यलाद्विद्ययेति छेदः ॥४८॥

अलातदृष्टान्ते कथं ऋजुवक्रादीनामसन्दमित्याशङ्कायां निरू-
पणासहत्वादित्याह । अलात इति ॥ यदा खल्वलातं स्पन्दमानमव-
तडते तदा तस्मिन्नन्यतो देशान्तरादागत्याभासा भवन्तीति न शक्यं
ऋजुवक्राद्याभासानां देशान्तरादागमनस्यानवगमाद्यदा तदैवा-
लातं निस्पन्दनं स्पन्दनवर्जितं वर्तते तदा ततोऽन्यत्वाभासा भवन्ती-
त्यपि न युक्तं यत्तुमनुपलब्धाविशेषात् । न चाभासानस्मिन्नेवालाते
नियन्ते तदनुपादानत्वात् । यदि हि स्पन्दननिमित्तमलातसुपा-
नं तदा निमित्ताभासमाह्वानैमित्तिकाभावाददर्शनादृजुवक्राद्याकारा
स्पन्दनाभावेऽप्यलाते भवेयुरित्यर्थः । इतश्च दृष्टान्ते दृष्टान्तानामाभा-
सानां मिथ्यात्वमेष्टव्यमित्याह । किञ्चेति ॥ हेतुन्तरमेव स्पष्टयन् पूर्वाद्धी-
राणि व्याचष्टे । तस्मिन्नवेति ॥ अभासानां देशान्तरादागमनस्यानुप-
लब्धो हेतुः कर्त्तव्यः । अनुपलब्धिमेव हेतूक्त्य तृतीयपादार्थमाह ।
चेति ॥ चतुर्थपादार्थमाह । न च निस्पन्दमिति ॥४६॥

ऋजुवक्राद्याभासानां दृष्टान्ते निर्गमनप्रवेशयोरसम्भवं साध-
यति । नेत्यादिना ॥ दृष्टान्तनिविष्टाभासवद्दृष्टान्तिकोऽपि जन्माद्या-

विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥६०॥
विज्ञाने स्यन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्सृज्यन् विज्ञानं विशन्ति ते ॥५१॥

द्रव्यत्वाभावयोगतः । द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं तदभावो
द्रव्यत्वाभावः द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्तेर्वस्तु-
त्वाभावादित्यर्थः । वस्तुनो हि प्रवेशादि सम्भवाति
नावस्तुनः ॥५०॥

विज्ञानेऽपि जात्याद्याभासास्तथैव स्युराभासस्याविशे-
षतस्तुल्यत्वात् । कथं तुल्यत्वमित्याह । अलातेन समानं
सर्वविज्ञानस्य सदा अचलत्वन्तु विज्ञानस्य विशेषः । जा-
त्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किं ज्ञता इत्याह । कार्यकार-

भासा मिथ्यैव भवेयुरित्याह । विज्ञानेऽपीति ॥ ऋज्वक्राद्याकारेषु
जन्माद्याकारेषु चाभासत्वस्य तुल्यत्वादिति हेतुमाह । आभासस्येति ॥
इतश्च दृष्टान्ते मिथ्यात्वभासानामेष्टव्यमित्याह । किञ्चेति ॥ तदेव पूर्वा-
ह्वयोजनया विशदयति । नेति ॥ ऋज्वक्राद्याभासानां वस्तुतोऽभावेऽपि
किमिति प्रवेशाद्यसिद्धिरित्याशङ्क्याह । वस्तुनो हीति ॥ द्वितीयाहं
दार्ष्टान्तिकमाचष्टे । विज्ञानेऽपीति ॥ तुल्यत्वं सार्द्धेनोत्तरश्लोकेन साध-
यति । कथमित्यादिना ॥५०॥

न हि तस्मिन् विज्ञाने यथा कथञ्चिच्चलनवति ततो न्यस्तात्क-
स्माच्चिदागत्य जन्माद्याभासास्तत्र भवितुमर्हन्ति । तथा प्रयाभावात्
न च तस्मात् विज्ञानादचलतयावस्थितादव्यत्वाभासा भवितुमुक्तं हन्ते ।
प्रतीत्याभासस्य तुल्यत्वान्नापि तदैव विज्ञानं प्रविशन्ति । तस्य केवलस्य
तदुपादानत्वानुपगमात् । न च ते विज्ञाने प्रवेष्टुं समर्थास्ततो निर्गन्तुं
वा पारयन्ति । तेषामवस्तुत्वादित्यर्थः । कथं तर्हि विज्ञाने प्रया तेषा-

न निर्गता विज्ञानात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
कार्यकारणताभावाद्वतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥५२॥
द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।

णताभावात् जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वादचिन्त्यास्ते
यतः सदैव । यथाऽसत्सु ऋज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिवुद्धि-
दृष्टाऽलातमात्रे तथाऽसत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे
जात्यादिवुद्धिर्भूषैवेति समुदायार्थः ॥५१॥५२॥

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितं तत्र यैरपि कार्य-
कारणभावः कल्प्यते तेषां द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यहेतुः
कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत् । नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं

मित्याशङ्क्य नृपैवेत्याह । कार्येति ॥ आभासानां विज्ञानस्य च कार्य-
कारणताया दुर्वचनत्वादाभासाः सर्वदैव निरूपयितुमशक्यत्वान्माया-
मयाः सन्तो मिथ्यैव भवन्तीत्यर्थः ॥ सार्द्धश्लोकात्पर्यमाह । अलाते-
नेति ॥ तर्हि सक्रियत्वमपि विज्ञानस्य प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह । सदेति ॥
यदि विज्ञानमवलम्ब्य तर्हि तत्र जात्याद्याभासा हेतुभावात् स्यु-
रित्याशङ्क्यान्निगार्हेन परिहरति । जात्याद्याभासा इत्यादिना ॥
यतः सदैवाचिन्त्या अतो नृपैवेति शेषः । सङ्क्षपतस्मात्पर्यमाह ।
अथेत्यादिना ॥५१॥५२॥

यदुक्तं कार्यकारणताभावादिति तदिदानीमुपपादयितुमुपक्रमते ।
द्रव्यमिति ॥ अवयवद्रव्यमवयवविद्रव्यस्योपादानम् । अवयवगुणा-
वयवविगुणेषु समानजातीयेष्वसमवायिनो दृष्टाः । न चैवमात्मनो
द्रव्यत्वं येन समवायित्वम् ॥ न च तद्रूपाणां कचिदसमवायित्वं गुण-
गुणिभावस्यान्यत्वस्य तस्मिन् दुर्वचनत्वादित्यर्थः । श्लोकाचराणि
प्रोजयति । अजमित्यादिना ॥ अवयवावयवविविभागविरहितत्वमजत्वम् ।

द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥५३॥
 एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम् ।

स्वतन्त्रं दृष्टं लोके । न च द्रव्यत्वं धर्माणां भावनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा । कुतश्चिद्येनान्यकारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपद्येत । अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वाक्येत्यर्थः ॥५३॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुस्यः आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति । न चित्तजा वा ह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तम् । विज्ञानस्वरूपाभासमातत्वात्तद्व्यधर्माणां । एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्देतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतु-

एकत्वं गुणगुणिभावश्चान्यत्वम् ॥ तत्वेत्यात्मतत्त्वं परामृश्यते । तत्र कार्यकारणभावं दूषयितुं सामान्यन्यायमाह । तेषामिति ॥ अद्रव्यस्यापि रूपादेस्तत्त्वादिद्वारा पटगौक्ष्यादौ कारणत्वं दृष्टमित्यतो विगिनटि । स्वतन्त्रमिति ॥ अस्तु तर्हि द्रव्यत्वेनान्यत्वेन चात्मन्यपि कार्यत्वं नेत्याह । न चेति ॥ न हि तत्र गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वं निर्गुणत्वाच्चापि समवायित्वेन तद्यात्मन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च तत्र कुतश्चिदन्यत्वं सर्वस्य सन्धात्वत्वेनैकरूपत्वप्रतिभानात् । अतो न तत्र कारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपत्तुं शक्यमिति फलितमाह । अत इति ॥५३॥

चिकीर्षितकुम्भसंवेदनसमन्तरं कुम्भः सम्भवति । सम्भूतश्चासौ कर्मतया स्वसंविटं जनयतीति व्यवहारोऽपि नोपपद्यते । कस्यचिदपि विद्वत्तद्वद्वनुरोधेनानन्यत्वादित्याह । एवमिति ॥ यश्च धर्मादेः शरीरादेश्च कार्यकारणभावो विद्वद्वद्व्या पुरस्ताद्विरस्तः सोऽप्यन्यत्वाभावेन सिध्यतीत्याह । एवं हेत्विति ॥ तत्र पूर्वार्धं योजयति । एवमत्यादिना ॥ आत्मस्वरूपस्य निर्विकारत्वात् द्रव्यत्वमप्रसिद्धत्वमित्या-

एवं हेतुफला जातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥५४॥

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।

क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥५५॥

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।

फला जातिं प्रविशन्ति अध्यवस्यन्ति । आत्मनि हेतुफल-
योरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥५४॥

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविटास्तेषां किं स्यादित्युच्यते ।
धर्माधर्माख्यहेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं
कालान्तरे क्वचित्प्राणिनिकाये जातो मोक्ष इति याव-
द्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यधारोपणं तच्चित्त-
तेत्यर्थः । तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य
चानुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः । यदा पुनर्धर्मौषधिवीर्य-
णिव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफला-
वेशोपनीतो भवति तदा तस्मिन् क्षीणे नास्ति हेतुफलो-
द्भवः ॥५५॥

दयो यथोक्ता हेतवः । बाह्या धर्मा घटादयो नात्मनः । न च धर्मा-
शब्दितानां जीवानां चित्तशब्दितान् परस्मादात्मनो जन्मेति युक्तम् ।
तेषां प्रतिविस्वकल्पानां विस्वभूतब्रह्मात्मत्वादित्वादित्वभिप्रेत्याह ।
विज्ञानेति ॥ उत्तरार्द्धं योजयति । एवं नेति ॥५४॥

न फलाद्धेतुर्जायते नापि फलं हेतोरितं तत्त्वदृष्ट्योपदिष्टम् ।
इदानीं सुसुक्ष्माण्णान्तदभिनिवेशव्यावृत्त्यर्थं तदभिनिवेशाभावाभावयो-
स्तदुद्भवौ दर्शयति । यावदिति ॥ श्लोकाच्चराख्याकाङ्क्षाप्रदर्शनपुरःसरं
विदुषोति । ये पुनरित्यादिना ॥५५॥

क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥५६॥
 संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ।

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इत्युच्यते यावत्सस्य-
 गदर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्त्ततेऽक्षीणः संसारस्ताव-
 दायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः । क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं
 न प्रपद्यते कारणाभावात् ॥५६॥

नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्तेष्व तत्कथं हेतुफलयोः संसा-
 रस्य चोत्पत्तिविनाशवुच्यते त्वया । शृणु । संवृत्या
 संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिकव्यवहारस्तथा सं-
 वृत्या जायते सर्वं सेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति

अभिनिवेशवशवद्देतुफलोद्भवे किं भवति तदाह । यावदिति ॥
 अभिनिवेशनिवृत्त्या तदनुद्भवे वा किं स्यादित्याशङ्क्याह । क्षीण इति ॥
 आकाङ्क्षापूर्वकं पूर्वाङ्गं योजयति । यदीति ॥ उत्तराङ्गं व्याचष्टे ।
 क्षीणे पुनरिति ॥५६॥

कूटस्थमद्वितीयमात्मतत्त्वमिच्छता कुतो जन्मनाशौ व्यवह्रियेते
 तत्राह । संवृत्येति ॥ अविद्यायां सर्वस्य जायमानत्वे सत्यविद्याविषये
 नित्यं नाम नास्त्येवेत्याह । शाश्वतमिति ॥ परमार्थतस्तु सर्वमजं
 कूटस्थमास्थीयते तेन कल्याणं विना विनाशो नास्त्येव हेतुफलादे-
 रित्याह । सद्भावेनेति ॥ पूर्वापरविरोधमाशङ्कते । नन्विति ॥ न
 तावदात्मनो जन्मविनाशौ तस्य कूटस्थत्वान्नापि ततोऽन्यस्य तौ युक्तौ
 तस्याद्वितीयत्वात् । तथा च हेत्वादेर्वन्धस्य जन्मनाशौ न त्वया
 वक्तव्यावित्यर्थः ॥ उच्यमाने समाधाने मनःसमाधानमर्थयते । श-
 खिति ॥ तत्र पूर्वभागाच्चरार्थं कथयति । संवृत्येत्यादिना ॥ अवि-
 द्याविषये नित्यस्य वस्तुनो अभावे फलितमाह । अत इति ॥ द्विती-

सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥५७॥
धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न सत्त्वतः ।

वै । अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयात इत्युच्यते ।
परमार्थसद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात् । अतो
जात्यभावादुच्छेदः तेन नास्ति वै कस्यचिद्वेतुफलादे-
रित्यर्थः ॥५७॥

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्ते इति कल्पन्ते त
इत्येवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यत इति । संवृत्यैव
धर्मा जायन्ते न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते । यत्पुन-
स्तत् संवृत्या जन्म तेषां धर्माणां यथोक्तानाम् । यथा मा-
यया जन्म तथा तन्मायोपमं प्रत्येतव्यम् । माया नाम वस्तु

याद्वर्त्तारार्थमाह । परमार्थेति ॥ जात्यभावो जन्मादिविक्रियाभावः
तमेवोच्छेदाभावे हेतुं कथयति । तेनेति ॥ यथा पुरोवर्त्तिनि भुजगा-
भावमनुभवन् विवेकी नास्ति भुजङ्गो रज्जुरेषा कथं तथैव विभेषीति
भ्रान्तमभिदधाति । भ्रान्तस्तु स्वीयादपराधादेव भुजङ्गं परिकल्प-
यति । सन् पलायते न च तत्र विवेकिनो वचनं मूढदृष्ट्या विरुध्यते ।
यथा परमार्थकूटस्यात्मदर्शनं व्यवहारिकजन्मादिवचनेनाविरुद्धमिति
भावः ॥५७॥

संवृत्या जायते सर्वमित्युक्तं तदिदानीं प्रपञ्चयति । धर्मा इति ॥
तत्वाद्यं पादं विभजते । येषोति ॥ प्रसिद्धावद्योतकत्वमिति शब्दस्य
दर्शयति । त इत्येवंप्रकारा इति ॥ एवं प्रकारत्वमेव स्फोरयति ॥ यथो-
क्तोति ॥ अनन्तरप्रकृता संवृतिरिति शब्देनोक्ता । तथा च संवृत्यैव ते
धर्मा जायन्ते न तु तेषां तत्त्वतो जन्मास्तीत्यर्थः । न ते तत्त्वत इत्युक्तं
प्रापञ्चयति । परमार्थ इति ॥ संवृत्यापि जन्म पारमार्थिकमेवेत्याशङ्क्य

जन्ममायोपमन्तेषां सा च माया न विद्यते ॥५८॥
 यथा मायामयाहीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ।
 नाऽसौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्वर्षेषु योजना ॥५९॥
 नाजेषु सर्वधर्षेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।

तर्हि नैवं सा च माया न विद्यते मायेत्यविद्यमानस्याख्ये-
 त्यभिप्रायः ॥५८॥

कथं मायोपमन्तेषां धर्षणां जन्मेत्याह । यथा माया-
 मयादास्त्रादिवीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासा-
 वङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशो वा । अभूतत्वादेव
 धर्षेषु जन्मनाशादियोजनायुक्तिः । न तु परमार्थतो
 धर्षणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥५९॥

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञप्तिमात्रसत्ता-
 केषु शाश्वतोऽशाश्वत इति वा नाभिधा नाभिधानं प्रवर्त्तत
 इत्यर्थः । यत्र वेष्णु वर्णांते यैर्यास्ते वर्णाः शब्दा न प्रव-
 र्त्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्त्तन्त इत्यर्थः । इदमेव-

तृतायपादं योजयति । यत्पुनरिति ॥ प्रत्येतव्यं जन्मेति शेषः । चतुर्थ-
 पादार्थमाकाङ्क्षाद्वारा स्फोरयति । मायेत्यादिना ॥५८॥

जन्ममायोपमं तेषामित्युक्तं तदपि दृष्टान्तावष्टम्भेन साधयति ।
 यथेत्यादिना ॥ श्लोकाक्षराख्याकाङ्क्षां दर्शन् योजयति । कथ-
 मित्यादिना ॥५९॥

यदुक्तं ब्रह्मभावेन ह्यजं सर्वमिति तत्प्रपञ्चयति । नाजेष्विति ॥
 आत्मनि नित्यानित्यकथा नावतरतीत्यत्र हेतुमाह । यत्वेति ॥ श्लोकस्य
 पञ्चाङ्गं व्याचष्टे । परमार्थतस्त्विति ॥ द्वितीयाङ्गं व्याकरोति । यत्वेति ॥

यत्न वस्त्रो न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥६०॥
यथा स्वप्ने हयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रदहयाभासं चित्तं चलति मायया ॥६१॥
अद्वयञ्च हयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयञ्च हयाभासं तथा जाग्रदन्त संशयः ॥६२॥
स्वप्नदृक् प्रचरन् स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।

मिति विवेको विवेकता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते ।
व्यतो वाचो निवर्तन्ते इति श्रुतेः ॥६०॥

यत्पुनर्वागोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य विज्ञानमा-
त्रस्य तन्मनसः स्पन्दनमात्रं न परमार्थत इत्युक्तार्थो
ल्लोकौ ॥६१॥६२॥

इतश्च वागोचरस्याभावो द्वैतस्य स्वप्नान् पश्यतीति
स्वप्नदृक् प्रचरन् पर्यटन् स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै

गादिना ॥ तत्रेति प्रकृतेषु धर्माद्विनिर्वाहः । आत्मसु नित्यानित्य-
थाभावे शब्दगोचरत्वं हेतुस्तत्र प्रमाणमाह । यत इति ॥६०॥

आत्मनः शब्दागाचरत्वे कथमनौ व्याख्यातभिः शब्देरेव प्रति-
पाद्यतामाचरतीत्याशङ्क्य चित्तस्पन्दनमात्रमविचारसुन्दरं प्रतिपाद्य-
तिपाटरूपं द्वैतमिति सदृष्टान्तमाह । यथेति ॥ स्वप्ने प्रतिपाद्यप्रति-
पादकद्वैतस्य चित्तस्पन्दितमात्रत्वंऽपि जागरिते कथं तथा स्यादित्या-
शङ्काह । अद्वयञ्चेति ॥ पौनरुक्त्यं श्लोकयोराशङ्क्यशङ्कान्तरनिरा-
सार्थत्वाद्भेदमिति मन्वानः सन्नाह । यत्पुनरिति ॥६१॥६२॥

वाचो गोचरोभूतस्य द्वैतस्यासत्त्वे हेतुन्तरमाचक्षाणो दृष्टान्त-
माह । स्वप्नदृगिति ॥ यान् पश्यति ते न विद्यन्ते पृथगित्युत्तरत्वं

अण्डजान् स्वेदजान् वापि जीवान् पश्यति यान्
[सदा ॥ ६३ ॥

स्वप्नदृक् चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तदृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥ ६४ ॥

दशसु स्थितान् वर्त्तमानान् जीवान् प्र णिनोऽण्डजान्
स्वेदजान् वा यान् सदा पश्यतीति । यद्येवं ततः किमु-
च्यते ॥ ६३ ॥

स्वप्नदृशचित्तं स्वप्नदृक्चित्तं तेन दृश्यास्ते जीवाः
ततस्तस्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथक् न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः ।
चित्तमेव तर्हि न जीवादिभेदाकारेण विकल्प्यते । तथा
तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं तदृश्यमेव तेन स्वप्नदृशा दृश्य-
न्तदृश्यम् । अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्ती-
त्यर्थः । ६४ ।

यस्वप्नः । श्लोकस्य तात्पर्यमाह । इतश्चेति ॥ इतः शब्दार्थमेव स्फुट-
यन्नक्षराणि व्याचष्ट । स्वप्नः निति ॥ न तं विद्यन्त इति पूर्ववदन्वयः ।
स्वप्नदृशो विषयभूतानां भेदानां तत्र दृश्यमानत्वेऽपि द्वैतभेदमि-
ष्यत्य किमायातमिति पृच्छति । यदीति ॥ उत्तरश्लोकेनोत्तरमाह ।
उच्यते इति ॥ ६३ ॥

श्लोकाक्षराणि याजयन् कर्म्मधारयं व्यावर्त्तयति । स्वप्नेति ॥
जीवादिभेदानां स्वप्ने दृश्यमानानामुक्तानां चित्तात्पृथगसत्त्वं साधयति ।
चित्तमेवेति ॥ तर्हि दृष्टा चित्तवृत्तिद्वयं स्वप्ने स्वीकृतं नेत्याह । तथेति ॥
तच्छब्दस्य चित्तविषयत्वं व्यावर्त्तयति । तेनेति ॥ स्वप्नावस्थस्य चित्तस्य
स्वप्नदृशविषयत्वे फलितमाह । अत इति ॥ ६४ ॥

चरन् जागरिते जाग्रद्विद्यु वै दशासु स्थितान् ।

अण्डजान् स्वप्नजान् वापि जीवान् पश्यति

[यान् सदा ॥६५॥

जाग्रद्विच्छित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।

तथा सहस्रमेवेदं जाग्रद्विच्छित्तमिष्यते ॥६६॥

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किन्तदस्तीति चोच्यते ।

जाग्रतो दृष्ट्या जीवास्त्वच्छित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणी-
यत्वात् स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीयजीववत् । तच्च जीवेक्षणात्मकं
चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृ दृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत् । उक्ता-
र्थमन्यत् ॥६५॥६६॥

जीवचित्ते उभे चित्तचेत्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतर-
गम्ये । जीवादिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति । चित्ता-
पेक्षं हि जीवादि दृश्यम् । अतस्तेऽन्योन्यदृश्ये । तस्मान्न

दृष्टान्तनिविष्टमर्थं दाटीलिके योजयति । चरन्नित्यादिना ॥
जाग्रदवस्थो हि पुरुषो यान् जीवान् पश्यतीत्यत्र जीवशब्देन कार्य-
कारणसङ्घाता गृह्यन्ते चेतनानां दृश्यत्वाभावादिति द्रष्टव्यम् ॥
श्लोकद्वये विवक्षितमनुमानद्वयमारचयति । जाग्रत इति ॥ अचर-
व्याख्यानन्त दृष्टान्तव्याख्यानेनैव स्पष्टत्वाच्च पृथगपेक्षितमिति विवक्षि-
त्वाह । उक्तार्थमिति ॥६५॥६६॥

दृश्यदर्शनव्यतिरेकस्याहकप्रमाणप्रतिहतं हेतुद्वयमित्याशङ्क्याह ।
उभे हीति ॥ दृश्यदर्शने परस्परापेक्षसिद्धिके दृश्ये सिद्धे तदवच्छिन्नं
दर्शनं सिद्धति तस्य च सिद्धौ तदवच्छिन्नं दृश्यं सिद्धतीत्यन्योन्याश्रयान्न
दृश्यं दर्शनं वा सिध्यतीत्यतो विभागाऽवगाहिप्रमाणाभावाच्च तदुवाचो

लक्षणाशून्यसुभयं तन्मते नैव गृह्यते ॥ ६७ ॥

किञ्चिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्ते क्षणीयं वा । किन्त-
दस्तीति विवेकीनोच्यते । न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं
वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः । कथं लक्ष-
णाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्यसुभयं
चित्तं चेत्यं द्वयं यतः तन्मते नैव तच्चित्ततयैव तत् गृ-
ह्यते । न हि घटमिति प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं
प्रत्याख्याय घटस्ततिः । न हि तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः
शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥

हेतुद्वयस्येत्यर्थः । किञ्च सम्भावनायां प्रमाणप्रवृत्तिर्वक्तव्या न दृश्य-
दर्शनयोरन्यतरस्यापि नैरपेक्षेण सम्भावना भवति अन्योन्याश्रय-
दोषात् । तथा च परस्परपुरस्कारेण विद्येत यदुभयं कल्पितमेव स्था-
दिति मत्वाह । किन्तदिति ॥ तत् दृश्यं दर्शनं वा किमस्तीति पृष्टे
विवेकिना नास्तीत्येवोच्यते प्रागुक्तदोषादित्यर्थः । किञ्च प्रामाणिकस्यैव
प्रामाणिको भेदः सम्भवति । न च दृश्यदर्शनयोः स्वरूपे प्रमाणमस्ती-
त्याह । लक्षणेति ॥ कथं तर्हि प्रमाणप्रमेयविभागो वादिभिर्गृह्यते
तच्चित्ततादोषेणेत्याह । तन्मतेनेति ॥ तत्र प्रथमं पादं विभजते ।
जीवेति ॥ ते जीवचित्ते इति सम्बन्धः । अन्योन्यदृश्यत्वमितरेतर-
प्राच्यात्वं तदेव स्पष्टयति । जीवादिति ॥ द्वितीयपादं व्याचष्टे ।
तस्मादिति ॥ तदेकं स्फुटयति । चित्तं वेति ॥ किन्तदस्तीति पृष्टे सति
न किञ्चिदस्तीत्युच्यते विवेकिनेति योजना ॥ उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन
विदृणोति । न हीति ॥ इहेति जागरितोक्तिः ॥ द्वितीयार्धं व्याचि-
ख्यासुतया पृच्छति । कथमिति ॥ तदेवावतार्य व्याकरोति ॥ लक्ष-
णेत्यादिना ॥ यतस्ततो न तद्भेदस्य प्रामाणिकत्वमिति शेषः । कथं

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
 तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६८॥
 यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
 तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६९॥
 यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
 तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥७०॥

मायामयो मायाविना यः कृतः निर्मितको मन्तौष-
 ध्यादिभिर्निष्पादितः । स्वप्नमायानिर्मितका अण्डजा-
 दयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च तथा मनुष्यादि-
 लक्षणा अवित्यमाना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः ॥
 ६८॥६९॥७०॥

तर्हि लौकिकानां परीक्षकानाञ्च प्रमाणप्रमेयविभागप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य
 चतुर्थपादार्थमाह । तन्मतेनेति ॥ तदेव प्रपञ्चयति । न होति ॥
 घटे किं प्रमाणमित्युक्ते ज्ञानमित्यनुत्तरमतिप्रसङ्गान्नापि घटज्ञानमन्यो-
 न्याश्रयप्रसङ्गादतो न घटतज्ज्ञानयोर्मानमेयभावः सम्भवतीत्यर्थः ॥६७॥
 दृश्यानामण्डजादीनां दर्शनातिरिक्तानामसत्त्वानुमानस्य भेद-
 ग्राहकप्रसाणबाधं परिहृत्य दर्शनातिरेकेण तेषामसत्त्वं जन्मादि-
 प्रत्ययबाधः स्यादित्याशङ्क्य परिहरति । यथेत्यादिना ॥ मायामयस्य
 निर्मितकस्य च जीवस्य विशेषं बुभुक्षमानं प्रत्याह । मायेति ॥
 संविदतिरेकेणाण्डजादीनां परमार्थतः सत्त्वाभावानुमानस्य न जन्मा-
 दिप्रतिभासबाधः । सत्त्वाभावेऽपि स्वप्नादिषु जन्मादिविकल्पबाध-
 ल्योपलम्भादिति श्लोकत्रयस्य तात्पर्यमाह । स्वप्नेत्यादिना ॥६८॥६९॥
 ॥७०॥

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।

एतच्चदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ७१ ॥

चित्तस्यन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकबहुयम् ।

चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गन्तेन कीर्तितम् ॥ ७२ ॥

योऽस्ति कल्पितसंवृत्त्या परमार्थेन नास्त्यऽसौ ।

व्यवहारसत्यविषयजीवानां जन्ममरणादिः स्वप्नादि
जीववदित्युक्तम् उत्तमन्तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते
जीव इति । उक्तार्थमन्यत् ॥ ७१ ॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवत् चित्तस्यन्दितमेव द्वयं चित्तं
परमार्थत आत्मैवेति निर्विषयन्तेन निर्विषयत्वेन नित्य-
मसङ्गं कीर्तितम् । असङ्गो ह्ययं पुरुष इति श्रुतेः ।
सविषयस्य हि विषये सङ्गः । निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्ग
इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं चित्तस्य न निःसङ्गता

यस्तु जन्मादिसत्यमिति मन्यन्ते तं प्रति प्राशुक्तं स्मारयति । न
कश्चिदिति ॥ दत्तानुवादपूर्वकं श्लोकतात्पर्यमाह । व्यवहारंति ।
अक्षराणि न व्याख्येयानि व्याख्यातत्वादित्याह । उक्तार्थमिति ॥ ७१ ॥

संवेदनस्य कल्पितदृश्यापहितरूपेण दृश्यत्वान्न दृष्टव्यतिरेकेण
सत्त्वमिति स्वप्नदृष्टान्तोक्तमिदानीं तत्त्वतः संवेदनस्य विषयसम्बन्धा-
भावादात्मैव संवेदनमित्याह । चित्तेति ॥ अक्षरायं कथयति । सर्व-
मित्यादिना ॥ निर्विषयत्वेनासङ्गत्वे सिद्धे श्रुतिमपि संवादयति ॥ अ-
सङ्गो हीति ॥ श्रुतियुक्तसिद्धमसङ्गत्वं साधयति । सविषयस्येति ॥ ७२ ॥

निर्विषयत्वेन चित्तस्यासङ्गत्वमसङ्गतं तदसङ्गतं शास्त्रादेर्वि-

परतन्वाभिसंवृत्या स्थान्नास्ति परमार्थतः ॥७३॥

कति यस्माच्छास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादैर्विषयस्य
नान्यमानत्वात् । नैष दोषः । कस्मात् । यः पदार्थः
शास्त्रादिविद्यते स कल्पितसंवृत्या । कल्पिता च या
परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा तयाऽस्ति परमा-
न नास्त्यसौ न विद्यते । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम् ।
अथ परतन्वाभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात् पदार्थः
परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्तीति । तेन युक्तमुक्तमसङ्गं
न कीर्त्तितमिति ॥७३॥

यस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याह । योऽस्तीति ॥ ननु परमार्थतो वैशेषिकाः
रूपदार्धान् द्रव्यादिसमवायान्नातिष्ठन्ते तथा च चित्तस्य कथम-
ङ्गत्वं तदाह । अपरेति ॥ वैशेषिकपारिभाषिकव्यवहारानुरोधेन
पदार्थो यो द्रव्यादिः समवायान्तः स्यात् न परमार्थतोऽस्ति किन्तु
द्रव्या प्रतिभाति तस्मादविरुद्धमङ्गत्वमित्यर्थः ॥ व्यावर्त्यञ्चोद्यमुत्या-
प्राप्तिः । नन्विति ॥ तत्र यस्मादिति सामान्येनोक्तं हेतुं विशेषतो
नन्ति । शास्त्रेति । आदिशब्देन प्रमाता प्रमाणं प्रमेयमित्यादि
न्यते ॥ अमङ्गत्वाक्षेपं परिहरति । नैष दोष इति ॥ तत्र निर्वि-
यात्वे हेतुं प्रश्नपूर्वकं पूर्वार्द्धं योजनया साधयति । कस्मादित्यादिना ॥
परमार्थतो द्वैतस्याऽस्त्येवाक्योपक्रममनुगुणमादर्शयति । ज्ञात-
मिति ॥ द्वितीयाहं योजयति । यश्चेति ॥ नहि द्रव्यस्य लक्षणं
आदिपञ्चकस्य च ततो व्यावर्त्तकप्रातिस्निकलक्षणप्रतिपत्तिमन्तरेण
न्यते । तथा च तल्लक्षणतस्तत्प्रतिपत्तौ तदितरप्रतिपत्तिः ।
तत्प्रतिपत्तौ च तल्लक्षणतस्तद्व्यावृत्तप्रतिपत्तिरिति परस्परान्वयान्न
तद्विदपि वस्तुतः भिद्वेदित्वर्थः । वस्तुतो निर्विषयस्यैव सिद्धत्वाद-
ङ्गत्वञ्चित्तस्य प्रगुक्तं सङ्गतमेवेत्युपसंहरति । तेनेति ॥७३॥

अजः कल्पितसंहत्या परमार्थेन नाप्यजः ।

परतन्त्रोऽभिनिष्पत्तया संहत्या जायतेतु सः॥ ७४॥

ननु शास्त्रादीनां संहतित्वे अज इतीयमपि कल्पना
संहतिः स्यात् । सत्यमेवं शास्त्रादिकल्पितसंहत्यैवाज इत्यु-
च्यते । परमार्थेन नाप्यजः । यस्मात् परतन्त्राभिनिष्पत्त्या
परशास्त्रसिद्धमपेक्ष्य योऽज इत्युक्तः स संहत्या जायते ।
अतोऽज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषयेनैव क्रमत
इत्यर्थः ॥ ७४॥

शास्त्रादिभेदकल्पनायाः संहतिसिद्धत्वे तदधीनात्मन्यजत्वकल्प-
नापि संहतिसिद्धेव स्यादित्याशङ्क्याङ्गीकरोति । अज इति ॥ कल्पित-
मात्मन्यजत्वमित्यत्र हेतुमाह । परतन्त्रेति ॥ परिणामवादप्रसिद्ध-
जन्मना भ्रान्त्येवात्मा जायते जन्मनश्च विभ्रमत्वे तन्निषेधस्याजत्वस्यापि
तथात्वं युक्तमित्यर्थः ॥ श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्क्यामाह । नन्विति ॥ शा-
स्त्रादिभेदस्य कल्पितत्वे तत्प्रयुक्तमात्मन्यजत्वमपि कल्पितं स्यादित्यर्थः ॥
किमजोऽयमात्मेति व्यवहारस्य कल्पितत्वं किं वा तदुपलक्षितस्य
रूपस्येति विकल्पप्राप्त्याङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥ अजोऽयमित्यभि-
धानस्य संहतिप्रयुक्तत्वान्तद्व्यवहारस्य कल्पितत्वमिष्टमित्यर्थः ॥ कैव-
ल्यावस्थायामजोऽयमित्यभिधानाभावमभ्युपेत्य व्यावर्त्तनं दर्शयति । पर-
मार्थेनेति ॥ आत्मन्यजत्वव्यवहारस्य कल्पितत्वे द्वितीयाह्न्याख्यानेन
हेतुमाह । यस्मादिति । परेषां परिणामवादिनां शास्त्रे या परि-
णामप्रसिद्धिस्तामपेक्ष्य तन्निषेधेन योऽज इत्यात्मोक्तः स संहत्यैव यतो
जायते अतश्च प्रतियोगिनो जन्मनः संहतिसिद्धत्वान्तन्निषेधरूपमजत्व-
मपि तादृगेवेत्यर्थः । अजत्वादिव्यवहारोपलक्षितस्वरूपस्याकल्पित-
त्वम् । तस्य कल्पनाधिष्ठानत्वात् । न च कल्पितस्य शास्त्रादेरकल्पितेन

अभूताभिनिवेशोऽस्ति इयं तत्र न विद्यते ।
 इयामावं स बुद्धैव निर्निमित्तो न जायते ॥७५॥
 यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।

यस्यादसद्विषयस्तस्यादसत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति के-
 वलमभिनिवेश आग्रहमात्रं इयं तत्र न विद्यते । मिथ्या
 ऽभिनिवेशमात्रञ्च जन्मनः कारणं यस्यात्तस्याद्वयामावं
 बुद्धा निर्निमित्तो निवृत्तमिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न
 जायते ॥७५॥

जात्यात्रमविहिता आशीर्वाजितैरनुष्ठीयमानात् धर्मा-
 देवत्वादिप्राप्तिहेतवे उत्तमाः केवलाश्च । धर्मापेक्षया-
 मिथ्या मनुष्यत्वादिप्राप्तयर्था मध्यमाः । तिर्यगादिप्राप्तिनि-
 मिता अधर्मावच्छायाः प्रवृत्तिविशेषाश्चाधमाः । तावुत्तम-
 मध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान् यदा एकमेवाद्वितीय-

प्रमितिहेतुत्वं प्रति विवादे विन्वादिप्रमितिहेतुत्वस्य सम्प्रतिपन्नत्वा-
 दिति द्रष्टव्यम् ॥७४॥

ननु ज्ञानस्य कल्पितशास्त्रादिजन्यत्वे मिथ्यात्वान्नापुनरावृत्तिफल-
 साधनत्वं तत्राह । अभूतेति ॥ यदि द्वितीयः संसारः सत्यः स्यात् तदा
 तन्निवृत्त्यर्थं साधननापि वस्तुभूतमभिधीयते मिथ्याभिनिवेशमात्रस्य त-
 मिथ्योपायजन्येनापि ज्ञानेन वस्तुनिष्ठेन निवृत्तिः सिध्यतीति श्लो-
 कायैकययति । यस्यादित्यादिना ॥७५॥

निर्निमित्तो न जायत इत्युक्तं तदेतत् प्रपञ्चयति । यदेति ॥
 उत्तमान् हेतून् विभजते । जातीति ॥ आशीर्वाजितैः फलवृष्णार-
 विहितैरधिकारिभिरिति यावत् । देवत्वादित्यादिशब्देनोत्कृष्टं जन्म
 गृह्यते । केवलत्वेन धर्माणां प्राधान्यम् । मनुष्यत्वादीत्यादिशब्देन

तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥७६॥
अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाऽद्वया ।

मात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न पश्यति
यथा बालैर्दृश्यमानं गगने मलं विवेकी न पश्यति तद्व-
त्तदा न जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैरुत्तमा-
धममध्यमफलरूपेण । न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते
जीवाद्वभाव इव सस्यादिः ॥७६॥

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति ह्युक्तम् । सा पुनरनु-
त्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीति । उच्यते । परमार्थदर्शनेन निर-
स्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्यानिमित्तस्य चित्तस्येति

लभ्यनयोनयो गृह्यन्ते । तिर्यगादीत्याशब्देनाधमजन्म संगृह्यते ॥
वाक्योन्नतानादत्तानिदृशतौ तन्निदृश्यं विगिनष्टि । अविद्येति ॥
अविदुषां प्रतीयमाना हेतवो विदुषां न प्रतिभालीत्येतत् दृष्टान्तेन
स्फुटयति । वर्येति ॥ उक्तेऽर्थे हेतत्वेन चतुर्मीपादं व्याचष्टे । न
हीति ॥७६॥

तदा न जायते चित्तमिति कालपरिच्छेदप्रतीतेरागन्तुकत्वमा-
शङ्क्य परिहरति । अनिमित्तस्येति ॥ चित्तस्य हि निमित्तवर्जितस्य
नित्यमिद्वयस्य वा सर्वदाऽनुत्पत्तिः सा निर्विशेषा द्वितीया चेत्त्वत्वे हेतु-
माह । अजातस्येति ॥ सर्वस्य हेतस्य चित्तदृश्यत्वेन मिथ्यात्वा-
न्निमित्तमिद्वयस्य परिपूर्णस्य चित्ताख्यस्य स्फुरणस्य जन्मायोगान्तदनु-
त्पत्तिरुक्तलक्षणा यत्केत्यर्थः । उक्तमनूद्याकाङ्क्षापूर्वकं श्लोकसवतार्थं
व्याकरोति । हेत्वभाव इत्यादिना ॥ यथा रूपकल्पनाकालेऽपि
शुक्लेरूप्यत्वं स्वाभाविकं तथा जन्मकल्पनाकालेऽपि संविदो निर्वि-
शेषाद्वितीयब्रह्मता स्वाभाविकी ॥ जन्ममभनिदृश्यपेक्षया तु तदा

अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्वतः ॥७७॥
बुद्ध्या निमित्ततां सत्यां हेतुं दृश्यगनाप्नुवन् ।

न्या मोक्षाख्याऽनुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा नि-
र्विशेषाऽद्वया च । पूर्वमप्यजातस्यैवाऽनुत्पन्नस्य चित्तस्य
सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः । यस्मात्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तत्
द्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समा-
ऽद्वयैवाऽनुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति
सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः ॥७७॥

यथोक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयाभावादनिमि-
त्तताञ्च सत्यां परमार्थरूपां बुद्ध्या हेतुं धर्मादिकारणं

न जायत इत्युक्तमित्याह । सर्वदेति ॥ न केवलं मोक्षावस्थैव
चेतन्यस्याजलं किन्तु घटाद्युपरक्तस्यापीत्यभिप्रेत्याह । सर्वावस्था-
सिद्धिः ॥ सर्वस्यैव चित्तप्रतिबिम्बस्य विम्बकल्पब्रह्मरूपत्वादिति
हेतुमभिप्रेत्याह । अद्वया चेति ॥ ततोयपादाद्यं कथयति । पूर्व-
मपीति ॥ तत्र हेतुमाह । यस्मादिति ॥ तस्माद्रज्जुसर्पवत् द्वैतस्य
जन्मनश्च दृश्यत्वादस्तुतोऽसत्त्वादिति यावत् ॥७७॥

द्वयाभावं स बुद्धैव निर्निमित्तो न जायत इत्युक्तं तदिदानीं
प्रपञ्चयति । बुद्धेति ॥ द्वैताभावोपलब्धतां सत्तामनाद्यनन्तां पर-
मार्थभूतां प्रतिपद्य देवादयोनिप्राप्तौ धर्मादिहेतुमसाङ्गर्थेणाऽनुतिष्ठन्
न्यदा विद्वानवतिष्ठते तदा सर्वसंसारकारणहितं पदमश्रुवानो न
पुनः शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥ श्लोकं व्याचष्टे । यथोक्तेति ॥ दृश्य-
त्वादिना हेतुना द्वैतस्य रज्जुसर्पादिवदेव कल्पितत्वं यथोक्तन्यायेन
चेतन्यस्य जन्मनि यत् द्वयं निमित्तं तस्याभावतामभावोपलब्धतां
सत्तां निमित्ताभावादेवानाद्यनन्तां तस्मादेव सत्यां बुद्धेति योजना ।

वीतशोकं तथा काममभयं पदमश्नुते ॥७८॥

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्त्तते ।

वस्तुभावं स बुद्धेव निःसङ्गं विनिवर्त्तते ॥७९॥

देवादियोनिप्राप्तयेष्टयगनामुवन्ननुपाददानस्तत्तवाह्यैषणः
सन् कामशोकादिवर्जितमविद्यादिरहितमभयस्यदमश्नुते
पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥७८॥

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वयेऽद्वयास्तित्वनिश्चयो-
ऽभूताभिनिवेशस्तस्मादविद्याव्यामोहरूपाद्धि सदृशे तद-
नुरूपे तच्चित्तं प्रवर्त्तते । तस्य द्वयस्य वस्तुनोऽभावं यदा
बुद्धिवास्तदा तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्त्ततेऽभूताभि-
निवेशविषयात् ॥७९॥

ष्टयगिति देवतादिप्रकृतजन्मप्राप्तये धर्म्मं मनुष्यत्वप्राप्तये धर्म्मा-
धर्म्मा तिर्यगाद्यधमयोनिप्राप्तये चाधर्म्ममसाङ्ग्यैर्योगाननुतिष्ठन्ति
यावत् प्रकृतस्य ज्ञानवतो धर्म्माद्यनुष्ठानायोगे हेतुं सूचयति । त्यक्तेति ॥
यावत् ॥ कार्यभूतसर्वानर्थराहित्यमुक्त्वा पुनरभयमित्यस्यार्थमाह ।
अविद्येति ॥७८॥

यथोक्तपदप्राप्तिः सदास्तीत्याशङ्क्याह । अभूतेति ॥ व्यभिचा-
रितादिहेतुद्वयात्प्रदर्शनेन वा साध्यसाधनात्मनो द्वैतस्य वस्तुनो-
ऽभावं यदा पुमान् बुद्धिवास्तदा वस्तुभावं पुरुषो बुद्धेव निःसङ्गं चित्तं
यथा पुनर्न प्रवर्त्तते तथा तन्निवृत्तिमनुवृत्तो भवतीत्यर्थः ॥ अक्षराणि
विभजते । यस्मादित्यादिना ॥ यस्मादभूताभिनिवेशान्तदनुरूपे चित्तं
प्रवर्त्तते तस्मान्निःसङ्गं निवर्त्तते इति सस्वल्पः ॥ अभूताभिनिवेशमेव
विशदयति । असतीति ॥ अभिनिवेशस्याऽविद्याव्यामोहरूपत्वमन्वय

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तस्मात्स्वयमजमद्वयम् ॥ ८० ॥
अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातमभवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मा धातुः स्वभावतः ॥ ८१ ॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्याभाव-
दर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता स्वरूपैव तदा
स्थितिर्येषा ब्रह्मरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरस-
घनलक्षणा । स हि यस्माद्विषयगोचरः परमार्थदर्शिनां
बुद्धानां तस्मात्स्वयं परं निर्विशेषमजमद्वयञ्च ॥ ८० ॥

पुनरपि कीदृशञ्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह ।
स्वयमेव तत्प्रभातं भवति नादित्याद्यपेक्षं स्वयं ज्योतिः-
स्वभावमित्यर्थः । सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतत् ।

व्यतिरेकसिद्धिमिति वक्तुं हील्युक्तम् । तदनुरूप इत्यत्र तच्छब्देनाभिवेशो
नट्यते तस्यैव भिन्नविशेषविषयस्येत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अभयं पदमश्रुत इत्यत्र हेतुमाह । निवृत्तस्येति ॥ विद्वदनुभ-
वैकगस्यत्वादशेषकल्पनातीतत्वाच्च सिद्धं मोक्षस्याभयादिरूपत्वमित्याह ।
विषय इति ॥ अचरार्थं कथयति । निवृत्तस्येत्यादिना ॥ ८० ॥

यो मोक्षो विदुषां विषयो दर्शितस्तमेव पुनर्विशिनष्टि । अज-
मिति ॥ स्वयम्प्रभातत्वे हेतुमाह । सकृदिति ॥ कल्पितस्य सर्वस्य
भारणाद्धर्मा नाशो कथमपि परतन्त्रो भवितुमर्हत्यनवस्थानादतः
स्वयं ज्योतिरित्याह । धर्म इति ॥ किञ्च धीयते निधीयते सर्वं निः-
क्षिप्यते सुषुप्तादावस्मिन्निति धातुरात्मोच्यते । तथा च सर्वस्य ज्ञान-
साधनस्योपसंहारेऽपि सुषुप्तौ साक्षितयाऽऽत्मनः सिद्धेः स्वयं ज्योतिरिति

वीतशोकं तथा काममभयं पदमश्नुते ॥ ७८ ॥

अभूताभिनिवेशाद्भि सदृशे तत्प्रवर्त्तते ।

वस्तुभावं स बुद्धेव निःसङ्गं विनिवर्त्तते ॥ ७९ ॥

देवादियोनिप्राप्तयेष्टयगनामुवन्ननुपाददानस्त्राक्तवाह्यैषणः
सन् कामशोकादिवर्जितमविद्यादिरहितमभयमपदमश्नुते
पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वयेऽद्वयास्तित्वनिश्चयो-
ऽभूताभिनिवेशस्तस्मादविद्याव्यामोहरूपाद्भि सदृशे तद-
नुरूपे तच्चित्तं प्रवर्त्तते । तस्य द्वयस्य वस्तुनोऽभावं यदा
बुद्ध्वास्तदा तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्त्ततेऽभूताभि-
निवेशविषयात् ॥ ७९ ॥

ष्टयगिति देवतादिप्रकटजन्मप्राप्तये धर्म्मं मनुष्यत्वप्राप्तये धर्म्मा-
धर्म्मा तिर्यगाद्यधमयोनिप्राप्तये चाधर्म्ममसाङ्ख्येयाननुतिष्ठन्निति
यावत् प्रकृतस्य ज्ञानवतो धर्म्माद्यनुष्ठानायोगे हेतुं सूचयति । त्यक्तेति ॥
यावत् ॥ कार्यभूतसर्वानर्थराहित्यनुक्त्वा पुनरभयमित्यस्यार्थमाह ।
अविद्येति ॥ ७८ ॥

यथोक्तपदप्राप्तिः सदास्तीत्याशङ्क्याह । अभूतेति ॥ व्यभिचा-
रित्वादिवहेतुरद्वयात्मदर्शनेन वा साध्यसाधनात्मनो द्वैतस्य वस्तुनो-
ऽभावं यदा पुमान् बुद्ध्वास्तदा वस्तुभावं पुरुषो बुद्धेव निःसङ्गं चित्तं
यथा पुनर्न प्रवर्त्तते तथा तद्विद्वन्निमनुवृत्तो भवतीत्यर्थः ॥ अक्षराणि
विभजते । यस्मादित्यादिना ॥ यस्मादभूताभिनिवेशात्तदनुरूपे चित्तं
प्रवर्त्तते तस्मान्निःसङ्गं निवर्त्तते इति सखन्धः ॥ अभूताभिनिवेशमेव
विशदयति । असतीति ॥ अभिनिवेशस्याद्विद्याव्यामोहरूपत्वमन्वय

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।

विषयः स हि बुद्धानां तत्स्वाम्यमजमद्वयम् ॥ ८० ॥

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातम्भवति स्वयम् ।

सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मा धातुः स्वभावतः ॥ ८१ ॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्याभाव-
दर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता स्वरूपैव तदा
स्थितिर्येषा ब्रह्मरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरस-
घनलक्षणा । स हि यस्माद्विषयगोचरः परमार्थदर्शिनां
बुद्धानां तस्मात्स्वाम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयञ्च ॥ ८० ॥

पुनरपि कीदृशश्चाऽसौ बुद्धानां विषय इत्याह ।
स्वयमेव तत्प्रभातं भवति नादित्याद्यपेक्षं स्वयं ज्योतिः-
स्वभावमित्यर्थः । सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतत् ।

व्यतिरेकसिद्धमिति वक्तुं हीत्युक्तम् । तदनुरूप इत्यत्र तच्छब्देनाभिवेशो
गृह्यते तस्यैव्यभिनिवेशविषयस्येत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अभयं पदमश्रुत इत्यत्र हेतुमाह । निवृत्तस्येति ॥ विद्वदनुम-
वैकगस्यत्वादशेषकल्पनातीतत्वाच्च सिद्धं मोक्षस्याभयादिरूपत्वमित्याह ।
विषय इति ॥ अक्षरायै कथयति । निवृत्तस्येत्यादिना ॥ ८० ॥

यो मोक्षो विदुषां विषयो दर्शितस्तमेव पुनर्विशिनष्टि । अज-
मिति ॥ स्वयम्प्रभातत्वे हेतुमाह । सकृदिति ॥ कल्पितस्य सर्वस्य
धारणाद्विज्ञानाशौ कथमपि परतन्त्रो भवितुमर्हत्यनवस्थानादतः
स्वयं ज्योतिरित्याह । धर्म इति ॥ किञ्च धीयते निधीयते सर्वं निः-
क्षिप्यते सुषुप्तादावस्मिन्निति धातुरात्मोच्यते । तथा च सर्वस्य ज्ञान-
साधनस्योपसंहारेऽपि सुषुप्ता साक्षितयाऽऽत्मनः सिद्धेः स्वयं ज्योतिः-

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।

यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥८२॥

एष एवं लक्षण आत्माख्यो धर्मेना धातुः स्वभावतो वस्तु
स्वभावत इत्यर्थः ॥८१॥

एवमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्मात् लौकिकैर्न
गृह्यते इत्युच्यते । यस्मात् यस्य कस्यचित् द्वयवस्तुनो
धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुख-
माव्रियते ऽनायासेनाच्छाद्यत इत्यर्थः । अद्वयोपलब्धिनि-
मित्तं हि तत्रावरणं न यत्नान्तरमपेक्षते । दुःखञ्च विव्रि-
यते प्रकटीक्रियते । परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात् । भग-

मेष्टव्यमित्याह । धातुरिति ॥ किञ्चात्मत्वादेवात्मनः स्वयं ज्योतिष्-
मन्यथा घटवदनात्मत्वप्रसङ्गादित्याह । स्वभावत इति ॥ आकाङ्क्षा-
पूर्वकं श्लोकमवतार्य तदक्षराणि योजयति । पुनरपीत्यादिना ॥
धातुस्वभावत इत्येकपादं गृहीत्वा व्याचष्टे । वस्त्विति ॥८१॥

विवक्षितार्थस्तु पूर्वस्मान्नातिरिच्यते । आत्मा चेदुक्तलक्षणो
विवक्षितस्तर्हि किमित्यसौ श्रुत्याचार्योपदिष्टस्तथैव सर्वैर्न गृह्यते
तत्राह । सुखमिति ॥ मिथ्याभिनिवेशादात्मतत्त्वस्वरूपसुखं सदैवा-
च्छाद्यते तस्मादेव तस्ततोऽपि दुःखं सर्वदा प्रकटीक्रियते तेनाऽसौ
भगवान् आत्मा श्रुत्याचार्योपदिष्टोऽपि न विस्पष्टो भवतीत्यर्थः ॥ श्लोक-
व्यावर्त्यां शङ्कां दर्शयति । एवमिति ॥ स्वयं ज्योतिष्वादि प्रागुपदिष्ट-
प्रकारेणेति यावत् ॥ तत्र श्लोकमवतार्य व्याकरोति । उच्यत इत्यादिना ॥
द्वैते गृह्यमाणेऽपि कथमात्मस्वरूपस्य सुखस्वरूपस्यानायासेनाच्छाद्य-
मानत्वं तत्राह । द्वयेति ॥ इतश्चात्मतत्त्वं यथावन्न प्रतिभातीत्याह ।
दुःखञ्चेति ॥ यथायदात्मप्रयाभावे हेतुमाह । परमार्थेति ॥ देवो

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्तीति नास्ति वा पुनः ।

वानसावात्मा ऽद्वयो देव इत्यर्थः । अतो वेदान्तेराचार्यैश्च
वहुश उच्यमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः । आश्चर्या
वक्ता कुशलोऽस्य लब्धेति श्रुतेः ॥ ८२ ॥

अस्ति नास्तीत्यादि सूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहा
भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनबुद्धि-
लक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह । अस्तीति । अस्त्यात्मेति
वादी कश्चित्प्रतिपद्यते । नास्त्येत्यपरो वैनाशिकः । अस्ति
नास्त्येत्यपरोऽहं वैनाशिकः सदसद्वादी दिग्वासाः । नास्ति
नास्त्येत्यन्तशून्यवादी । तत्रास्तिभावश्चलः घटाद्यनित्य-
विन्नक्षणत्वात् । नास्तिभावः स्थिरः सदा विशेषत्वात् ।

याथातथ्येन न भातीति शेषः ॥ सुखस्य विद्यमानस्य आवरणमविद्य-
मानस्य दुःखस्य विवरणमिति स्थिते फलितमाह । अत इति ॥ श्रुत्या-
चार्योपदेशस्य तात्पर्यशून्यत्वं वारयति । बहुश इति ॥ आत्मनि
प्रवचनस्य परिज्ञानेन दुर्लभत्वे प्रयाणमाह । आश्चर्य इति ॥ ८२ ॥

परीक्षकाभिनिवेशानामप्यात्मावरणत्वे सति लौकिकपुरुषादभि-
निवेशानां तदावरणत्वं किमु वक्तव्यमिति साधयति । अस्तीत्यादिना ॥
श्लोकतात्पर्यमाह । अस्तीति ॥ प्रमाता देहादिव्यतिरिक्तोऽस्तीत्याद्यो
वैशेषिकादिपक्षः । देहादिव्यतिरिक्तोऽपि नासौ बुद्धेर्यतिरिच्यते ।
क्षणिकस्य विज्ञानस्यैवात्मत्वादिति द्वितीयो विज्ञानवादिपक्षः । त-
तीयो दिगम्बरपक्षः । चतुर्थे तु शून्यवादिपक्षे शून्यस्यात्यन्तिकत्व-
द्योतनार्था वीक्षा । द्वितीयाहं विभजते । तत्वेत्यादिना ॥ अनित्येभ्यो
घटादिभ्यः सुखाद्याकारपरिणामितया बलक्षणादास्तभावो योऽयं
प्रमातोक्तः स चलः स विशेषः सन् परिणामीत्यर्थः । देहाद्यतिरि-

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।

यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥८२॥

एष एवं लक्षण आत्माख्यो धर्मा धातुः स्वभावतो वस्तु
स्वभावत इत्यर्थः ॥८१॥

एवमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्मात् लौकिकैर्न
गृह्यते इत्युच्यते । यस्मात् यस्य कस्यचित् द्वयवस्तुनो
धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुख-
माव्रियते ऽनायासेनाच्छाद्यत इत्यर्थः । अद्वयोपलब्धिनि-
मित्तं हि तत्रावरणं न यत्नान्तरमपेक्षते । दुःखञ्च विवि-
यते प्रकटीक्रियते । परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात् । भग-

मेष्टव्यमित्याह । धातुरिति ॥ किञ्चात्मत्वादेवात्मनः स्वयं ज्योतिष्वा-
मन्यथा घटवदनात्मत्वप्रसङ्गादित्याह । स्वभावत इति ॥ आकाङ्क्षा-
पूर्वकं श्लोकमवतार्य तदक्षराणि योजयति । पुनरपीत्यादिना ॥
धातुस्वभावत इत्येकपादं गृह्यते व्याचष्टे । वस्त्विति ॥८१॥

विवक्षितार्हस्तु पूर्वस्मान्नातिरिच्यते । आत्मा चेदुक्तलक्षणो
विवक्षितस्तर्हि किमित्यसौ श्रुत्याचार्योपदिष्टस्तथैव सर्वैर्न गृह्यते
तत्राह । सुखमिति ॥ मिथ्याभिनिवेशादात्मतत्त्वस्वरूपसुखं सदैवा-
च्छाद्यते तस्मादेव तस्तुतोऽसदपि दुःखं सर्वदा प्रकटीक्रियते तेनाऽसौ
भगवान् आत्मा श्रुत्याचार्योपदिष्टोऽपि न विस्मृतो भवतीत्यर्थः ॥ श्लोक-
व्यावर्त्यां शङ्कां दर्शयति । एवमिति ॥ स्वयं ज्योतिष्वादि प्रागुपदिष्ट-
प्रकारेणेति यावत् ॥ तत्र श्लोकमवतार्य व्याकरोति । उच्यत इत्यादिना ॥
इति गृह्यमाणेऽपि कथमात्मस्वरूपस्य सुखस्वरूपस्यानायासेनाच्छाद्य-
मानत्वं तत्राह । द्वयेति ॥ इतश्चात्मतत्त्वं यथावन्न प्रतिभातीत्याह ।
दुःखञ्चेति ॥ यथावदात्मप्रधाभावे हेतुमाह । परमार्थेति ॥ देवो

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्तीति नास्ति वा पुनः ।

वानसावात्मा ऽद्वयो देव इत्यर्थः । अतो वेदान्तेराचार्य्येऽथ
वहुश उच्यमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः । आश्चर्य्यो
वक्ता कुशलोऽस्य लभ्येति श्रुतेः ॥८२॥

अस्ति नास्तीत्यादि सूक्ष्मविप्रया अपि पण्डितानां ग्रहा
भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनबुद्धि-
लक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह । अस्तीति । अस्त्यात्मेति
वादी कश्चित्प्रतिपद्यते । नास्त्येत्यपरो वैनाशिकः । अस्ति
नास्त्येत्यपरोऽङ्गवैनाशिकः सदसदादी दिग्वासाः । नास्ति
नास्त्येत्यन्तशून्यवादी । तत्रास्तिभावश्चलः घटाद्यनित्य-
विलक्षणत्वात् । नास्तिभावः स्थिरः सदा विशेषत्वात् ।

याथातथ्येन न भातीति शेषः ॥ सुखस्य विद्यमानस्य आवरणमविद्य-
मानस्य दुःखस्य विवरणमिति स्थिते फलितमाह । अत इति ॥ श्रुत्या-
चार्य्योपदेशस्य तात्पर्य्यशून्यत्वं वारयति । बहुश इति ॥ आत्मनि
प्रवचनस्य परिज्ञानेन दुर्लभत्वे प्रयाणमाह । आश्चर्य्य इति ॥८२॥

परीक्षकाभिनिवेशानामप्यात्मावरणत्वे सति लौकिकपुरुषाऽभि-
निवेशानां तदावरणत्वं किमु वक्तव्यमिति साधयति । अस्तीत्यादिना ॥
श्लोकतात्पर्य्यमाह । अस्तीति ॥ प्रमाता देहादिव्यतिरिक्तोऽस्तीत्याद्यो
वैशेषिकादिपक्षः । देहादिव्यतिरिक्तोऽपि नासौ बुद्धेर्व्यतिरिच्यते ।
क्षणिकस्य विज्ञानस्यैवात्मत्वादिति द्वितीयो विज्ञानवादिपक्षः । त-
तोऽपि दिगम्बरपक्षः । चतुर्थे तु शून्यवादिपक्षे शून्यस्यात्यन्तिकत्व-
द्योतनार्था बोद्धा । द्वितीयार्धं विभजते । तत्वेत्यादिना ॥ अनित्येभ्यो
घटादिभ्यः सुखाद्याकारपरिणामितया विलक्षणत्वादस्तिभावो योऽयं
प्रमातोक्तः स चलः स विशेषः सन् परिणामीत्यर्थः । देहादिव्यतिरि-

चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥८३॥

कोऽथश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदा वृतः ।

उभयञ्चलस्थिरविषयत्वात् सदसङ्भावोऽभावोऽन्ताभावः ।
प्रकारचतुष्टयास्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदा-
दिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोविवेकी ।
यद्यपि पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्
किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः ॥८३॥

कीदृक पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधाद्बालिशः
पण्डितो भवतीत्याह । कोऽथः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता
एता उक्ता अस्तिनास्तीत्याद्याश्चतस्रो यासां कोटीनां ग्रहै-
र्ग्रहणैरूपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदा आवृत आच्छादित-
स्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवान् आभिरस्ति-

क्तोऽपि प्रमाता बुध्यतिरिक्तो नास्तीति । यो नास्तिभावः स स्थिरो
निर्विशेषत्वान्तदभावस्येत्याह । नास्तिभाव इति । प्रकारचतुष्टयास्या-
न्तित्वस्य नास्तीत्यस्यास्तिनास्तिवस्य नास्तिनास्तिवस्य चेति यावत् ।
बालिशत्वे सिद्धे फले तं न्यायमुपसंहरति । किंस्विति ॥८३॥

आत्मनो यदावरणमुक्तं तदुपसंहरति । कोऽथ इति ॥ यासां
कोटीनां परीक्षकपरिकल्पितनिर्णयनिरूपणीयानां ग्रहैरभिविवेकवि-
शेषैरात्मा सदा समावृतस्ताः खल्वेताश्चतस्रः कोऽथः सन्ति । तथा
चानो न यथावदात्मप्रथनमित्यर्थः ॥ यदि सदात्मा समावृतो न तर्हि
तस्य ज्ञानं ज्ञाने वा नास्ति नैराकाङ्क्षं ज्ञातव्यान्तरपरिशेषादित्या-
शङ्क्याह । भगवानिति ॥ आत्मा हि वस्तुतोऽस्तीत्यादिकल्पनाहितो
येनोपनिषत्प्रवणेन प्रतिपन्नः स सर्वज्ञो ज्ञातव्यान्तरमपश्यन् परमार्थ-
पण्डितो निराकाङ्क्षो भवतीत्यर्थः ॥ श्लोकनिरस्यामाकाङ्क्षं दर्शयति ।

भगवानाभिरसृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥८४॥
प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमाहृत ॥८५॥

नास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरसृष्टोऽस्त्रादि विकल्पनाव-
र्जित इत्येतत् । येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेष्वौ-
पनिषदः पुरुषः स सर्वदृक् सर्वज्ञः परमार्थपरिणित
इत्यर्थः ॥८४॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं
स ब्राह्मणः । एष नित्यो महिमेति श्रुतेः । अनापन्नादि-
मध्यान्तम् । आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिलया अनापन्ना
अप्राप्ता यस्याद्वयपदस्य न विद्यन्ते तदनापन्नादिमध्यान्त
ब्राह्मण्यं पदम् । तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परस्मादात्म-

कीदृशिति ॥ किमिति परमार्थतत्त्वं जिज्ञास्यते । तज्ज्ञानात् पाण्डि-
त्यभिप्रायमिति । यदवबोधोपादिति ॥ तत्र श्लोकमवतार्य व्याक-
रोति । आहत्यादिना ॥ तेषामेव प्रावादुकानामुपलब्धिनिश्चयैरिति
सम्बन्धः । यो भगवानुक्तविशेषणः स येनेति योजना ॥८४॥

ज्ञानवतोऽपि यावज्जीवादिश्रुतिवशादग्निहोत्रादि कर्त्तव्य-
मित्याशङ्क्याह । प्राप्येति ॥ यथोक्तां चतुःकोटिविनिष्कृतामिति
यावत् । समस्तत्वं ज्ञातव्यशेषशून्यत्वं परिपूर्णज्ञप्तिरूपत्वम् ॥ तत्र
ब्राह्मण्यपदप्रयोगे प्रमाणमाह । स ब्राह्मण इति ॥ स विद्वानप-
रोक्षोक्तब्रह्मसत्त्वः सन् फलावस्थो मुख्यो ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः ।
ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदो विद्या फलावस्थस्यैव स्वभावो महिमेत्युक्तो
निर्विकारो दृढिहासाभावादेकरूपो भवतीति वाक्यान्तरस्यार्थः ॥

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।

दमः तस्मिन्तिद्वान्तत्वाद्देवं विद्वाञ्छमं व्रजेत् ॥ ८६ ॥

लाभादूर्ध्वमीक्षते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः । नैव तस्य
कृतेनार्थ इत्यादिगीतासूत्रेः ॥ ८५ ॥

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं
यदेतदात्मस्वरूपेणावस्थानम् । एष विनयः शमोऽप्येष एव
प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते । दमोऽप्येष एव प्रकृ-
तिदान्तत्वात् स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्रह्मणः ।
एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्छमम् उपशान्तिं
स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेत् ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत
इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

तदेव पदं विशिनष्टि । अनापन्नादिमध्यान्तमिति ॥ तद्व्याकरोति ।
आदीति ॥ अन्वयं दर्शयन्नवशिष्टं व्याचष्टे । तदेव प्राप्तेति ॥ ज्ञानवान्
फलावस्थः सन् कृतकतो न तस्य किञ्चिदस्ति कर्त्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे भग-
वद्वाक्यं प्रमाणयति । नैव तस्येति ॥ ८५ ॥

यावज्जीवादिश्रुतेरविद्वद्विषयत्वाद्विदुषो नाग्निहोत्रादि कर्त्त-
व्यमित्युक्तम् । इदानीं तस्यापि नियोगतोऽस्ति कर्त्तव्यमित्याशङ्क्याह ।
विप्राणामिति ॥ ब्रह्मविदां ब्राह्मणानामेष विनयः स्वभावतो न
नियोगाधीनां कर्त्तव्यतामधिकरोति । शमोऽपि स्वाभाविको न नियो-
गेन क्रियते दमोऽपि स्वभावसिद्धत्वान्न नियोगमपेक्षते ॥ एवं कूटस्थ-
मात्मतत्त्वं विद्वान् पुमानग्रेष्विक्रियाम्ब्रह्मस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः ॥
अक्षरार्थं कथयति । विप्राणामित्यादिना ॥ तमेव स्वाभाविकं विनयं
विवृणोति । यदेतदिति ॥ ८६ ॥

सवस्तु सोपलम्भञ्च द्वयं लौकिकमिष्यति ।

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि रा. दोषा-
स्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि । अतो मिथ्यादर्शनानि
तानीति तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्वा-
गादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सस्यग्दर्श-
नमित्युपसंहृतम् । अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थं आरम्भः
सवस्तु संवृतिः । सता वस्तुना सह वर्त्तत इति सवस्तु ।
तथा सोपलम्भिरुपलम्भः तेन सह वर्त्तत इति सोपलम्भः ।
सोपलम्भञ्च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहक-
लक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं लौकिकं जागरित-
मित्येतत् । एवं लक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु । अवस्तु

एष एवेत्यात्मस्वभावो गृह्यते । परमतनिराकरणमुखेनात्मतत्त्व-
मवधारितम् । अधुना स्वप्रक्रियवाटवस्थाव्योपन्यासमुखेनापि तदव-
धारयितुमवस्थाद्वयमुपन्यस्यति । सवस्त्विति ॥ वृत्तानुवादपूर्वकं
प्रकरणशेषस्य तात्पर्यं दर्शयति । एवमिति ॥ शिष्यसाधारोपदृष्टि-
माश्रित्य जाग्रदादिपदार्थपरिशुद्धिपूर्वको बोधप्रकारः स्वप्रक्रिया तथा
तस्यैवात्मतत्त्वस्य प्रदर्शनपरो अन्यशेष इत्यर्थः ॥ तत्र जागरितमुदा-
हरति । सवस्त्विति ॥ यद्वि प्रातिभाषिकं व्यवहारिकञ्च स्थूलमर्थ-
जातमादित्यादिदेवतानुगृहीतैरिन्द्रियैरुपलभ्यते । तज्जागरितमि-
त्यर्थः ॥ द्वयमित्यस्यार्थमाह । शास्त्रादीति ॥ तत्र श्लोके लोकप्रसिद्ध-
मित्येतदुच्यते । लौकिकमिति ॥ तदुच्यते । लोकादिति ॥ न
केवलं जागरितमिदं लोके प्रसिद्धम् । किन्तु वेदान्तेष्वपि परम्परया
ज्ञानोपायत्वेन प्रसिद्धमित्याह । एवं लक्षणमिति ॥ स्वप्नोपन्यासपर-
मुत्तरार्द्धं योजयति ॥ अवस्त्विति ॥ बाह्येन्द्रियप्रयुक्तो व्यवहारः संवृ-

अवस्तु सोपलम्भञ्च द्वयं लौकिकमिष्यते ॥८७॥

अवस्तुपलम्भञ्च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।

संहृतेरर्थभावात् । सोपलम्भं वस्तुवत् उपलम्भनमुपलम्भो-
ऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्त्तत इति सोपलम्भञ्च । शुद्धं
केवलं प्रतिविविक्तं जागरितात् स्थूलात् लौकिकं सर्व-
प्राणिसाधारणत्वादित्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥८७॥

अवस्तुपलम्भञ्च ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतल्लोकोत्त-
रम् । अत एव लोकातीतम् । ग्राह्यग्रहणविषयो हि
लोकः तदभावात् सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवं स्मृतं
सोपायस्मरमार्थतत्त्वं लौकिकम् । शुद्धं लौकिकं शुद्धं

तिशब्दार्थः सोऽपि स्थूलार्थवन्न स्वप्नं भवति । तथा च वाच्यं बु करणोप-
संहृतेषु जागरितवासनानुसारेण मनसस्तत्तदर्थभासाकारावभासनं
स्वप्नशब्दमित्यर्थः ॥ शुद्धमित्यस्य केवलमिति पर्यायं गृहीत्वा विव-
क्षितमर्थमाह । प्रविविक्तमिति ॥ तस्यापि लोकप्रसिद्धत्वं लौकिकमि-
त्यनेनोक्तं तद्विदुषोति । सर्वप्राणीति ॥८७॥

सम्प्रति सुषुप्तं दर्शयति । अवस्त्विति ॥ स्थूलं सूक्ष्मञ्च वस्तु
विषयभूतं यत् न विद्यते तत्तथा इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजस्यो वा स्थूला-
र्थावगाही वासनात्मको वा यतोपलम्भो न सम्भवति तदशेषविज्ञानशून्यं
सुषुप्तमिति विशिनष्टि । अनुपलम्भञ्चेति ॥ नन्विदं कारणात्मना वृत्ते-
रवस्थानम् । न च कारणं लोके प्रसिद्धम् ॥ कार्यस्यैवावस्थादया-
त्मकस्य तथात्वादित्यभिप्रेत्याह । लोकोत्तरमिति ॥ तस्य साक्षि-
प्रसिद्धत्वं विवक्षित्वोक्तमित्याह । स्मृतमिति ॥ ज्ञानज्ञायात्मकमेवावस्था-
नयं तुरीयञ्च परमार्थतत्त्वं विददनुभवसमधिगम्यमित्याह । ज्ञान-
मिति ॥ श्लोकगतम्यदद्वयमनूद्य विवक्षितमर्थं कथयति । अवस्त्विति ॥

ज्ञानं ज्ञेयञ्च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥^{८८} ॥
ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।

लौकिकं लोकोत्तरं क्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञानं
ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि । एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः ।
सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावाद्भिज्ञेयं परमार्थ-
सत्यं तुर्याख्यमद्वयमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः । सदा सर्वदैत-
ल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः
प्रकीर्तितम् ॥८८॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये । ज्ञेये च लौकिकादौ
त्रिविधे च पूर्वं लौकिकं स्थूलम् । तदभावेन पञ्चाच्छुद्धं

प्राज्ञप्रवृत्तिविभागवर्जितत्वादेव कुतो लोकातीतत्वमित्याशङ्क्याह ।
प्राज्ञेति ॥ सुषुप्तश्चेदं लौकिकं कथं, तदवगम्यतामित्याशङ्क्याह ।
सर्वप्रवृत्तीति ॥ अत्रस्याद्वयबीजं सुषुप्तमित्येतत्प्रसिद्धं शास्त्रविदा-
मित्याह । एवमिति ॥ अवस्थात्रयमेवमुक्त्वा ज्ञानपदार्थं कथयति ।
सोपायमिति । ज्ञानमत्र मनोवृत्तिरूपं विवक्षितमवस्थात्रयातिरिक्त-
मपि परीक्षकपरिकल्पितं ज्ञेयं सम्भवतोत्याशङ्क्याह । सर्वेति ॥ सर्वै-
रेव प्रावादुकैः शुष्कतर्कजल्पनशीलैः परिकल्पितस्य कार्यकारणादि-
रूपवस्तुनोऽवस्थात्रये नियमेनान्तर्भावाज्ज्ञेयान्तरं नास्तीत्यर्थः ॥ ज्ञेय-
मेव विशेषेण ज्ञेयं विज्ञेयमुच्यते न तदपि नावस्थात्रयातिरिक्तमस्ती-
त्याशङ्क्याह । विज्ञेयमिति ॥ उपायोपेयभूते यथोक्तोऽर्थे विदुषामभि-
मतमादर्शयति । सदेति ॥८८॥

आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्भवतीति श्रुत्या यत्प्रतिज्ञातं
तदुक्तवस्तुज्ञाने फलतीति कथयति । ज्ञाने चेति ॥ ज्ञानज्ञेयवेदने
विवक्षितं क्रममनुक्रामति । पूर्वमित्यादिना ॥ यत्पुनरवस्थात्रया-

सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥८६॥

हेयज्ञेयाप्राक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।

लौकिकीरथभावात् तेन लोकोत्तरमित्येव क्रमेण स्थानतया-
भावेन परजायसत्ये तुर्य्यद्वयेऽजेऽभये विदिते स्वयमेवात्म-
स्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वज्ञासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः
सर्वज्ञता ईहास्त्रिलोके भवति महाधियो महाबुद्धेः ॥
सर्वलोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा
भवति । सज्जिदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः ।
नहि परमार्थविदो ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथाऽन्येप्रां
प्रावादुकानाम् ॥८६॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का

तीतं तुरीयन्तरिज्ञाने विवक्षितं क्रमं दर्शयति । स्थानेति ॥ तुर्य्य-
विदिते सतीति सम्बन्धः । तस्य स्थानतयात्मदैताभावोपलक्षितत्व-
माह । अद्वय इति ॥ जन्मादिसर्वविक्रियारहितत्वेन कौटस्थं
कथयति । अज इति ॥ कार्यसम्बन्धस्तत्र नास्तीति वक्तुं कारणभूता-
विद्यासम्बन्धाभावमभिदधाति । अभय इति ॥ यथोक्ततत्त्वज्ञानस्य
परिपूर्णब्रह्मरूपेणावस्थानं फलमाह । स्वयमेवेति ॥ ज्ञानवतो यथोक्तं
फलमर्चिरादिमार्गायत्तमिति शङ्कां वारयति । इहेति ॥ उक्तज्ञान-
वतो महाबुद्धित्वे हेतुमाह । सर्वलोकेति ॥ ज्ञानवतो यथोक्तं ज्ञानं
कदाचिद्भवेदपि कालान्तरेऽभिभूतमसत्कल्पस्य विषयतीत्याशङ्काह ।
एवंविद इति ॥ श्रुत्याचार्यप्रसादाद्विदिते स्वरूपे स्वरूपस्फुरणस्य
व्यभिचाराभावात्परिपूर्णज्ञप्तिरूपता विदुषो भवतीत्युक्तं स्फुटयति ।
न हीति ॥८६॥

अवस्थात्रयस्य ज्ञेयत्वनिर्देशात्परमार्थतोऽस्तित्वमाशङ्क्य परि-

तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलभ्यस्त्रिषु स्मृतः ॥६०॥

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्माः ।

परमार्थतो माभूदित्याह । हेयानि च त्रीणि
जागरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्वातव्या-
नीत्यर्थः । ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम् ।
आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तवाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा पाण्डित्य-
वात्यमौनाख्यानि साधनानि । पाक्यानि रागद्वेषमोहा-
दयो दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि । सर्वाण्येतानि
हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयानि भिक्षुणा उपायत्वेनेत्यर्थः ।
अग्रयाणतः प्रथमतस्तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्पर-
मार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा । उपलम्बनमुपलम्बो-
ऽविद्याकल्पनामात्रम् । हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्म-
विद्भिर्न परमार्थसत्यतस्त्वयाणामित्यर्थः ॥६०॥

परमार्थतस्तु प्रकृत्या स्वभावत आकाशवदाकाशा-

हरति । हेयेति ॥ शङ्कोत्तरत्वेन श्लोकमवतार्य हेयशब्दार्थं व्याचष्टे ।
लौकिकादीनामिति ॥ तान्येव त्रीणि विभजते । जागरितेति ॥ पा-
ण्डित्यं वेदान्ततात्पर्याभिज्ञत्वमद्वितीयवस्तुविचारचर्तृत्वपरिनिष्पन्नं
अवगमम् । वात्यं दम्भदर्पाहङ्कारादिराहित्यम् । युक्तिः श्रुतार्था-
नुसन्धानकुशलत्वं मौनं मुनेः कर्मज्ञानाभ्यासलक्षणं निदिध्यासन-
शब्दितम् । तान्येतान्याप्तव्यानि ॥ यद्यपि ज्ञेयस्य विज्ञेयत्वं युक्तं
तथापि कथं हेयादीनां विज्ञेयत्वमित्याशङ्क्याह । उपायत्वेनेति ॥ तदेव
प्रकटयितुं प्रथमत इत्युक्तम् ॥ उत्तरार्द्धं व्याचष्टे । तेषामिति ॥ हेया-
दीनां रज्ज्, सर्पवदविद्याकल्पितत्वान्नास्ति परमार्थत्वशङ्केत्यर्थः ॥६०॥

यदुक्तं ज्ञेयं चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वमिति तदिदानीं

विद्यते नहि नानात्वं तेषां क्वच न किञ्चन ॥६१॥

आ^{तैत्ति}प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।

सुल्य^{रोरथभावात्}वेन अनसर्वगतत्वे सर्वे धर्मा आत्मनो ज्ञेया
सुमुक्षुभिरनादयो नित्याः । बद्धवचनकृतभेदाशङ्कां निरा-
कुर्वन्नाह । क्वचन किञ्चन । किञ्चिदणुमात्रमपि तेषां
न विद्यते नानात्वतिति ॥६१॥

ज्ञेयतापि धर्माणां स्रष्टृत्वैव न परमार्थत इत्याह ।
आदीति । यस्मादादौ बद्धा आदिवद्धाः प्रकृत्यैव स्वभा-
वत एव । यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितैवं नित्यबोध-
स्वरूपा इत्यर्थः । सर्वे धर्माः सर्वे आत्मानः । न च तेषां
निश्चयः कर्त्तव्योऽनित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः । न सन्दि-
ह्यमानस्वरूपा एवं नैवञ्चेति यस्य सुमुक्षोरेवं यथोक्तप्रका-
रेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षता आत्मार्यं परार्थं वा ।

स्फुटयति । प्रकृत्येति ॥ बद्धवचनप्रयोगप्राप्तं दोषम्प्रत्यादिशति ।
विद्यत इति ॥ कल्पितभेदनिबन्धनस्वद्धवचनमित्यर्थः । क्वच नेति
देशकालावस्थाग्रहणम् । अणुमात्रमपीति कार्यकारणभावस्यांशं शि-
भावस्य चोपादानम् ॥६१॥

ज्ञेयशब्दप्रयोगात् मुख्यमेव ज्ञेयत्वं प्राप्तं प्रत्युदस्यति । आदिवद्धा
इति ॥ यथोक्तरीत्या समुत्पन्नस्य ज्ञानस्य फलमाह । यस्येति ॥ प्रथम-
पादस्य तात्पर्यमाह । ज्ञेयतापीति ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ।
यथेति ॥ पदान्तरस्यार्थं कथयति । न चेति ॥ निश्चितस्वरूपत्वमेव
व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति । नेत्यादिना ॥ न खत्वात्मा स्वसत्तायामेवं
नैवमिति सन्दिह्यमानस्वरूपो भवितुमलम् । तस्य स्फुरणव्यभिचा-
रात्तद्रूपस्य प्रागेव साधितत्वादित्यर्थः ॥ द्वितीयाहं व्याकरोति ।

यस्यैवभावति चान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥६२॥
आदि शान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्दिताः ।
सर्वधर्माः समाभिन्ना अजं साख्यं ॥६३॥

यथा सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वयं परार्थ-
स्त्वेवभावति । चान्तिर्बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा
स्वात्मनि सोऽमृतत्वायावत्तत्वाय कल्पते । सोऽद्य स-
मर्थो भवतीत्यर्थः ॥६२॥

तथा नापि शान्तिर्कर्तव्यताऽऽलनीत्याह । यस्यादादि
शान्ता नित्यमेव शान्ता अनुत्पन्ना अजाच्च प्रकृत्यैव सुनि-
र्दिताः सुष्ठु परस्वभावा नित्यमुक्तस्वभावा इत्यर्थः । सर्वे
धर्माः समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्ना अजं साख्यं विशारदं
विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्यान्तस्माच्छान्तिर्मौलो वा नास्ति
कर्तव्य इत्यर्थः । न हि नित्यैकस्वभावस्य वतं किञ्चिदेव
स्यात् ॥६३॥

यस्येत्यादिना ॥ आत्मस्वरूपस्य स्वरूपत्वं यद्योक्तप्रकारः । बो-
धाख्यो निश्चयो बोधनिश्चयस्तन्निमित्तनिरपेक्षत्वं स्वार्थन्यायं वा यस्य
भवति सोऽमृतत्वाय कल्पत इति सूच्यते ॥ तदेव दृष्टान्तेन साध-
यति । यथेत्यादिना ॥ इतिशब्दो यथेत्येतेन सूच्यते सोऽमृतत्वाये-
त्यादिवचनात् ॥६२॥

आगन्तुकममृतत्वं प्रत्युदस्यति । आदि शान्ता इति ॥ श्लोकस्य
तात्पर्यमन्तरार्धे निदिशति । तथा नापीत्यादिना ॥ उक्तमेवार्थं
चतुर्थपादेन सङ्क्षिप्तं दर्शयति । अजमिति ॥ श्लोकार्धमुपसंहरति ।
विशुद्धमिति ॥ उक्तरूपतानङ्गीकारे नोक्तस्यापुरुषार्थता स्यादित्याह ।

वैशारद्यन्तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।

भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥६४॥

अजे केचिद्विध्यन्ति सुनिश्चिताः ।

परमार्थभावात् तत्रैव
ये तान् परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नास्ते एवाकृपणा लोके
कृपणास्तन्वे इत्याह । यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः
संसारानुगा इत्यर्थः । के । पृथग्वादाः पृथक् नाना वस्त्व-
त्वेवं वदनं तेषां ते पृथग्वादा इति न इत्यर्थः । त-
स्मात्ते कृपणाः क्षूद्राः स्मृता यस्माद्वैशारद्यं विषुद्धिर्नास्ति
तेषां भेदे विचरतां हैतुसार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्त्त-
मानानामित्यर्थः । अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभि-
प्रायः ॥६॥

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपरिण्डितैर्वेदान्तव-
हिष्ठैः क्षुद्रैरल्पज्ञैरनवगाह्यमित्याह । अजे साम्ये पर-

न हीति ॥ संसारदुःखोपशमनं सुखजन्यं यदि क्रियते तदा कृतक-
स्यानित्यत्वमवश्यं स्थावरोत्यर्थः ॥६३॥

इदानीं सुमुक्तप्ररोचनार्थमविद्वन्निन्दां दर्शयति । वैशारद्य-
न्विति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यं दर्शयति । यथोक्तमिति ॥ उत्तरार्द्धमादौ
योजयति । यस्मादिति ॥ तस्मादित्युत्तरेणास्य सम्बन्धः ॥ प्रथमार्द्ध-
मुक्तेऽर्थे हेतुत्वेन व्याचष्टे । यस्मादित्यादिना ॥ समनन्तरोक्तस्य यस्मा-
दित्यस्याऽपेक्षितं पूरयति । अत इति ॥६४॥

एवमविद्वन्निन्दाम्प्रदश्यं विद्वत्प्रशंसां प्रसारयति । अज इति ॥
कूटस्थे वस्तुनि निर्विशेषे येषामसम्भावनाविपरीतभावनाविरहि निर्द्वा-
रणरूपं विज्ञानसम्भावनोपनीतमस्ति ते हि व्यवहारभूमौ महति
निरतिशये तत्त्वे परिज्ञानतत्त्वान्महानुभावा भवन्तीत्यर्थः । ननु तत्त्व-

ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥^{६५} ॥

मार्थतत्त्वे एवमेवेति ये केचित् स्त्वन्मार्थतत्त्वज्ञाना-
भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके महाज्ञानाः । तत्त्वज्ञ-
तत्त्वविषयकज्ञाना इत्यर्थः । तच्च तेषां वर्त्म तेषां वि-
दितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते
नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः ॥ सर्वभूतात्मभूतस्य
सर्वभूतहितस्य च । देवा मार्गेऽपि सुह्यन्ति ह्यपदस्य
पदैपिणः ॥ शकुनीनामिवाकाशे गतिर्नवोपलभ्य इत्यादि
स्मरणात् ॥६५॥

विषयज्ञानस्य सर्वलोके साधारणत्वान्न तत्त्वज्ञानतां किमिति प्रशंसा
प्रस्तूयते तत्राह । तच्चेति ॥ श्लोकस्य तात्पर्यमाह । यदिति ॥
यदित्युक्तमात्रमहात्मभिरनवगाह्यमिति योजनीयम् । अमहात्म्यं
चुद्रहृदयत्वम् । तत्र हेतुरपण्डितैरिति । अपाण्डित्यं विवेकरहि-
तत्वम् । तत्र हेतुर्वेदान्तेत्यादिना सूच्यते । तेषां पौर्वापर्येण पर्या-
लोचनापरिचयपराङ्मुखैरित्यर्थः ॥ विचारचातुर्याभावादेव पदार्थ-
वाक्यार्थविभागावगमशून्यत्वमाह । अल्पप्रज्ञैरिति ॥ तर्हि पारमा-
र्थिके तत्त्वे केपासेव मनीषा हसुन्मिपेदित्याशङ्क्य तेषां केषाञ्चिदेव
तद्विधानामित्याह । ये केचिदिति ॥ स्त्रियादीनामुपनिषत्द्वाराज्ञाना-
धिकाराभावेऽपि द्वारान्तरप्रयुक्तस्तदधिकारः सम्भवतीत्यभिप्रेत्यापी-
त्युक्तम् ॥ तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभत्वमभ्युपेत्य चेदुक्तं चतुर्थपादं व्याचष्टे ।
तच्चेति ॥ ज्ञानवतां विज्ञातं परमार्थतत्त्वमन्येषामनवगाह्यमित्यत्र
प्रमाणमाह । सर्वभूतेति ॥ सर्वेषाम्भूतानां ब्रह्मादीनां स्वस्वपर्य-
न्तानामात्मा परम्ब्रह्मा तदभूतस्य विदुषः सर्वत्वात्मभूतस्य सर्वेषु भूतेषु
निरूपचरितस्वरूपत्वादेव परमहितस्य परमप्रेमास्पदत्वादेव परम-

अजेष्टमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।

यतो ^{तिष्ठति} ~~पद~~ केन मसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥८६॥

अणु ^{यभावात्} तेन अप्र जायमानेऽविपश्चितः ।

कथं महाज्ञानत्वमित्याह । अजेष्टमसंक्रान्तं धर्मे-
ष्व्वात्मस्वजमचलञ्च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौशां प्रज्ञाशस्य
यतस्तस्यादसंक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमजमिष्यते । यस्यान्त
क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानन्तेन कारणेनासङ्गं तत् कीर्तितमा-
काशकल्पमित्युक्तम् ॥८६॥

इतोऽन्येषां वादिनामणुमालेऽन्येऽपि वैधर्मेण वस्तुनि

सुखात्मकस्य प्राप्य पुरुषार्थविरहिणो मार्गे देवा विद्यावन्तोऽपि पद-
मन्वेष्टमाणा विविधं मोहमुपच्छन्तीत्यर्थः । महात्मनो ज्ञानवतो गन्तव्य-
पदरहितस्य परिपूर्स्यस्य गतिरवगन्तमशक्येति निर्दर्शनवशेन विषद-
यति । शकुनीनामिति ॥८५॥

अजं सात्यमित्युक्तं प्रमेयम् । तद्विषयनिश्चययान् प्रमाता । प्रमाणं
तथाविधनिश्चयज्ञानमिति । वस्तुपरिच्छेदे कथं महाज्ञानत्वमित्या-
शङ्क्याह । अजेष्टमिति ॥ अजा धर्मा चित्ततिविस्त्रा जीवा विव-
क्ष्यन्ते । तेष्वजं ज्ञानं कूटस्थदृष्टिरूपं बिम्बकल्पं ब्रह्माचलमात्मसूत-
मभ्युपगम्यते । तथा च मानसेयादिभावस्य कल्पितत्वेऽपि वस्तुतो
वस्तुपरिच्छेदाभावादुपपन्नं तज्ज्ञानवतां महाज्ञानत्वमित्यर्थः । किञ्चा-
स्मन्मते ज्ञानस्य पदसङ्कलमङ्गीकृतं तदपि विषयभावादेव सिद्धमिति ।
ततश्च मुक्त्यै निर्विषयं मन इति यदुच्यते तदप्यविरुद्धमित्याह । यतो
नेति ॥ आकाङ्क्षापूर्वं कं पूर्वाङ्घ्रिं योजयति । कथमित्यादिना ॥ उक्त-
राङ्घ्रिं व्याचष्टे । यस्यान्नेति ॥ नित्यविज्ञप्तिरूपस्यात्मनोऽसङ्कल्पं प्रागपि
सूचितमित्याह । आकाशेति ॥८६॥

कूटस्थं ब्रह्मैव तत्त्वमिति स्वमते ज्ञानमसङ्गं सिद्धमतीत्युक्तं मता-

असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥६७॥

अलम्भावरणाः सर्वे धर्माः ।

वहिरन्तर्वा जायमाने उत्पद्यमानेऽऽ किनो
ऽसङ्गताऽसङ्गत्वं सदा नास्ति किमु वक्तव्यमावरणच्युतिर्वन्ध-
नाशो नास्तीति ॥६७॥

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं
तर्हि धर्माणामावरणं नेत्युच्यते । अलम्भावरणाः । अल-
म्भमप्राप्तमावरणमविद्यादिवन्धनं येषां ते धर्मा अलम्भा-
वणा बन्धनरहिता इत्यर्थः । प्रकृतिनिश्चलाः स्वभाव-
शुद्धा आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता यस्यान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्त
स्वभावाः । यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते । नायकाः
स्वामिनः समर्था बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः ।

नतरे पुनः स्ववियत्वाज्ज्ञानस्यासङ्गत्वमसङ्गतं प्रसज्येतेत्याह । अणुमात्रे-
ऽपीति ॥ अविद्वद्दृष्ट्या कस्यचिदपि पदार्थस्य जन्माङ्गीक रे ज्ञानस्य
तदनुपपत्तिरेनासङ्गत्वायोगे बन्धध्वंसलक्षणं प्रयोजनं दूरापास्तम्भवती-
त्याह । किमुतेति ॥ श्लोकाचराणि व्याकरोति । इत इति ॥६७॥

विद्वानद्वैतवादी पञ्चम्या परान्वश्यते । न चेदावरणच्युतिरिष्यते
तर्हि स्वीकृतमावरणमित्याशङ्क्याह । अलम्भेति ॥ बोद्धृत्वं तर्हि कथ-
मित्याशङ्क्य बोधनशक्तिमत्त्वादित्याह । बुध्यन्त इति ॥ शङ्कोत्तरत्वेन
श्लोकमवतारयति । तेषामित्यादिना ॥ अविद्वद्दृष्ट्याऽविद्यावरणं
सिध्यति ॥ न तत्त्वदृष्ट्येतिभिन्नैव व्याचष्टे ॥ अलम्भेति ॥ उक्तैरेवं हेतु-
कथनायं विशेषणवयमित्याह । यस्यादिति ॥ तस्मात् बन्धनरहिता
इति पूर्वैर्ण सम्बन्धः । आत्मनो यथोक्तस्वभावत्वे बोधत्वं न सिध्यती-

आदौ बुद्ध्यास्तथा मुक्ता बुद्ध्यन्त इति नायकाः ॥^{६८} ॥

क्रमतो न क्रमते यज्ञानं धर्मेषु तापिनः ।

यथा रथभावात् वेन पेऽपि सविता प्रकाशत इत्युच्यते
यथा वा नित्यवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्यु-
च्यते तद्वत् ॥६८॥

यस्मान्न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं
विषयान्तरेषु धर्मेषु धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा । तापिनः
तापोऽस्यास्तीति तापी तस्य सन्तापवतो निरन्तरस्याका-
शकल्पस्येत्यर्थः । पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा सर्वे धर्मा
आत्मनोऽपि तथा ज्ञानवदेवाकाशकल्पत्वान्न क्रमन्ते क्वचि-
दप्यर्थान्तर इत्यर्थः । यदादावुपन्यस्तं ज्ञानेनाकाशकल्पो-
नेत्यादि तदिदमाकाशकल्पस्य तापिनो बुद्धस्य तदनन्य-
त्वादाकाशकल्पं ज्ञानं न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तरे ॥ तथा

त्याक्षिपति । यदोवमिति ॥ पदान्तरेणोत्तरमाह । उच्यत इति ॥
मुख्यावेव क्रियाकर्तारौ प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामभिधेयावित्याशङ्क्य नियम-
मुदाहरणाभ्यां निरस्यति । यद्येत्यादिना ॥६८॥

किमिति मुख्ये बोद्धृत्य सम्भाविते तदेव नेष्टमित्याशङ्क्य ज्ञानस्य
विद्वद्दृष्ट्या विषयसम्बन्धासम्भवादित्याह । क्रमत इति ॥ किञ्च जी-
वानां ब्रह्मात्मना विमुक्तादाकाशवत् क्रियासमवाया योगान्न मुख्यं
बोद्धृत्यं सेद्धमलमित्याह । सर्व इति ॥ ज्ञानमात्रं पारमार्थिकं तत्रैव
ज्ञातृज्ञेयादिकल्पितमिति सौगतमतमेव भवतापि संगृहीतमित्याश-
ङ्क्याह । ज्ञानमिति ॥ तत्र पूर्वार्द्धाक्षराणि व्याकरोति । यस्मादिति ॥
यद्वि परमार्थदर्शिनो ज्ञानं तन्न विषयान्तरेषु क्रमते किन्तु सवितरि प्रका-
शवदात्मन्येव प्रतिष्ठितं यस्मादिष्यते तस्मान्नास्मिन् मुख्यत्वं सेद्धमर्हती-

सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥६६॥
दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साध्यं विनाशकम्

धर्मा इति आकाशमिवाचलमविक्रिय त्वम-
द्वितीयमसङ्गमदृश्यमग्राह्यमशनायाद्यतीतं ब्रह्मात्मत-
त्त्वम् । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्परिलोपो विद्यत इति श्रुतेः ।
ज्ञानज्ञेयज्ञातभेदरहितं परमार्थतत्त्वमद्वयमेतन्न बुद्धेन
भाषितम् । यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना
चाद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम् । इदन्तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदा-
न्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः ॥६॥

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्वस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते ।

त्यर्थः । परमार्थदर्शनो विशेषणं तापिन इति ॥ तद्व्याचष्टे । तापो-
स्येत्यादिना ॥ आत्मनो मुख्यस्य बोद्धृत्वस्याभावे हेतुन्तरं सर्वे धर्मा-
स्तथेति तद्विभजते । सर्व इत्यादिना ॥ प्रकरणादावुक्तमेव किमर्थं
पुनरिहोच्यते तत्राह । यदादाविति ॥ तदिदमिहोपसंहृतमिति
शेषः ॥ क्रमते न हीत्यादेरक्षरार्थमुपसंहरति । आकाशकल्पस्येति ॥
सर्वे धर्मास्तथेत्यस्यार्थं निगमयति । तथेति ॥ धर्मा न क्रमन्ते कचि-
दपीति शेषः । तथा च नात्मनि मुख्यं बोद्धृत्वं किम्वैपकारिकमिति
प्रकृतमुपसंहर्तुमिति शब्दः ॥ पूर्वार्द्धस्य तात्पर्यमाह । आकाशमिति ॥
ज्ञानमित्यादि व्याचष्टे ॥ ज्ञानेति ॥ सकलभेदविकलं परिपूर्णम-
नादिनिधनं ज्ञप्तिमात्रमुपनिषदेकसमधिगम्यं तत्त्वमिह प्रतिपाद्यते ।
मतान्तरे तु नैवमिति कुतो मतसाङ्ख्यीशङ्कावकाशमासादयेदि-
त्यर्थः ॥६६॥

प्रकरणचतुष्टयविशिष्टस्य शास्त्रस्यादाविवान्तेऽपि परदेवतातत्त्व-
मनुस्मरन् तद्वनमस्काररूपं मङ्गलाचरणं सम्पादयति । दुर्दर्शमिति ॥

बुद्धा पदसनानात्वं नमस्कुर्मो यथा बलम् ॥१००॥

इति कौटिल्यप्रत्ययकृता माण्डूक्योपनिषत्का-

रथभावात् ॥ ॐ तत् सत् ॐ ॥

दुर्दृशं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दृशम् । अस्तिनास्तीति चतु-
ष्कोटिवर्जितत्वात् दुर्विज्ञेयमित्यर्थः । अत एवातिगम्भीरं
दुःप्रवेशं महासमुद्रवदकतप्रज्ञैः । अजं साम्यं विशारदम् ।
इदृक् पदसनानात्वं नानात्ववर्जितं बुद्धा अवगम्य तद्भूताः

दुर्विज्ञेयत्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणानधिगम्यत्वं हेतुं विवक्षित्वा विगिनष्टि ।
अतिगम्भीरमिति ॥ प्रत्यक्षादिभिरनवगाह्यत्वे कूटस्थत्वं निर्विशेषत्वं
सर्वसम्बन्धविधुरत्वञ्चेति हेतुत्वयमभिप्रेत्याह । अजमित्यादिना ॥
विशेषणत्वयं तर्हि कुतश्चिदनवगतं तन्नास्त्येवेति निश्चेतुं युक्तम् । प्रमा-
णाधीनत्वात् प्रमेयसिद्धेरित्याशङ्क्योपनिषद्भिरतद्वन्साध्यासापाकरण-
द्वारेणावगम्यमानत्वान्नेवमित्याह । पदमिति ॥ तत्र तर्हि सकल-
विभागविकले कुतो नमस्कारक्रिया स्वीक्रियामर्हतीत्याशङ्क्याह । अना-
नात्वमिति ॥ यद्यपि वस्तुतस्तस्मिन्नानात्वं नावकल्प्यते तथापि यथा
सामर्थ्यं मायाबलमवलम्ब्य काल्पनिकं नानात्वमनुस्मृत्य नमस्कारक्रिया
प्रचयादिप्रयोजनवती प्रामाणिकैरभिप्रेतेत्यर्थः ॥ श्लोकस्य तात्पर्य-
माह । शास्त्रेति ॥ यदि परमार्थतत्त्वं शास्त्रस्यादाविबालेऽपि नम-
स्क्रियते तदा तस्याद्यत्नमध्येऽनुसन्धेयतया श्रुतिः सिध्यति । तेन
तदर्थमादाविवायसानेऽपि प्रकटीभावस्तद्विषयश्लोकेनोपदिश्यते । तथा
च प्रतिपाद्यस्य ब्रह्माणो महामहिमत्वं समधिगतमित्यर्थः । दुर्दृश-
त्वमुक्तं व्यनक्ति । अस्तीति ॥ सर्वेषामेव यद्योक्ते परमार्थतत्त्वे प्रवेशा-
नुपपत्तिमाशङ्क्य सम्प्रदायरहितानां तथा त्वेऽपि तद्वतां मैवमित्याह ।
अजतेति ॥ कौटल्यादिसिद्धार्थं व्याख्यातमेव पदत्वयमनुवदति । अज-

तन्तो नमस्तु तस्मै पदाय । अव्यवहार्यमपि व्यवहार-
गोचरमापाद्य यथा बलं यथा शक्ती

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्यं । ते-
मत्ताम्प्रापदेकं ह्यनेकम् । विविधविषयध-
र्यानां प्रणतभयविहन्तु ब्रह्मा यत्तन्मतोऽस्मि ॥१॥

मिति ॥ उक्तं वेदान्तैकगम्यं तत्त्वं द्वैताभावोपलक्षितमित्याह । ईदृ-
गिति ॥ यथोक्तं ब्रह्मा ज्ञात्वा ज्ञानसामर्थ्यात् ब्रह्मीभूतश्चेदाचार्यस्तर्हि
कथं तस्मै नमस्तु प्रवर्तते ॥ न हि परिपूर्णं वस्तु वस्तुतो व्यव-
हारगोचरतामाचरतीत्याशङ्क्याह । अव्यवहार्येति ॥ परमार्थतो
व्यवहारगोचरत्वेऽपि परमार्थतत्त्वस्य सायाशक्तिमनुसृत्य व्यवहार-
गोचरतान्परिकल्प्य नमस्कारक्रिया तस्मिन् प्रयोजनवशादाश्रिते-
त्यर्थः ॥१००॥

इदानीं भाष्यकारोऽपि भाष्यपरिसमाप्तौ शास्त्रप्रतिप्रादितं पर-
देवतातत्त्वमनुसृत्य तन्मस्काररूपं मङ्गलाचरणमाचरति । अजम-
पीति ॥ यत् ब्रह्माशेषोपनिषत्सिद्धं सर्वथा परिच्छेदरहितं तद-
हम्पत्यग्भतं नमस्ये तद्विषयं प्रकटीभावं करोमिति सम्बन्धः ॥ प्रणाम-
प्रयोजनमाह । प्रणतेति ॥ ये हि प्रणता ब्रह्माणि प्रकटीभूतास्तन्निष्ठा-
स्तिष्ठन्ति तेषां यद्विद्या तत्कार्यात्मकत्वं तदाचार्योपदेशजनितबुद्धि-
वृत्तिफलकाखण्डं ब्रह्मैव हन्ति । न खलु जडावृत्ति वस्तुसामर्थ्य-
मन्तरेणान्नानं स्वकार्यमपनेतुमत्तं । बुद्धीद्वो बोधो बोधेद्वा
यद्विरुक्तं फलमादधातीत्यर्थः ॥ तस्यैव ब्रह्माणः सम्प्रति तटस्थ-
लक्षणं विवक्षति । अजमित्यादिना ॥ यद्यपि जग्गादिसर्वविक्रिया-
शून्यं वस्तुतो ब्रह्मा कूटस्थमास्तीयते तथापि तदैश्वर्येण तदीय-
शक्त्यात्मके नानिर्व्याच्याज्ञानवैशवेन योगादाज्ञाशदिकार्यात्मना जन्म-
सम्बन्धस्माद्य जगतो निदानमिति व्यपदेशभागभवति तथा च
अतिसूत्रयोर्ब्रह्माणो जगत्कारणत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ यद्यपि चेदं
ब्रह्मा कूटस्थतया विभुतया च गतिवर्जितमवतिष्ठति तथापि यथो-

ज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं भूता-
 न्यतिष्ठति । तज्जननग्राहघोरे ससुद्रे । कारुण्या-
 दुःखभावात् । वेन रेर्दुर्लभं भूतहेतोयस्थं पुज्याभिपुज्यं
 परमं । अमुं भवदपातैर्न तोऽस्मि ॥ २ ॥

ज्ञानानमाहात्म्यात् कार्यब्रह्मताम्नाश्च गतिमन्तां गन्तव्यतां वाद-
 र्थधिकरणन्यायेन प्रतिपद्यते तदाह । अगति चेति ॥ यद्यपि चेदं
 ब्रह्म वस्तुतो निरस्तसमस्तनानालमेकरसमद्वितीयमुपनिषद्विरभ्युपगम्यते
 तथापि जीवो जगदीश्वरश्चेत्येतद्यदनाद्यनिर्वाच्याविद्यावशादनेकमिव
 प्रतिभातीत्याह । एकमिति ॥ केषां दृष्ट्या पुनरनेकत्वं ब्रह्मणोऽवगम्यते
 तदाह । विविधेति ॥ विविधाश्च ते विषयधर्माश्च तदुपग्राहितया सुध-
 विपर्ययं विवेकविकलमीक्षणं येषां तेषां दृष्ट्या ब्रह्मणोऽनेकत्वधीनं तु
 तत्त्वतः । शान्तदृष्ट्या तु तस्मिन्नेकत्वमेव प्रामाणिकमित्यर्थः ॥ १ ॥

सम्प्रति अन्यप्रणयनप्रयोजनप्रदर्शनपूर्वकं परमगुरुत्वं आगम-
 शास्त्रस्य व्याख्यातस्य प्रणेतृत्वेन व्यवस्थितान् प्रणमति । प्रजेति ॥ यो
 हि कारुण्यादिदं ज्ञानाख्यममृतं भूतहेतोस्तदुपकारार्थमुद्धारं त-
 परमगुरुं नतोऽस्मीति सम्बन्धः । अमुमिति तस्य पुरो देशे सन्निहित-
 त्वेनापरोक्षत्वं सूचितम् ॥ परमगुरुत्वं पूज्यानामपि गुरुणामतिश-
 येन पूज्यत्वादाचार्यस्य समधिगतमित्याह । पूज्येति ॥ नमस्कारप्रक्रि-
 यामुपकटयति । पादपातैरिति ॥ पादौ तदीयौ पादौ तयोः लकीय-
 स्योत्तमाङ्गस्य पाताः भूयोभूयो नमीभावास्तैरिति यावत् ॥ आचार्यो
 ज्ञानाख्यममृतं कथं भूतमुद्धृतवानित्यपेक्षायामुक्तम् । अन्तरस्थमिति ॥
 कस्यान्तरस्थमिति विवक्षायामाह । वेदेति ॥ कथमित्यत्राह । प्रजेति ॥
 मेधासहिता प्रज्ञैव वैशाखः मन्यानदण्डलस्य वेधो वेधनं प्रक्षेपणं तेन
 क्षुभितो विलोडितो जलनिधेर्वेदनामा तव्यान्तरेभ्यन्तरे स्थितमिदम-
 मृतमिति यावत् ॥ उक्तस्य ज्ञानामृतस्य प्रसिद्धादमृतादवान्तरवैषम्य-
 मादर्शयति । अमरैरिति ॥ यद्वि भगवता नारायणेन क्षीरसागरान्त-
 रावस्थितममृतं समुद्धृतं तदेव कथञ्चिदमरा लेभिरे द्रवन्त तैरनायास-

यत्प्रज्ञासोकभासा प्रतिष्ठितमन्त्राणां चकारो
मज्जोन्मज्जच्च धीरे ह्यमज्जदुपज से ।
यत्प्रादावाश्रितानां श्रुतिश्रवणविनयः । तत्-
पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्य ॥ ३ ॥

लभ्यं न भवति । ज्ञानसाक्षी सन्मन्त्रैरेव लभ्यतादित्यर्थः । यदि कारु-
ण्यादिदसम्भूताचार्येण वेदेदधेर्भूतोपकारार्थमुद्भूतं कथं तर्हि कारुण्यं
तस्य प्रादुरभूदित्यागङ्गाह । भूतानीति ॥ योऽयं समुद्भवत्तुत्तारः
संसारस्तस्मिन्नविरतमनवरं सन्ततमेव यानि जननानि विग्रहभेद-
ग्रहणानि तान्येव यथा जचरालैर्धौरे क्रूरे भवहरे मज्जाति मन्त्र-
त्पानि परवशानि भूतान्मुक्तयः कारुण्यमाचार्यस्य प्रादुरासीत् । तत-
श्चेदष्टतमुद्भूतं भूतेभ्यो यानि रक्षितवानित्यर्थः ॥ २ ॥

अथाधुना स्वगुरुर्गर्वित्यापान्नावन्तरङ्गलमङ्गीकृत्य तदीयपाद-
सरसीरुहयगलं प्रणमि । यत् प्रजेति ॥ तेषामस्मद्गुरुणास्मादौ
सर्वभावैर्व्याप्तोदेहात्मकटोभावैर्नमस्य नम्रीभवासीति सख्यः ।

च जगतः सर्वस्या पावनीयौ पवितृतया पवितृत्यमापाद्य निर्द-
ष्टाते तौ च स्वस्वनिं सर्वेषां भवः संसारस्तत्प्रवृत्तं भवं स्वकार-
णेन सहापनुद्य पुरुषपरिवर्त्तमानं कुर्वन् एतानेव गुरुन् विशिनष्टि ।
यत्प्रजेति ॥ से मम तन्मन्त्रःकरणं तस्मिन् मोहो व्याकुलताहेतुरवि-
वेकस्तस्य कारणं यत्प्रज्ञानं तदेषां प्रज्ञेवालोक्तस्तस्य भा दीप्तिस्तथा
प्रतिष्ठितं विनाशमत् गतवत् तत्प्रादाविति सख्यः । न केवलम-
ज्ञानमेवाचार्यस्यारपगच्छन्त्योभवति किन्तु तत्कार्यमनर्थजातमपि
कारणनिवृत्तौ तिमलमज्ञानमाभासीभवतीत्याह । मज्जोन्मज्ज-
दिति ॥ असक्तगो देवतिर्यगादियोनिषु योऽयमुपजनो नानाविध-
देहभेदसंघोतवोदन्वानुदधिलस्मिन्नतिवासने भयावहे कदाचिद्य-
थोक्तमज्ञानं वृत्तेण मज्जदन्मिव्यक्तमवतिष्ठते तदेव चावस्थाविषये
तद्वृत्तेणोन्मज्जव्यक्तमनर्थकरं परिवर्त्तते । तदेवमतिक्रूरे संसारसागरे
परिवर्त्तमानसं स्वकार्यमाचार्यप्रसादादपनीतमासीदित्यर्थः । न

न्य

दु

पर

ताज्ञा

र्यधिक

ब्रह्म व

तथापि

प्रतिभा

तदाह

विपर्यय

तत्त्वतः

शास्त्र

हि का

परमगु

त्वेनापरं

येन पूज

याम्प्रक

स्योत्तमा

ज्ञानाख्य

कस्यान्तर

मेधासहि

चुभितो

ष्टतमिति

मादर्शयति

रावस्थित

वृक्षं गीमो विष्णुः सवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरि-
 ब्राजकः । तज्जननग्राहघोभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे
 अलातः रडुर्लभं भूतुर्धर्मप्रकरणं समाप्तम् । समाप्तोऽयं
 ग्रन्थश्च ॥ श्रीं तत् सत् ॥

केवलमेकस्य ममैव वयोक्तफलप्राप्तिराचानप्रसादादाविरभूत् किन्तु
 तच्चरणपरिचर्यापरावकानामन्येषामपि भूयसामित्याह । यत्पाद-
 विति ॥ तेषां गुरुणास्माददवगात्रितानामन्येषामपि शिष्याणां तदीय
 शुश्रूषाप्रणयमनीयाजुषां श्रुतिर्जनननिधिभासनसहकृतं अवगन्तव्यम् ।
 शनः शान्तिरिन्द्रियोपरतिः । विनयोऽवन्तरनौद्वयं तेषाम्प्राप्तिरग्या
 श्रेया प्रतितिष्ठाति विध्यति । यस्मादसोपायफला अवगादीनाम्प्राप्ति-
 सस्मादग्यात्वं तस्याऽऽशं भाष्यते तदेवमवार्थप्रसादात्तनोऽन्येषां
 बहूनां पुरुषार्थे परिसमाप्तिरवगादाचार्यरिचरणं पुरुषार्थकामैरा-
 चरणोद्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

विष्णुं कृष्णं स्वभावाविरचितविविधतवर्गं निरुगं-

द्वयातानर्थसार्थं निरवधिनधुरं सच्चिदेवभावम् ।

आज्ञायात्मानमेकं विधिसुखविमुखं नेतितीति गोतं

वन्दे वाचां धियाच्चापरमपि जगतामास कल्पितानाम् ॥ १ ॥

गौडपादीयभाष्यस्य व्याख्या व्याख्यातृभिराता ।

सन्निता निर्मिता सेयमपिता पुरुषोत्तमे ॥

इति श्रीसत्यरमहंसपरिब्राजकाचार्यज्ञानन्दपूज्यपादशिष्य-
 भगवदानन्दज्ञानकृतायां गौडपादीयभाष्यटीकायां अलातशान्तप्राख्य
 चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ॥ श्रीं तत् सत् ॥ श्रीसद्गुरुः प्रयतां ॥

गौडपादीयमाण्डूक्योपनिषत्कारिका शुद्धा ॥



